सामान्य मनोविज्ञान
[GENERAL PSYCHOLOGY]

डॉ० एस० एस० माथुर
एम० ए०, पी-एच० डी०

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

परम पूज्य
बड़े भैया
को
सादर

द्वितीयावृत्ति

'सामान्य मनोविज्ञान' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होने पर हमें अपार प्रसन्नता है। पाठकों ने इसे हृदय से अपनाया, इसके लिए हम उनके आभारी हैं। इस संस्करण में विषय-वस्तु में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ ही भाषा तथा मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों को भी यथासम्भव दूर करने की चेष्टा की गयी है तथा भाषा को पर्याप्त सरल तथा रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। हमें विश्वास है कि अब पुस्तक विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

विद्वज्जनों एवं प्रेमी पाठकों से विनम्र निवेदन है कि पुस्तक की त्रुटियाँ एवं सुधार के लिए अपने अमूल्य सुझावों से हमें अवगत कराते रहें ताकि आगामी संस्करण में तदनुसार सुधार कर सकें।

पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़
गणतन्त्र-दिवस, १९६६

—एस० एस० माथुर

प्राक्कथन

आज १५ अगस्त को हम अपनी स्वतन्त्रता की १६वीं वर्षगाँठ मनाने जा रहे हैं। यह हमारा राष्ट्रीय पर्व है। इसी दिन हमने सैकड़ों वर्षों की गुलामी से मुक्ति पायी थी। इसी दिन हमने परम पूज्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के समक्ष भारत का सर्वाङ्गीण विकास करने की शपथ ग्रहण की थी। राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति हो, यही हमारा ध्येय था। हम उस ओर चले हैं, आगे बढ़ रहे हैं—जीवन के सभी क्षेत्रों में। शिक्षा के क्षेत्र में जो सर्वाधिक निंद्य परम्परा चल पड़ी थी, वह थी—अंग्रेजी में लिखना, अंग्रेजी में पढ़ना-पढ़ाना, अंग्रेजी में बोलना, अंग्रेजी में सोचना और अंग्रेजी में ही समारोहों को सम्पन्न करना। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ हमारा यह कर्तव्य भी था कि हम इस अंग्रेजियत को अपने अन्दर से निकाल बाहर करें और अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी को उचित स्थान प्रदान करें। इसके लिये सर्वाधिक महत्व-पूर्ण कार्य यह था कि ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अध्ययन-अध्यापन का माध्यम हिन्दी को बनाया जाय। इस हेतु शतधा प्रयत्न किये जा रहे हैं, जो सराहनीय हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व अध्ययन-अध्यापन अंग्रेजी के माध्यम से ही होता था। बहुत-से भारतीय अंग्रेजी समर्थकों का यह निश्चित मत था कि इस विषय पर हिन्दी में न तो प्रामाणिक पुस्तकें हैं, और न लिखी ही जा सकती हैं। वे हिन्दी की शब्दावली को असमृद्ध एवं ज्ञान-विज्ञान की सफल अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानते थे। इस दिशा में विद्वानों द्वारा किये गये प्रयास सराहनीय हैं, जिसके फलस्वरूप मनोविज्ञान विषय पर भी आज हिन्दी में प्रामाणिक पुस्तकें उपलब्ध हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने भी इसी दिशा में एक प्रयास किया है, जो सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि प्राविधिक शब्दों के आगे अंग्रेजी पर्याय शब्द दिये गये हैं, जिससे पाठकों को सारग्रहण में कठिनाई न हो। यथासम्भव विदेशी लेखकों की परिभाषाओं का हिन्दी अनुवाद दिया गया है और उनकी मौलिक परिभाषाएँ 'तलटीप' में लिखी गयी हैं, फिर भी अभावों की ओर यदि विद्वज्जन हमें संकेत करेंगे तो लेखक हृदय से उनका आभारी होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में शतधा पाश्चात्य पुस्तकों की सहायता ली गयी है, तथा पाश्चात्य प्रकृत विद्वानों की उक्तियों और मान्यताओं को यथास्थान दिया गया है। साथ ही लेखक ने भी अपने मतों और अनुभवों को यथास्थान अभिव्यक्त किया है।

१

मनोविज्ञान क्या है ?[1]

(मनोविज्ञान की परिभाषा, विषय-सामग्री, शाखाएँ एवं समस्याएँ)[2]

विषय-प्रवेश

अभी कुछ ही दिन हुए है कि हमारे देश मे अष्टग्रह के योग का आतंक फैल
या था। कुछ ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि २ फरवरी, १९६२ से ५
रवरी तक आठ ग्रह एक स्थान पर मिल जायेंगे; यह समय पृथ्वी भर के निवासियों
 लिये भय का समय होगा। इस समय चारों ओर से पृथ्वी पर तबाही आयेगी;
यंकर सर्दी पड़ेगी, समुद्र में भयंकर तूफान आयेंगे, भूकम्प आयेंगे और महाद्वीप के
हाद्वीप जलमग्न हो जायेंगे। इस भविष्यवाणी ने हमारे देश की अधिकांश जनता को
यभीत बना दिया और अनेक वैज्ञानिकों के यह कहने पर भी कि इस प्रकार की
विष्यवाणी मे कोई वैज्ञानिक सार नही है, बहुत ही कम व्यक्तियों का भय कम हो
या। यहाँ तक कि हमारे स्वर्गवासी प्रधान मन्त्री के, जिनकी बात हमारे देशवासी
ही श्रद्धा से सुनते थे, अनेक बार कहने पर भी कि यह भविष्यवाणी अन्धविश्वास का
तीक है, साधारण जनता पर कोई प्रभाव न पड़ा। अनेक यज्ञों का आयोजन किया
या जिनमें सैकड़ों मन सामग्री और घी हवन कर दिया गया। इसके पीछे भावना

. What is Psychology ?
. Definition, subject-matter, branches and problems of Psychology.

यह थी कि यज्ञों द्वारा अशुभ घड़ी टल जायगी। हजारों-लाखों व्यक्तियों ने प्रातः से रात्रि तक अनेक जप-तप किये, भजन-कीर्तन किया ताकि वे दुर्घटनाओं से त्राण पा सकें। लाखों रुपये के तावीज बेचे गये जो अष्टग्रह योग से रक्षा हेतु अनेक लम्पट और धूर्त व्यक्तियों ने बनाये और उनका प्रचार किया। देश भर में व्यापार ठप्प हो गये। रात को बहुत से भयाक्रान्त व्यक्तियों को लगने लगा कि प्रलय अब आया, अब आया और उनकी नींद गायब हो गयी। यह सब कहने का हमारा तात्पर्य यह है कि इन भविष्यवाणियों ने जो किसी भी वैज्ञानिक आधार पर केन्द्रित न थीं, हमारे देश के निवासियों को क्यों इतना भयभीत कर दिया? क्या कारण था जो इन निरर्थक बातों पर अधिकांश जनता का विश्वास उमड़ पड़ा? क्यों पाश्चात्य देशों में इसे अन्धविश्वास माना गया जबकि अपने देश में अनेक शिक्षित व्यक्तियों पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका? इन प्रश्नों का उत्तर यदि आप जानना चाहते हैं तो आपको इन व्यक्तियों के मनोविज्ञान का अध्ययन करना होगा। आपको इस ओर ध्यान देना होगा कि कुछ व्यक्तियों की मनोवृत्ति क्यों ऐसी हो गई जो वे सरलता से अन्धविश्वासों में विश्वास करने लगे? इसके लिये आपको व्यक्तियों के मन का, व्यवहार का और व्यक्तित्व का सम्यक् अध्ययन करना होगा। यह अध्ययन ही मनोविज्ञान की विषय-सामग्री बन जाता है। परन्तु इससे प्रथम कि हम मनोविज्ञान की विषय-सामग्री, विषय-विस्तार इत्यादि का विस्तृत अध्ययन करें, हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि मनोविज्ञान है क्या?

मनोविज्ञान क्या है?

प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्बन्ध में और दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह जानने को उत्सुक होता है कि उसके अनेक अनुभवों और विशिष्ट व्यवहारों के कारण क्या हैं? वह यह जानना चाहता है कि उसके विचार, क्रिया-कलाप, चेष्टाएँ इत्यादि क्यों एक विशेष रूप धारण कर लेते हैं? वह यह समझना चाहता है कि क्यों कुछ व्यक्ति उसके प्रति एक ऐसी धारणा बना लेते हैं जो उसके हित के लिये होती है जबकि कुछ दूसरे व्यक्ति उसके सम्बन्ध में दूसरी धारणाएँ बना लेते हैं और उसका अहित करने में कुछ उठा नहीं रखते। वह दूसरों के अपने प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में चिन्तित रहता है और अपने व्यवहार को वांछित रूप देने के लिये समझना चाहता है कि किस व्यवहार को दूसरे मनुष्य वांछनीय मानते हैं और किसे अवांछनीय? प्रत्येक व्यक्ति की इस प्रकार की जिज्ञासा का समाधान मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा ही किया जा सकता है। मनोविज्ञान वह विषय है जो उसके तथा दूसरे मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है। उसे इस बात से अवगत कराता है कि क्यों, कैसे तथा किन परिस्थितियों में वह और दूसरे व्यक्ति एक विशेष प्रकार का व्यवहार करते हैं।

साधारण रूप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ मनोविज्ञान का ज्ञान होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने और दूसरों के व्यवहार का
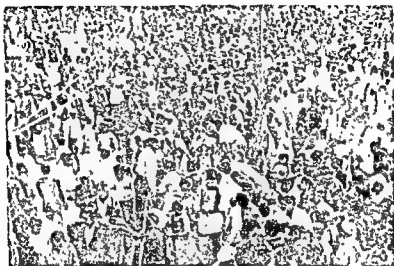
चित्र नं० १

अष्ट ग्रह योग के कुप्रभाव से बचने के लिए अनेकों यज्ञ, तप किये गये जहाँ लाखों की संख्या मे देशवासी अपने आवश्यक कार्यों को छोड़कर दिन रात इकट्ठे हुए और हजारों मन खाद्य सामग्री स्वाहा हो गई ।
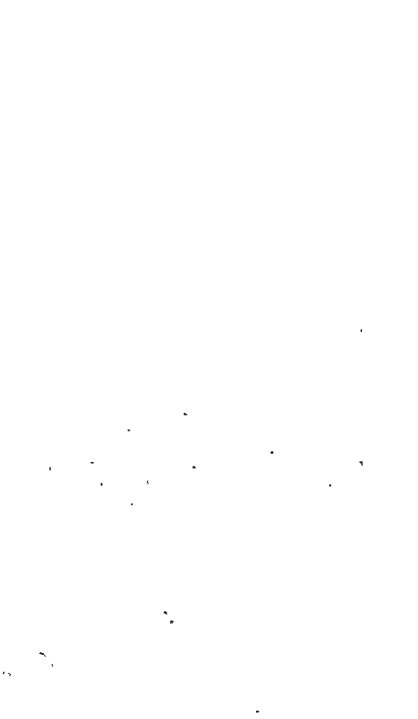
अपनी योग्यतानुसार मूल्यांकन करता ही है। परन्तु यह मूल्यांकन किस सीमा तक सही है या गलत है, यह इस बात पर निर्भर होता है कि उसका व्यवहार समझने का ज्ञान कितना विशद या संकीर्ण है। व्यक्ति जब अपने को दूसरों के या अपने व्यवहार या मानसिक क्रियाओं के समझने में असफल पाता है तो वह अधिक वैज्ञानिक और समुचित ढंग से यह जानने की चेष्टा करता है कि हमारे व्यवहार या मानसिक क्रियाओं के मूल आधार क्या हैं ?

मनोविज्ञान के विकास का मूलमन्त्र हमें मनुष्य की इसी भावना में मिलता है कि वह अपने तथा दूसरों के व्यवहार एवं मानसिक क्रियाओं के सम्बन्ध में स्थायी तथा वैज्ञानिक रूप से जानकारी प्राप्त कर सके। अतएव हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान एक ऐसा विषय है जो मानव व्यवहार तथा मानव के अन्तस में होने वाली विभिन्न मानसिक क्रियाओं के सम्बन्ध में मूल प्रश्नों का उत्तर प्रदान करता है। ये मूल प्रश्न क्या, कैसे और क्यों का रूप धारण किये होते हैं। मनुष्य क्या करते हैं ? कैसे करते हैं ? और क्यों ऐसा करते हैं ? यही प्रश्न हैं, जिनका उत्तर मनोविज्ञान की विषय-वस्तु बनता है।

यहाँ, इसके पूर्व कि हम मनोविज्ञान के विषय-विस्तार, मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं, प्रदत्त सामग्री इत्यादि के सम्बन्ध में विवेचन करें, हम मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करेंगे।

मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि[1]

यूनान की पारस्परिक गाथाओं में Psyche का वर्णन एक ऐसी सुन्दर कुँवारी कन्या, जिसके तितली के समान सुन्दर पंख थे, के द्वारा किया गया है। 'Psyche' आत्मा का प्रतीक माना जाता था और तितली मानव की नश्वरता (mortality) का द्योतक। 'Psychology' जिसका हिन्दी अर्थ 'मनोविज्ञान' है, दो शब्दों से मिलकर बना है—Psyche + Logos।

Psyche का अर्थ आत्मा से होता था और Logos का अर्थ विज्ञान से। इस प्रकार Psychology का शाब्दिक अर्थ "आत्मा का विज्ञान" है। आरम्भ में Psychology शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया जाता था और मनोविज्ञान का अध्ययन दर्शनशास्त्र के अंग रूप में ही किया जाता था।

मनोविज्ञान एक विशुद्ध विज्ञान के रूप में तो हमारे सम्मुख बहुत बाद में आया परन्तु मनोविज्ञान के आरम्भ का इतिहास बहुत प्राचीन है। लगभग ईसा से सात शताब्दी पूर्व यूनान के कुछ धनवान नागरिकों के पास इतना अवकाश था कि वे अपना ध्यान अध्ययन एवं निरीक्षण की ओर लगा सकते थे। उन्होंने राजनीति एवं युद्ध-युद्धों से अपना ध्यान हटाकर यह पता लगाने के लिये विचार किया कि मानव-जीवन में स्थायी तत्व क्या है ? आरम्भ में कुछ दार्शनिकों ने जिन्हें अद्वैतवादी

---

1. Historical Back-ground of Psychology.

(Monists) कहते थे, एक ऐसे तत्व की खोज पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्याख्या कर सके। इसके पश्चात् दूसरे दार्शनिकों के समूह ने जिन्हें प्लूरलिस्ट (Pluralists) कहते हैं, एक तत्व के स्थान पर अनेक ऐसे तत्वों की खोज करने का प्रयास किया जो ब्रह्माण्ड की गुत्थी को सुलझा सकें। प्लूरलिस्ट के बाद में आये सोफिस्ट (Sophist) जिन्होंने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

ईसा से चार शताब्दी पूर्व दो महान् दार्शनिकों—प्लेटो (Plato) तथा अरस्तू (Aristotle)—ने अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन (४२७-३४७ ई० पू०) किया। प्लेटो महोदय के अनुसार जो कि विचारवादी थे, मन और विचार को एक समझा गया। उनका कहना था कि "विचार स्वयमेव मानव से परे विश्व में वर्तमान है।" परन्तु अरस्तू ने कहा कि शरीर और मन को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। उन्होंने विज्ञान तथा दर्शन पर अनेक पुस्तकें लिखीं। मनोविज्ञान को उन्होंने 'विज्ञान' के अन्तर्गत माना और उसकी परिभाषा दी—"मानव की आत्मा का अध्ययन।"[1] प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू अधिक यथार्थवादी थे।

ईसा के पश्चात् एक हजार वर्ष तक मानव, उसकी प्रकृति तथा उसके स्वभाव के सम्बन्ध के ज्ञान में कोई भी वृद्धि नहीं हुई। उस काल में इस सम्बन्ध में जो भी ज्ञान था, उसका आधार चर्च की सत्ता एवं पुरातन यूनानी दार्शनिकों की विचारधारा ही थी। उन दिनों किन्हीं भी मौलिक विचारों या सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया गया।

१५वीं शताब्दी तक स्थिति ऐसी ही रही कि विज्ञान, दर्शन तथा अन्य किसी प्रकार के ज्ञान में कोई भी वृद्धि या विकास नहीं हुआ। परन्तु १५वीं शताब्दी में मानवतावाद का दौर आरम्भ हुआ जिसमें मानव के व्यक्तिगत रूप एवं व्यक्तिगत अधिकारों पर बल दिया गया। इस युग में ही महान् वैज्ञानिक अनुसंधानों, आविष्कारों तथा खोजों का सूत्रपात हुआ। मनोविज्ञान के सम्बन्ध में १६वीं व १७वीं शताब्दी में डेकार्टे (Descartes), स्पिनोज़ा (Spinoza) तथा लॉक (Locke) जैसे महान् दार्शनिकों ने अपने मौलिक विचार व्यक्त किये।

डेकार्टे महोदय (१५९६-१६५०) ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में दो अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये—(१) पशुओं का व्यवहार यन्त्रवत् होता है; और मनुष्य जब विवेकरहित आचरण करते हैं तो उनका व्यवहार भी इसी कोटि का होता है। (२) आत्मा तथा शरीर, चेतना (consciousness) तथा स्नायु-मण्डल (nervous-system) एक-दूसरे से भिन्न हैं जो अपना एक अलग संसार बनाते हैं। परन्तु इनमें [illegible] क्रिया होती रहती है जो एक-दूसरे को मस्तिष्क के एक विशेष स्थान पर [illegible] रहती है। चेतना को उन्होंने शरीर में विद्यमान माना परन्तु कहा

[1] [illegible] study of the soul."

क यह शरीर में कोई विशेष स्थान नही घेरती। डेकार्ट की यह विचारधारा द्वैतवाद Dualism) कहलाती है।

डेकार्ट की विचारधारा के विपरीत स्पिनोजा महोदय की विचारधारा है। नके विचार के अनुसार—अन्ततोगत्वा मन और शरीर में वैभिन्य नहीं है वरन् वे क ही हैं। वह इन दोनो को एक ही तत्त्व के रूप (aspects) मानता है। यह विचारधारा अद्वैतवाद (Monism) कहलाती है।

लाइबनीज, होब्स इत्यादि के विचारो ने भी मनोविज्ञान के ज्ञान मे बहुत वृद्धि ी। परन्तु डेकार्ट के पश्चात् जिस मुख्य दार्शनिक की विचारधारा का वर्णन यहाँ ावश्यक है वह जॉन लॉक महोदय (१६३२-१७०४) हैं। लॉक महोदय ने यह कहा क जन्म के समय बालक का मन एक कोरी पटिया के समान होता है। इस पटिया र अनुभवों का लेख लिखा जाता है। उनके अनुसार मन की सम्पूर्ण सामग्री अनुभवों ी ही देन है। उन्होने मन पर अनुभवो का लेख "सीखने के द्वारा" लिखा जाना ताया। लॉक महोदय ने यह भी वर्णन किया कि एक प्राणी सीखता किस प्रकार । सीखने की क्रिया को समझाने के लिये उन्होने साहचर्य के सिद्धान्त (Principle f Association) का प्रतिपादन किया। इसी सिद्धान्त के आधार पर जिस सम्प्रदाय ा इंगलैण्ड मे जहाँ के लॉक महोदय निवासी थे, जन्म हुआ वह 'साहचर्यवाद' Associationism) कहलाया। इस सिद्धान्त ने यह तथ्य हमारे सम्मुख रखा क जो विचार हमारे समक्ष साथ-साथ आते हैं, वे मस्तिष्क मे भी साथ ही साथ ्थापित हो जाते हैं।

द्वैतवाद (Dualism) का जोर मनोविज्ञान मे १६वीं शताब्दी के अन्त तक हा। इस शताब्दी में मन तथा शरीर के सम्बन्ध मे अनेक मत प्रतिपादित किये ये। १६वीं शताब्दी के मध्य मे जो मत सर्वाधिक मान्य होने लगा वह समानान्तर- ाद (Parallelism) था। इस वाद का दृष्टिकोण यह था कि मानव एक मशीन की रह है जिसके सम्पूर्ण आचरण की व्याख्या नाड़ी तन्त्र (sensory nerves), मेरुदण्ड pinal cord), तथा मस्तिष्क एवं गतिवाही नाड़ियों (motor nerves) की क्रियाओं ्रा की जा सकती है। कुछ घटनाएँ जो मस्तिष्क मे होती हैं उनके ही समानान्तर टनाएँ चेतना मे होती हैं। इस सिद्धान्त से तात्पर्य यही था कि मन तथा शरीर पने-अपने नियमो के अनुसार कार्य करते हैं। परन्तु जो क्रियाएँ मन मे होती हैं नके ही समानान्तर क्रियाएँ शरीर मे होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि १६वी ताब्दी में मन तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिये तीन मत विद्यमान । ये मत थे—अद्वैतवाद (Monism), द्वैतवाद (Dualism) तथा समानान्तरवाद Parallelism)। द्वैतवाद तथा समानान्तरवाद के आधार पर अन्तःप्रेक्षणवाद ntrospectionism) सम्प्रदाय का विकास हुआ जबकि अद्वैतवाद के आधार पर यवहारवाद (Behaviourism) सम्प्रदाय का जन्म हुआ।

मनोविज्ञान का वैज्ञानिक रूप—मनोविज्ञान के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वह काल है जब मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र के चंगुल से निकल कर स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में हमारे सामने आया। १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में भौतिकशास्त्र, जीवशास्त्र (*Biology*), शरीर-रचना विज्ञान (*Physiology*) तथा अन्य विज्ञानों में प्रयोगात्मक विधि का बहुत अधिक प्रचलन हो गया। मनोविज्ञान भी इस विधि से अपने को दूर न रख सका और इसमें भी प्रयोगात्मक विधि अपनायी जाने लगी। १८७९ ई० में वुण्ट (Wundt) महोदय ने लिपजिग में एक मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की। इस प्रयोगशाला में मानव व्यवहार को प्रयोगों का विषय बनाकर अनेक प्रयोग किये गये और उनका अध्ययन किया गया। इस समय के पश्चात् वैज्ञानिक मनोविज्ञान का विकास बहुत शीघ्रता के साथ हुआ। वुण्ट की प्रयोगशाला की कार्य-पद्धति को सीखने-समझने के लिये इंगलैण्ड, अमरीका तथा यूरोप के अन्य देशों से अनेक मनोविज्ञानवेत्ता उनसे प्रशिक्षण लेने आये। इन विद्वानों ने अपने-अपने देशों में जाकर प्रयोगशालाओं की स्थापना की और मनोविज्ञान के अध्ययन का एक नया रूप प्रदान किया। इसी समय से मनोविज्ञान के अनेक प्रचलित तथ्यों के प्रयोगात्मक परीक्षण प्रारम्भ हो गये।

मनोविज्ञान में प्रयोगात्मक विधि को जो इस समय में प्रोत्साहन मिला, उसके पश्चात् भी १९१० तक मनोवैज्ञानिक अन्तर्निरीक्षण (*introspection*) पद्धति को ही मनोविज्ञान के तथ्यों एवं प्रदत्त सामग्री को प्राप्त करने की मूल विधि मानते रहे। परन्तु धीरे-धीरे मनोविज्ञान की सामग्री को इकट्ठा करने के लिये निरीक्षण पर बहुत बल दिया जाने लगा। प्रयोगात्मक परीक्षण प्रायः संवेदना (sensation) और मांसपेशियों की गति पर किये गये। इसके पश्चात् सीखने की क्रियाओं एवं स्मृति पर भी प्रयोग किये गये। टिचनर तथा कैटेल महोदय ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया और मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप देने में बहुत सहयोग प्रदान किया।

जिस समय वुण्ट प्रभृति विद्वान् मनोविज्ञान में प्रयोगात्मक विधि के प्रयोग की चेष्टा कर रहे थे उसी समय इंगलैण्ड में फ्रांसिस गॉल्टन (Francis Galton) जो डरविन (Darwin) महोदय के चचेरे भाई थे, उद्विकास के सिद्धान्त (Theory of Evolution) का अध्ययन कर रहे थे और साथ ही साथ व्यक्तिगत विभेद के मनोविज्ञान (*Psychology of Individual Differences*) का विकास कर रहे थे। उन्होंने १८७३ में *ब्रिटिश प्रतिभाशाली (genius)* व्यक्तियों का अध्ययन कर यह दिखाने की चेष्टा की कि प्रतिभा जन्मजात होती है। गॉल्टन महोदय ने कुछ कार्य स्मृति पर भी किया परन्तु इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य एबिंघॉस महोदय द्वारा किया गया।

१९वीं शताब्दी में ही हमारे सम्मुख एक और प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आते हैं जिनका नाम विलियम जेम्स (William James) था। इन महोदय ने मनोविज्ञान

परिभाषाओं में भी समय के बदलने के साथ परिवर्तन होता गया। यहाँ हम इसकी विभिन्न परिभाषाओं पर, जो प्राचीन काल से आज तक प्रचलित हैं, प्रकाश डालेंगे।

मनोविज्ञान की परिभाषा

ईसा की १६वीं शताब्दी तक मनोविज्ञान 'आत्मा का विज्ञान' (science of soul) माना जाता था। आत्मा की खोज और उसके बारे में विचार करना ही मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य था। पर आत्मा का कोई स्थिर 'स्वरूप' (nature) और आकार न होने के कारण इस परिभाषा पर विद्वानों में मतभेद था। बिना निश्चित स्वरूप, आकार और रंग के आत्मा का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव न था। अतः विद्वानों ने मनोविज्ञान को 'आत्मा का विज्ञान' न मानकर 'मस्तिष्क का विज्ञान' (science of mind) माना, जिसका उद्देश्य मस्तिष्क का अध्ययन करना था। किन्तु मस्तिष्क के सम्यक् अर्थ के बारे में भी वही कठिनाई उपस्थित हुई जो आत्मा के विषय में थी। मनोवैज्ञानिक 'मानसिक शक्तियों' तथा मस्तिष्क के स्वरूप को सही-सही निर्धारित न कर सके। मस्तिष्क का अर्थ—व्यक्तित्व, विवेक और विचारणा-शक्ति से है जिसका अभाव पागलों अथवा सुषुप्त मनुष्यों में पाया जाता है। यदा-कदा इस योग्यता का अभाव पशु-जगत में भी मिलता है। अध्ययन के द्वारा विद्वानों को जब यह भी मालूम हुआ कि मानसिक शक्तियाँ अलग-अलग कार्य नहीं करतीं वरन् सम्पूर्ण मस्तिष्क एक साथ ही कार्य करता है तो विद्वानों ने मनोविज्ञान को 'चेतना का विज्ञान' (science of consciousness) माना। इस परिभाषा पर भी विद्वानों में गम्भीर मतभेद रहा और यह परिभाषा भी अपूर्ण ठहराई गई, क्योंकि चेतना भी तीन भागों में विभाजित है—(१) अचेत, (२) अर्द्धचेतन, (३) अचेतन। उपरोक्त विवेचन में चेतना के केवल एक ही अंश पर विचार किया गया था, इसलिये यह प्रयत्न भी असफल रहा।

मनोविज्ञान क्या है ? वर्तमान शताब्दी में इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार से दिया है। सी० वुडवर्थ के अनुसार "मनोविज्ञान वातावरण के सम्बन्ध में व्यक्ति के व्यापारों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।"[1] ई० वॉटसन के अनुसार "मनोविज्ञान व्यवहार का शुद्ध विज्ञान है।"[2] उपरोक्त परिभाषाएँ मनोविज्ञान के ऊपर प्रकाश अवश्य डालती है किन्तु पूर्ण नहीं हैं। उदाहरण के लिये, वाटसन की परिभाषा "मानव तथा पशु के व्यवहार का अध्ययन" में "साधारण एवं असाधारण मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन" और सम्मिलित होना चाहिए। सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण परिभाषा श्री चार्ल्स ई० स्किनर की कही जा सकती है। आपके अनुसार

1. "Psychology is the science of the activities of the individual in relation to the environment."—*C. Woodsworth.*
2. "Psychology is the positive science of behaviour."—*E. Watson,*

"मनोविज्ञान जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के प्रति प्राणी की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है। प्रतिक्रियाओं अथवा व्यवहार से तात्पर्य प्राणी की सभी प्रकार की प्रक्रियाओं, समायोजन, कार्य-कलापों तथा अनुभवों से है।"[1]

इस प्रकार के मनोविज्ञान एक शुद्ध विज्ञान माना जाता है। जेम्स ड्रेवर के अनुसार "मनोविज्ञान वह शुद्ध विज्ञान है जो मानव तथा पशु के उस व्यवहार का अध्ययन करता है जो व्यवहार उस अन्तर्जगत के मनोभावों और विचारों की अभिव्यक्ति करता है जिसे हम मानसिक जगत कहते हैं।"[2] ड्रेवर के मतानुसार मनोविज्ञान का उद्देश्य व्यवहार के कारणों की खोज करना तथा मानव स्वभाव का भली-भाँति अध्ययन करना है। वे इसे उपरोक्त शुद्ध विज्ञान की ही देन हैं। इस प्रकार जेम्स ड्रेवर महोदय द्वारा दी हुई परिभाषा को हम एक अच्छी परिभाषा के रूप में समझ सकते हैं।

मनोविज्ञान मानव तथा पशु के व्यवहार का निरीक्षण करता है। ऐसा करने से वह अनेक वैज्ञानिक विधि को अपनाता है। मानव तथा पशु का व्यवहार उसके मानसिक जीवन पर निर्भर होता है। वस्तुतः व्यवहार अन्तर्जगत की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र है। इस प्रकार मनोविज्ञान एक शुद्ध विज्ञान के रूप में मस्तिष्क का अध्ययन करता है और मस्तिष्क का अध्ययन मानव तथा पशु के व्यवहार को समझने के लिये किया जाता है। इस ओर जो परिभाषाएँ संकेत करती हैं वे परिभाषाएँ हमें मान्य हैं। परन्तु इस प्रकार की परिभाषाओं में जो 'व्यवहार' शब्द का उपयोग किया गया है, उसे भी समझना आवश्यक है।

व्यवहार से क्या तात्पर्य है ?

अब प्रश्न यह उठता है कि 'व्यवहार' क्या है, और इस शब्द से तात्पर्य क्या है ? जब तक इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं मिलता, हम मनोविज्ञान के स्वरूप, विषय-विस्तार एवं उसकी शाखाओं के बारे में भली-भाँति जानकारी प्राप्त नहीं कर सकते। मनोविज्ञान व्यवहार का अध्ययन करता है, अतएव यह शुद्ध विज्ञान तभी माना जा

---

1. "Psychology deals with responses to any and every kind of situation that life presents. By responses or behaviour is meant all forms of processes, adjustments, activities and expressions of the organism."
—Charles E. Skinner : *Educational Psychology*, p. 1.
2. "Psychology is the positive science which studies the behaviour of men and animals, so far as that behaviour is regarded as an ...on of that inner life of thought and feelings which we ... life."
Drever : *Psychology : The Study of Man's Mind.*

सकता है जब व्यवहार के सही-सही अर्थ को भली-भाँति प्रकट करे; अन्यथा मनोवैज्ञानिक खोजों, निरीक्षणों और परीक्षणों में वैसी स्पष्टता और वैज्ञानिकता नहीं होगी जैसी कि 'प्राकृतिक विज्ञान' (Natural Science) में होनी आवश्यक है। जेम्स ड्रेवर के मतानुसार "जीवन की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों के प्रति मानव तथा पशु की सम्पूर्ण प्रतिक्रिया ही व्यवहार है।"[1]

जीवधारी (organism) के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) प्राण-रक्षा सम्बन्धी (vital), (२) समायोजन सम्बन्धी (adaptive)। प्राण-रक्षा सम्बन्धी कार्य वे कार्य हैं जो प्राणी के जीवन की रक्षा करते हैं। समायोजन कार्य वे कार्य हैं जो वातावरण के विभिन्न अङ्गों के साथ प्राणी का सामंजस्य स्थापित करते हैं। प्राण-रक्षा सम्बन्धी कार्यों का सम्बन्ध पाचन-प्रणाली (digestive system), रक्त-संचार प्रणाली (circulatory system), हृदय, फेफड़े आदि से होता है। समायोजन-सम्बन्धी कार्यों का सम्बन्ध शरीर के तीन प्रमुख अवयव समूहों से होता है :

१. ग्रहण करने वाले—आँख, कान, नाक, त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रिय।
२. प्रतिक्रिया दिखाने वाले—माँसपेशियाँ, ग्रन्थियाँ आदि।
३. जोड़ने वाले—मस्तिष्क, नाड़ीमण्डल और रीढ़ की हड्डी।

जैसे ही हम किसी उद्दीपक (stimulus) को प्राप्त करते हैं वैसे ही उसके प्रति प्रतिक्रिया होती है। जोड़ने वाले अवयव उद्दीपक तथा तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया में एकदम सम्बन्ध जोड़ते हैं। उदाहरण के लिये, यदि एक आलपिन हमारे हाथ में चुभो दी जाय तो इसकी संवेदना जोड़ने वाले अवयवों द्वारा तुरन्त नाड़ी-केन्द्र (nerve centre) तक पहुँचाई जाती है और वहाँ से प्रतिक्रिया दिखाने वाले अवयवों तक पहुँचती है और हम प्रतिक्रिया का अनुभव करते हैं। यद्यपि हमारे व्यवहार का सम्बन्ध मुख्यतः इन समायोजन सम्बन्धी कार्यों से ही है, फिर भी प्राण-रक्षा सम्बन्धी कार्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हम दो प्रकार के व्यवहार का वर्णन कर सकते हैं। व्यवहार का एक प्रकार वह है जो 'बाह्य उत्तेजक' (External Stimulation) के कारण उत्पन्न होता है। दूसरा प्रकार वह है जो 'केन्द्रिय स्नायु-संस्थान' (Central Nervous System) की तत्कालीन क्रिया के कारण होता है।

जो व्यवहार बाह्य उत्तेजक के कारण होता है उसे प्रतिपक्षी व्यवहार (Respondent behaviour) कहते हैं। आँख का तेज रोशनी के कारण झपकना, आलपिन के चुभने पर अंग को हटाना, इत्यादि इस प्रकार के व्यवहार के उदाहरण हैं।

---

1. "Behaviour is the total response which man or animal makes to the situation in the life with which either is confronted."
—*James Drever*.

तिपती व्यवहार का सामान्य सिद्धान्त यह है कि ऐसा व्यवहार किसी उत्तेजक द्वारा त्पन्न होता है और इसको उत्पन्न करने में उत्तेजक की प्रभावशीलता प्राणी की ान्तरिक स्थिति पर निर्भर होती है। तेज रोशनी, आलपिन इत्यादि उत्तेजक (S) । यह व्यवहार जो प्रदर्शित कराते हैं, वह प्रतिक्रिया (R) स्वरूप होता है। प्राणी ाँख इस कारण झपकाता है कि उसके शरीर की आन्तरिक आवश्यकता अपने अंगों ी रक्षा करना है। हाथ या पाँव में आलपिन चुभने से पीड़ा होती है। इस पीड़ा से ्षा करने के लिए त्वचा में कोई शक्ति नहीं है, अतएव व्यक्ति अपना हाथ या पाँव ्टा लेता है।

दूसरे प्रकार के व्यवहार को कार्यवाहक व्यवहार (Operant Behaviour) हते हैं। यह व्यवहार प्राणी के अन्दर की दशाओं के कारण होता है। इस पर ियंत्रण अपने परिणामों का ही होता है। उदाहरण के लिए एक कुत्ता जो सड़क पर ौड़ रहा होता है वह ऐसा अपने कुछ उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर रहा होता है। स पर बाह्य उत्तेजकों का प्रभाव बहुत कम पड़ रहा होता है। अधिकतर पशुओं की ्रियायें इस होती प्रतीत होती हैं। इस प्रकार का व्यवहार होता है, उत्पन्न नहीं किया ाता। पशु का व्यवहार किसी उत्तेजक के कारण नहीं होता। यह तो क्रिया के रिणाम से नियंत्रित रहता है। क्रिया के परिणाम पशु के जीवन से सम्बन्धित होते ैं। पशु अपने इस प्रकार के व्यवहार द्वारा अपने जीवित रहने की आवश्यकताओं ी पूर्ति करता है। हम उत्तेजक देकर प्रतिवर्ती व्यवहार उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु ार्यवाहक व्यवहार ऐसे नहीं उत्पन्न किया जा सकता। जैसे कुत्ते को ईंट मारने से ह भाग जायेगा। किन्तु वह कुछ दूर जाकर रुक जायेगा। जो कुत्ता सड़क पर ाया जा रहा है वह ईंट के भय से नहीं, वरन् शायद अपने शरीर को चुस्त रखने ा किसी अपने स्वयं के प्रयोजन के कारण ऐसा कर रहा है।

मनोविज्ञान की शाखाएँ

मनोविज्ञान वातावरण के विभिन्न अङ्गों के प्रति प्राणी के व्यवहार का अध्ययन करता है। जीवन में वातावरण की विविध अवस्थाओं के आधार पर मनोविज्ञान की भी बहुत-सी शाखाएँ हो जाती हैं; जैसे उद्योग मनोविज्ञान (Industrial Psychology); यह औद्योगिक वातावरण में स्थित मानव के व्यवहार का अध्ययन करता है। शिक्षा-मनोविज्ञान शैक्षणिक परिस्थितियों (educational situations) में स्थित मानव के व्यवहार का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाएँ इस प्रकार हैं—

(१) सामान्य मनोविज्ञान (Normal Psychology), (२) असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology), (३) युवा-मनोविज्ञान (Adult Psychology), (४) बाल-मनोविज्ञान (Child Psychology), (५) मानव मनोविज्ञान (Human

Psychology), (६) पशु-मनोविज्ञान (Animal Psychology), (७) वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual Psychology), (८) वर्ग या समाज मनोविज्ञान (Social-Psychology),(९) विकासात्मक मनोविज्ञान (Genetic Psychology), (१०) शिक्षा मनोविज्ञान (Educational Psychology), (११) शुद्ध मनोविज्ञान (Pure Psychology), (१२) व्यावहारिक मनोविज्ञान (Applied Psychology), (१३) उद्योग मनोविज्ञान (Industrial Psychology), और (१४) विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (Analytical Psychology)। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(१) सामान्य मनोविज्ञान—मनोविज्ञान की इस शाखा में साधारण परिस्थितियों में साधारण मानव के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

(२) असामान्य मनोविज्ञान—इसमें असाधारण व्यक्तियों के व्यवहार का विवेचन होता है। यह उनके विभिन्न मानसिक रोगों (mental diseases);—जैसे स्नायु-रोग (neurosis), उन्माद-रोग (psychosis) आदि—का विशेष रूप से गवेषणात्मक अध्ययन करता है।

(३) युवा-मनोविज्ञान—यह मनोविज्ञान प्रौढ़ व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन करने तक ही सीमित है। बाल मनोविज्ञान इसके अन्तर्गत नहीं आता।

(४) बाल-मनोविज्ञान—यह साधारण तथा असाधारण—सभी परिस्थितियों में बालक के व्यवहार का विशेष अध्ययन करता है। मनोविज्ञान की इस शाखा में बालक की संवेदनाओं, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। बालक के ऊपर वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है ? उसके वंशानुक्रम का उसकी वृद्धि में क्या योगदान होता है ? उसमें क्या जन्मजात प्रेरणाएँ होती हैं ? वह कैसे सीखता है ? उसकी बुद्धि का विकास कैसे होता है ?—इत्यादि प्रश्नों का उत्तर इसी मनोविज्ञान के अध्ययन के द्वारा मिलता है।

(५) मानव-मनोविज्ञान—मनोविज्ञान की इस शाखा में केवल 'मनुष्य के व्यवहार' का अध्ययन किया जाता है। इसका पशु आदि के व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं। मानव कैसे विविध प्रकार के और विचित्र व्यवहार करता है, इसकी विशद व्याख्या की जाती है।

(६) पशु-मनोविज्ञान—तुलनात्मक मनोविज्ञान (Comparative Psychology) में केवल पशुओं के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। यह तुलना के द्वारा मानव मनोविज्ञान के अध्ययन में भी सहायक होता है। इसलिए इसे कभी-कभी तुलनात्मक मनोविज्ञान भी कहते हैं। इस मनोविज्ञान की विशेष समस्याएँ—सहज प्रवृत्तियाँ और सीखने के प्रकार हैं। हम यह पता लगाने की चेष्टा करते हैं कि पशुओं की सहज प्रवृत्तियाँ क्या हैं ? उनमें कितनी बुद्धि पाई जाती है ? उन पर अनुभव इत्यादि का क्या प्रभाव पड़ता है ? वे किस प्रकार से सीखते हैं ? और इसी प्रकार

के अनेक प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं। इस मनोविज्ञान के अध्ययन में निरीक्षण एवं प्रयोगात्मक विधियों को अपनाया जाता है।

(७) *वैयक्तिक मनोविज्ञान*—एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है। स्त्री, पुरुष तथा सभी मनुष्यों में कुछ न कुछ अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ अवश्य होती हैं। इन्हीं वैयक्तिक विशेषताओं और विभिन्नताओं का अध्ययन करना वैयक्तिक मनोविज्ञान का विषय है। वैयक्तिक मनोविज्ञान समूहों तथा जातियों की विशेषताओं का भी अध्ययन करता है। यह प्रतिभाशाली एवं मानसिक रूप से दूषित बालकों के सम्बन्ध में भी खोज करता है। यह व्यक्तिगत मन, जातिगत मन एवं समूहगत मन की विशेषताओं का अध्ययन करता है। यह मनोविज्ञान व्यक्ति या समूह में जो भी मनोगत विशेषताएँ होती हैं, उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करता है।

(८) *वर्ग या समाज मनोविज्ञान*—वातावरण में जन्म लेने, पालन-पोषण होने और शिक्षा ग्रहण करने से समाज का व्यक्ति के व्यवहार पर गहरा असर पड़ता है। विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में एक व्यक्ति दूसरे के प्रति कैसा व्यवहार करता है तथा बहुत से व्यक्ति मिलकर भीड़ या समूह मनोवृत्ति के रूप में किस प्रकार व्यवहार करते हैं, इन सबका अध्ययन करना समाज मनोविज्ञान का कार्य है।

(९) *विकासात्मक मनोविज्ञान*—इस मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है—व्यक्ति और जाति में मन की वृद्धि और विकास का क्रम। मनोविज्ञान की इस शाखा में पशु-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, किशोर-मनोविज्ञान इत्यादि का समावेश होता है।

(१०) *शुद्ध मनोविज्ञान*—मनोविज्ञान की यह शाखा हमें मनोविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों से अवगत कराती है तथा मनोविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान-वृद्धि में सहायता देती है।

(११) *शिक्षा-मनोविज्ञान*—शिक्षा और मनोविज्ञान का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा का उद्देश्य—बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब बालक की क्रियाओं का अध्ययन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाय और मनोवैज्ञानिक विधि से बालक को शिक्षा दी जाय। शिक्षा-मनोविज्ञान में इन सभी बातों का अध्ययन किया जाता है।

(१२) *व्यावहारिक मनोविज्ञान*—मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उपयोग किया जाता है। जिस क्षेत्र में मनोविज्ञान की शाखा को उपयोग किया जाता है, वह उसी क्षेत्र का मनोविज्ञान कहलाता है। व्यावहारिक मनोविज्ञान की निम्न शाखाएँ हैं :—

(i) *विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान*—यह मनोविज्ञान की शाखा उन मानसिक क्रियाओं को, जो जटिल हैं, सरल संघटक तत्वों में विश्लेषण करती है। सामान्य-मनोविज्ञान के अध्ययन में जब प्रौढ़ मानव के मन एवं व्यवहार का अध्ययन उसका

विश्लेषण करके किया जाता है तो वह विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान का ही रूप अपना लेता है। इस मनोविज्ञान के अध्ययन मे अन्तर्दर्शन, निरीक्षण एवं प्रयोगात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है।

(ii) उद्योग मनोविज्ञान—आधुनिक औद्योगिक जगत को उद्योग मनोविज्ञान की बहुत अधिक आवश्यकता है। उद्योग मनोविज्ञान उत्पादन-वृद्धि समस्या, मजदूर-समस्या का गम्भीर अध्ययन कर उसके हल की ओर संकेत करता है। उत्पादन की वृद्धि का सीधा सम्बन्ध मजदूर समस्या से है। यदि मजदूर सन्तुष्ट हैं और मनोयोग से अपने कार्य को करते हैं तो निश्चय ही उत्पादन में वृद्धि होगी, अन्यथा नहीं। इन सभी समस्याओं का विवेचन, विश्लेषण और समाधान उद्योग-मनोविज्ञान प्रस्तुत करता है।

(iii) कानून मनोविज्ञान (Legal Psychology)—इस मनोविज्ञान की शाखा मे न्यायाधीशों, वकीलों और गवाहों के मानसिक लक्षणों का अध्ययन किया जाता है तथा मनोविज्ञान के सामान्य नियमों को कानूनी पेशे पर लागू किया जाता है।

(iv) चिकित्सा मनोविज्ञान (Psychiatry)—यह मानसिक रोगों [illegible] मानसिक कारणो, स्नायु मण्डलो के व्यापारों की उलझनों इत्यादि का अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान का विषय-विस्तार

मनोविज्ञान की परिभाषा के अनुसार यह मानव की क्रियाओं (activities of individuals) का वैज्ञानिक अध्ययन है। मनोविज्ञान द्वारा हम उन सामान्य नियमों की खोज करते हैं जो कि एक जीवित प्राणी के व्यवहार की व्याख्या कर सकें। प्रत्येक जीवित प्राणी अपने पर्यावरण से अनुकूलन की चेष्टा करता है। प्राणी को अपने चारों ओर के वातावरण से लगाकर अनेक उत्तेजक (stimulations) मिलते हैं। वह इन उत्तेजकों के अनुसार प्रतिक्रिया (responds) करता रहता है। उसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार की होती है जो उसका वातावरण से सामंजस्य (adaptation) स्थापित कर देती है। वातावरण से लगातार उत्तेजक मिलने से हमारा तात्पर्य यही है कि किसी भी समय एक जीवित प्राणी पर किसी न किसी रूप में उसके वातावरण [illegible] एक न एक उत्तेजक प्रभाव डालता रहता है; जैसे उसे कोई वस्तु दिखाई पड़ती है, कोई ध्वनि सुनाई पड़ती है, कुछ गन्ध आती है [illegible] वह किसी वस्तु का स्पर्श करता है या उसका स्वाद लेता है। जो कुछ भी उत्तेजनाएँ उसको मिलती हैं, उनके अनुसार ही वह प्रतिक्रिया करता है। जैसे यदि वह कोई भय की वस्तु देखता है तो उसके प्रति ऐसी प्रतिक्रिया करता है कि वह भय की वस्तु से अपने को दूर रख सके या अपना बचाव कर सके। इस प्रकार यह क्रमशील अनुकूलन व्यक्ति की जीवन भर की क्रियाओं को व्यक्त करता है। एक मनोवैज्ञानिक के रूप में हमारी रुचि प्रत्येक उस कार्य में, जो व्यक्ति करता है एवं अनुभव करता है, होती है। और क्योंकि

के अनेक प्रश्नों का उत्तर ढूँढने की चेष्टा करते हैं। इस मनोविज्ञ
निरीक्षण एवं प्रयोगात्मक विधियों को अपनाया जाता है।

(७) वैयक्तिक मनोविज्ञान—एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न हो
तथा सभी मनुष्यों में कुछ न कुछ अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ अव
वैयक्तिक विशेषताओं और विभिन्नताओं का अध्ययन करना वैय
विषय है। वैयक्तिक मनोविज्ञान समूहों तथा जातियों की विशेष
करता है। यह प्रतिभाशाली एवं मानसिक रूप से दूषित बा
खोज करता है। यह व्यक्तिगत मन, जातिगत मन एवं समूहग
का अध्ययन करता है। यह मनोविज्ञान व्यक्ति या समूह [illegible]
होती हैं, उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करता है।

(८) वर्ग या समाज मनोविज्ञान—वातावरण में
होने और शिक्षा ग्रहण करने से समाज का व्यक्ति के [illegible]
है। विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में एक व्यक्ति
करता है तथा बहुत से व्यक्ति मिलकर भीड़ या समूह
व्यवहार करते हैं, इन सबका अध्ययन करना समाज म

(९) विकासात्मक मनोविज्ञान—इस मनोवि
व्यक्ति और जाति में मन की वृद्धि और विकास
शाखा में पशु-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, किशो
होता है।

(१०) शुद्ध मनोविज्ञान—मनोविज्ञान
सामान्य सिद्धान्तों से अवगत कराती है
सहायता देती है।

(११) शिक्षा-मनोविज्ञान—शिक्ष
है। शिक्षा का उद्देश्य—बालक के सर्
सम्भव हो सकता है जब बालक की
जाय और मनोवैज्ञानिक विधि से
इन सभी बातों का अध्ययन शिक्षा

(१२) व्यावहारिक मनोवि
जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उप
शाखा को उपयोग किया जा
व्यावहारिक मनोविज्ञान की

अध्ययन किया जा सके, जिनके व्यवहार सरल रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव मनोविज्ञान के विषय-विस्तार में बालको तथा निम्न स्तर के जीवधारियों का अध्ययन भी आ जाता है।

मनोविज्ञान असाधारण व्यक्तियों (abnormal persons) का भी अध्ययन करता है। जो व्यक्ति मानसिक रूप से विकृत होते हैं, वह जैसा व्यवहार करते हैं वह साधारण व्यक्तियों (normal persons) के सामान्य व्यवहार से बहुत भिन्न होता है। इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों के व्यवहार के अध्ययन से यह पता चल जाता है कि असाधारण व्यवहार क्या होता है और उसके क्या कारण होते हैं? एक असाधारण व्यक्ति का व्यवहार असाधारण कैसे और क्यों बन जाता है? इस प्रकार मनोविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में सामान्य एवं असामान्य—दोनों प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन आता है।

मनोविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में अब मानव के शरीर की बनावट एवं क्रियाएँ भी आ गई हैं। यह अब स्पष्ट हो रहा है कि मानव के शरीर की बनावट तथा उसकी क्रियायें उसके व्यवहारों तथा मानसिक क्रियाओं पर बहुत बड़ी सीमा तक नियन्त्रण रखती एवं प्रभाव डालती हैं। यही कारण है कि मानव के व्यवहार की पूर्ण-सूचना समुचित ढंग से उस समय तक नहीं दी जा सकती जब तक कि शरीर-विज्ञान (Physiology) का अध्ययन सम्यक् रूप से न किया जाय।

उपरोक्त खोजों के अतिरिक्त भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक और प्रकार की खोजें आती हैं जो मानव की समूह सम्बन्धी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में हैं। मनोविज्ञान यह खोज करने की चेष्टा करता है कि ज्ञान, विश्वास (beliefs), रीति-रिवाज (customs) इत्यादि के स्रोत (sources) क्या हैं? वह यह भी जानने की चेष्टा करता है कि चिंतन एवं तर्क का मानव के मस्तिष्क में कैसे विकास होता है और कैसे ये गुण समाज एवं समूह के निर्माण में सहायक होते हैं और बिना इनके समूह का रूप जो भीड़ (crowd) कहलाता है, किस प्रकार का व्यवहार करता है।

मनोविज्ञान व्यक्ति तथा समाज के ऊपर जो पर्यावरण (environment) के उत्तेजक होते हैं, उनके प्रकार जानने की चेष्टा करता है। वह संवेग (emotion), भाव इत्यादि का विश्लेषण करता है। वह यह समझने की चेष्टा करता है कि कैसे एक नवजात शिशु की अनुसंगठित एवं प्राकृतिक तथा अपरिष्कृत क्रियायें प्रौढ़ अवस्था में आकर सुसंगठित एवं सार्थक बन जाती हैं। मानव के सीखने की क्रिया किस प्रकार होती है? कैसे वह अनुभवों से लाभान्वित होता है? इन सब प्रश्नों के उत्तर का पता लगाना मनोविज्ञान का विषय बन जाता है।

प्रत्येक मानव कुछ जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ, प्रेरणायें, गुण एवं योग्यतायें लेकर उत्पन्न होता है। मनोविज्ञान इस जन्मजात स्थायी निधि के सम्बन्ध में खोजबीन करता है। वह यह पता लगाने की चेष्टा करता है कि वंशानुक्रम का मानव के

व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है। वह प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, मूल इत्यादि का अवलोकन करके उनके मानव जीवन में महत्त्व के सम्बन्ध में उचित दृष्टिकोण अपनाता है।

बुद्धि, ज्ञान तथा मानव की अन्य योग्यताओं का मूल्याङ्कन करने के लिये मनोविज्ञान वैज्ञानिक विधियों की खोज करता है। मानव के व्यवहार की जानकारी उस समय तक ठीक रूप से नहीं हो सकती जब तक यह पता न हो कि उसकी बुद्धि का स्तर क्या है, किसी भी आयु पर या कुछ सीखने की क्रिया के बाद उसके ज्ञान का स्तर क्या है एवं उसकी विशिष्ट योग्यताएँ क्या हैं?

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानव के व्यवहार से सम्बन्धित सब अंग आते हैं। मानव का आचरण, उसकी शारीरिक क्रियायें, मानसिक क्रियायें, पर्यावरण से मिलने वाले उत्तेजक, उनके सम्बन्ध में की गई प्रतिक्रियायें जिनके द्वारा वह अपने आपको वातावरण में अनुकूलित करता है इत्यादि का अध्ययन ही मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान मानव के व्यवहार को समझने के लिये पशु-मन, बाल-मन, असामान्य व्यक्तियों का मन एवं उनके आचरण का भी अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान के उद्देश्य एवं उसकी समस्यायें
(Aims and Problems of Psychology)

मनोविज्ञान के अध्ययन की सामग्री के सम्बन्ध में हमने मनोविज्ञान के अध्ययन के उद्देश्य एवं मनोविज्ञान की समस्याओं की ओर संकेत किया है। यहाँ पर हम स्पष्ट रूप से मनोविज्ञान की समस्याओं का वर्णन करेंगे।

मनोविज्ञान के उद्देश्य (Aims of Psychology) जो अब मनोवैज्ञानिकों को मान्य हैं, वे हैं—मनुष्य के विविध व्यवहारों का अध्ययन करके उनके व्यवहारों के सम्बन्ध में सत्यता एवं विश्वसनीयता से यह पूर्व-सूचना प्रदान करना कि दी हुई दशाओं में भविष्य में उनका क्या स्वरूप होगा अथवा विशिष्ट व्यक्ति विशिष्ट परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करेगा; एवं यह चेष्टा करना कि मनुष्य के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखा जा सके।

इन उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिये मनोवैज्ञानिकों के सम्मुख कुछ महत्वपूर्ण समस्यायें आती हैं। ये समस्यायें निम्नलिखित हैं :—

(१) मनुष्य के विविध व्यवहारों को समझना—हम जब भी वैज्ञानिक रूप से किसी वस्तु के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं तो उसका अवलोकन करते हैं, उसके विभिन्न अङ्गों का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं, विभिन्न परिस्थितियों में उसका रूप, आकार इत्यादि जानने का प्रयत्न करते हैं और दूसरी वस्तुओं एवं पदार्थों का उस पर प्रभाव जानने के लिए प्रयोग इत्यादि करते हैं। जैसे सोयाबीन के सम्बन्ध में यदि हम वैज्ञानिक विधि से जानना चाहते हैं तो उसके रूप, रंग, आकार इत्यादि का निरीक्षण करेंगे; उस पर ताप, पानी एवं अन्य पदार्थों का प्रभाव देखेंगे। उसको दूसरी

रासायनिक पदार्थों के साथ प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करने के लिये प्रयोग करेंगे। जैसा हम नीलाथोथा के साथ करते हैं वैसा ही हमें मानव के व्यवहार को समझने के लिये करना पड़ेगा। अतएव मनोविज्ञान की मुख्य समस्या जो हमारे सम्मुख आती है, वह मानव के व्यवहारों को समझना है। इसको सुलझाने के लिए बालक, असामान्य व्यक्ति, पशु एवं प्रौढ़ व्यक्ति के व्यवहार का अवलोकन करना आवश्यक है।

(२) मनुष्य के व्यवहारों का भविष्य में जो रूप होगा उसका पता लगाना—मनोविज्ञान का उद्देश्य हमें मानव व्यवहार के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकने की ओर संकेत करता है। हम मानव व्यवहार को समझकर यह कह सकें कि यदि अमुक परिस्थितियाँ होंगी तो व्यक्ति इस प्रकार से ही प्रतिक्रिया करेगा। यह मनोविज्ञान की एक बहुत जटिल समस्या है क्योंकि मानव और दूसरे जैविक पदार्थ जो निम्न स्तर पर हैं तथा अजैविक पदार्थों में जहाँ तक कि उनकी मानसिक क्रिया से सम्बन्ध है, बहुत अन्तर है। इस कारण हम मानव व्यवहार के सम्बन्ध में भविष्यवाणी उस विश्वास के साथ नहीं कर सकते जैसे कि दूसरे भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में। परन्तु यहाँ हम यह कह सकते हैं कि मनोविज्ञान इस ओर प्रयत्नशील अवश्य है और हो सकता है कि भविष्य में मनोविज्ञान की यह समस्या इतनी जटिल न रहे।

(३) मनुष्य के व्यवहार पर नियंत्रण—मनोविज्ञान की तीसरी समस्या मनुष्य के व्यवहार पर नियंत्रण रखने से सम्बन्धित है। हम जब मनुष्य के व्यवहार को अच्छी प्रकार समझ लेते हैं तो हमें यह पता लग जाता है कि मनुष्य किन परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करेगा। यह जानकारी हमें व्यवहार पर नियंत्रण रखने में सफल बनायेगी। परन्तु मनोविज्ञान की यह समस्या भी सरल नहीं है। इसका कारण यह है कि हमारी जानकारी मनुष्य के व्यवहार के सम्बन्ध में अब तक अपर्याप्त है। जब तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त नहीं होती, तब तक मानव व्यवहार पर नियन्त्रण रख सकना कभी भी सफल न हो सकेगा।

प्रस्तुत पुस्तक-योजना

मनोविज्ञान की सामग्री—उद्देश्य एवं समस्यायें—इस ओर संकेत करती है कि मानव व्यवहार को समझने के लिये जितने भी आवश्यक तत्त्व हैं उन सबका अध्ययन करना प्रत्येक मनोविज्ञान के छात्र के लिये नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में हमारा ध्येय यही है कि एक छात्र जो मनोविज्ञान के अध्ययन में प्रारम्भिक स्तरों पर ही है, इस विषय सम्बन्धी सब आवश्यक तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी प्राप्त कर सके। इस ध्येय की पूर्ति के लिये हमने सम्पूर्ण पुस्तक को अनेक अध्यायों में बाँटा है और यह चेष्टा की है कि प्रत्येक अध्याय के अध्ययन द्वारा मनोविज्ञान के कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों से विद्यार्थी अवगत हो जायें। जिन तत्त्वों से हम एक अध्याय में विद्यार्थी को अवगत कराना चाहते हैं उस सम्बन्ध में उन तत्त्वों को अध्याय के आरम्भ में समस्या रूप में रखा गया है जिनका समाधान अध्याय में दिये हुए वर्णन द्वारा किया

गया है। अध्याय के अन्त में सहायक पुस्तकों की सूची एवं महत्वपूर्ण प्रश्न भी
गये हैं।

सारांश

मनोविज्ञान जीवन की विविध परिस्थितियों के प्रति होने वाली मानव प्र
क्रियाओं का अध्ययन करता है। यह विषय अब एक विज्ञान के रूप में माना जाता
परन्तु पुरातन काल में यह दर्शनशास्त्र का ही एक अंग माना जाता था। ऐतिहासि
दृष्टिकोण से इस विषय के विकास में पुरातन ग्रीक दार्शनिकों; जैसे—प्लेटो
अरस्तू—तथा १७वीं व १८वीं शताब्दी के विचारकों; जैसे—डेकार्ट, स्पीनोजा, लाइब
लॉक इत्यादि—ने बहुत योगदान दिया है। १८७६ ई० में जब वुन्ट महोदय ने लिपज़िग
अपनी प्रयोगशाला स्थापित की, इस विषय ने वैज्ञानिक रूप अपनाना आरम्भ किय
मनोविज्ञान में विज्ञान की प्रयोगात्मक विधि को अपनाने में जिन मनोविज्ञानवेत्ताओं
महत्वपूर्ण भाग लिया उनके नाम हैं—गॉल्टन, टिचनर, कैटेल, थार्नडायक, एबिंघ
पवलव इत्यादि। पशुओं पर प्रयोग करके जेस्टाल्टवादी सम्प्रदाय का विकास करने
श्रेय सर्वश्री वर्दीमर, कायलर और कोफ़्का को है। असामान्य व्यक्तियों के अध्ययन
आधार पर मनोविश्लेषणवाद सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक हैं फ्रॉयड, एडलर और युंग
इनके अतिरिक्त जिन मनोविज्ञानवेत्ताओं का नाम उल्लेखनीय हैं उनमें से हैं—वॉटस
जिन्होंने व्यवहारवाद सम्प्रदाय को जन्म दिया और विलियम मैग्डूगल जो प्रयोजनव
सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

उपरोक्त मनोवैज्ञानिकों के विचारों एवं खोजों के कारण आज मनोविज्ञान
एक विज्ञान माना जाता है। इसको विज्ञान मानने का मुख्य कारण यही है कि इ
विषय में वे सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो एक विज्ञान के विषय में होना आवश्य
हैं। परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान एक पूर्णरूपेण पदार्थ विज्ञा
नहीं है क्योंकि इसका अध्ययन विषय मानव है जो दूसरे पदार्थों से सर्वदा भिन्न है।

मनोविज्ञान की परिभाषाएँ अनेक हैं। इनमें से वर्तमान समय में हमें वे परि
भाषाएँ ही मान्य हैं जो मानव व्यवहार के सम्बन्ध में अध्ययन करने पर बल देती हैं
व्यवहार से यहाँ तात्पर्य, जैसा जेम्स ड्रेवर महोदय कहते हैं, "जीवन की संघर्षपूर्ण
परिस्थितियों के प्रति मानव तथा पशु की सम्पूर्ण प्रतिक्रिया ही व्यवहार है" से ही है।

मनोविज्ञान वातावरण के विभिन्न अङ्गों के प्रति प्राणी के व्यवहार का अध्ययन
करता है। जीवन में पर्यावरण की विविध अवस्थाओं के आधार पर मनोविज्ञान की
भी शाखाएँ हो जाती हैं; जैसे—सामान्य मनोविज्ञान, युवा-मनोविज्ञान, बाल-
मनोविज्ञान, विकासात्मक मनोविज्ञान इत्यादि।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानव के व्यवहार से सम्बन्धित सब अंग आते हैं।
मानव का आचरण, उसकी शारीरिक क्रियायें, मानसिक क्रियायें; वातावरण से
मिलने वाले उत्तेजक, उनके सम्बन्ध में की हुई प्रतिक्रियायें जिनके द्वारा वह अपने को

वातावरण में अनुकूलित करता है इत्यादि का अध्ययन ही मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान मानव के व्यवहार को समझने के लिये पशु-मन, बाल-मन, असामान्य व्यक्तियों के मन एवं आचरण का भी अवलोकन करता है।

मनोविज्ञान के उद्देश्य, जो सब मनोवैज्ञानिकों को मान्य हैं, मनुष्य के व्यवहारों का अध्ययन करके उसके व्यवहारों के सम्बन्ध में यह सत्यता एवं विश्वसनीयता से भविष्यवाणी करना कि दी हुई दशाओं में उनका क्या रूप होगा एवं यह चेष्टा करना है कि मनुष्य के व्यवहारों पर कैसे नियन्त्रण रखा जा सकेगा। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये मनोवैज्ञानिकों के सम्मुख कुछ समस्यायें आती हैं; जैसे—(१) मनुष्य के व्यवहारों को समझना, (२) मनुष्य के व्यवहारों का भविष्य में जो रूप होगा उसका पता लगाना, एवं (३) मनुष्य के व्यवहार पर नियन्त्रण रखना।

मनोविज्ञान की पाठ्य-सामग्री का उचित ढंग से अध्ययन हो सके, इसलिये प्रस्तुत पुस्तक को अनेक अध्यायों में विभाजित किया गया है।

अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. मनोविज्ञान क्या है ? इसे हम विज्ञान की श्रेणी में क्यों रखते हैं ? क्या यह अन्य भौतिक विज्ञानों की तरह एक यथार्थ विज्ञान है ?
२. व्यवहार से क्या तात्पर्य है ? वर्तमान काल में मनोविज्ञान की परिभाषाएँ व्यवहार के अध्ययन पर क्यों बल देती हैं ?
३. मनोविज्ञान के क्षेत्र से आप क्या समझते हैं ? इस विषय के विस्तार के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिये।
४. मनोविज्ञान की मुख्य शाखाओं के सम्बन्ध में संक्षेप में एक निबन्ध लिखिये।
५. मनोविज्ञान के अध्ययन के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए और इसकी समस्याओं पर टिप्पणी कीजिये।
६. मनोविज्ञान की विभिन्न परिभाषाओं का मूल्यांकन कीजिये। जिस परिभाषा को आप सबसे उपयुक्त समझते हैं उसकी विस्तृत व्याख्या कीजिये।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. बोरिंग, ई० जी० : ए हिस्ट्री ऑफ ऐक्सपेरीमेण्टल सायकॉलॉजी, न्यूयार्क, एपेलटन सेन्चरी, १९२९।
२. बरनहार्ट, के० एस० : प्रेक्टिकल सायकॉलॉजी, न्यूयार्क, मेकग्रो हिल, १९५३।
३. बोरिंग, ई० जी०, लेंगफील्ड, एच० एस० एवं वेल्ड, एच० पी० : फाउण्डेशन्स ऑफ सायकॉलॉजी, बम्बई, एशिया पब्लिशिङ्ग हाउस, १९५९।

४. गिलफोर्ड, जे० पी० : जनरल सायकोलॉजी, लन्दन, चैपमान एण्ड हु
१९३९ ।
५. गैरेट, एच० ई० (हिन्दी अनुवाद : उदय पारीक) : मनोविज्ञान, बम
एलाइड पब्लिशर्स (प्राइवेट) लि०, १९५६ ।
६. सिन्हा, जे० एन० : मनोविज्ञान, आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवा
१९६० ।
७. टण्डन, आर० के० : मनोविज्ञान के मूल आधार, मुरादाबाद, मेवा
बुक डिपो, १९६१ ।
८. केसर, एफ० एस० : दि डेफिनेशन ऑफ सायकोलॉजी, न्यूया
एपेलटन सेन्चुरी, १९३७ ।
९. फ्लूगल, जे० सी० : ए हण्ड्रेड ईयर्स ऑफ सायकोलॉजी, न्यूया
मैकमिलन, १९३३ ।
१०. मरफी, जी० : ए हिस्टोरिकल इन्ट्रोडक्शन टू मॉडर्न सायकोलॉज
न्यूयार्क, हारकोर्ट ब्रेस, १९२९ ।

२

मनोविज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

पिछले अध्याय में हमने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि मनोविज्ञान अब एक विज्ञान मामा जाता है। क्योंकि मनोविज्ञान मे वे सभी गुण पाये जाते हैं जो एक विज्ञान की विशेषताओं को व्यक्त करते हैं, इस कारण मनोविज्ञान को विज्ञान की संज्ञा दी जाती है। परन्तु हमने पिछले अध्याय में ही इस बात पर भी बल दिया है कि मनोविज्ञान और अन्य भौतिक विज्ञानों में बहुत अन्तर है। मनोविज्ञान मानव को अपने अध्ययन की सामग्री बनाता है, जबकि दूसरे प्राकृतिक विज्ञान अजैविक पदार्थों तथा निम्न कोटि के जीवों का ही अध्ययन करते हैं। जो विज्ञान मानव का भी अध्ययन करते हैं जैसे—चिकित्साशास्त्र—उनमे और मनोविज्ञान में भी अन्तर है क्योंकि मानव [illegible] अध्ययन का दृष्टिकोण दोनों में भिन्न है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखकर हम इसे दूसरे विज्ञानों से भिन्न समझते हैं। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान [illegible] अध्ययन का अन्य विज्ञानों पर प्रभाव पड़ता है और अन्य विज्ञानों मे हुए अन्वेषण मनोविज्ञान पर प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार मनोविज्ञान और अन्य विज्ञानों मे परस्पर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध कैसा है? किस प्रकार विभिन्न विज्ञान और मनोविज्ञान एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं? क्यों मनोविज्ञान इन विज्ञानों से भिन्न है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर मनोविज्ञान की प्रकृति, रूपरेखा एवं विधियों को समझने के लिए जानना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

मनोविज्ञान एवं अन्य विज्ञान

गिलफोर्ड (Guilford) महोदय अपनी पुस्तक 'जनरल सायकॉलॉजी'[1] में चार प्रकार के विज्ञानों का वर्णन करते हैं। ये चार प्रकार के विज्ञान हैं—(i) सामाजिक विज्ञान (Social Sciences), (ii) मानसिक विज्ञान (Mental Sciences), (iii) जैविक विज्ञान (Biological Sciences), तथा (iv) प्राकृतिक विज्ञान (Physical Sciences)।

सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत जो विषय आते हैं वे राजनीतिशास्त्र (Political Science), अर्थशास्त्र (Economics), मानव विज्ञान (Anthropology), समाजशास्त्र (Sociology)। मानसिक विज्ञान के अन्तर्गत;जो विषय आते हैं वे हैं : नीतिशास्त्र (Ethics), सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics), तर्कशास्त्र (Logic), मनोविज्ञान (Psychology)। जीव विज्ञान में दैहिक विज्ञान (Physiology), पशु विज्ञान (Zoology) और वनस्पति विज्ञान (Botany) आते हैं। प्राकृतिक विज्ञान के अन्तर्गत ऐसे विज्ञान आते हैं; जैसे—भौतिकशास्त्र (Physics) एवं रसायनशास्त्र (Chemistry) इत्यादि।

यहाँ पर दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—एक तो यह कि प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का विषय तत्व, अणु, (atoms), परमाणु (molecules), इलेक्ट्रोन (electron), प्रोटोन (protons), न्यूट्रोन (neutron) इत्यादि हैं। हमारे चारों ओर का ब्रह्माण्ड इन्हीं मूल वस्तुओं से बना हुआ है और जो कुछ भी इसमें क्रियायें व प्रतिक्रियायें होती हैं, वे इन्हीं मूल वस्तुओं के अनन्त प्रकार के संयोगों, संगठन एवं प्रतिक्रियाओं के कारण होती हैं। रसायनशास्त्र तथा भौतिक विज्ञान—क्योंकि उन मूल तत्वों का अध्ययन करते हैं जो संसार की प्रत्येक वस्तु के निर्माण, संगठन एवं प्रतिक्रिया के आवश्यक अंग हैं अतएव इन विज्ञानों को हम अन्य विज्ञानों का आधार मानते हैं। दूसरी बात यह है कि मनोविज्ञान एक ओर तो स्थूल विज्ञानों से सम्बन्धित है—क्योंकि इन्हीं विज्ञानों से इसे अपने अध्ययन की विधि मिलती है जिसको अपनाकर ही यह विज्ञान का रूप धारण कर लेता है; तो दूसरी ओर यह समाजशास्त्र से भी सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त इसका सम्बन्ध जीव-विज्ञान तथा अन्य मानसिक विज्ञानों से भी है।

मनोविज्ञान और भौतिकशास्त्र (Psychology and Physics)

मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। मानसिक प्रक्रियायें उसी समय उद्बुद्ध होती हैं जब वे भौतिक जगत के सम्पर्क में आती हैं। यदि हमें मानसिक प्रक्रियाओं को समझना है तो हमें उन वस्तुओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है जो इन मानसिक प्रक्रियाओं को उत्तेजना प्रदान करती हैं। इन वस्तुओं का ज्ञान हमें भौतिकशास्त्र के अध्ययन द्वारा ही मिलता है। मनोविज्ञान

---

[1] Guilford, J. P. : *General Psychology*, Lord, Champman and [illegible], 1931, p. 16.

एक मानसिक विज्ञान है। यह विज्ञान मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। जीव विज्ञान ऐसा विज्ञान है जो जीवित वस्तुओं के जीवन सम्बन्धी तत्वों का अध्ययन करता है। यह जीवों के शरीर और उनमे होने वाली प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। यह विज्ञान शारीरिक प्रक्रियाओं द्वारा वातावरण में किस प्रकार से विभिन्न जीव अपना अनुकूलन प्राप्त करते हैं उसका भी अध्ययन करता है। इस प्रकार इस विज्ञान के अध्ययन के मुख्य विषय जीवों की वे शारीरिक क्रियायें इत्यादि हैं जो वे वातावरण में समायोजन (adjustment) करने के हेतु करते हैं। परन्तु क्योंकि मानसिक प्रक्रिया की व्याख्या बिना सहचारी शारीरिक प्रक्रिया के नहीं की जा सकती इसलिये हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान के अध्ययन के लिये जीव-विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है।

वातावरण में समायोजन करने के लिए जीव जो प्रक्रिया करते हैं वह केवल शारीरिक प्रक्रिया ही न होकर उनकी मानसिक प्रक्रिया की भी द्योतक होती है। यह ठीक है कि निम्न स्तर के जीवों में मानसिक प्रक्रियायें बहुत ही अल्पविकसित होती हैं परन्तु इस ज्ञान से कि इन मानसिक प्रक्रियाओं का क्या रूप होता है और किन जीवों में यह दृष्टिगोचर होती हैं तथा किन में यह नहीं के बराबर होती है, हमें मानव की मानसिक प्रक्रियाओं को समझने के आधार मिल जाते हैं। हम देखते हैं कि एक कोषीय जीव 'अमीबा' (single cellular animal—ameobo) मानसिक प्रक्रिया व्यक्त करने में बहुत ही निम्न कोटि का होता है। परन्तु जैसे-जैसे हम उद्विकास की सीढ़ी (*stages of evolution*) पर ऊपर चढ़ते जाते हैं, विभिन्न जीवों की मानसिक प्रक्रियाओं का स्तर भी उच्च होता जाता है। इसका कारण जीव-विज्ञान द्वारा हमें उनके मस्तिष्क (brain) के गूढ़ होते चले जाने में मिलता है। इस प्रकार यह ज्ञान हमें मानव की मानसिक प्रक्रियाओं का जो उच्च स्तर की होती हैं, रहस्य समझने में सहायता प्रदान करता है। अतएव हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान के अध्ययन में जीव-विज्ञान का ज्ञान अत्यन्त लाभप्रद एवं उपयोगी सिद्ध होता है।

मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान (Psychology and Physiology)

शरीर विज्ञान तथा मनोविज्ञान—दोनों का अध्ययन विषय आचरण है। परन्तु दोनों विज्ञान आचरण का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोण से करते हैं। शरीर विज्ञान शरीर के विभिन्न भागों की बनावट एवं कार्यप्रणाली का अध्ययन करके मानव-आचरण को समझने की चेष्टा करता है जबकि मनोविज्ञान मन और शरीर के संघटित कार्य का अध्ययन करके मानव आचरण की व्याख्या करने का प्रयास करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान का अध्ययन भी बिना शरीरशास्त्र के ज्ञान के पूर्ण नहीं हो सकता। मन जिसका अध्ययन करना मनोविज्ञान अपना प्रमुख ध्येय समझता है; का अध्ययन बिना शरीरशास्त्र के अध्ययन के पूर्ण नहीं हो सकता। इसका कारण यही है कि मानसिक क्रियाओं और शारीरिक क्रियाओं को एक-दूसरे से अलग करके अध्ययन करना कठिन है।

छोटी-से-छोटी जो प्रक्रिया हम किसी उत्तेजना के कारण करते हैं, उसमें हमारे मन के व्यापार एवं शरीर की प्रतिक्रिया सम्मिलित होती है। जैसे जब एक पिन हमारे हाथ में चुभोई जाती है तो हम तुरन्त अपना हाथ हटा लेते हैं; शरीर-विज्ञान हमको उस नाड़ी-तन्त्र की बनावट एवं कार्यविधि के सम्बन्ध में बताता है जिसके कारण हम एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया करते हैं। मनोविज्ञान भी नाड़ी-तन्त्र का अध्ययन करके यह जानने की ओर सक्रिय रहता है कि क्यों हाथ हटाया जाता है परन्तु यह मन के अध्ययन की ओर ही अपना ध्यान देता है। यह इस बात को भी समझने की चेष्टा करता है कि किसी समय पिन चुभने पर भी हम हाथ क्यों नहीं हटाते और कष्ट उठाते हुए भी वह कार्य करते रहते हैं। इसका कारण वह ढूंढ़ता है—इच्छा-शक्ति में और इस शक्ति के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से अध्ययन करता है।

व्यवहारवाद (Behaviourism) एक ऐसा सम्प्रदाय है जो मनोविज्ञान को एकदम जीव विज्ञान का रूप देना चाहता है। व्यवहारवाद का कहना है कि मन कुछ नहीं है। प्रत्येक मानसिक क्रिया का कोई न कोई शारीरिक कारण मिल सकता है। इस मत के अनुयायियों का कथन है कि यदि किन्हीं प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में हम शरीर विज्ञान के दृष्टिकोण से प्रकाश नहीं डाल सकते तो इसका कारण हमारे शरीर विज्ञान का अपूर्ण ज्ञान है, न कि इन प्रक्रियाओं का कारण मन का व्यापार होता है। परन्तु यह मत असंगत है। हम मानसिक क्रियाओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर सकते। हम व्यवहार का अध्ययन कर सकते हैं परन्तु मानसिक क्रिया के बिना व्यवहार का कोई अस्तित्व नहीं, अतएव मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान एक विषय नहीं हो सकते। मनोविज्ञान मुख्यतः अपने को मन से ही सम्बन्धित रखेगा जबकि शरीरशास्त्र शरीर की ओर अध्ययन करने में संलग्न रहेगा।

मनोविज्ञान और नियामक विज्ञान

(Psychology and Normative Sciences)

मनोविज्ञान को हम एक विधायक (positive) विज्ञान की संज्ञा देते हैं। यह एक ऐसा विज्ञान है जो यह बताता है कि मानव कैसे ज्ञान अर्जित करता है, कैसे सीखता है, कैसे संवेदना ग्रहण करता है; कैसे चिन्तन, कल्पना इत्यादि करता है। यह विज्ञान इस ओर ध्यान नहीं देता कि जीवन के आदर्श क्या हों? कौन-से नियम निर्धारित किये जायं जो जीवन को आदर्शमय बना सकें। इन नियमों, आदर्शों इत्यादि का निर्धारण करना नियामक विज्ञान का उद्देश्य होता है। नियामक विज्ञानों में जो विज्ञान आते हैं, वे हैं—तर्कशास्त्र (Logic), सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) और नीतिशास्त्र (Ethics)।

तर्कशास्त्र का सम्बन्ध आदर्श सत्य (ideal truth) से है। यह शास्त्र विचार के औचित्य की कसौटी क्या है, इस सम्बन्ध में प्रकाश डालता है। सौन्दर्यशास्त्र का सौन्दर्य के आदर्श से सम्बन्ध होता है। यह शास्त्र मन के भावनात्मक पक्ष (affective)

के आदर्श प्रस्तुत करता है। यह बताता है कि अनुभूति कैसी होनी चाहिए ? नीतिशास्त्र उन मानदण्डों (norms) को निर्धारित करता है जो उत्तम चरित्र के प्रतीक होते हैं। इस शास्त्र का सम्बन्ध सत्य (truth) के आदर्श से है। यह शास्त्र बताता है कि संकल्प तथा कर्म कैसे करने चाहिए। तर्कशास्त्र को हम विचार के मनोविज्ञान पर, सौन्दर्यशास्त्र को वेदना के मनोविज्ञान पर, तथा नीतिशास्त्र को संकल्प के मनोविज्ञान पर आधारित समझते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नियामक विज्ञान आदर्श निर्धारित विज्ञान है जबकि मनोविज्ञान मन की प्रक्रियाओं का प्राकृतिक विज्ञान है। अब हम विभिन्न नियामक विज्ञानों तथा मनोविज्ञान का अलग-अलग सम्बन्ध देखेंगे। यथा—

मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र (Psychology and Logic)

तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। तर्कशास्त्र का ज्ञान मनोविज्ञान के अध्ययन पर, और मनोविज्ञान का ज्ञान तर्कशास्त्र के अध्ययन पर प्रभाव डालता है। ये दोनों ही विज्ञान मानसिक विज्ञान हैं। इन दोनों का अध्ययन विषय मनोजीवी का मन है। परन्तु फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि *मनोविज्ञान का क्षेत्र तर्कशास्त्र से अधिक व्यापक है। मनोविज्ञान सभी प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। यह संवेदना, प्रत्यक्षीकरण (perception),* चिन्तन इत्यादि सब मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करके उनके स्वरूप के सम्बन्ध में जानने की चेष्टा करता है। इसके विपरीत, तर्कशास्त्र केवल विचार के सम्बन्ध में ही खोजबीन करता है। यह शास्त्र संवेदना, संकल्प इत्यादि के सम्बन्ध में कोई रुचि नहीं लेता। परन्तु मनोविज्ञान विचार को भी जो ज्ञान का एक प्रकार है, अपने अध्ययन का विषय समझता है। इस कारण एक मनोविज्ञान का विद्यार्थी तर्कशास्त्र के नियमों को अच्छी तरह समझ सकता है। इसी प्रकार तर्कशास्त्र के अध्ययन करने वाले की विचार शक्ति में तीव्रता आ जाती है जो उसमें मनोविज्ञान पर मनन करने की क्षमता विकसित कर देती है। मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र में यह वैभिन्य है कि—

(१) मनोविज्ञान विधायक, वर्णनात्मक या प्राकृतिक विज्ञान है। *मनोविज्ञान मन के यथार्थ रूप का अध्ययन करता है जबकि तर्कशास्त्र मन के आदर्श से ही सम्बन्ध रखता है। यह एक नियामक विज्ञान है और सैद्धान्तिक है,* व्यावहारिक नहीं। प्रायः यह कहता है कि क्या होना चाहिये ? क्या हो रहा है, क्यों हो रहा है—इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

(२) मनोविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र तर्कशास्त्र से अधिक व्यापक है।

(३) तर्कशास्त्र केवल आदर्श विचार से ही सम्बन्ध रखता है जबकि मनोविज्ञान उचित-अनुचित सभी प्रकार के विचारों के अध्ययन में रुचि लेता है, उनके कारण ढूंढ़ता है और समाधान प्रस्तुत करता है।

(४) मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र में एक *अन्य मुख्य विभिन्नता यह भी है कि मनोविज्ञान विचार की क्रिया के अध्ययन में रुचि लेता है जबकि तर्कशास्त्र विचार*

के परिणामों (product) की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यह शास्त्र मानसिक अनुसन्धान (mental exploration) के परिणामों या फलों में नवीन सम्बन्धों को देखने और परखने की चेष्टा करता है, जबकि मनोविज्ञान मानसिक अनुसन्धान की प्रक्रिया का अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र (Psychology and Ethics)

नीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान—दोनों ही आचरण का अध्ययन करते हैं। परन्तु नीतिशास्त्र का लक्ष्य आचरण की व्याख्या करना नहीं बल्कि मूल्यांकन करना है। यह शास्त्र जीवन के आदर्श निर्धारित करने से ही सम्बन्धित है तथा अच्छे आचरण अथवा बुरे आचरण की व्याख्या करता है एवं उनमें विभेद व्यक्त करता है। इसका तुलनात्मक मनोविज्ञान के सम्मुख जो लक्ष्य होता है वह है—आचरण का वर्णन एवं व्याख्या। यह अच्छे-बुरे में विभेद करने के नियमों में रुचि नहीं लेता। इस प्रकार दोनों विज्ञानों में पर्याप्त वैभिन्य है।

इन दोनों विज्ञानों में एक अन्य प्रकार की विभिन्नता भी है, वह यह कि मनोविज्ञान का आधार वे तथ्य हैं जो अनुभव द्वारा प्राप्त होते हैं और नीतिशास्त्र का आधार चिन्तन है। मनोविज्ञान इस प्रकार एक विधायक विज्ञान है जबकि नीतिशास्त्र एक नियामक विज्ञान है। मनोविज्ञान हमें इस बात से अवगत कराता है कि हम वास्तव में कैसे संकल्प करते हैं जबकि नीतिशास्त्र इस प्रश्न को सम्मुख रखता है कि हमें किस प्रकार के संकल्प करने चाहिए? मनोविज्ञान का क्षेत्र नीतिशास्त्र से अधिक विस्तीर्ण है। नीतिशास्त्र केवल इच्छा से अपना सम्बन्ध रखता है जबकि मनोविज्ञान ज्ञान, वेदना और इच्छा—तीनों प्रकार की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

उपरोक्त विभिन्नता होते हुए भी ये दोनों विज्ञान एक-दूसरे के परस्पर निकट हैं। यदि हमें अच्छे-बुरे का भेद करना है तो आचरण का विश्लेषण करना आवश्यक होगा। हमें यह पता लगाना होगा कि व्यक्ति जो आचरण करता है, उसके कारण क्या हैं? उसके करने की तह में क्या गुप्त इच्छाएँ और प्रेरणाएँ क्रियाशील रहती हैं? यह सब ज्ञान हमें मनोविज्ञान के अध्ययन से ही प्राप्त होता है। अतएव नीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान बहुत लाभप्रद होता है।

मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र (Psychology and Aesthetics)

सौन्दर्यशास्त्र केवल अनुभूति का ही अध्ययन करता है जबकि मनोविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में सब प्रकार की मानसिक क्रियायें आती हैं। मनोविज्ञान ज्ञान, संवेदना एवं इच्छा—तीनों को ही अपने अध्ययन का विषय समझता है। अतएव मनोविज्ञान का क्षेत्र सौन्दर्यशास्त्र से अधिक व्यापक है। सौन्दर्यशास्त्र के विषय में केवल ऐसे भाव आते हैं जो सौन्दर्य विषयक (aesthetic sentiment) हैं परन्तु मनोविज्ञान उचित-अनुचित, सुन्दर-असुन्दर, आदर्शमय व आदर्शरहित—सब प्रकार की संवेदनाओं का अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान, जैसा ऊपर कहा गया है, एक विधायक विज्ञान है और सौन्दर्य-शास्त्र एक नियामक विज्ञान। मनोविज्ञान तो यह अध्ययन करता है कि अनुभूति कैसे की जाती है परन्तु सौन्दर्यशास्त्र इस बात की चेष्टा करता है कि हम सौन्दर्य की उचित रूप से अनुभूति कैसे करें तथा यह भी बताता है कि अनुभूति कैसे करनी चाहिए। मनोविज्ञान तो यह जानना चाहता है कि मानव को कुछ वस्तुएँ सुन्दर और कुछ असुन्दर कैसे और क्यों प्रतीत होती हैं। वह यह जानने के लिये उत्सुक नहीं होता कि वास्तव में वह वस्तु जिसका वह अवलोकन कर रहा है, सुन्दर है अथवा असुन्दर। वह वस्तु के प्रति मानव-मन की प्रक्रिया को ही समझना चाहता है परन्तु सौन्दर्य-शास्त्र पदार्थ की सुन्दरता या कुरूपता पर ही बल देता है। वह यह आदर्श प्रस्तुत करना चाहता है कि मानव उन वस्तुओं के प्रति जिन्हें वह सुन्दर समझता है, सुन्दरता की अनुभूति ही रखे।

यहाँ हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों मानसिक विज्ञानों में भेद होते हुए भी दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। मनोविज्ञान द्वारा यह जानकर कि मानव मन किन-किन दिशाओं में किन वस्तुओं में सौन्दर्य की अनुभूति करता है और किन में कुरूपता की, सौन्दर्यशास्त्र अपने आदर्शों को वांछनीय ढंग से प्रतिपादित कर सकता है। इसी प्रकार सौन्दर्यशास्त्र के आदर्शों से अवगत होकर एक मनोवैज्ञानिक मानव-मन की प्रक्रियाओं को अधिक सम्यक् रूप से समझने में सफल हो सकता है।

मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र (Psychology and Philosophy)

प्राचीन काल में मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र का ही एक अंग माना जाता था। वर्तमान समय में भी बहुत से दार्शनिक इसे दर्शन से अलग करने के पक्ष में नहीं हैं। किन्तु मनोविज्ञान की विषय-वस्तु अब दर्शनशास्त्र से भिन्न है, फिर भी बहुत सी ऐसी मनोविज्ञान की समस्यायें हैं जिनके समाधान के लिए दर्शनशास्त्र के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के बीच में काफी समानता दिखाई पड़ती है।

मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र में मुख्य भेद यह है कि दर्शनशास्त्र अन्तिम सत्य की खोज करता है, जबकि मनोविज्ञान ज्ञान को एक यथार्थ तथ्य के प्रकार से समझना चाहता है। मनोविज्ञान अब अन्य विज्ञानों की तरह सत्य के व्यावहारिक रूप (relative truth) से अपने को अन्य प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित रखता है जबकि दर्शनशास्त्र व्यापक सत्य की खोज करना ही अपना ध्येय मानता है।

मनोविज्ञान की अध्ययन पद्धति अब वैज्ञानिक [illegible]। यह निरीक्षण तथा मनन से ज्ञान प्राप्त करता है। दर्शनशास्त्र की पद्धति मनन और चिन्तन की है। मनोविज्ञान मानसिक जीवन तथा प्रक्रियाओं के अध्ययन तक सीमित रहता है। उसको यह जानने की कोई चिन्ता नहीं कि मन क्या है? यह तो दर्शनशास्त्र का ही विषय [illegible] कि वह मन, आत्मा, जीव, जगत इत्यादि की प्रकृति, उत्पत्ति तथा एक-दूसरे [illegible] साथ सम्बन्ध का अध्ययन करे।

मनोविज्ञान और समाज विज्ञान (Psychology and Sociology)

समाज विज्ञान के विषय हैं—समाज का स्वभाव, उत्पत्ति तथा विकास। यह समाज के विकास का अध्ययन करता है तथा समाज के संगठन के विभिन्न रूपों का अवलोकन करता है। समाज विज्ञान परिवार या समाज को एकता के सूत्र में बाँधने वाले बन्धनों को जानने की चेष्टा करता है तथा समाज की आदतों, रीतियों, परम्पराओं इत्यादि के अध्ययन को महत्त्व देता है। इस प्रकार समाज विज्ञान समाज के सम्बन्ध में तथा व्यक्ति के सम्बन्ध में जिसे एक सामाजिक प्राणी के रूप में लिया जाता है, अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान भी व्यक्ति और समाज का अध्ययन करता है। उसका मुख्य विषय है—पर्यावरण में मानव के समायोजन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन। पर्यावरण दोनों—भौतिक तथा सामाजिक होते हैं। व्यक्ति को दोनों प्रकार के परिवेश में अपने आप को समायोजित करना होता है। इसके सामाजिक परिवेश में वे सभी व्यक्ति आते हैं जिनके सम्पर्क में वह आता है और जिनके साथ उसके विचारों इत्यादि का आदान-प्रदान होता है। तात्पर्य यह कि वह उस समाज का अंग बन जाता है जो उसके चारों ओर होता है और जिसके सदस्यों का प्रभाव उस पर पड़ता है। अब व्यक्ति की समायोजन सम्बन्धी समस्याओं को समझने के लिये उसके सामाजिक परिवेश को समझना आवश्यक है। सामाजिक परिवेश को, समाज का संगठन, उसके रीति-रिवाज, उसकी परम्परायें, उसकी उत्पत्ति के विषय में धारणायें इत्यादि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करके ही समझा जा सकता है। यह सब ज्ञान हमें समाजशास्त्र से मिलता है। अतएव हम कह सकते हैं कि समाज विज्ञान के विषय की जानकारी हमें मनोविज्ञान के अध्ययन के लिये आवश्यक है।

समाज विज्ञान तथा मनोविज्ञान में समानता के साथ-साथ कुछ भेद भी हैं। समाज विज्ञान के अध्ययन में सामूहिक दृष्टिकोण को अपनाया जाता है जबकि मनोविज्ञान के अध्ययन में वैयक्तिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी जाती है। मनोविज्ञान व्यक्ति के सम्बन्ध में अध्ययन करना अपना प्रमुख कार्य समझता है और समाज या समूह का अध्ययन केवल इस कारण करता है कि इस अध्ययन द्वारा उसे व्यक्ति के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त होती है। इसके विपरीत समाज विज्ञान समूह या समाज का अध्ययन अपना प्रमुख कार्य समझता है। इस शास्त्र के लिये व्यक्ति एक इकाई है जो समाज के निर्माण के लिये आवश्यक है और इस कारण यह व्यक्ति पर केवल उतना ही बल देता है जितना कि उसके व्यक्तित्व से समाज या समूह प्रभावित होता है।

मनोविज्ञान तथा अर्थशास्त्र (Psychology and Economics)

अर्थशास्त्र उत्पत्ति, उपभोग, वितरण तथा विनिमय का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र की इन चारों शाखाओं पर मनोविज्ञान का प्रभाव पड़ता है। परन्तु अब मनोविज्ञान की एक शाखा औद्योगिक मनोविज्ञान उत्पत्ति में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को लागू करके उत्पादन बढ़ाने का विशेष अध्ययन करती है। औद्योगिक मनोविज्ञान के सम्बन्ध में हमने प्रथम अध्याय में 'मनोविज्ञान की शाखाएं' के अन्तर्गत वर्णन किया है।

मनोविज्ञान तथा मानव विज्ञान (Psychology and Anthropology)

मानव विज्ञान में शारीरिक स्वरूप, जातीय विशेषताओं तथा सामाजिक विकास का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान भी जातीय विशेषताओं तथा सामाजिक विकास के अध्ययन की ओर ध्यान देता है। इस प्रकार मानवविज्ञान के ज्ञान में मनोविज्ञान की पाठ्य-सामग्री बहुत सहयोग प्रदान करती है।

मनोविज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र (Psychology and Political Science)

मनोविज्ञान राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में भी सहयोग प्रदान करता है। राजनीतिशास्त्र राजनीतिक व्यवहारों के अध्ययन को अपना पाठ्य-विषय बनाता है। इसमें अध्ययन किया जाता है कि राज्य के संगठन किस-किस प्रकार के हो सकते हैं, यह विभिन्न प्रकार के राज्यों के सम्बन्ध में अवलोकन करता है। इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य यह है कि राज्य के संगठन में मानव समूहों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय जिससे कि जनहित संभव हो सके। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हमें राज्य की उस व्यवस्था को, जो जनता को लाभान्वित कर सके, समझने में सहयोग प्रदान करते हैं। राजनीतिशास्त्र में प्रजातन्त्र (democracy), जनमत (public opinion), सामूहिक-मन (group mind), सामान्य इच्छा (general will) इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। इन्हीं सब विषयों का अध्ययन मनोविज्ञान में भी किया जाता है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र एवं मनोविज्ञान के कुछ अध्ययन-विषय एक से होने के कारण एक विषय का अध्ययन दूसरे को प्रभावित करता है।

शिक्षा और मनोविज्ञान (Education and Psychology)

बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान का गहन अध्ययन हुआ। इसी गहन अध्ययन और मनोविज्ञान के विस्तृत ज्ञान के आधार पर शिक्षा की नयी व्याख्या की गयी, उसका नया अर्थ किया गया। मनोविज्ञान हमें बताता है कि बालक की आवश्यकताएँ युवा और प्रौढ़ व्यक्तियों से भिन्न होती हैं, इसलिए बालक की शिक्षा उसकी अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिए। मनोविज्ञान ने व्यक्ति के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, विविध स्थितियों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है जिससे आधुनिक काल में शिक्षा की धारणा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। उदाहरण के तौर पर मनोविज्ञान

के ज्ञान से ही हमें ज्ञात होता है कि बाल्यकाल में खेल-प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है। इसलिये बालक की शिक्षा में खेल-प्रणाली ही सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध होती है।

शिक्षा द्वारा ही व्यक्ति के अन्दर व्यावहारिक परिवर्तन (behaviourial-changes) आते हैं। मनोविज्ञान का सम्बन्ध इन्हीं व्यावहारिक परिवर्तनों से है, जो व्यक्ति में शिक्षा के माध्यम से आते हैं। अतः हम देखते हैं कि शिक्षा और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों का सम्बन्ध 'व्यवहार' से है। शिक्षा के द्वारा बालक के व्यवहार में इष्ट परिवर्तन लाने के लिये यह आवश्यक है कि बालक के संवेगात्मक, बौद्धिक और सामाजिक वातावरण का अध्ययन किया जाय। ये सभी बातें मनोविज्ञान की विषय-वस्तु के अन्तर्गत आती हैं। अतः मनोविज्ञान का अध्ययन उन लोगों के लिये अत्यन्त आवश्यक है जो शिक्षण-कार्य से सम्बन्धित हैं। मनोविज्ञान की जानकारी के बिना सफल शिक्षण और सम्यक् शिक्षा सम्भव नहीं।

शिक्षा के सिद्धान्त के द्वारा हम शिक्षा के उद्देश्य और उसके विषय-विस्तार का ज्ञान प्राप्त करते हैं। मनोविज्ञान इन उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता पहुँचाता है तथा हमें यह भी बताता है कि बालक की शिक्षा कब, कैसे और किस अवस्था में प्रारम्भ होनी चाहिए तथा किस प्रकार की होनी चाहिए। मनोविज्ञान ही हमें यह बताता है कि सीखने की सर्वश्रेष्ठ विधि कौन-सी है। विषय-वस्तु को शीघ्र और रोचक ढङ्ग से कैसे याद किया जा सकता है? बालक के चरित्र का सर्वोत्तम विकास कैसे हो सकता है? रेखागणित की शिक्षा कब सर्वाधिक उपयोगी होती है? बालक को किस अवस्था में किस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए?—आदि।

सारांश

चार प्रकार के विज्ञानों का वर्णन किया जा सकता है। ये हैं—(i) सामाजिक विज्ञान, (ii) मानसिक विज्ञान, (iii) जैविक विज्ञान, तथा (iv) प्राकृतिक विज्ञान। मनोविज्ञान एक मानसिक विज्ञान है और इसका सम्बन्ध अन्य विज्ञानों से है।

मनोविज्ञान और भौतिकशास्त्र—मनोविज्ञान मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। भौतिकशास्त्र उन वस्तुओं एवं शक्तियों का अध्ययन करता है जो मानव-मन में प्रक्रिया उत्पन्न करती हैं। अतएव मनोविज्ञान के समझने में भौतिकशास्त्र सहयोग प्रदान करता है। परन्तु हम मानव मन के व्यापारों का अध्ययन करके उतने सर्वमान्य नियम नहीं बना सकते जितने कि भौतिक विज्ञान के नियम होते हैं।

मनोविज्ञान और रसायनशास्त्र—रसायनशास्त्र अनेक भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तनों का अध्ययन करता है। इन परिवर्तनों की जानकारी हमारे शरीर में होने वाली रासायनिक क्रिया से हमें अवगत कराती है। इन रासायनिक क्रियाओं का मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह अध्ययन मनोविज्ञान के ज्ञान में वृद्धि करता है।

मनोविज्ञान और जीव विज्ञान—जीव-विज्ञान मानव को उच्च स्तर की मानसिक प्रक्रियाओं को समझने में सहयोग देता है। यह सहयोग मनोविज्ञान के ज्ञान में वृद्धि करता है।

मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान—शरीर विज्ञान तथा मनोविज्ञान—दोनों मानव आचरण का अध्ययन करते हैं। शरीर विज्ञान शरीर के विभिन्न भागों की बनावट एवं कार्यप्रणाली का अध्ययन करके मानव आचरण को समझने की चेष्टा करता है, *जबकि मनोविज्ञान मन और शरीर के संगठित कार्य का अध्ययन करके मानव* आचरण की व्याख्या करने की ओर प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार मनोविज्ञान का अध्ययन बिना शरीरशास्त्र के ज्ञान के पूर्ण नहीं हो सकता। परन्तु ये दोनों विज्ञान एक नहीं हो सकते।

मनोविज्ञान और नियामक विज्ञान—नियामक विज्ञान में जो विषय आते हैं, वे हैं—तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र। तर्कशास्त्र का सम्बन्ध आदर्श सत्य से है, सौन्दर्यशास्त्र का सौन्दर्य के आदर्श से, और नीतिशास्त्र का सत्य के आदर्श से।

मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र—मनोविज्ञान तर्कशास्त्र की भाँति विचार को, जो ज्ञान का एक प्रकार है, अपने अध्ययन का विषय मानता है। इस कारण मनोविज्ञान का एक विद्यार्थी तर्कशास्त्र के नियमों को भली-भाँति समझ सकता है। इसी प्रकार तर्कशास्त्र के अध्ययन करने वाले की विचार-शक्ति में भी पैनापन आ जाता है, उसमें मनोविज्ञान पर मनन करने की क्षमता विकसित हो जाती है। मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र में विभिन्नता भी है। वह यह है कि मनोविज्ञान विधायक विज्ञान है जबकि तर्कशास्त्र नियामक विज्ञान। मनोविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र तर्कशास्त्र से अधिक व्यापक है। *तर्कशास्त्र केवल आदर्श विचार से अपना सम्बन्ध रखता है तथा विचारों के* परिणामों की ओर ध्यान देता है, जबकि मनोविज्ञान विचारों को क्रिया की ओर।

मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र—*नीतिशास्त्र भी मानव आचरण का अध्ययन* करता है परन्तु इसका लक्ष्य आचरण का वर्णन करना नहीं वरन् मूल्याङ्कन करना है, *जबकि मनोविज्ञान भी आचरण का अध्ययन करता है परन्तु इसका लक्ष्य आचरण* का वर्णन एवं व्याख्या करना है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान के आधार वे तथ्य हैं जो अनुभव द्वारा प्राप्त होते हैं परन्तु नीतिशास्त्र का आधार चिन्तन है। *मनोविज्ञान का* क्षेत्र भी नीतिशास्त्र से विस्तृत है तथा नीतिशास्त्र के अध्ययन में भी मनोविज्ञान का ज्ञान अत्यन्त सहायक होता है।

मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र—सौन्दर्यशास्त्र केवल अनुभूति का ही अध्ययन करता है जबकि मनोविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में सब प्रकार की *मानसिक प्रक्रियाएँ* आती हैं। इन दोनों विषयों का ज्ञान एक-दूसरे को प्रभावित करता है।

मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र—दर्शनशास्त्र अब भी बहुत-सी मनोवैज्ञानिक समस्याओं को सुलझाने का हल प्रदान करता है। परन्तु इन दोनों विषयों में यह

अन्तर है कि दर्शनशास्त्र 'अन्तिम सत्य' की खोज करता है, जबकि मनोविज्ञान ज्ञान को एक यथार्थ तथ्य के प्रकार से समझना चाहता है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक है, जबकि दर्शनशास्त्र की पद्धति मनन और चिन्तन पर आधारित है।

मनोविज्ञान और समाज विज्ञान—मनोविज्ञान और समाज विज्ञान—दोनों ही सामाजिक अध्ययन को अपना विषय समझते हैं। मनोविज्ञान सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के समाजिक समाकलन का अध्ययन करता है। इस अध्ययन मे समाजशास्त्र का ज्ञान परम सहायक होता है। परन्तु इन दोनों विषयों के अध्ययन के दृष्टिकोण मे वैभिन्य है। समाज विज्ञान के अध्ययन मे सामूहिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है जबकि मनोविज्ञान के अध्ययन मे वैयक्तिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी जाती है।

मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र—औद्योगिक मनोविज्ञान द्वारा मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का अर्थशास्त्र में किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है, इसका अध्ययन अर्थशास्त्र करता है।

मनोविज्ञान तथा मानव विज्ञान—मानव विज्ञान की ज्ञान-वृद्धि में मनोविज्ञान की पाठ्य-सामग्री बहुत उपयोगी सिद्ध होती है।

मनोविज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र—राजनीतिशास्त्र एवं मनोविज्ञान के कुछ अध्ययन विषय समान होने के कारण एक विषय का अध्ययन दूसरे विषय को प्रभावित करता है।

मनोविज्ञान तथा शिक्षाशास्त्र—शिक्षा द्वारा व्यक्ति के अन्दर व्यावहारिक परिवर्तन लाये जाते हैं। मनोविज्ञान का सम्बन्ध इन्हीं व्यावहारिक परिवर्तनों से है जो व्यक्ति मे शिक्षा के माध्यम से आते हैं। अतएव शिक्षा और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. मनोविज्ञान को आप किस प्रकार के विज्ञान की श्रेणी मे रखेंगे ? युक्तियुक्त पूर्वक उत्तर दीजिए।

२. मनोविज्ञान तथा भौतिक विज्ञान एवं मनोविज्ञान तथा नियामक विज्ञान में सम्बन्ध बताइये तथा इस पर प्रकाश डालिये कि मनोविज्ञान के ज्ञान पर इन विज्ञानो का क्या प्रभाव पड़ता है ?

३. 'मनोविज्ञान का दृष्टिकोण वैयक्तिक है जबकि समाजविज्ञान का सामूहिक।' इस कथन की पुष्टि सोदाहरण कीजिये।

४. क्या हम शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान को समान समझ सकते हैं ? कारण सहित अपने विचार व्यक्त कीजिये।

५. शिक्षा-मनोविज्ञान और मनोविज्ञान के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिये।
६. "मनोविज्ञान सौन्दर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र से अधिक व्यापक है।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं? सप्रमाण उत्तर दीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. गिलफोर्ड, जे० पी० : जनरल सायकॉलोजी, लन्दन, चेपमान एण्ड हाल; १९३९।
२. माथुर, एस० एस० : शिक्षा-मनोविज्ञान, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर; १९६१।
३. सिन्हा, जे० एन० : मनोविज्ञान, आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, १९६०।
४. केलर, एफ० एस० : दि डेफिनेशन आफ सायकॉलॉजी, न्यूयार्क, एपलटन सेन्चरी, १९३७।
५. मरफी, जी० : हिस्टोरिकल इन्ट्रोडक्शन टू मॉडर्न सायकॉलॉजी, न्यूयार्क, हारकोर्ट ब्रेस, १९२९।

३

मनोविज्ञान की पद्धतियाँ[1]

कभी-कभी जब आप क्रोध की अनुभूति करते हैं, तो यह विचार करते हैं कि आखिर यह मनोविकार क्यों और कैसे उत्पन्न हुआ ? आप अपने मन से तर्क करते हैं कि मैं क्यों अमुक व्यक्ति पर क्रोधित हुआ अथवा क्यों किसी से भयभीत हुआ ? इन सभी समस्याओं का समाधान आप तर्क द्वारा करते हैं। आपका यह विश्लेषण उस भाव-दशा के साथ-साथ भी हो सकता है और उस भाव के समाप्त होने के उपरान्त भी। यह विश्लेषण किसी भी दशा में किया गया हो, आपको कुछ नवीन विचार प्रदान करता है। आप इससे कुछ निष्कर्ष निकालते हैं तथा आपकी विचारणा में कुछ वृद्धि होती है। ठीक इसी प्रकार दूसरे लोगों के 'व्यवहार (behaviour) का अध्ययन करने से आप उनके मन मे होने वाली मानसिक क्रियाओं के बारे मे जानकारी प्राप्त करते हैं और उनके प्रति आप अपनी एक निश्चित धारणा बना लेते हैं। मान लीजिए आप किसी अधिकारी से मिलने जाते हैं, आप उसे क्रोधित मुद्रा मे देखते हैं, आँखें लाल-लाल, भौंहें तनी हुई; उस स्थिति में आप उसे क्रोधित समझ उससे अपनी बात नहीं कहते। किन्तु जब आप उसे मुस्कराता हुआ और प्रफुल्ल वदन देखते हैं तो तुरन्त ही अपनी कठिनाइयों को उसके सामने रख देते हैं। अतः अधिकतर आपका 'व्यवहार' इस बात पर निर्भर रहता है कि आपके 'व्यवहार' के प्रति दूसरे के मन में कैसी प्रतिक्रिया होगी। जिस प्रकार से आप अपनी व दूसरों की मानसिक प्रक्रियाओं (mental-activities) का निरीक्षण व व्याख्या करते हैं, ठीक उसी प्रकार से मनोविज्ञान भी

---

1. Methods of Psychology.

मन और उसकी प्रक्रियाओं को समझने की चेष्टा करता है। मन और उसकी *प्रक्रियाओं को समझने की जिन विधियों को आप अपने दैनिक जीवन में अपनाते हैं,* वे अपरिष्कृत होती हैं। किन्तु मनोविज्ञान की अध्ययन पद्धतियाँ कहीं अधिक परिष्कृत और वैज्ञानिक होती हैं। एक मनोवैज्ञानिक आत्मनिरीक्षण (self-observation) एवं दूसरों के व्यवहार के निरीक्षण द्वारा तथा अन्य इसी प्रकार के साधनों से मानसिक *प्रक्रियाओं के प्रति एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करता है, जिससे वह मनोविज्ञान के नियमों* और सिद्धान्तों की रचना करता है। प्रस्तुत अध्याय में हमारा प्रयास यह है कि आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिकों द्वारा अपनाई जाने वाली अभिनव पद्धतियों और प्रविधियों का विवेचन करें।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आधुनिक पद्धतियाँ

आधुनिक युग मे मनोविज्ञान अध्ययन के लिये वैज्ञानिक पद्धतियों का सहारा लेता है। वैज्ञानिक अनुसंधान और खोजों का आधार यथार्थ, वस्तुनिष्ठ (objective) और सत्याप्य (verifiable) होता है। दक्ष वैज्ञानिक प्रयोगों तथा परीक्षणों द्वारा सही तथ्यों को प्राप्त कर अनुसंधान करते हैं। वैज्ञानिक एक तटस्थ किन्तु कुशल निरीक्षक के समान प्रयोगों द्वारा तथ्यो को संकलित करता और नियम बनाता है। इसलिये वैज्ञानिक पद्धति द्वारा निकाले गये निष्कर्ष सदैव सही और विश्वसनीय होते हैं। वैज्ञानिक कोई पूर्वधारणा लेकर नहीं चलता, वह तो यथार्थ के निरीक्षण और परीक्षण से ही तथ्यों को प्राप्त करता, उनकी व्याख्या करता और नियम बनाता है। वैज्ञानिक अनुसंधानों के सिद्धान्त के आधार पर ही मनोविज्ञान की आधार सामग्री (data) को संकलित किया जाता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक के ज्ञान-भण्डार को वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा अधिक समृद्ध बनाया जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता वैज्ञानिक पद्धतियों को विविध प्रकार से प्रयोग में लाते हैं। इन पद्धतियों का प्रयोग अनुसंधान की ठीक-ठीक विधि, समस्या के स्वरूप, उसके उद्देश्य और अनुसंधानकर्त्ता के साधन-सम्पन्न होने पर अवलम्बित रहता है। *आधुनिक युग में अध्ययन की नयी-नयी पद्धतियों का आविष्कार होता जा रहा है।* ये अभिनव पद्धतियाँ पुरानी पद्धतियों से कहीं अधिक सही और वैज्ञानिक हैं। आज मनोविज्ञान द्वारा जिन अभिनव पद्धतियों को अपनाया जाता है वे मुख्यतः दो प्रकार की हैं—(१) निरीक्षण पद्धतियाँ (methods of observation), (२) विवरण पद्धतियाँ *(methods of exposition)। मनोविज्ञान में निरीक्षण पद्धतियाँ दो प्रकार की मानी* गई हैं—

(१) अन्तर्दर्शन पद्धति (introspection or subjective observation),
(२) बहिर्दर्शन पद्धति (extrospection objective or observation)।

जब मनोवैज्ञानिक अपनी स्वयं की मानसिक दशा का निरीक्षण करता है तो

यह विधि 'अन्तर्दर्शन पद्धति' कहलाती है, और जब दूसरे के व्यवहार तथा उसकी मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है तो 'बहिर्दर्शन पद्धति' कहलाती है।

अन्तर्दर्शन पद्धति

अध्ययन की यह पद्धति मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्राचीन काल में बहुत अधिक अपनायी जाती थी। किन्तु आधुनिक काल में यह अधिक वैज्ञानिक नहीं मानी जाती है, इसलिये इसका प्रयोग अब बहुत कम हो गया है। आधुनिक मनोविज्ञान एक शुद्ध विज्ञान माना जाता है, अतएव उसकी पद्धतियाँ भी पूर्ण वैज्ञानिक होनी चाहिए। इस पद्धति में पर्याप्त वैज्ञानिकता का अभाव है, इसी कारण यह उतनी मान्य और उपयोगी नहीं समझी जाती। फिर भी कुछ मनोवैज्ञानिक अब भी इसका प्रयोग करते हैं।

अन्तर्दर्शन का अर्थ—टिचनर के अनुसार "अपने अन्दर देखना ही अन्तर्दर्शन है"[1], जबकि ऐन्जिल के अनुसार "अन्तःप्रेक्षण ही अन्तर्दर्शन है।"[2] अन्तर्दर्शन में व्यक्ति स्वयं अपनी मानसिक स्थिति का अवलोकन करता है तथा अपनी स्वयं की मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण करता है। स्टाउट का कथन है—"अपने मस्तिष्क के कार्य-व्यापारों का एक क्रमबद्ध रीति से अध्ययन करना ही अन्तर्दर्शन है।"[3] अन्तर्दर्शन का अर्थ निरीक्षण है किन्तु वुडवर्थ के शब्दों में यह "आत्मनिरीक्षण" (*self-observation*) है। वुडवर्थ की यह व्याख्या अधिक स्पष्ट और समीचीन है।

अन्तर्दर्शन की तीन प्रमुख दशाएँ—(१) कभी-कभी किसी बाह्य वस्तु का निरीक्षण करते समय व्यक्ति अपनी स्वयं की ही मानसिक स्थिति के बारे में चिन्तन करने लगता है। उदाहरणस्वरूप, रेडियो पर संगीत सुनते समय वह विचारने लगता है कि जो संगीत वह सुन रहा है, वह रुचिकर है अथवा नहीं।

(२) व्यक्ति कभी-कभी अपने कार्यों से सम्बन्धित अपने मन से स्वयं प्रश्न करता है। वह सोचता है और विश्लेषण करता है कि अमुक कार्य उसने क्यों किया? अमुक-अमुक व्यक्तियों से उसने विशेष प्रकार का व्यवहार क्यों किया? इस प्रकार के विचार व्यक्ति के मस्तिष्क में आते रहते हैं और वह 'अपने व्यवहार' के लिये 'क्यों' और 'कैसे' आदि प्रश्नों का उत्तर अपने मन में स्वतन्त्र रूप से खोजा करता है।

(३) व्यक्ति अपनी मानसिक प्रक्रियाओं के संशोधन और सुधार के बारे में विचारता है। वह उनके लिये विशेष नियम निर्धारित करता है कि अमुक-अमुक परिस्थितियों में मस्तिष्क अमुक-अमुक प्रकार से कार्य करता है। वह अपने विचारों में अधिक बौद्धिकता और तर्क-प्रधानता लाना चाहता है तथा अपने संवेगों पर नियन्त्रण

---

1. "Introspection is looking within."—*Tichener.*
2. "Looking inward"—*Angel.*
3. "To Introspect is to attend to the workings of one's own mind in a systemetic way."—*Woodworth.*

मैलोन (Mellone) के अनुसार "मानसिक प्रक्रियाओं के समाप्त हो जाने के उपरान्त शीघ्र ही उनका अध्ययन करना अतीत दर्शन है", किन्तु स्मृति में उनके चिन्ह स्पष्ट अंकित हों। अतः अतीत दर्शन में हम अपनी अनुभूतियों का अध्ययन 'स्मृति' के द्वारा करते हैं। जैसे ही अनुभूति समाप्त होती है, ठीक उसी के बाद उस अनुभव का अध्ययन करते हैं।

(२) अन्तर्दर्शन पद्धति में मस्तिष्क को अपना अवधान दो विषयों (objects) पर केन्द्रित करना पड़ता है—प्रथम मानसिक प्रक्रिया और दूसरा उस विषय पर, जिधर मानसिक प्रक्रिया संचालित हो रही है। इस प्रकार एक ही समय में मस्तिष्क को द्विविधि कार्य करना पड़ता है, अतः वह दो भागों में विभाजित हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि देखने की प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं तो हमें शीघ्र ही देखने के मानसिक व्यापार तथा उस वस्तु पर जिसके प्रति मानसिक प्रक्रिया हो रही है, ध्यान देना होता है। यदि हम वस्तु पर ध्यान देना छोड़ दें और केवल देखने की मानसिक प्रक्रिया पर ध्यान दें तो देखने की क्रिया रुक जायगी।

उपचार—इस कठिनाई का निराकरण भी 'अभ्यास' के द्वारा किया जा सकता है। अवधान को इतना अभ्यस्त और प्रशिक्षित बनाया जा सकता है कि वह मानसिक प्रक्रिया और वस्तु—दोनों पर एक-एक क्षण के उपरान्त केन्द्रीभूत हो सके तथा अत्यन्त लाघव से दोनों का ही निरीक्षण कर सके। इस प्रकार वह एक क्षण वस्तु पर स्थिर होकर, दूसरे ही क्षण मानसिक क्रिया का अध्ययन कर सकता है।

(३) टिचनर के मतानुसार "मानसिक क्रियाएँ क्षणिक, अस्थिर एवं सूक्ष्म होती हैं।"[1] व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाएँ लगातार प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। अतः वे हमारे निरीक्षण की दिशा को बदल देती हैं। हमारे भाव एवं विचार क्षणिक और परिवर्तनशील होते हैं। वे तब तक रुक नहीं सकते जब तक कि हम उनका अध्ययन करें, क्योंकि उनका स्वरूप ही क्षणभंगुर और अस्थायी होता है।

उपचार—प्रस्तुत कठिनाई को दूर करने के लिये हमें अभ्यास द्वारा मस्तिष्क में ऐसी 'क्षमता' उत्पन्न करनी चाहिए जिससे वह अत्यन्त लाघव से बिना किंचित् मात्र भी समय नष्ट किये मानसिक प्रक्रिया का अध्ययन कर सके। इस दोष को दूर करने के लिये हम 'अतीत दर्शन' पद्धति को भी अपना सकते हैं।

(४) अन्तर्दर्शन पद्धति में चौथी कठिनाई यह आती है कि भौतिक पदार्थों का अध्ययन करना तो सरल होता है—क्योंकि उनका एक स्थिर स्वरूप, रंग, रूप और स्पष्ट आकार होता है परन्तु मानसिक विषयों (mental objects) का अध्ययन उतना

1. "Mental processes are likely to be transient, ellusive, slippery."
—*Tichener.*

सरल नहीं होता क्योंकि मानसिक प्रक्रियाएँ अनिश्चित, अस्थिर, अस्पष्ट एवं क्षणभंगुर होती हैं।

उपचार—मनोवैज्ञानिकों के मत से मस्तिष्क को ठीक ढंग से प्रशिक्षित करने पर इस बाधा को दूर किया जा सकता है।

(५) अन्तर्दर्शन में अन्तिम कठिनाई यह आती है कि दो मनोवैज्ञानिक एक साथ एक ही मानसिक प्रक्रिया का अध्ययन नहीं कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाएँ उसकी नितान्त व्यक्तिगत होती हैं। अतएव यह सम्भव नहीं कि एक व्यक्ति दूसरे की मानसिक प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष अध्ययन कर सके। अन्तर्दर्शन पद्धति का यही सबसे बड़ा दोष है और इसी के कारण यह पद्धति अवैज्ञानिक मानी जाती है।

उपचार—इस कठिनाई को दूर करने के लिये मनोवैज्ञानिकों को आपस में सहयोग से कार्य करना पड़ेगा, अपनी मानसिक दशाओं का अलग-अलग अध्ययन करना होगा, फिर अपने अनुभव को एक-दूसरे को बताना होगा। इस प्रकार दोनों के अध्ययन की तुलना से प्राप्त निष्कर्षों से जो सिद्धान्त बनाया जायगा वही सार्वलौकिक होगा।

बहिर्दर्शन पद्धति

मनोविज्ञान का अर्थ जब तक 'चेतना' का ही अध्ययन करना माना जाता था तब तक अन्तर्दर्शन पद्धति उपयुक्त थी। किन्तु मनोविज्ञान की अध्ययन परिधि में जब से बालक, किशोर, युवा, प्रौढ़—सभी आ गये तथा उसमें चेतन-अवचेतन मस्तिष्क का अध्ययन होने लगा, विकृत और विक्षिप्त मस्तिष्क का अध्ययन भी मनोविज्ञान का विषय (subject matter) हो गया तो अन्तर्दर्शन पद्धति अपूर्ण सिद्ध हुई। फलतः सुधी मनोवैज्ञानिकों ने नवीन पद्धतियों की खोज निकाला जो अधिक वैज्ञानिक थीं। इनमें प्रथम बहिर्दर्शन पद्धति थी। बहिर्दर्शन पद्धति में निरीक्षण और परीक्षण—दोनों ही विधियों को अपनाया जाता है।

अन्तर्दर्शन पद्धति में अपनी ही मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है किन्तु बहिर्दर्शन में हम दूसरों की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। यह अध्ययन दूसरों के व्यवहार के निरीक्षण के द्वारा किया जाता है। हम यह निरीक्षण करते हैं कि एक व्यक्ति क्रोधित अवस्था में किस प्रकार का व्यवहार करता है? उसके ऊपर क्रोध की कैसी प्रक्रिया होती है? उसमें क्या-क्या शारीरिक परिवर्तन आते हैं? इस प्रकार क्रोधजनित उसके अनुभवों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है। वस्तुतः हम उसके शारीरिक परिवर्तनों को देखकर अपने पूर्व अनुभव के आधार पर उसके व्यवहार की व्याख्या करते हैं। हमारा अपना अनुभव अन्तर्दर्शन द्वारा किये गये अपने मस्तिष्क के अध्ययन के ऊपर आधारित होता है। हम अपने पूर्व अनुभव के [illegible] पर यह जानते हैं कि क्रोध के समय आँखें लाल हो जाती हैं, भौंहें तन जाती [illegible] क्रोधित व्यक्ति गुस्से में चीखने लगता है तथा हाथों को इधर-उधर फेंकता है।

अतः जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार से व्यवहार करते देखते हैं तो हम समझ जाते हैं कि वह क्रोधित है।

बहिर्दर्शन में उसकी मानसिक प्रक्रिया के साथ-साथ उसकी शारीरिक दशा का भी अध्ययन किया जाता है। उद्दीपक (stimulus) के प्रति विषयी के शरीर में किस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, नाड़ी मण्डल (nervous system) किस प्रकार कार्य करता है, इन सभी दैहिक व्यापारों का अध्ययन किया जाता है। दूसरे लोगों के मस्तिष्क के कृतित्व का भी अध्ययन किया जाता है, जिससे कि उसके मस्तिष्क का ठीक-ठीक आकलन कर सकें। इससे हम किसी राष्ट्र के मानसिक स्तर, उसके नागरिकों की मानसिक योग्यता के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं—क्योंकि किसी राष्ट्र का साहित्य, कला और विज्ञान का स्तर उस राष्ट्र के मानसिक स्तर का द्योतक होता है।

बहिर्दर्शन पद्धति के दोष :—

(१) इस पद्धति में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बहिर्दर्शक अपने भावों, विचारों और चिन्तन की अनुभूतियों को दूसरों के मस्तिष्क पर थोपना चाहते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि परिस्थिति विशेष में जैसा बहिर्दर्शक सोचता है वैसा ही दूसरा भी सोचता हो। हम दूसरों के मस्तिष्क का अध्ययन पूर्ण वस्तुनिष्ठ वैषयिक (objective) एवं व्यक्ति निरपेक्ष नहीं कर सकते वरन् अपने मस्तिष्क के पूर्व अनुभवों के आधार पर दूसरों की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन और उनकी व्याख्या करते हैं। अतः जब हम अपने मानसिक स्तर से भिन्न मानसिक स्तर वाले व्यक्तियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करते हैं तो अनुमान के कारण हमारे निरीक्षणों में निष्कर्ष अशुद्ध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—एक प्रौढ़ बहिर्दर्शक जब किसी बालक, किशोर अथवा किसी जंगली आदमी के व्यवहार की व्याख्या करता है तो वह व्याख्या गलत हो सकती है क्योंकि बालक, किशोर या जंगली आदमी के मानसिक स्तर पर अपने आप को लाना बहिर्दर्शक के लिये अत्यन्त कठिन है।

उपचार—यदि मनोवैज्ञानिक अपनी रचनात्मक कल्पना-शक्ति को अभ्यास के द्वारा क्रमशः बनाए तथा मनोवैज्ञानिक विचार एवं अनुमान के द्वारा दूसरों का अध्ययन करे तो यह कठिनाई दूर हो सकती है। बहिर्दर्शक अभ्यास के द्वारा अपने मानसिक स्तर और विषयी में सरलता से भेद कर सकता है। व्यक्ति के विकास की मानसिक और शारीरिक अवस्था के अनुसार अवस्था-विशेष की मूल प्रवृत्तियों आदि को ध्यान में रखते हुए सफलतापूर्वक उनका अध्ययन किया जा सकता है।

(२) बहिर्दर्शन पद्धति में दूसरी कठिनाई यह है कि बहिर्दर्शक प्रायः दूसरों के व्यवहार की व्याख्या करते समय अपनी पूर्वधारणाओं एवं पूर्वाग्रह से प्रभावित हो जाता है। जैसे हम लोग अपने किसी मित्र अथवा स्वजन के व्यवहार का वर्णन करते समय उसकी बुराइयों को भूल जाते हैं।

उपचार—बहिर्दर्शक द्वारा निष्पक्ष भाव की नीति को अपनाने से इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। एक वैज्ञानिक के लिये यह परम आवश्यक है कि वह तटस्थ दृष्टा और निष्पक्ष व्यक्ति हो। इसलिए एक मनोवैज्ञानिक को भी अध्ययन के समय निष्पक्ष एवं सम्यक् दृष्टिकोण अपनाने का स्वभाव डालना चाहिए।

(३) कभी-कभी विषयी (subject) ऐसा ढोंगपूर्ण व्यवहार करता है जिससे उसके वास्तविक व्यवहार का सही-सही अध्ययन नहीं किया जा सकता तथा बहिर्दर्शक उसके व्यवहार की गलत व्याख्या कर सकता है। विषयी अपनी आन्तरिक अनुभूतियों को बाह्य मुद्रा और शारीरिक चेष्टाओं द्वारा उन्हें अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट नहीं होने देता। वह अपनी मूल मानसिक प्रक्रियाओं को छिपाकर इस प्रकार से व्यवहार करता है कि बहिर्दर्शक उससे धोखा खा जाता है।

उपचार—यदि मनोवैज्ञानिक अपने कार्य में दक्ष है और विषयी के 'व्यवहार' का सूक्ष्म निरीक्षण करता है, साथ ही उसके विविध प्रकार के कई व्यवहारों का अध्ययन कुशलतापूर्वक एवं समालोचनात्मक दृष्टि से करता है तो वह इस कठिनाई को आसानी से दूर कर सकता है।

प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)

मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिये सर्वाधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण पद्धति प्रयोगात्मक (expeimental method) है। आज मनोविज्ञान में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। यह पद्धति बहिर्दर्शन से अधिक विकसित और वैज्ञानिक है। इसमें परीक्षणों द्वारा निरीक्षण किया जाता है और निष्कर्ष निकाला जाता है।

नियन्त्रित वातावरण में किया गया निरीक्षण ही परीक्षण है—प्रयोगात्मक-पद्धति में वातावरण पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखकर विषयी की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। प्रायः बाल-समूह या पाठशाला के विद्यार्थियों को परीक्षण के लिये चुना जाता है। परीक्षण का उपयोग अन्तर्दर्शन और बहिर्दर्शन—दोनों पद्धतियों में किया जा सकता है। परीक्षण के लिये एक विशिष्ट वस्तु चुन ली जाती है और उन सभी सम्बन्धित वस्तुओं को उससे अलग रखा जाता है जो मानसिक प्रक्रिया पर प्रभाव डाल सकें। यह विशिष्ट वस्तु कोई मानसिक प्रक्रिया ही होती है। इस प्रकार नियन्त्रित और उपयुक्त वातावरण उत्पन्न कर परीक्षण किये जाते हैं। उनके परिणामों को लिख लिया जाता है, फिर उनसे निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

प्रयोगात्मक पद्धति में दोष :—

बहुत-सी ऐसी मानसिक प्रक्रियाएँ हैं जिनके ऊपर परीक्षण सम्भव नहीं क्योंकि हम अपनी इच्छानुसार उनको उत्पन्न नहीं कर सकते। जैसे—

मनोवैज्ञानिक प्रयोग (Experiment in Psychology)—कभी-कभी प्रयोग

की परिभाषा यह दी जाती है कि प्रयोग का अर्थ—प्रकृति से प्रश्न करना है।"[1] इस कथन का तात्पर्य यह है कि प्रयोगकर्त्ता प्रकृति के सम्मुख एक कुशल प्रयोग करने वाला है तो वह यह प्रश्न इस प्रकार रखता है कि उसे उचित उत्तर मिल जाय। 'प्रकृति' शब्द में "प्रकृति की समरूपता" (uniformity of nature) का भाव निहित है। "प्रकृति की समरूपता" से हमारा तात्पर्य यह है कि समान दशाओं में घटित होने वाली सभी बातें समान होंगी और उनके परिणाम भी समान होंगे। प्रयोग, भौतिकशास्त्र, तथा रसायनशास्त्र तथा शरीरशास्त्र की विषय-सामग्री प्राप्त करने के लिये किये जाते हैं। ये शास्त्र "प्रकृति की समरूपता" में विश्वास रखकर ही प्रयोगों द्वारा अपनी सामग्री में वृद्धि करते हैं। मनोवैज्ञानिक प्रयोग भी इसी बात को मानकर किये जाते हैं कि "मानवीय व्यवहार प्रकृति का तत्त्व है" (Human behaviour belongs to the system of nature)। इससे तात्पर्य यह है कि मनोवैज्ञानिक प्रयोगों में यह सम्भावना निहित होती है कि एक-सी दशाओं में मनुष्य का व्यवहार भी एक-सा ही होगा।

प्रयोग में वस्तुओं को एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित किया जाता है और फिर यह देखा जाता है कि इस क्रम में रखने से क्या परिणाम निकलते हैं। ये परिणाम उस प्रश्न के उत्तर को प्रदान करते हैं जो कि प्रकृति से पूछा जाता है।

प्रयोग की विशेषताएँ—प्रयोग क्यों इतना महत्त्वपूर्ण है, यह समझने के लिए इसकी मुख्य विशेषताओं का अवलोकन करना आवश्यक है। यथा—

(१) **दोहराना (Repetition)**—प्रयोग की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसको दोहराया जा सकता है। दोहराने के कारण ही हम इसके निष्कर्ष की सत्यता को बिना किसी शक के स्थापित कर सकते हैं। हम प्रयोग को अपनी सुविधानुसार दोहरा सकते हैं। निरीक्षण में हमें उस समय तक रुकना पड़ता है, जब तक कि निरीक्षण की उपयुक्त दशाएँ अपने आप प्राप्त नहीं हो जातीं। किन्तु प्रयोग में दशाएँ स्वयं निर्धारित की जा सकती हैं।

(२) **नियंत्रण (Control)**—प्रयोग की दूसरी विशेषता 'नियंत्रण' है। एक प्रयोग में हम विभिन्न दशाओं पर नियंत्रण रखते हैं और केवल उस दशा या उन दशाओं का प्रभाव देखते हैं जिनके सम्बन्ध में फल प्राप्त करने हैं।

(३) **चल-राशियाँ (Variables)**—प्रयोग में चल राशियों का निर्धारण भी आवश्यक होता है। कोई प्रयोग करने में दो या उससे अधिक चल राशियाँ होती हैं। यह राशियाँ दो प्रकार से वर्णित की जा सकती हैं—स्वतंत्र चल राशि (independent variable), परतंत्र चल राशि (dependent variable)। स्वतंत्र चल राशि वह है जिसको हम बिना किसी अन्य राशि पर प्रभाव डाले घटा-बढ़ा सकते हैं, जैसे—प्रशंसा

---

1. "An experiment is sometimes described as a question put to nature."—Woodworth, R. S. and Marquis, D. G.: *Psychology*, London, Methuen, 1949.

तथा आरोप स्वतन्त्र राशि है जबकि सीमना परतंत्र राशि है, क्योंकि सीमना प्र तथा आरोप द्वारा घट-बढ़ सकता है। प्रयोग का वर्णन हमने आगे किया है।

(४) परिसीमन (*Limitations*) प्रयोग एक बहुत अच्छी विधि का सूच किन्तु इसकी परिसीमाएँ भी हैं, जो निम्न प्रकार है :—

(अ) इसका प्रयोग हम उन सब दशाओं में नहीं कर सकते जिनमें हम कर चाहते हैं। मनोविज्ञान में यह एक मुख्य समस्या है। बहुत से मनोविज्ञान के अध्य प्रयोग द्वारा नहीं किए जा सकते।

(ब) प्रयोग का नियोजन कृत्रिम ढंग (artificially) से वैज्ञानिक द्वारा कि जाता है। इसमें जिन राशियों को चल या अचल रखा जाता है वह प्रयोगकर्ता अपने व्यक्तिगत विचार पर होता है। फलस्वरूप कभी अच्छे निष्कर्ष प्राप्त हो जाते और कभी जब चुनाव ठीक नहीं हो पाता तो प्रयोग व्यर्थ हो जाता है।

(स) एक अन्य परिसीमन यह है कि प्रयोग कभी-कभी उसी वस्तु के सा अवरोध उत्पन्न कर देता है जिसका अध्ययन करना है। मनोविज्ञान के प्रयोगों में य एक महत्वपूर्ण परिसीमन है। जैसे—जब प्रयोगशाला में किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व क अध्ययन किया जाता है तो वह यह जानकर कि उस पर प्रयोग हो रहा है, ऐस व्यवहार दर्शाने लगता है जो कि उसके व्यक्तित्व का बिल्कुल ही गलत रूप प्रस्तु कर देता है।

एक रासायनिक प्रयोग—यहाँ रसायनशास्त्र के एक उदाहरण द्वारा हम एव प्रयोग के मुख्य तथ्यों को व्यक्त करेंगे। प्रकृति में हमें पानी मिलता है। हम इस पदार के सम्बन्ध में जानना चाहते हैं कि इस पदार्थ के तत्व किस मात्रा में मिलकर इसे बनाते हैं? अब हम प्रयोग करने में अपने को और सीमित करेंगे कि इसके अवयवों (*constituents*) के मिलने की मात्रा भार (*weight*) के दृष्टिकोण से या आयतन (*volume*) के दृष्टिकोण से निकालनी है। यदि हम यह निश्चित करते हैं कि आयतन के आधार पर हमें इन अवयवों के मिलकर पानी बनाने की मात्रा का अध्ययन करना है तब हम यह चेष्टा करेंगे कि पानी का विश्लेषण (analysis) इस प्रकार करें कि अनुपात के आधार पर इसके अवयव हमें मिल जायें, और जब ये अवयव मिल जायेंगे तो हम उनकी माप करके अपना निष्कर्ष निकाल लेंगे। अतएव इस प्रयोग में हम प्रकृति से पूछे हुए प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिये पानी का एक निश्चित ढंग से विश्लेषण करते हैं। पानी का विश्लेषण करने के लिये जिस यन्त्र का हम उपयोग करते हैं, उसका चित्र अगले पृष्ठ पर दिया गया है। इस यन्त्र का नाम 'वोल्टामीटर' (voltameter) है।

इस यन्त्र की नलियों में जल भर दिया जाता है और विद्युत प्रवाहन करने प जल अपने अवयवों में विभाजित हो जाता है। एक ओर हाइड्रोजन गैस इकट्ठी हो जाती है और दूसरी ओर आक्सीजन गैस। इन दोनों गैसों के अनुपात को माप करने से पता चलता है कि आक्सीजन और हाइड्रोजन का अनुपात १:२ का है। इससे

हमारा निष्कर्ष निकलता है कि आक्सीजन तथा हाइड्रोजन गैस आयतनात्मक रूप से १ : २ के अनुपात में मिलकर पानी बनाती हैं। परन्तु हमारा यह निष्कर्ष एक ही दशा में निकाला गया है। इसकी सर्वमान्य सत्यता जानने के लिये यही प्रयोग विभिन्न
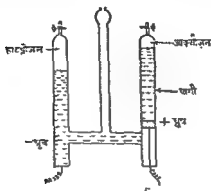
[चित्र ३—वोल्टामीटर]

स्थानों पर दोहराया जायेगा और निष्कर्ष निकाला जायेगा। इसके अतिरिक्त अन्य यन्त्रों और अन्य विधियों द्वारा भी पानी का विश्लेषण एवं संश्लेषण (synthesis) किया जायेगा। संश्लेषण में हाइड्रोजन गैस और आक्सीजन गैस को २ : १ के अनुपात में मिलाकर देखा जायगा कि पानी बनता है या नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य दशाओं में (जैसे—तापमान में परिवर्तन करके, पानी में अशुद्धि मिलाकर) परिवर्तन करके भी पानी के बनने में आक्सीजन और हाइड्रोजन के अनुपात का अध्ययन किया जायगा और पता लगाया जायगा कि इन विशिष्ट दशाओं का इस पर क्या प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त 'प्रयोग' के वर्णन से एक वैज्ञानिक प्रयोग के मुख्य स्तर उभर आते हैं। हम संक्षेप में इनका सारांश इस प्रकार लिख सकते हैं :—

१. प्रश्न या समस्या का प्रस्तुत होना।
 (पानी के अवयव का अनुपात जानना)
२. प्रश्न या समस्या का अवलोकन तथा उसकी सीमाएँ बाँधना।
 (केवल आयतनात्मक संगठन का अध्ययन)
३. उस विधि का निर्धारण करना जिससे समस्या हल हो सके।
 (वोल्टामीटर का उपयोग)
४. प्रयोग के समय अन्य दशाओं (constituant) को स्थिर रखना।
 (तापक्रम, अशुद्धि इत्यादि एक समान पूर्वनिश्चित धारणा के अनुसार रखना)

५. प्रयोग के परिणाम प्राप्त करके निष्कर्ष निकालना।
(हाइड्रोजन और आक्सीजन के अनुपात का पता लगाना)

६. उसी प्रयोग को दोहरा कर *अन्य उपकरण या यन्त्रों की सहायत* उन्ही दशाओं मे प्रयोग के निष्कर्षों की पुष्टि करना।
(हाइड्रोजन और आक्सीजन के अनुपात का अध्ययन अन्य प्रयोगों द्वारा या उसी यन्त्र की सहायता से अनेक बार करना)

७. *दशाएँ बदल कर प्रयोग के परिणामों पर प्रभाव देखना।*
(तापमान इत्यादि बढ़ा या घटा कर आयतनात्मक संगठन सम्ब अनुपात पर प्रभाव देखना)

यह स्तर आगे के शोध (further research) की कुंजी है। एक वैज्ञानि *अपने ज्ञान का दायरा जाने हुए तथ्यों की दशाओं इत्यादि में परिवर्तन कर प्रयोगात* अध्ययन करके बढ़ाता है।

वैज्ञानिक प्रयोग के सम्बन्ध मे बताए हुए उपरोक्त सात स्तर एक मन वैज्ञानिक प्रयोग मे भी पाये जाते हैं। परन्तु इन दोनों प्रयोगों में अन्तर यह होता *कि प्राकृतिक विज्ञानों मे हम अजैविक या निम्न स्तर के जीवों पर प्रयोग करते* जबकि मनोविज्ञान मे मानव पर प्रयोग किया जाता है। अतएव मनोविज्ञान अध्ययन का विषय मनोजीवी है। इसके प्रयोग मे एक प्रयोगकर्ता (experimente होता है और एक वह मानव होता है, जिस पर प्रयोग किया जाता है और जिसे ह विषयी (subject) कह सकते हैं। चूँकि प्रयोगकर्त्ता और विषयी—दोनों ही मान होते हैं और दोनों में मस्तिष्क एवं मन होता है, इस कारण मनोविज्ञान के प्रयो अत्यन्त जटिल हो जाते हैं। हमारा ज्ञान मानव-मानव के सम्बन्ध में बहुत ही सीमि *है। इस कारण हम यह भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि भिन्न-भिन्न विशिष्ट दशाओं* में मन किस प्रकार की विशिष्ट प्रतिक्रिया करेगा। प्रयोगकर्त्ता और विषयी का म एक दूसरे पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। अतः कभी-कभी प्रयोगों के फल *अवैज्ञानिक अथवा अर्द्ध-वैज्ञानिक हो जाते हैं।* किन्तु इन कठिनाइयों के होते हुए भी मनोविज्ञानवेत्ता वस्तुनिष्ठ (objective) रूप से प्रयोग करने की चेष्टा में संलग्न है और इन कठिनाइयों को बहुत कुछ अपने प्रयोगों में दूर करने के प्रयास में सफल भी हो जाते हैं। *अब हम, मनोवैज्ञानिक प्रयोग कैसे होता है, इसको समझाने के लिए* एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग का वर्णन करेंगे। वैज्ञानिक प्रयोग के विभिन्न स्तरों के अनुसार जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, हम इस प्रयोग का वर्णन करेंगे।

एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग—छोटे बच्चों पर प्रशंसा तथा आरोप का उनके *सीखने की प्रक्रिया में क्या प्रभाव पड़ता है?* यह प्रयोग की समस्या है। अब हम देखेंगे कि वैज्ञानिक प्रयोग के सात स्तरों के अनुसार इस प्रयोग का आयोजन किस प्रकार किया जाता है।

(१) समस्या का प्रस्तुतीकरण—समस्या यह है कि छोटे बालकों के सीखने में प्रशंसा तथा आरोप का क्या प्रभाव पड़ता है ?

(२) समस्या का अवलोकन तथा उसकी सीमाएँ निर्धारित करना—प्रयोग में छोटे बालकों को आयु के स्तर में रखना आवश्यक प्रतीत होता है। अतएव समस्या अवलोकन करके इस प्रकार सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं—कि (i) बालक ४ और ५ साल के बीच की आयु के हों, (ii) वे किसी नर्सरी विद्यालय के छात्र हों, (iii) वे विद्यालय में नये-नये आये हों और अध्यापकों की प्रशंसा तथा आरोप से सम्बद्ध (conditioned) न हो सके हों (इस दशा का प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है), (iv) जिन बालकों की प्रशंसा तथा आरोप के सम्बन्ध में तुलना की जाये उनका बुद्धि-स्तर (intelligence level) समान हो, (v) उनके घर का वातावरण लगभग समान हो (इस सीमा को बाँधना भी बहुत कठिन है, क्योंकि घर के वातावरण में अनेक तत्त्व होते हैं और उनका समान करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। कोई गरीब घर से आता है, कोई धनी घर से; किसी के माता-पिता जीवित हैं, किसी के दिवंगत। किसी के अभिभावक उसको अत्यन्त दुलार देते हैं तो किसी के दुत्कारते हैं—इत्यादि, (vi) सीखने में केवल ज्ञान का अर्जन ही लिया जाय।

(३) उस विधि को निर्धारित करना जिससे समस्या हल हो सके—मनोवैज्ञानिक प्रयोग में विधि निर्धारित करना भी सरल कार्य नहीं है। फिर भी प्रयोग में हम इस प्रकार की विधि अपना सकते हैं। तीन बालकों के समूह को चुन सकते हैं, जिनमें बुद्धि के स्तर के अनुसार तथा वातावरण के अनुसार समान बालक हों। क्योंकि दोनों तत्त्वों को समान करना अत्यन्त कठिन है अतः एक सरल प्रयोग में केवल बुद्धि के स्तर के अनुसार ही तीनों समूहों में बराबर बालक ले सकते हैं। मान लीजिए, प्रत्येक समूह में हमने १६ बालक चुने। इनमें से प्रत्येक समूह में ४ उत्कृष्ट बुद्धि (high intelligence) के, ४ निम्न बुद्धि (low intelligence) के और ८ सामान्य बुद्धि (normal intelligence) के बालक हो सकते हैं। अब तीनों समूहों को एक निश्चित अवधि तक (मान लीजिए २१ दिन) एक से विषय पढ़ाये जाते हैं और एक ही अध्यापक समान विधि से तीनों समूहों को पढ़ाता है। पढ़ाने में एक समूह को प्रशंसा दी जाती है, दूसरे को आरोप और तीसरे को न प्रशंसा, न आरोप। २१ दिन पश्चात् तीनों समूहों को एक-सी ज्ञानोपार्जन परीक्षा (achievement test) दी जाती है। यह देखने के लिये कि किस समूह का सीखना अच्छा हुआ और किसके सीखने पर बुरा प्रभाव पड़ा ? इस परीक्षा में तीनों समूहों द्वारा प्राप्तांकों की तुलना की जाती है और निष्कर्ष निकाला जाता है कि ज्ञान का सीखना प्रशंसा वाले समूह में अधिक हुआ या आरोप वाले समूह में, अथवा प्रशंसा और आरोप—दोनों के न मिलने वाले समूह में। इस प्रयोग को अच्छा बनाने के लिये एक चौथा समान समूह भी लिया जा सकता है जिसमें शिक्षक द्वारा प्रशंसा तथा आरोप, जैसा वह दिन-प्रतिदिन के पढ़ाने में करता है, दोनों दिये जाते हैं और इस समूह द्वारा सीखे हुए ज्ञान की

परीक्षा करके तीनों समूहों द्वारा प्राप्त किये गये प्राप्तांकों से उसकी तुल
जाती है।

(४) प्रयोग के समय अन्य दशाओं को स्थिर रखना—जब यह प्रयो
जाता है तो बालकों को प्रशंसा तथा आरोप के अतिरिक्त कोई और प्रेरणा
जाती। उनसे यह नहीं कहा जाता कि विभिन्न समूह में प्रतिद्वन्दिता (compe
है या उन्हें परीक्षा की तैयारी करनी है, अन्यथा ये तत्व समूहों के प्राप्त
प्रभाव डाल सकते हैं और जो निष्कर्ष मिलेंगे वे अशुद्ध हो जायेंगे तथा
प्रेरणाओं का परिणाम हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त पढ़ने का समय, थकावट
को भी स्थायी रखना पड़ता है।

(५) प्रयोग के परिणाम प्राप्त करके निष्कर्ष निकालना—इस प्रयोग
परिणाम निकाला जाता है कि सीखने में प्रशंसा अथवा आरोप—कौन-सी प्रेरणा
अच्छी है और समान बुद्धि-स्तर के बालकों के लिये कौनसी प्रेरणा अधिक
हो सकती है या दोनों ही प्रेरणाएँ वृथा हैं और वह समूह अच्छा सीखता है जि
प्रेरणा नहीं मिलती।

(६) उसी प्रयोग को दोहरा कर या अन्य उपकरणों या यन्त्रों को
से उन्हीं दशाओं में प्रयोग के निष्कर्षों की पुष्टि करना—इस प्रयोग को कुछ
पश्चात् फिर दोहराया जा सकता है या दूसरे बालकों के इसी प्रकार के समूह
अध्ययन किया जा सकता है। वही दशाओं की सीमाएँ वही रहेंगी जिनका
तीसरे स्तर में किया गया है।

(७) दशाएँ बदल कर प्रयोग के परिणामों पर प्रभाव देखना—यदि एक
में बुद्धि-स्तर में समानता सी गयी है, तो दूसरे में वातावरण की दशाएँ समान
प्रयोग किया जा सकता है अथवा बालकों का आयु-स्तर बदल कर या विद्यालय
कर प्रयोग किये जा सकते हैं और इनके परिणामों की तुलना पहले वाले प्रयो
परिणामों से की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक प्रयोग भी एक सीमा तक प्राकृ
विज्ञान के प्रयोग की तरह सम्पन्न किये जा सकते हैं।

प्रयोगात्मक पद्धति की उपयोगिता—उपरोक्त पद्धति में कुछ दोषों के होते
भी मनोवैज्ञानिकों द्वारा इसी पद्धति को अधिक प्रयोग में लाया जाता है। परीक्षण
परिणाम अन्य पद्धतियों से कहीं अधिक शुद्ध पाये जाते हैं। इस पद्धति की वैज्ञानि
के फलस्वरूप ही आज मनोविज्ञान—एक शुद्ध विज्ञान माना जाता है। मनोविज्ञान
विकास में सबसे अधिक सहायता प्रयोगात्मक पद्धति ने ही पहुँचाई है। परीक्षणों
सफलता और उपयोगिता के कारण कुछ विद्वान् तो आधुनिक मनोविज्ञान को परीक्ष
शाला मनोविज्ञान कहने लगे हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रयोगात्मक पद्धति का
और उसका प्रयोग अभी थोड़े ही वर्षों पहले हुआ। संसार में सर्वप्रथम 'वुण्ट' (Wun
महोदय ने १८७९ ई० में 'लिपजिग' में एक मनोवैज्ञानिक परीक्षणशाला (Psych

logical Laboratory) की स्थापना की। उसके उपरान्त प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology) ने इतनी अधिक और शीघ्र उन्नति की कि सामान्य मनोविज्ञान (General Psychology) और शिक्षा-मनोविज्ञान के समान ही वह मनोविज्ञान का एक आवश्यक अंग बन गया। यह पद्धति इतनी उपयोगी सिद्ध हुई कि प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के निष्कर्षों से ही सामान्य मनोविज्ञान और शिक्षा-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों की पुष्टि सम्यक् मानी जाने लगी। इस प्रकार इस पद्धति का प्रयोग मनोविज्ञान के सभी क्षेत्रों में किया जाने लगा।

वेलेण्टाइन के अनुसार—"प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की सर्वाधिक महत्ता यह है कि यह हमारे मनोवैज्ञानिक तथ्यों और नियमों की जानकारी में वृद्धि करता है।"[1] यद्यपि यह विज्ञान अभी अपूर्ण है फिर भी उसने अपने अन्वेषणों और अनुसंधानों से अध्ययन की बहुमूल्य सामग्री (data) को एकत्रित किया है। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ने बहुत से ऐसे तथ्यों की खोज की है जो शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त मूल्यवान और उपयोगी हैं।

बालक के मस्तिष्क के अध्ययन के लिये मनोविज्ञान में विविध प्रणालियों को अपनाया जाता है। उसके मस्तिष्क का अध्ययन उसके 'व्यवहार' के निरीक्षण के द्वारा किया जाता है। चूँकि व्यवहार का अध्ययन प्रत्यक्ष रूप से ही हो सकता है इसलिये प्रायः उसमें प्रयोगात्मक पद्धति को ही अपनाया जाता है।

प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के द्वारा वैयक्तिक भेदों (Individual Differences) का अध्ययन आसानी से और सफलतापूर्वक किया जाता है। मनोवैज्ञानिक इसी पद्धति द्वारा मन्द-बुद्धि बालक और कुशाग्र-बुद्धि बालक में भेद करते हैं तथा विभिन्न बालकों की विशिष्ट योग्यताओं का सम्यक् आकलन इस पद्धति द्वारा किया जाता है। इस पद्धति की सहायता से आज का अध्यापक जूनियर स्कूलों में शिक्षण की आधुनिक विधियों का उपयोग कर बालक को उसकी आत्माभिव्यक्ति के लिये उभार सकता है। बालक की अभिव्यक्तियों और उसके व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण कर शिक्षक उसे उचित मार्ग प्रदर्शित कर सकता है और उसे सीखने के कार्यों में भी सहायता पहुँचा सकता है।

बालक के 'दुर्व्यवहार' के कारणों को ढूँढने में भी प्रयोगात्मक मनोविज्ञान बहुत सहायता पहुँचाता है। यह समस्या बालकों (problem children) के लिये भी उपचार प्रस्तुत करता है। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान कुसमायोजित बालक (mal-adjusted) और सुसमायोजित बालक (well adjusted) को पहिचानने में मदद देता है तथा बालक के व्यक्तित्व के कुसमायोजन के कारणों पर प्रकाश डालता है। अशिष्ट,

---

1 "The most definite value of Experimental Psychology is that it increases our knowledge of psychological facts and laws."

—*Valentine.*

अपराधी और पाठशाला से भाग जाने वाले बालकों की समस्या को सुलझाने में अध्यापक को प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का ही सहारा लेना पड़ता है।

बालक की किशोरावस्था में विभिन्न समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। किशोर में भावुकता और संवेदनात्मकता की चरम सीमा होती है। इस काल में बड़े-बड़े शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। कभी कभी थोड़ी झिझक भी आ जाती है। बालक कल्पना की उड़ान में मस्त रहता है। कैशोर्य मानव के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल होता है। यदि अभिभावक अथवा अध्यापक ने किशोर के साथ सावधानी न बरती और किसी भी प्रकार का अवदमन किया गया तो उसके मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। भावना-ग्रन्थियाँ बन जाती हैं और किशोर का व्यवहार उद्दंड एवं अभद्र हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान उस उद्दंड किशोर के 'व्यवहार' और उसकी मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन कर उसके असामाजिक कार्यों के कारण ढूँढ़ता है और फिर उनके लिये उपचार प्रस्तुत करता है।

आधुनिक काल में बालकों की बुद्धि मापने के लिये बुद्धि-परीक्षा (Mental test) प्रणाली का विकास हुआ। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान इस प्रणाली में बहुत सहायता पहुँचाता है। बुद्धि-परीक्षा का प्रयोग बुद्धि मापने और ज्ञानलब्धि के मापने में बहुत अधिक किया जाता है। बालक की ज्ञानलब्धि की माप के लिये पुरानी विधियों से यह पद्धति अधिक उपयोगी और वैज्ञानिक है।

इस मनोविज्ञान में मानव के 'व्यवहार' का अध्ययन उसी प्रकार किया जाता है, जैसे कि भौतिक विज्ञान में किसी पदार्थ अथवा द्रव्य के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। विज्ञान के विषयों (objects) का व्यवहार सदैव निश्चित परिस्थितियों में निश्चित प्रकार का होता है, अतः उनका अध्ययन करना सरल होता है। किन्तु मानव का 'व्यवहार' *अनिश्चित होता है,* वह एक ही प्रकार की एवं समान परिस्थितियों में भी विभिन्न प्रकार से व्यवहार करता देखा जाता है। अतः प्रयोगात्मक मनोविज्ञान में भौतिक विज्ञान के समान निश्चित एवं दृढ़ नियमों को नहीं अपनाया जा सकता।

प्रयोगात्मक मनोविज्ञान में दूसरी कमी यह है कि परीक्षण के संचालन के समय विषयी के वातावरण एवं उसकी मानसिक दशाओं पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। जैसे 'अवधान' पर परीक्षण करते समय हम विषयी का ध्यान कुछ समय के लिये किसी वस्तु-विशेष पर केन्द्रित करना चाहते हैं। किन्तु हम इसके लिये पूर्ण विश्वस्त नहीं हो सकते कि पूरे परीक्षण-काल में विषयी का ध्यान उसी वस्तु पर केन्द्रित बना रहेगा।

प्रयोगात्मक मनोविज्ञान में हमारे भावों (feelings) और संवेगों (emotions) का वैषयिक अध्ययन (*objective study*) नहीं किया जा सकता। परीक्षणशाला में कृत्रिम भावों और संवेगों को उत्पन्न करना अत्यन्त कठिन है। और यदि ऐसा संभव भी हो तो उनकी अनुभूति स्वाभाविक संवेगों से सर्वथा भिन्न होगी तथा उनके

निष्कर्ष भी गलत होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका सम्यक् अध्ययन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

विवरण पद्धतियाँ (Methods of Observation)

(१) विकासात्मक पद्धति (Genetic or Developmental Method)—इस पद्धति में व्यक्ति के मानसिक विकास की सम्यक् अध्ययन कर उसकी व्याख्या की जाती है। इसके द्वारा बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं मे उसकी विविध मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, जैसे जन्म के समय, बाल्यावस्था मे अथवा किशोरावस्था मे। इस अध्ययन के द्वारा शैशव लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति के विकास की व्याख्या की जा सकती है। यह अध्ययन हमे यह बताता है कि विकास की विभिन्न अवस्थाओं मे किस प्रकार की मानसिक प्रक्रियाएँ होती हैं। उनका क्या स्वरूप होता है ? यह एक ऐसी पद्धति है जिसमें मानव के व्यवहार का अध्ययन उसके स्वाभाविक रूप में किया जाता है। विकास की अवस्थाएँ एक के उपरान्त दूसरी किस प्रकार आती है ? उनमें किस प्रकार की मानसिक दशाएँ होती हैं ? इन सभी का गहन अध्ययन इस पद्धति में किया जाता है।

(२) व्यक्ति-इतिहास पद्धति (The Case History Method)—इस पद्धति में किसी व्यक्ति-विशेष की विलक्षणताओं को समझने के लिये उसके व्यक्तिगत इतिहास और उसके कुटुम्ब के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। जिस व्यक्ति का अध्ययन किया जाता है वह महान् प्रतिभाशाली, घोर अपराधी या विक्षिप्त भी हो सकता है। व्यक्ति का पूर्व इतिहास स्वयं उसके द्वारा अथवा उसके इष्ट मित्र एवं भाई-बहिनों द्वारा प्राप्त किया जाता है और उसी के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस पद्धति का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। विषयी को अपने विश्वास में रखना चाहिए ताकि अध्ययन-सामग्री के संकलन में त्रुटि न हो जाय। ऐसा न हो कि वह अपना इतिहास गलत बता दे और सभी अध्ययन सामग्री अशुद्ध हो जाय।

(३) मनोविकृत्यात्मक पद्धति (Pathological Method)—इस पद्धति का प्रयोग मानसिक बीमारियों एवं मानसिक अवनति के कारणों को समझने के लिये किया जाता है। इसमें सभी प्रकार की असामान्य मानसिक प्रक्रियाओं एवं मानसिक विकृतियों का अध्ययन किया जाता है, जैसे—सभी मानसिक रोग एवं मानसिक दोष इत्यादि। इससे मानव के कुछ व्यवहारों को समझने मे बड़ी सहायता मिलती है। रोगी मनो-विज्ञानवेत्ता (clinical psychologist) इस पद्धति का प्रयोग रोगियों और उनकी बीमारियों के अध्ययन के लिये बहुत अधिक करते हैं।

(४) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)—इस पद्धति मे विभिन्न पशुओं के व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। विभिन्न पशुओं में मूल-प्रवृत्तियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं, उनमें बुद्धि का विकास कैसे होता है ?—आदि इस पद्धति के अध्ययन के विषय होते हैं। कभी-कभी किसी व्यक्ति के व्यवहार को

समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में उसके व्यवहार की सही-सही जानकारी के लिये पशुओं के व्यवहार से उसकी तुलना करते और निष्कर्ष निकालते हैं, जिससे व्यक्ति के व्यवहार को समझने में बहुत सहायता मिलती है।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन की सामग्री को एकत्र करने के लिये अन्य बहुत-सी पद्धतियों और प्रविधियों को अपनाया जाता है, जो निम्नलिखित हैं—(१) साक्षात् विधि[1], (२) मान-निरूपक विधि[2], (३) प्रश्नावली विधि[3], (४) प्रामाणिक परीक्षाएँ[4], (५) जाँच सूची[5], (६) उपाख्यानात्मक अभिलेख[6], (७) जीवन-चरितात्मक एवं आत्म-चरितात्मक अभिलेख[7] इत्यादि।

सारांश

मनोविज्ञान की सामग्री को एकत्र करने के लिये मनोवैज्ञानिकों द्वारा आजकल बहुत-सी पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं जिनमें—अन्तर्दर्शन पद्धति, बहिर्दर्शन पद्धति, प्रयोगात्मक पद्धति, विकासात्मक पद्धति, व्यक्ति-इतिहास पद्धति, मनोविश्लेषणात्मक पद्धति और तुलनात्मक पद्धति प्रमुख हैं। अन्तर्दर्शन में आत्म-निरीक्षण किया जाता है किन्तु आत्म-निरीक्षण करना अत्यन्त कठिन है। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों के समान इस पद्धति में वैज्ञानिकता नहीं है, अतः इसका प्रयोग अब बहुत कम किया जाता है। बहिर्दर्शन में दूसरे व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन और उसकी व्याख्या की जाती है। यह पद्धति अधिक वैज्ञानिक है, इसी इसका कारण प्रयोग पिछले दिनों में अधिक हुआ। किन्तु इस पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह है कि जब हम किसी व्यक्ति के व्यवहार-विशेष का निरीक्षण उसके स्वाभाविक रूप में करना चाहते हैं तो ऐसी सम्भावना रहती है कि जब उसकी मानसिक प्रक्रिया अपने स्वाभाविक रूप में हो तो हम उसका निरीक्षण करने के लिये पूर्ण तैयार न हों और वह समाप्त भी हो जाय। इस कठिनाई को दूर करने के लिये आधुनिक वैज्ञानिक नियन्त्रित वातावरण में दूसरों की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार की विधि को 'प्रयोगात्मक-पद्धति' कहा जाता है। ये परीक्षण किसी परीक्षणशाला में किये जाते हैं—जहाँ उन सभी परिस्थितियों पर नियन्त्रण रखा जाता है जो विषयी के व्यवहार पर प्रभाव डालती हैं। यहाँ केवल एक ही वातावरण उत्पन्न किया जाता है, जिसका सम्बन्ध उस मानसिक क्रिया से होता है। तात्पर्य यह है कि परीक्षणशाला में ऐसा कृत्रिम वातावरण उत्पन्न किया जाता है जिससे वांछित मानसिक प्रक्रिया उत्पन्न हो सके, फिर विषयी के उस मानसिक क्रियागत व्यवहार का निरीक्षण किया जा सके। आज मनोविज्ञान में इस पद्धति का प्रयोग बहुत अधिक किया जाता है तथा आधुनिक

---

1. Interview. 2. Rating Scale Method. 3. Questionnaire.
4. Standard Tests. 5. Check List. 6. Anecdotal Records.
7. Biographical and Autobiographical Record.

मनोविज्ञान के विकास में इस पद्धति का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण और सराहनीय रहा है। विवरण पद्धतियों का प्रयोग बालक की अवस्थाओं और तत्कालीन मानवीय प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए किया जाता है। इसे 'विकासात्मक पद्धति' कहते हैं। विवरणात्मक पद्धतियों में दूसरी 'व्यक्ति इतिहास पद्धति' है। इसमें बालक के कुसमायोजित व्यक्तित्व के सभी वातावरण और वंशानुक्रम-सम्बन्धी प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। इसी प्रकार से मनोविकृत्यात्मक और तुलनात्मक पद्धतियों द्वारा मानसिक रोगों और व्यक्ति की विलक्षणताओं का अध्ययन कर उनका निदान ढूँढ़ा जाता है और उपचार प्रस्तुत किया जाता है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. "प्रयोगात्मक पद्धति मनोविज्ञान की सामग्री को एकत्रित करने की सर्वश्रेष्ठ विधि है।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं? उपरोक्त कथन के पक्ष या विपक्ष में अपने मत की पुष्टि के लिए प्रमाण दीजिए।
२. 'बहिर्दर्शन पद्धति' के सामान्य दोषों पर प्रकाश डालिए। उनकी एक सूची बनाइए तथा उनके उपचार के लिए सुझाव दीजिए।
३. "अन्तर्दर्शन पद्धति अवैज्ञानिक है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं? अपने मत की पुष्टि के लिए उपयुक्त कारण प्रस्तुत कीजिए।
४. मनोविज्ञान किन अध्ययन-विधियों (methods) से काम लेता है? संक्षेप में प्रत्येक का परिचय दीजिए।
५. मनोवैज्ञानिक प्रयोग की क्या विशेषताएँ होती हैं? उदाहरण सहित समझाइए।
६. निरीक्षण के गुण-दोषों पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि मनोविज्ञान में इस विधि का क्या महत्व है? इसे विस्तारपूर्वक समझाइए।

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. वुडवर्थ, आर० एस० और डी० जी० मारक्युस : मनोविज्ञान (पाँचवाँ संस्करण), एन० वाई०, हेनरी होल्ट एण्ड कम्पनी, १९४७।
२. चौबे, एस० पी० : मनोविज्ञान और शिक्षा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
३. जोर्डन, ए० एच० : एजूकेशनल सायकॉलॉजी, एन० वाई०, हेनरी होल्ट एण्ड कम्पनी।
४. क्लेहर्टन, के० एस० : प्रैक्टिकल सायकॉलॉजी, मैक-ग्रो हिल, १९६२।
५. मेरी कॉलिन्स एण्ड जेम्स ड्रेवर : एक्सपेरिमेण्टल सायकॉलॉजी, मार्ड मेथ्यून एण्ड कम्पनी, १९४८।

६. नॅन, वोरमेण्ट एस : सायकॉलॉजी (द्वितीय संस्करण), बोस्टन, हाउटन मिफिलन कम्पनी, १९५१ ।
७. एच, फ्लॉइड एल० : सायकॉलॉजी एण्ड लाइफ (तृतीय संस्करण), स्कॉट फॉरेजमेण्ट एण्ड कम्पनी, शिकागो, १९४८ ।
८. वर्मा, के० एस० : एन इन्ट्रोडक्शन टू सायकॉलॉजी, बनवारी लाल जैन, आगरा, १९५१ ।
९. वेलेन्टाइन सी० डब्ल्यू० : एन इन्ट्रोडक्शन टू एक्सपेरिमेण्टल-सायकॉलॉजी, यूनि० ट्यूटोरियल प्रेस, १९४६ ।
१०. स्किनर, चार्ल्स ई० (एडिटेड) : एजूकेशनल सायकॉलॉजी, लॉर्ड स्टेपिल्स प्रेस लिमिटेड ।
११. माथुर, एस० एस० : शिक्षा-मनोविज्ञान, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर, १९६१ ।

४

स्नायु-संस्थान तथा सहज-क्रिया[1]

एक प्राणी (organism) उसी समय जीवित रह सकता है जब वह अपने चारों ओर के वातावरण में होने वाले परिवर्तनों के अनुकूल अपनी उचित प्रतिक्रिया करे। उदाहरण के लिए—एक प्राणी को जीवित रहने के लिये खाद्य पदार्थ (food-substance) एवं अखाद्य पदार्थों के प्रति विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया करनी होगी। यदि वह अखाद्य पदार्थों को भी खा जायेगा तो उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा और उसका जीवित रहना कठिन हो जायेगा। प्रत्येक जीव इसी कारण प्राकृतिक रूप के जटिल (complex) एवं अपने में पूर्ण (integral system) है जिससे वह विभिन्न प्रकार के परिवेश (surroundings) के परिवर्तनों में एवं उन परिवर्तनों के प्रति भी जो स्वयं उसके शरीर के अन्दर होते हैं, विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त उसकी आन्तरिक शक्तियाँ जब तक वह जीवित रहता है, प्रत्येक क्षण उसके बाह्य परिवेश की शक्तियों से सन्तुलन स्थापित करती रहती हैं। इस प्रकार निम्न से निम्न स्तर के जीव का जीवन बाह्य परिवेश से सन्तुलन स्थापित करने की एक कड़ी है। जैसे-जैसे जीव उच्च स्तर पर पहुँचता जाता है, इस कड़ी की प्रकृति जटिल होती जाती है। सन्तुलन की ये कड़ियाँ जीव की वातावरण से मिले हुए उत्तेजकों के प्रति उसकी प्रतिक्रियाओं में व्यक्त होती हैं।

इस अध्याय में हमारा ध्येय यह है कि हम शरीर की उस यन्त्र-रचना (mechanism) पर प्रकाश डालें जो मानव को भौतिक रूप से वातावरण से मिले

---

1. Nervous System and Reflex Action.

उत्तेजकों के प्रति प्रतिक्रिया करने के योग्य बनाती है। जीवों में यह उनका स्नायु-संस्थान ही है जो उनके प्रतिक्रिया सम्बन्धी सब आचरण (behaviour) को सुसंचालित करता है। स्नायु संस्थान का सम्बन्ध ग्राहक (receptors) से रहता है जो बाह्य तथा आन्तरिक वातावरण से उत्तेजनाएँ ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त स्नायु-संस्थान का सम्बन्ध प्रभावकों (effectors) से भी होता है जो वास्तविक प्रतिक्रिया (actual-response) को सम्भव बनाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक मानव का प्रतिक्रिया यन्त्र (response mechanism) इन तीन अंगों से मिलकर बनता है—

१—ग्राहक (Receptors),

२—स्नायु संस्थान (Nervous System),

३—प्रभावक (Effectors)।

ग्राहक

प्राणी बाह्य जगत से ग्राहक द्वारा ही उत्तेजना प्राप्त करता है। हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ ग्राहक होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा इत्यादि। यह ग्राहक यन्त्र सब प्रकार के जीवों में पाया जाता है। अमीबा में भी जो सबसे निम्न स्तर का जीव होता है, ज्ञानेन्द्रियाँ पायी जाती हैं, अमीबा एक-कोषीय जीव होता है। इसका यही कोष प्रकाश, ध्वनि इत्यादि की संवेदना ग्रहण करता है और साथ ही प्रभावक (effector) का भी कार्य करता है। किन्तु जैसे-जैसे हम उच्च स्तर के जीवों की ओर बढ़ते जाते हैं, जिनमें कोष शरीर की संख्या बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उनमें विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं को ग्रहण करने के लिये विभिन्न ग्राहक अवयव होते जाते हैं। जब हम मानव के स्तर पर आते हैं जो बहुत अधिक मात्रा में कोषों से बना है, तब हम देखते हैं कि ग्राहक अवयव की संख्या में बहुत वृद्धि हो जाती है। मानव में प्रकाश की उत्तेजना को ग्रहण करने के लिए आँख, ध्वनि के लिए कान, स्वाद के लिए जिह्वा, स्पर्श के लिए त्वचा इत्यादि ग्राहक यन्त्र होते हैं। मनुष्य में जो इन्द्रियाँ पायी जाती हैं उनका विभाजन दो प्रकार से किया जाता है :—

प्रथम प्रकार के विभाजन में चार श्रेणियाँ होती हैं, जो ये हैं—

१—तापीय ग्राहक (Thermal Receptors),

२—यान्त्रिक ग्राहक (Mechanical Receptors),

३—रासायनिक ग्राहक (Chemical Receptors),

४—प्रकाश अथवा चित्र ग्राहक (Light or Photic Receptors)।

तापीय ग्राहक का सम्बन्ध हमारी त्वचा से ही होता है। हमारी त्वचा में कुछ ऐसे बिन्दु पाये जाते हैं जिन्हें हम शीत (cold) तथा उष्ण (hot) बिन्दु कहते हैं। इन्हीं बिन्दुओं की सहायता से हमें गर्मी और सर्दी की संवेदनाएँ होती हैं। शीत-बिन्दु के उदाहरण में हम अपनी नाक के ऊपर की त्वचा का वर्णन कर सकते हैं।

यान्त्रिक ग्राहक में हमारे कान एवं त्वचा में पाये जाने वाले दबाव-बिन्दु आते हैं। हमारी त्वचा का प्रत्येक बिन्दु दबाव-बिन्दु है। इन्हीं के द्वारा हमें दबाव की संवेदना

प्राप्त होती है। कान को भी हम यान्त्रिक ग्राहक में ही रखते हैं। इससे हमें सुनने की संवेदना मिलती है।

रासायनिक ग्राहक के पाये जाने के स्थान हैं—नाक एवं जिह्वा। जिह्वा से हमें स्वाद की संवेदना तथा नाक से हमें गन्ध की संवेदना प्राप्त होती है।

प्रकाश अथवा चित्र ग्राहक नेत्रों में पाये जाते हैं। नेत्रों द्वारा हमें दृष्टि-संवेदना प्राप्त होती है। इन सब ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में हम आगे और अधिक विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

दूसरे प्रकार के ग्राहक का विभाजन इस प्रकार होता है—

१—बाह्य ग्राहक (Extero-ceptors),

२—मध्य ग्राहक (Proprio-ceptors),

३—आन्तरिक ग्राहक (Intero-ceptors)।

बाह्य ग्राहक की श्रेणी में हमारे नाक, कान, नेत्र आदि आते हैं। ये ग्राहक शारीरिक सम्पर्क में आये बिना भी उत्तेजना को ग्रहण कर लेते हैं। मध्य ग्राहक की श्रेणी में जो ग्राहक आते हैं, वे हैं—हमारी मांसपेशियाँ (muscles), संधि या जोड़ (joints)। ये हमारे आसन (postures) बदलते तथा शारीरिक परिवर्तन की उत्तेजनाओं को ग्रहण करते हैं। आन्तरिक ग्राहकों में ऐसे ग्राहक आते हैं जिनको उत्तेजना आन्तरिक क्रियाओं द्वारा मिलती है। ये ग्राहक हमारे आमाशय तथा आँतों के अन्दर की सतह पर मिलते हैं।

स्नायु-संस्थान

स्नायु-संस्थान या नाड़ी-मण्डल ही मानसिक क्रियाओं की आधारशिला है। अतएव मानसिक क्रियाओं को ठीक रूप से समझने के लिए हमें स्नायु-संस्थान की रचना एवं कार्यविधि से अवगत होना चाहिए।

स्नायु संस्थान स्नायुओं का एक समूह होता है। ये स्नायु मानव के सम्पूर्ण शरीर में एक जाल की तरह फैले रहते हैं। चित्र में देखने से पता चलता है कि यह जाल की तरह फैलाव अत्यन्त जटिल होता है। इन स्नायुओं के दो कार्य होते हैं जिनके आधार पर ही स्नायु संस्थान को दो नामों से पुकारा जाता है। ये नाम हैं: अभियोजक (adjustor) तथा वाहक (conductor)। स्नायु संस्थान को 'अभियोजक' के नाम से इस कारण पुकारा जाता है कि यह ग्राहक (receptors) और प्रभावक (effectors) अंगों को मिलता है। इसे वाहक का नाम इसलिए दिया जाता है क्योंकि यह उत्तेजनाओं से समुत्पन्न प्रवाहों (impulses) को शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचाता है।

स्नायु संस्थान को मोटे रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—केन्द्रीय स्नायु-संस्थान (Central Nervous System),

२—स्वयं संचालित स्नायु-संस्थान (Autonomic Nervous System),

३—संयोजक स्नायु-संस्थान (Peripheral Nervous System)।

[चित्र ४—नाड़ी-तन्तुओं का जाल]
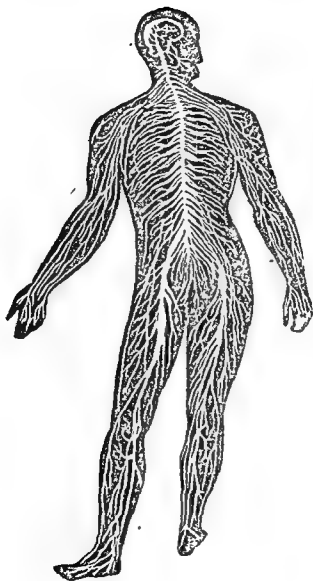
इस प्रत्येक स्नायु संस्थान का विवरण देने से पहले हम स्नायु की रचना एवं प्रकार का वर्णन करेंगे।

स्नायु की रचना (Construction of Neuron)

प्रत्येक मनुष्य का शरीर अनेक जीवित कोषों (living cells) का संग्रह होता है। परन्तु जिन कोषों से मनुष्य का शरीर निर्मित होता है वे सब एक ही प्रकार के नहीं होते और न उनकी क्रिया ही समान होती है। कुछ कोष मांसपेशियाँ बनाते हैं, कुछ हड्डियाँ और कुछ का कार्य होता है स्नायु-प्रवाहों (nerve impulses) को ढोना। जिन कोषों द्वारा स्नायुप्रवाह ढोया जाता है, वे स्नायु-कोष (Neurons) कहलाते हैं। इस स्नायुकोष या स्नायु की रचना इस प्रकार होती है कि इसमें एक जीवकोष (body cell) होता है जिसके एक छोर की ओर एक अक्षतन्तु (axon) होता है और दूसरी ओर वृक्षतन्तु (dendrite) होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्नायु के तीन भाग होते हैं—

१—वृक्षतन्तु (Dendrite),
२—जीवकोष (Body Cell),
३—अक्षतन्तु (Axon)।

चित्र १—स्नायु (Neuron)

१. वृक्षतन्तु

बनावट—सबसे ऊपर जो भाग चित्र में दिखाया गया है वह वृक्षतन्तु कहलाता है। यह पेड़ की टहनियों की तरह फैला हुआ होता है। यह आकार में छोटा होता है परन्तु बहुत घना होता है।

कार्य—इस तन्तु के दो कार्य होते हैं—(i) स्नायु-प्रवाहों को ग्रहण करना। इसी कार्य के कारण हम इसे ग्राही तन्तु (receptor) भी कह सकते हैं, तथा (ii) स्नायु-प्रवाहों को जीवकोषों में ले जाना।

२. जीवकोष

बनावट—चित्र में स्नायुकोष एक गाँठ के रूप में दिखाया गया है। यह किसी निश्चित आकार का नहीं होता है—बल्कि वृत्ताकार, अण्डाकार अनेक आकारों का हो सकता है। प्रत्येक कोष के चारों ओर एक परत होती है जिसे 'मेम्ब्रेन' (membrane) कहते हैं। परत के नीचे एक तरल पदार्थ

भरा रहता है जिसे 'साइटोप्लाज्म' (cytoplasm) कहते हैं। इस पदार्थ के मध्य कोष का केन्द्र (nucleus) होता है। इसी केन्द्र के अन्दर एक और सूक्ष्म केन्द्र हो है जिसे न्यूक्लिआई (nucleoii) के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार एक जीवको की बनावट में मुख्य अंग इस प्रकार होते हैं—

(i) न्यूक्लिआई (Nucleoii),

(ii) कोष का केन्द्र (Nucleus),

(iii) साइटोप्लाज्म (Cytoplasm),

(iv) मेम्बरेन (Membrance)।

जीवकोष के कार्य—यह स्नायु का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। प्रत्ये स्नायु-प्रवाह को इससे अवश्य गुजरना पड़ता है। इसका कार्य यह है कि यह वृक्षतन द्वारा लाये गये स्नायु-प्रवाह को अपने केन्द्र में ग्रहण करता है तथा पुनः उन्हें अक्षतन की ओर भेज देता है।

३. अक्षतन्तु

बनावट—ये आकार में लम्बे होते हैं। जीवकोष के छोर से पतली तथ लम्बी दुम की तरह ये निकले रहते हैं। जीवकोष से इनके छोरों की दूरी वृक्षको के छोरों से अधिक होती है। इसके अतिरिक्त इनकी शाखाएँ भी बहुत कम होती हैं इनके छोर पर बहुत पतले-पतले झाड़ की तरह के आकार होते हैं जिन्हें 'एण्डब्रश (endbrush) कहते हैं। एक अक्षतन्तु का 'एण्डब्रश' दूसरे तन्तु के वृक्षतन्तु से जुड़ रहता है।

क्रिया—अक्षतन्तु का कार्य वृक्षतन्तु से उल्टा होता है। वृक्षतन्तु का कार्य ग्रहण करने का होता है और अक्षतन्तु का भेजने का। अक्षतन्तु द्वारा जीवकोष में जो स्नायु-प्रवाह वृक्षतन्तु द्वारा आते हैं वे बाहर भेजे जाते हैं। ये स्नायु-प्रवाह मांसपेशियों, ग्रन्थियों अथवा स्नायुमण्डल के किसी विशेष केन्द्र की ओर भेज दिये जाते हैं।

स्नायु के कार्य (Functions of Neurons)

स्नायु निम्न प्रकार से कार्य करते हैं—किसी उत्तेजना के मिलने से ग्राहक उत्तेजित होते हैं और स्नायु-प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। जैसे—जब एक चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख आता है तो दृष्टि-स्नायुप्रवाह उत्पन्न हो जाता है। यह स्नायुप्रवाह वृक्षतन्तु द्वारा ग्रहण किया जाता है, फिर जीवकोष में भेजा जाता है जहाँ से यह अक्षतन्तुओं द्वारा मांसपेशियों, ग्रन्थियों या स्नायुमण्डल के किसी केन्द्र-विशेष की ओर भेज दिया जाता है।

स्नायु के प्रकार (Kinds of Neurons)

रचना और कार्य के आधार पर स्नायु के निम्न तीन भेद किये जा सकते हैं—

१—ज्ञानवाही स्नायु (Sensory Neuron),

२—कर्मवाही स्नायु (Motor Neuron),

३—संयोजक तन्तु (Co-ordinating Neuron)।

ज्ञानवाही स्नायु की विशेषताएँ—(i) वृक्षतन्तु नीचे की ओर होता है, (ii) वृक्षतन्तु ज्ञानेन्द्रियों में भी फैले होते हैं और वहाँ से उत्तेजना ग्रहण करते हैं, (iii) इसका वृक्षतन्तु कर्मवाही स्नायु के वृक्षतन्तु की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है, (iv) अक्षतन्तु (axon) की शाखाओं की संख्या अन्य प्रकार के स्नायु की अपेक्षा अधिक होती है, (v) इन स्नायुओं का कार्य स्नायुप्रवाह को ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण करके सुषुम्ना (spinal cord) अथवा मस्तिष्क को पहुँचाना है।
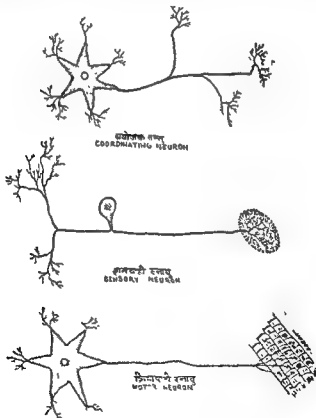
[चित्र ६ (क)]

कर्मवाही स्नायु की विशेषताएँ—(i) जीवकोष ऊपरी सिरे पर स्थित रहता है, (ii) इससे वृक्ष की शाही तन्तु शाखाएँ निकलती हैं, (iii) अक्षतन्तु जीवकोष के

दूसरी ओर लम्बा होकर मांसपेशियों तक जाता है, (iv) अक्षतन्तु में शाखाओं की संख्या बहुत कम होती है, (v) कर्मवाही स्नायु का कार्य स्नायुप्रवाहों को मांसपेशियों तथा पिण्डों तक पहुँचाना है।

[चित्र ६ (ख)]
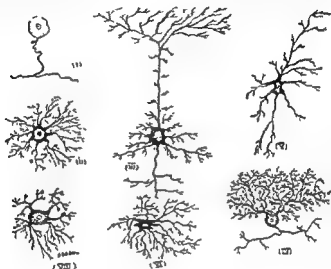
संयोजक या सहकारी तन्तु की विशेषताएँ—(i) मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में इनकी संख्या अत्यधिक होती है, (ii) ये तन्तु ज्ञानवाही और क्रियावाही क्षेत्रों को सम्बन्धित करते हैं। इसी कारण ये 'संयोजक तन्तु' कहलाते हैं।

स्नायु-सन्धि (Synapse)

स्नायु-सन्धि या 'साइनैप्स' वह स्थान है जहाँ दो या दो से अधिक दिशाओं से आकर स्नायु मिलते हैं। यह वह स्थान है जहाँ एक स्नायु का वृक्षतन्तु दूसरे स्नायु के अक्षतन्तु से सम्बन्ध स्थापित करता है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है। कि इस सम्बन्ध स्थापित करने से हमारा तात्पर्य भौतिक (physical) रूप से वृक्षतन्तु और अक्षतन्तु का मिलना नहीं है वरन् इन दोनों प्रकार के तन्तुओं के मिलने के स्थान पर कुछ दुराव रहता है। यह जो दुराव का स्थल है, वास्तव में यही सन्धिस्थल कहलाता है। जब एक स्नायु के अक्षतन्तु से स्नायुप्रवाह दूसरे स्नायु के वृक्षतन्तु में प्रवेश पाने को उद्यत होता है तो उसे साइनैप्स पर से गुजरना पड़ता है। वह इस स्थल पर आकर धीमा पड़ जाता है और फिर एक छलाँग लगाकर इस स्थल को पार कर जाता है। यह क्रिया बिल्कुल उसी प्रकार होती है जिस प्रकार एक ... के तार से विद्युत दूसरे तार में, जो उसके बहुत ही समीप होता है परन्तु

मिला हुआ नहीं होता, छलांग लगाकर, जिसमें एक चिन्गारी भी निकलती है, पहुँच जाती है।
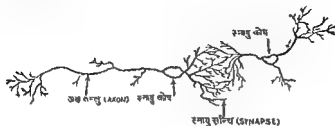
[चित्र ७ (क)]

[चित्र ७ (ख)]

स्नायु-सन्धि की विशेषताएँ

(१) प्रत्येक साइनेप्स पर आवेग के जाने की दिशा एक ही ओर हो सकती है। इसी कारण हम कुछ स्नायुओं को एक ओर आवेग ले ले जाते हुए देखते हैं और कुछ को दूसरी ओर। इस विशेषता के कारण ही स्नायु-सन्धिस्थल को हम 'एक दिशागामी वाल्व' (one way valve) कहते हैं।

(२) स्नायुओं के छोर सन्धिस्थल पर मिल नहीं जाते वरन् इनमें दुराव रहता है।

(३) एक ही साइनैप्स से अनेक स्नायु संयुक्त रहते हैं।

(४) प्रारम्भ में जब स्नायु आवेग से गुजरता है तो उसके आवागमन में इस स्थल पर रुकावट पैदा होती है। इस रुकावट को हम 'अवरोध' (inhibition) कहते हैं। परन्तु यदि थोड़ा प्रयत्न किया जाता है तो यह अवरोध बहुत कम हो जाता है और स्नायुप्रवाह एक निश्चित दिशा में सरलता से चला जाता है। इसके साथ-साथ यह भी होता है कि यदि अभ्यास पर्याप्त समय तक छूट जाय तो अवरोध दुबारा बढ़ जाता है और इसको दूर करने के लिये फिर प्रयत्न करना पड़ता है। यदि अभ्यास बराबर होता रहता है, तब मार्ग सुगम हो जाता है। हमारी अनेक आदतों के बनने-बिगड़ने का मूल कारण इसी सन्धिस्थल की बनावट में मिलता है।

(५) सन्धिस्थल पर अवरोध को दूर करके स्नायुप्रवाह को इस स्थान को पार करने में जो प्रयत्न करने पड़ते हैं वे दो प्रकार से हो सकते हैं—(१) स्नायुप्रवाह में अभ्यास या उत्तेजना की तीव्रता के कारण इतनी अधिक शक्ति हो कि वह इस शक्ति के सहारे ही सन्धिस्थल को पार कर जाय। (२) दूसरे स्नायुप्रवाह आकर इस स्नायुप्रवाह की शक्ति में वृद्धि कर दें और इस संयुक्त शक्ति की सहायता से वे सन्धिस्थल के अवरोध को दूर करके उसे पार कर जायें। यह सहायता जो दूसरे स्नायुप्रवाहों से एक स्नायुप्रवाह को सन्धिस्थल पार करने में मिलती है, दो प्रकार से मिल सकती है—(i) सन्धिस्थल में दो भिन्न स्थानों से आने वाले स्नायुप्रवाहों का संयोग हो जाय, इसे हम स्थान-संयोग (spatial summation) कहते हैं, तथा (ii) भिन्न-भिन्न समय पर चले हुए स्नायुप्रवाहों का संयोग सन्धिस्थल पर हो जाय, इसे 'temporal summation' कहते हैं। इस प्रकार संयोग होने से क्षीण स्नायुप्रवाहों में भी बल आ जाता है और वे सन्धिस्थल को पार कर जाते हैं।

एक ही सन्धिस्थल पर विभिन्न दिशाओं से अनेक स्नायुप्रवाह पहुँच सकते हैं। इनमें से जो शक्तिशाली होते हैं, वे क्षीण स्नायुप्रवाहों को पीछे छोड़कर स्वयं सन्धिस्थल पार कर जाते हैं। इसका बहुत अच्छा उदाहरण झेंपने के समय मामूली चोट लग जाने पर भी झेंपते रहना है। यह उस स्नायुप्रवाह के, जो झेंपने की क्रिया का है, चोट लगने के स्नायुप्रवाह से अधिक शक्तिशाली होने के कारण होता है।

(६) सन्धिस्थल पर सम्पूर्ण अवरोध के दूर हो जाने की सम्भावना नहीं के बराबर है। यहाँ प्रवाह के आवागमन में कुछ न कुछ मात्रा में रुकावट अवश्य होती है। यही कारण है कि जितना समय पूरे स्नायु को पार करने में लगता है, उससे अधिक समय सन्धिस्थल पार करने में लग जाता है।
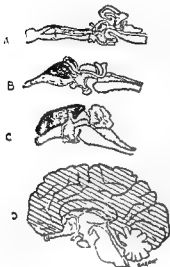
[चित्र ८—मस्तिष्क का विकास]

(A. मछली का मस्तिष्क, B. छिपकली का मस्तिष्क,
C. खरगोश का मस्तिष्क, D. मानव का मस्तिष्क ।)

१. केन्द्रीय स्नायु-संस्थान

केन्द्रीय स्नायु संस्थान (Central Nervous System) ही उच्च मानसिक क्रियाओं का केन्द्र होता है। यह पशुओं में इतना जटिल एवं विकसित नहीं होता जितना कि मानव में। यही कारण है कि मानव की मानसिक-क्रियाएँ पशुओं की मानसिक क्रियाओं से कहीं अधिक उच्च स्तर की होती हैं। केन्द्रीय स्नायु मण्डल को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। ये भाग हैं—

(i) मस्तिष्क (Brain),

(ii) सुषुम्ना नाड़ी (Spinal-Cord)।

अब हम इन दोनों भागों का वर्णन अलग-अलग करेंगे।

(i) मस्तिष्क (Brain)

मस्तिष्क खोपड़ी (skull) के कड़े घेरे के अन्दर सुरक्षित रहता है। इस अंग की कोमलता के कारण प्रकृति ने इसे सुरक्षित रखने की व्यवस्था की है। इसको चोट से और अच्छी तरह बचाने के लिये खोपड़ी के अन्दर चारों ओर एक तरल पदार्थ भरा रहता है।

मस्तिष्क का आकार—मस्तिष्क को ऊपर से देखने पर यह मेंगी से बहुत कुछ मिलता-जुलता प्रतीत होता है। यह खुरदरा और भूरा-भूरा दिखाई देता है। इसकी ऊपरी सतह कोमल होती है। यदि पूर्ण मस्तिष्क को स्थान-स्थान पर काटा जाये तो इसमें हमें ८० प्रतिशत भूरा पदार्थ (grey matter) और २० प्रतिशत सफेद पदार्थ (white matter) मिलता है। भूरे पदार्थ के अन्दर जीवकोष (cellbody) मिलेंगे और सफेद पदार्थ में नाड़ी तन्तु।

मस्तिष्क में उसी प्रकार की दरारें प्रतीत होती हैं जैसी कि अखरोट की मेंगी में। ये दरारें छोटी-बड़ी सब प्रकार की होती हैं। किन्तु इनमें से तीन दरारें महत्त्वपूर्ण होती हैं—

चित्र ९—मस्तिष्क का पूरा चित्र

(१) केन्द्रीय दरार (*Central Fissure*)—यह दरार मस्तिष्क को दो गोलार्द्धों में बाँट देती है। यह मस्तिष्क के बीचोंबीच में फैली होती है और बाकी सब दरारों में लम्बी और गहरी होती है।

(२) रोलैण्डों की दरार (*Fissure of Rolando*)—यह दरार मस्तिष्क गोलार्द्ध के ऊपरी भाग के बीच से चल कर नीचे की ओर फैली होती है।

[चित्र १०—मस्तिष्क-एक बगल से देखने पर]

(३) सिल्वियस की दरार—यह दरार मस्तिष्क में सामने से पीछे की ओर चली जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये तीनों दरारें मस्तिष्क को चार खण्डों (lobes) में बाँट देती हैं।

मस्तिष्क के भाग—मस्तिष्क के निम्नलिखित भाग होते हैं—

१—सुषुम्ना शीर्षक (Medulla Oblongata),

२—लघु मस्तिष्क (*Cerebellum*),

३—सेतु (Pons),

४—थैलमस (Thalamus),

(५) लघु थैलमस (Hypothalamus),

(६) वृहत् मस्तिष्क (Cerebrum)।
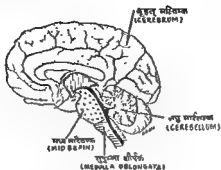
[चित्र ११—मस्तिष्क के मुख्य भाग]

अब हम इन सब भागों का संक्षेप में वर्णन करेंगे। यथा—

१. सुषुम्ना शीर्षक (Medulla Oblongata)

बनावट—यह भाग सुषुम्ना नाड़ी का ही मस्तिष्क की ओर फैलाव है। इस भाग का आकार पिरामिड (Pyramid) की भाँति होता है तथा २½ सेन्टीमीटर लम्बा होता है।

कार्य—(१) यह भाग मस्तिष्क के उस भाग को जो सुषुम्ना शीर्षक से ऊपर है, सुषुम्ना से सम्बन्धित करता है। (२) सुषुम्ना से जितनी नाड़ियाँ मस्तिष्क की ओर जाती हैं वे सब इसमें से होकर गुजरती हैं। (३) इसका कार्य शरीर की प्राण-रक्षा सम्बन्धी सभी क्रियाओं का संचालन एवं नियन्त्रण करना है। साँस लेना, रक्त संचार, निगलना इत्यादि सब प्रकार की प्राण-रक्षा-सम्बन्धी क्रियाओं को यह नियन्त्रित एवं संचालित करता है। (४) यह भाग शरीर-सन्तुलन में भी सहायता पहुँचाता है। (५) यह भाग अपने क्षेत्र की सहज क्रियाओं को भी नियन्त्रित रखता है; तथा (६) इसके सब कार्य अचेतन रूप से होते हैं।

२. लघु मस्तिष्क (Cerebellum)

बनावट—यह मस्तिष्क के पिछले भाग में सुषुम्ना शीर्षक के ऊपर और वृहत् मस्तिष्क के नीचे की ओर स्थित रहता है। इसका आकार छोटा होता है। इस कारण इसे लघु मस्तिष्क कहते हैं। इसका आकार एक बल्ब की भाँति होता है। इसमें दरारें गहरी और क्रमबद्ध होती हैं तथा इसके बीचोंबीच से केन्द्रीय दरार गुजर कर इसे दो गोलार्द्धों में बाँट देती है। अनेक स्नायु तन्तुओं (nerve fibres) के द्वारा यह एक ओर तो सुषुम्ना शीर्षक से सम्बन्ध रखता है, और दूसरी ओर सेतु के द्वारा इसका सम्बन्ध वृहत् मस्तिष्क से रहता है।

कार्य—इस मस्तिष्क के कार्य के सम्बन्ध में यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसका विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि जो केन्द्र इसमें पाये जाते हैं उनका सम्बन्ध हमारी चेतन मानसिक क्रियाओं से नहीं है। इसके अतिरिक्त अभी तक यह भी ठीक रूप से पता नहीं लग पाया है कि किन किन क्रियाओं के विशेष केन्द्र इस मस्तिष्क के इस भाग में स्थित हैं, फिर भी इसके मुख्य कार्य के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि—(१) मस्तिष्क का यह भाग विभिन्न शारीरिक क्रियाओं के बीच में समन्वय (co-ordination) स्थापित करता है। जैसे दौड़ने में हमारे पैर, गर्दन, सिर, हाथ इत्यादि अंग—सबको एक समन्वय या एकीकरण प्राप्त करना होता है, जिसके बिना व्यक्ति दौड़ नहीं पायेगा। जितनी तेजी से हम दौड़ते हैं उसी के अनुसार हमारे हाथ हिलने लगते हैं। गर्दन तथा सिर एक विशेष मुद्रा अपना लेते हैं और यह अनुभव होता है कि सब अंग मिलकर एक कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार का एकीकरण जो विभिन्न अंगों में स्थापित किया जाता है, वह लघु-मस्तिष्क का ही कार्य है। (२) इसका कार्य शारीरिक सन्तुलन (bodily balance) में सहायता पहुँचाना भी है। यदि इस भाग को मस्तिष्क से निकाल दिया जाय तो व्यक्ति शारीरिक सन्तुलन न रख सकेगा और वह खड़ा नहीं रह पायेगा। (३) लघु मस्तिष्क उन क्रियाओं को भी नियन्त्रित करता है जिनका संचालन अनेक मांसपेशियों द्वारा होता है, जैसे—आदतजन्य कार्य (habitual actions)।

३. सेतु (Pons)

बनावट—यह भाग सुषुम्ना शीर्षक के ठीक ऊपर स्थित होता है। यह सफेद रंग का होता है और आकृति में पुल के मेहराब की तरह होता है।

कार्य—(१) यह भाग मस्तिष्क के गोलार्द्धों को मिलाता है। जो स्नायु उच्च-मस्तिष्क से निकलते हैं वे इसमें होकर गुजरते हैं। बायें और दाहिने गोलार्द्ध से जो स्नायु आते हैं वे सेतु पर ही एक-दूसरे को पार करते हैं। दाहिने गोलार्द्ध से आने वाले स्नायु इस स्थान पर अपना रास्ता बदल कर शरीर के बायें भाग में आते हैं, और बायें गोलार्द्ध से स्नायु यहाँ रास्ता बदल कर शरीर के दायें भाग की पेशियों में जाते हैं। यही कारण है कि शरीर के बायें या दाहिने भाग में जब भी कोई अव्यवस्था होती है तो इसका प्रभाव इसके विपरीत भाग पर तुरन्त पड़ता है। (२) यह भाग शरीर तथा वातावरण में सामञ्जस्य बनाये रखने में भी सहायता प्रदान करता है, तथा (३) गत्यात्मक मनो-व्यापारों (motor activities) में भी सहयोग प्रदान करता है।

४. थैलमस (Thalamus)

बनावट—यह भाग लघु मस्तिष्क के सामने की ओर और उच्च मस्तिष्क के नीचे की ओर स्थित होता है। इसका स्थान सेतु के ठीक ऊपर होता है।

कार्य—(१) इसका कार्य एक स्विच बोर्ड के कार्य के समान होता है। जैसे स्विच बोर्ड द्वारा विद्युत की धारा चाहे जिस दिशा में भेजी जा सकती है, ठीक उसी प्रकार

स्विच दबाने भर की देर है, इसी प्रकार थैलमस का प्रमुख कार्य यह है कि जो ज्ञानवाही स्नायु तंत्र (sensory neurons) यहाँ आते हैं, उन्हें उचित स्थान की ओर भेज देते हैं। विभिन्न ग्राहकों द्वारा जो स्नायुतंत्र सन्देश लाते हैं, वे थैलमस के द्वारा कार्टेक्स (cortex) के विभिन्न क्षेत्रों में पहुँचा दिये जाते हैं। (२) प्रयोगों द्वारा अब यह भी सिद्ध हो गया है कि साधारण सीखने की क्रिया भी इसी पर निर्भर रहती है।

५. लघुथैलमस (Hypothalamus)

बनावट—थैलमस क्षेत्र के नीचे तथा सेतु के ऊपर के मस्तिष्क के भाग को लघुथैलमस कहते हैं। इसे दो भागों में विभाजित किया गया है : पहला भाग पीछे तथा बगल का भाग (posterior and lateral) कहलाता है; और दूसरा भाग अगला तथा बीच का भाग (anterior and the central portion) कहलाता है।

कार्य—(१) यह भाग संवेग का केन्द्र माना जाता है। इसके पीछे तथा बगल का भाग सहानुभूतिक मण्डल (sympathetic system) के कार्यों के सम्पन्न होने में सहायता देता है। कई प्रयोगों में यह देखा गया है कि यदि इस भाग को विद्युत धारा द्वारा उत्तेजित कर दिया जाय तो व्यक्ति के दिल की धड़कन बढ़ जाती है (rapid heart beat) तथा रक्तचाप में भी वृद्धि (rise in blood pressure) हो जाती है अथवा इसी प्रकार के और परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। लघुथैलमस का दूसरा भाग उप-सहानुभूतिक (para-sympathetic) मण्डल के कार्यों को सम्पन्न करता है। इस प्रकार लघुथैलमस के मुख्य कार्य को हम स्वतः संचालित क्रियाओं से सम्पन्न होने में सहायता देना कह सकते हैं। (२) यह भाग स्नायु तन्तुओं को सुषम्ना शीर्षक की ओर भेजकर साँस लेने (respiration) की क्रिया के संचालन में सहयोग प्रदान करता है। (३) शरीर ताप (body temperature) को संतुलित रखना है। (४) शारीरिक पाचन-क्रिया के संचालन में सहायता प्रदान करता है। विशेषकर यह भाग चर्बी (fat), कार्बोहाइड्रेट (carbohydrate) तथा जल की पाचन-क्रियाओं की व्यवस्था में बहुत महत्वपूर्ण योगदान देता है। (५) यह यौन समागम की प्रवृत्ति एवं प्रक्रियाओं का भी नियन्त्रण करता है। (६) यह पिट्यूटरी ग्रन्थि (pituitary gland) से सम्बन्धित होता है जिसके सहारे यह हमारे शरीर की अन्दर के अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (endocrine glands) की क्रियाओं को भी पर्याप्त सीमा तक नियन्त्रित रखता है। अन्त में हम कह सकते हैं कि यह भाग शरीर में रासायनिक परिवर्तन होने के समय हमारी शारीरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण रखता है।

६. बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum)

बनावट—बृहत् मस्तिष्क आकार में अन्य सभी मस्तिष्क के भागों से बड़ा होता है। स्थिति में यह मस्तिष्क का अंग सबसे ऊपर होता है। इसे उच्च मस्तिष्क कहते हैं। रचना में यह गोलार्द्धों से मिलकर बना हुआ प्रतीत होता है। इसके बीचों-

बीच एक दरार निकलती है जो इसे दो अर्द्ध खण्डों—दायें एवं बायें—में बाँट देती है। शरीर के बायें अंग के केन्द्र दायें गोलार्द्ध तथा दायें अंग के केन्द्र बाएँ गोलार्द्ध में आते हैं। इसमें कई तहें होती हैं और इसका रासायनिक भाग भूरे और सफेद पदार्थ से मिलकर बना होता है। भूरा पदार्थ बाहर की ओर होता है। ऊपरी भूरे भाग को 'कॉर्टेक्स' (cortex) कहते हैं। इस भाग के अन्दर स्नायु-पुंज असंख्य मात्रा में पाये जाते है। सफेद पदार्थ (white matter) उन स्नायुओं के रेशे से मिलकर बनता है *जो कॉर्टेक्स की ओर आते-जाते हैं।*

इस भाग मे दरारें या फोशर (fissures) स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती हैं। यदि बृहत् मस्तिष्क की ऊपरी सतह को देखा जाय तो कहीं कुछ भाग दबा हुआ और कहीं-कहीं उभरा हुआ दिखायी देता है। यह दबा हुआ भाग ही 'दरार' कहलाता है। *दो दबे हुए भागों के बीच के स्थान को 'गाइरस' (gyrus) कहते हैं। उभरे हुए भाग* को 'रिजिज' (ridges) कहते हैं।

कॉर्टेक्स को रोलैण्डो की दरार दो भागों में बाँटती है। इसके अतिरिक्त सिलवियस की दरार (fissure of sylvius) भी इसे दो भागों मे बाँटती है। इस *प्रकार बृहद् मस्तिष्क चार भागों में बँटा होता है। ये चार भाग हैं—*

१. फ्रण्टल लोब (Frontal Lobe)—सम्मुख खण्ड,
२. पैरिटल लोब (Parietal Lobe)—मध्य खण्ड,
३. टेम्पोरल लोब (Temporal Lobe)—पृष्ठ खण्ड,
४. *ऑक्सीपीटल लोब (Occipital Lobe)—शंख खण्ड,*

क्रिया—बृहत् मस्तिष्क द्वारा हमारे बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित होते हैं। यह उच्च मानसिक क्रियाओं का केन्द्र है। यही हमारी स्वेच्छित क्रियाओं के संचालन मे सहयोग प्रदान करता है। हमारे सम्पूर्ण स्नायु-संस्थान व आंगिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व इसी पर है। *सभी निचले केन्द्रों का यह संचालन एवं नियमन करता है।* इसके विभिन्न भाग विभिन्न मनो-व्यवहारों को नियमित करते हैं। यहाँ हम इसके विभिन्न भागों के कार्य पर कुछ प्रकाश डालेंगे। यथा—

१. सम्मुख खण्ड (Frontal Lobe)—*यह खण्ड बृहत् मस्तिष्क के अग्रभाग मे स्थित है। इस खण्ड मे क्रियात्मक क्षेत्र (motor areas) वर्तमान रहते हैं। यह खण्ड* हमारे शरीर की चेष्टात्मक क्रियाओं के सम्पन्न होने मे सहयोग प्रदान करता है।

२. मध्य-खण्ड (Parcital Lobe)—*यह खण्ड* सम्मुख खण्ड के नीचे पाया जाता है। इस खण्ड मे त्वचा तथा माँसपेशियों के क्षेत्र (somaesthetic area) मिलते हैं। *अतएव त्वचा एवं मांसपेशियो की संवेदनाओं मे यही खण्ड सहायता प्रदान* करता है।

३. पृष्ठ खण्ड (Temporal Lobe)—यह खण्ड मस्तिष्क के पिछले भाग में होता है। इस खण्ड मे दृष्टि-क्षेत्र (visual area) पाया जाता है। इस कारण ही हमारे देखने की सम्पूर्ण क्रियाएँ इसी खण्ड के सहयोग से होती हैं।

४. शंख खण्ड (Occipital Lobe)—यह खण्ड मस्तिष्क के निचले भाग में होता है। इस खण्ड के ऊपरी भाग में श्रवण क्षेत्र (auditory area) होता है, इसलिए हमारे सुनने की सभी क्रियाओं का नियमन इसी खण्ड द्वारा होता है।

अनेक अनुसंधानों द्वारा शरीर-विज्ञानवेत्ता अब इस निर्णय पर आये हैं कि यदि दुर्भाग्य से किसी खण्ड का चोट लग जाती है और खण्ड में दोष आ जाता है तो उस खण्ड से सम्बन्धित सब संवेदनाओं का ह्रास हो जाता है।

सेरीब्रल कॉर्टेक्स—वृहत् मस्तिष्क के भूरे पदार्थ से बने हुए इस भाग को जैसा हमने ऊपर कहा है, सेरीब्रल कॉर्टेक्स कहते हैं। ऊपर हमने यह भी वर्णन किया है कि इस सतह में स्नायुक कोषाणु असंख्य होते हैं। ये केन्द्र या कोषाणु उच्च मानसिक क्रियाओं से सम्बन्धित होते हैं—जबकि वे केन्द्र जो निम्न मानसिक क्रियाओं से सम्बन्धित होते हैं, सुषुम्ना नाड़ी तथा सुषुम्ना शीर्षक में पाये जाते हैं।

कॉर्टेक्स में कहीं-कहीं दृष्टि एवं श्रवण-सम्बन्धी केन्द्र मिलते हैं। यदि इन केन्द्रों पर चोट लगती है तो हमारी दृष्टि एवं श्रवण सम्बन्धी संवेदनाओं पर तुरन्त बुरा प्रभाव पड़ता है। कॉर्टेक्स में हमारी स्मृति और सीखने की क्रियाओं के केन्द्र भरे होते हैं। जितनी उच्च सीखने की क्रियाएँ होती हैं, वे कॉर्टेक्स के स्तर पर ही होती हैं। प्रयोगों द्वारा यह देखा जा चुका है कि यदि कॉर्टेक्स के किसी भाग को काट दिया जाय तो बहुत-सी सीखी हुई क्रियाएँ भुलायी जा सकती हैं। परन्तु जो क्रियाएँ भूली जा चुकी होती हैं उन्हें पुनः सीखा नहीं जा सकता।

सेरीब्रल कॉर्टेक्स में कौन-कौन से केन्द्र कहाँ पाये जाते हैं (localisation of cerebral cortex), इस सम्बन्ध में बहुत से अनुसंधान हुए हैं, किन्तु अभी तक यह
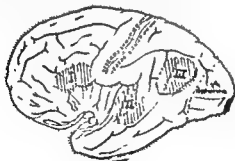
[चित्र १२—कॉर्टेक्स के विभिन्न केन्द्र]

पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक मानसिक तथा क्रियात्मक व्यवहार का स्थानीयकरण कहाँ है। शरीर-विज्ञानवेत्ता स्थानीयकरण में आस्था नहीं रखते। उनका कहना है कि सम्पूर्ण कॉर्टेक्स एक साथ मिलकर कार्य करता है।

(ii) सुषुम्ना नाड़ी (Spinal Cord)

केन्द्रीय स्नायु मण्डल में दूसरा प्रमुख भाग सुषुम्ना नाड़ी है। यहाँ हम इसकी बनावट एवं कार्य के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे।

बनावट एवं स्थिति—सुषुम्ना नाड़ी सुषुम्ना मेरुदण्ड (back bone) के अन्दर में होती है। यह मस्तिष्क से नीचे की ओर दुम्ची तक फैली होती है। यह नाड़ी बहुत से नाड़ी-तन्तुओं से बनी हुई है। इसका आकार एक मोटी रस्सी की तरह गोल होता है और यह लम्बी होती है। यह रस्सी बहुत मुलायम प्रकार की होती है। इससे स्नायु तन्तुओं के लगभग ३१ जोड़े निकलते हैं। ये जोड़े सुषुम्ना के दोनों ओर जुड़े रहते हैं और वहीं से निकलकर सारे शरीर में फैल जाते हैं।

कार्य—(१) सुषुम्ना नाड़ी सहज क्रियाओं (reflex actions) का केन्द्र होती है। यहाँ जो ज्ञानवाही नाड़ियों से आवेग आते हैं वे सीधे क्रियावाही स्नायुओं से मिल जाते हैं। इन्हें मस्तिष्क में जाने की कोई आवश्यकता नहीं होती। सहज क्रिया के सम्बन्ध में हम इस अध्याय में आगे पुनः वर्णन करेंगे। (२) सुषुम्ना नाड़ी ज्ञानवाही नाड़ियों से प्राप्त जो आवेग होते हैं, उन्हें मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों में भी पहुँचाने का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त यह उच्च केन्द्रों (higher centres) से प्राप्त आवेगों को क्रियावाही नाड़ियों द्वारा मांसपेशियों तक पहुँचाती है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि सुषुम्ना नाड़ी मस्तिष्क को सहयोग पहुँचाने के लिए ही कार्य करती है। सहज कार्य तो यहीं सम्पन्न हो जाते हैं परन्तु उनकी सूचना मस्तिष्क तक कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् पहुँच जाती है। ये कार्य ऐसे होते हैं कि इनमें बुद्धि की कम आवश्यकता पड़ती है, परन्तु शरीर की रक्षा के लिए उनका विलम्ब से होना परम आवश्यक है। सुषुम्ना इन कार्यों का स्वयं संचालन करके मस्तिष्क को श्रम से बचाती है। यह मस्तिष्क के फैलाव के रूप में ही होती है और अप्रत्यक्ष रूप से यह उसी के नियन्त्रण में रहती है।

२. स्वयं संचालित स्नायु-संस्थान

स्वयं संचालित स्नायु-संस्थान (Autonomic Nervous System) या स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल केन्द्रीय नाड़ीमण्डल से स्वतन्त्र होकर कार्य करता है। केन्द्रीय नाड़ीमण्डल से स्वतन्त्र होकर कार्य करने से हमारा तात्पर्य यह है कि जो कार्य इस नाड़ीमण्डल द्वारा सम्पन्न होते हैं, उनमें केन्द्रीय नाड़ीमण्डल को सक्रिय होने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु केन्द्रीय नाड़ीमण्डल का एक मुख्य भाग सुषुम्ना के स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल द्वारा जो कार्य किये जाते हैं, उन्हें पूर्ण रूप से संचालित एवं नियमित करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल के अन्तर्गत किये जाने वाले कार्य सुषुम्ना से संचालित होते हैं और उनमें बृहत् मस्तिष्क को कोई कार्य नहीं करना पड़ता। इससे बृहत् मस्तिष्क को उच्च श्रेणी के महत्त्वपूर्ण कार्यों को करने का अवकाश मिलता रहता है।

स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल को सक्रिय होने के लिये बाहर की उत्तेजना की

आवश्यकता नहीं पड़ती। यह आन्तरिक अंगों से ही क्रियाशील हो जाता है और आन्तरिक अंगों का ही नियंत्रण एवं संचालन करता है। यह केवल क्रियात्मक (motor) कार्य ही करता है, इसीलिए इसे क्रियामण्डल (motor system) भी कहा जाता है।

स्वतन्त्र नाड़ीतंत्र की क्रियाओं के उदाहरण हैं—श्वास-क्रिया, फेफड़ों का काम, हृदय-स्पन्दन, रक्त-संचार, पाचन-क्रिया इत्यादि।

स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल की रचना—चित्र १३ में स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल की रचना को दिखाया गया है। इस चित्र में बायीं ओर सबसे ऊपर के सिरे पर मस्तिष्क है। मस्तिष्क से सम्बन्धित अनेक नाड़ियाँ हैं जो क्रेनियल नाड़ियाँ (cranial nerves) कहलाती हैं। इनके नीचे सुषुम्ना है। सम्बन्धित सुषुम्ना से भी अनेक नाड़ियाँ दिखायी गयी हैं जिन्हें सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं, सुषुम्ना वाले भाग का नामकरण 'थोरेको लम्बर' (thoraco lumber) किया गया है, क्योंकि इस भाग की नाड़ियाँ सुषुम्ना से चलकर थोरेक्स (thorax) तक पहुँचती हैं। सुषुम्ना का जो अन्तिम भाग चित्र में दिखाया गया है उसे 'सा्क्रल' (sacral) कहते हैं। चित्र में दायीं ओर जो भाग दिखाये गये हैं उनमें स्वतन्त्र स्नायुकोष समूह (autonomic ganglia), स्वतन्त्र नाड़ियाँ (autonomic nerves) तथा शरीर के विभिन्न आन्तरिक अंग हैं जिनमें सुषुम्ना से चलकर नाड़ियाँ पहुँचती हैं। ये स्वतन्त्र नाड़ियाँ—नेत्र, हृदय, फेफड़े, जिगर, तिल्ली, पेट, आँतें, ब्लैडर, पसीना देने वाली ग्रन्थियों, पाचन-रस देने वाली ग्रन्थियों एवं जननेन्द्रियों तक फैली होती हैं।

स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल को दो भागों बाँटा गया है—(१) अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल (Sympathetic Nervous System), तथा (२) परा-अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल (Para-Sympathitc Nervous System)।

परा-अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल के और दो भाग किये जा सकते हैं—(अ) कपालिक (crasial), तथा (ब) सा्क्रल (sacral)। कपालिक नाड़ीमण्डल उन क्रियाओं से सम्बन्धित होता है जो शरीर के ऊँचे भाग में होती हैं, जैसे—नेत्र, हृदय, कान आदि की क्रियाएँ। सा्क्रल नाड़ीमण्डल का सम्बन्ध शरीर की निचले भाग वाली क्रियाओं से होता है, जैसे—जननेन्द्रिय, मूत्राशय आदि की क्रियाएँ।

१. अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल की क्रियाएँ—अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल का मुख्य कार्य शरीर को खतरों से बचाने के लिये तैयारी करना है। यह मण्डल सामान्य रूप से शरीर को क्रियाशील बनाता है। हमारे शरीर के विभिन्न आन्तरिक या बाह्य भागों में इसी के द्वारा गति उत्पन्न होती है। यह नाड़ीमण्डल संवेग की दशा में अधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। जब खतरे का आभास होता है तब यह संस्थान क्रियाशील हो जाता है। इसके क्रियाशील होने से हमारे शरीर में कुछ परिवर्तन आते हैं। आँखों की पुतलियाँ चौड़ी होकर फैल जाती हैं, धमनियों और मस्तिष्क में रक्त का संचार अधिक होने लगता है और आमाशय में इसका संचार कम हो जाता है जिसके फलस्वरूप पाचन-शक्ति कम हो जाती है और भूख लगना बन्द हो जाती है। मांस-

कार्य करता है। इस स्नायु-संस्थान द्वारा एक ओर तो ज्ञानेन्द्रियाँ मस्तिष्क से सम्बन्धित होती हैं और दूसरी ओर मस्तिष्क का सम्बन्ध बाहरी मांसपेशियों तथा ग्रन्थियों से स्थापित होता है। वास्तव में इस स्नायु संस्थान का कार्य एक सन्देशवाहक के समान होता है। सन्देशवाहक सन्देश को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाता है। यह स्नायु संस्थान भी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सन्देश को केन्द्रीय नाड़ीमण्डल तक और केन्द्र के द्वारा प्राप्त आदेश को प्रभावक तक पहुँचा देने का कार्य करता है।

इस नाड़ीमण्डल का कार्य बहुत ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। बिना इसकी सहायता के हमारा शरीर न तो ग्राहक द्वारा कोई सन्देश ही प्राप्त कर सकता है, और न प्रभावक को कोई आदेश ही दे सकता है। इस प्रकार यदि यह संस्थान अपना कार्य करना छोड़ दे तो शरीर का वातावरण से सम्बन्ध ही पूर्णतया समाप्त हो जाय।

संयोजक नाड़ीमण्डल के दो प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए दो प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं। ये दो प्रकार की नाड़ियाँ—ज्ञानवाही नाड़ियाँ (sensory nerves), तथा कर्मवाही नाड़ियाँ (motor nerves) कहलाती हैं। ज्ञानवाही नाड़ियों के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों से सन्देश मस्तिष्क केन्द्र में पहुँचा दिये जाते हैं। क्योंकि यह ज्ञान का वाहन सीमावर्ती ज्ञानेन्द्रियों के अन्दर मस्तिष्क की ओर जाता है, इन्हें अन्तर्गामी नाड़ी (incoming nerves) भी कहते हैं। कर्मवाही नाड़ियों का कार्य मस्तिष्क केन्द्र से बाहर के अंग, मांसपेशियों इत्यादि को गत्यात्मक प्रेरणा (motor prompting) को पहुँचाना है। ये नाड़ियाँ मस्तिष्क से बाहर की ओर लौटती हैं, इस कारण इन्हें बहिर्गामी नाड़ियाँ (outgoing nerves) भी कहते हैं। हमने इन दोनों प्रकार की नाड़ियों की विशेषताओं का वर्णन 'नाड़ियों के प्रकार' नामक शीर्षक में किया है।

प्रभावक

ऊपर हमने ग्राहक एवं नाड़ीमण्डल का वर्णन किया है। नाड़ीमण्डल का वर्णन करते समय हमने इस ओर संकेत किया था कि ग्राहक ज्ञान को ग्रहण करके नाड़ियों द्वारा इसको मस्तिष्क या सुषुम्ना केन्द्र को भेज देते हैं, जहाँ से शारीरिक क्रिया का आदेश मिल जाता है और जो दूसरी प्रकार की नाड़ियों (कर्मवाही नाड़ियों) द्वारा मांसपेशियों अथवा ग्रन्थियों तक पहुँचा दिया जाता है, जो उस आदेश के आधार पर गतिशीलता ग्रहण करते हैं। ये मांसपेशियाँ एवं ग्रन्थियाँ ही 'प्रभावक' कहलाती हैं। अतएव हम यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि बिना प्रभावकों के हमारा किसी भी प्रकार का व्यवहार सम्भव न होगा। प्रभावकों के कारण हमारे शरीर की सब ऐच्छिक (voluntary) एवं अनैच्छिक (involuntary) क्रियाएँ होती हैं।

यहाँ हम दो प्रकार के प्रभावकों का वर्णन करेंगे—(१) मांसपेशियाँ, और (२) ग्रन्थियाँ।

१. माँसपेशियाँ (Muscles)

हमारे शरीर की अनेक क्रियाएँ; जैसे—उठना, बैठना, चलना, हिचकी लेना, दौड़ना, कूदना इत्यादि—माँसपेशियों की सहायता से ही सम्पन्न होती हैं। हमारे विभिन्न अंगों द्वारा जो विभिन्न गतियाँ प्राप्त कर ली जाती हैं वे भी माँसपेशियों के ही कारण प्राप्त होती हैं। माँसपेशियों के तीन मुख्य प्रकार होते हैं जो इस प्रकार हैं—(१) धारीदार माँसपेशियाँ (striped muscles), (२) चिकनी माँसपेशियाँ (smooth-muscles), तथा (३) हार्दिक माँसपेशियाँ (cardic muscles)। माँसपेशियों के ये तीनों प्रकार उन कोषाणुओं के आधार पर बाँटे गये हैं जिनके द्वारा उनका निर्माण होता है।

(१) धारीदार अथवा रेखायुक्त माँसपेशियाँ—ये माँसपेशियाँ विभिन्न आकार की होती हैं तथा अन्य पेशियों से कुछ लम्बी होती हैं। ये रेखायुक्त इस कारण कहलाती हैं कि इनमें कुछ रेखाएँ सफेद और कुछ काली होती हैं। इनका क्रम इस प्रकार रहता है कि एक सफेद के बाद एक काली माँसपेशी आती है। ये सभी माँसपेशियाँ एक-दूसरे के समानान्तर पायी जाती हैं। इन माँसपेशियों के ऊपर केन्द्रीय नाड़ीमण्डल का प्रभाव होता है। अतएव ये हमारी इच्छा के अनुसार कार्य करती हैं। इस प्रकार इनके द्वारा ऐच्छिक (voluntary) कार्य किये जाते हैं। ये कार्य इस प्रकार हो सकते हैं जैसे—मारना, पीटना, नाचना इत्यादि। ये माँसपेशियाँ हमारे हाथ और पैर में पायी जाती हैं और अधिक कार्य करने से थक जाती हैं, जिसके कारण इन्हें विश्राम की आवश्यकता रहती है।

(२) चिकनी माँसपेशियाँ—ये माँसपेशियाँ चिकनी होती हैं। इनका आकार सूची (conic) की तरह पाया जाता है तथा अन्तड़ियों, जननेन्द्रियों आदि में मिलती हैं। ये माँसपेशियाँ स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल (autonomic nervous system) से सम्बन्धित रहती हैं। इस कारण ये स्वतः चालित होती हैं और इनके द्वारा हमारी अनैच्छिक क्रियाएँ (involuntary actions) होती हैं। ये क्रियाएँ हैं—साँस लेना, खाना पचाना इत्यादि।

(३) हार्दिक या हृदय-पेशी—ऐसी माँसपेशी हमारे हृदय में होती है जिसके कारण हृदय की धड़कन होती रहती है। यह धारीदार माँसपेशियों की तरह ही होती है परन्तु इसमें तथा धारीदार माँसपेशियों में दो अन्तर होते हैं। एक तो यह धारीदार माँसपेशियों की तरह समानान्तर नहीं होती, और दूसरे यह पेशी किसी ऊपरी आवरण (coat) से धारीदार माँसपेशियों के समकक्ष नहीं ढकी रहती। इस पेशी का कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक चलता रहता है, क्योंकि वह स्वयं संचालित नाड़ीमण्डल के नियन्त्रण में रहती है।

२. ग्रन्थियाँ (Glands)

ग्रन्थियों द्वारा हमारे शरीर में अनेक प्रकार के रासायनिक रसों का स्राव होता है। इन ग्रन्थियों की क्रिया के कारण जो रस का स्राव होता है, वह हमारे शरीर के व्यवहार में अनेक परिवर्तन उत्पन्न कर देता है।

ग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) बहिर्स्रावी ग्रन्थियाँ या प्रणालीयुक्त ग्रन्थियाँ (duct or extero glands), तथा (२) अन्तर्स्रावी या प्रणालीहीन ग्रन्थियाँ (endocrine or ductless glands)।

(१) बहिर्स्रावी या प्रणालीयुक्त ग्रन्थियाँ—इन ग्रन्थियों में प्रत्येक के साथ एक नलिका मिली होती है। इसके द्वारा उनका रसस्राव शरीर के रक्त-प्रवाह में न मिलकर शरीर की ऊपरी सतह पर चला आता है। इन रसों के द्वारा हमारे शरीर की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। प्रमुख प्रणालीयुक्त ग्रन्थियाँ हैं: (१) अश्रु-ग्रन्थियाँ (tear glands) जिनकी सहायता से अश्रु निकलते हैं, (२) प्रस्वेद ग्रन्थियाँ (sweat glands) जिनके द्वारा शरीर का पसीना निकलता है, (३) लार ग्रन्थियाँ (salivary glands) जो भोजन के समय लार निकालती हैं, तथा (४) काम ग्रन्थियाँ जो सन्तान उत्पत्ति के लिए रस प्रदान करती हैं।

(२) अन्तर्स्रावी या प्रणालीयुक्त ग्रन्थियाँ—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन ग्रन्थियों का बहुत अधिक महत्त्व है।
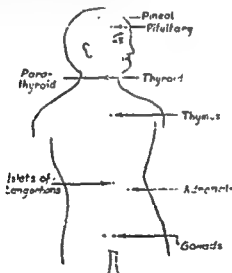
[चित्र—१४]

अध्ययन से यह पता चलता है कि जब तक ये ग्रन्थियाँ अपने उचित रूप में कार्य करती रहती हैं, व्यक्तित्व पर उनका बहुत ही स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। लेकिन जब कभी इनमें से कोई भी ग्रन्थि अपने उचित रूप से कार्य नहीं कर पाती तब अस्वस्थ

रूप से इसका प्रभाव व्यक्ति के व्यवहारों और व्यक्तित्व पर पड़ता है। चित्र १४ में कुछ आवश्यक ग्रन्थियाँ तथा उनकी स्थिति स्पष्ट की गयी है।

ये ग्रन्थियाँ सीधे रूप से अपने स्राव को रक्त में मिश्रित कर देती हैं। यह मिश्रण एक निश्चित आनुपातिक ढंग से होता है। इन ग्रन्थियों का कम या अधिक स्राव अर्थात् जो आनुपातिक माप का नहीं होता, व्यक्ति के विकास पर भयानक प्रभाव डालता है। इन ग्रन्थियों का प्रभाव व्यक्ति की बाढ़, शक्ति-संचय, भोजन-मिश्रण और विशेष रूप में स्वास्थ्य पर पड़ता है। ये ग्रन्थियाँ संवेगात्मक ग्रन्थियों या व्यक्तित्व-ग्रन्थियों के नाम से भी पुकारी जाती हैं।

(i) चित्र में आप यह देखेंगे कि गुर्दों के ऊपर एक छोटी-सी ग्रन्थि है जिसे हम एड्रिनल ग्रन्थि (adrenals glands) कहते हैं। यह छोटी और पीलापन लिए हुए होती है। इस ग्रन्थि से एड्रिनिन (adrenine) नामक स्राव प्रवाहित होता है। यह वह शक्तिशाली द्रव्य है जो रक्त-चीनी (blood-sugar) को जिगर से उत्तेजित करता है जिससे व्यक्ति को अधिक शक्ति प्राप्त होती है। एड्रिनल स्राव हृदय को भी उत्तेजना प्रदान करता है, मुख्यतः उस अवस्था में जबकि यह द्रुतगति से चलता है; और शरीर को भी वेगमय बनाने में सहायता प्रदान करता है। परिणामतः यह अतिरिक्त शक्ति जो व्यक्ति के अन्दर पैदा होती है, उसे अपने विशेष गौरव और शक्ति को प्रस्तुत करने में सहायक होती है। एक हॉकी या फुटबॉल का खिलाड़ी जो जीतने का पक्का इरादा कर लेता है, खेलने के समय उसके जिगर से चीनी स्रवित होती है और रक्त में मिलकर उसके शक्तिवर्द्धन में सहायक होती है।

(ii) गोनड्स (Gonads)—ये लिंग सम्बन्धी ग्रन्थियाँ (sex glands) होती हैं। लिंग-उत्तेजना इन्हीं ग्रन्थियों के स्राव के कारण होती है जो इनसे निकलता है। इन ग्रन्थियों को हम प्रजनन ग्रन्थियाँ भी कह सकते हैं। पुरुष की प्रजनन ग्रन्थियाँ 'शुक्र ग्रन्थियाँ' (testes) तथा स्त्रियों की प्रजनन ग्रन्थियाँ 'डिम्ब ग्रन्थियाँ' (ovaries) कहलाती हैं। शारीरिक उत्पत्ति और व्यक्तित्व विकास के दृष्टिकोण से ये ग्रन्थियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। पुरुष और स्त्रियों की प्रजनन ग्रन्थियों का स्राव नर और मादा के गुणों की उत्पत्ति और विकास में महत्वपूर्ण होता है; यही नहीं, यह स्राव नर और मादा के गुणों के अन्तर भी स्पष्ट करता है। मान लीजिए कि यदि युवक की प्रजनन ग्रन्थियाँ अलग कर दी जाती हैं, तो परिणामस्वरूप उसके अन्दर सामर्थ्य नष्ट हो जाता है और वह व्यक्ति बहुत ही मोटा हो जाता है, और एक विशेष व्यक्तित्व स्त्री के समान उत्पन्न हो जाता है। उसके अन्दर पुरुष जैसा स्वर उत्पन्न नहीं होता। साथ ही साथ उसके मुखमण्डल व शरीर पर या तो बाल ही नहीं उगते अथवा बहुत ही छोटे-छोटे बाल उगते हैं। इसके ठीक विपरीत यदि एक बालिका की प्रजनन ग्रन्थियाँ उचित रूप से कार्य नहीं करती अथवा वे ग्रन्थियाँ असमर्थ होती हैं तो बालिका के अन्दर पुरुष जैसा व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, ये ग्रन्थियाँ हमारे अन्दर गुणात्मक लैंगिक गुण (secondary sexual characteristics) भी उत्पन्न करती हैं।

(iii) थायरॉयड ग्रन्थियाँ (Thyroid Glands)—थायरॉयड ग्रन्थि की रचना दो गोल भागों से होती है जो श्वास प्रणाली के इधर-उधर होते हैं। जो स्राव इस ग्रन्थि से होता है वह रक्त-पात्रों (blood vessal) द्वारा सोख लिया जाता है। जब कभी इस ग्रन्थि के स्राव की मात्रा अधिक हो जाती है तो व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, उसे बेचैनी का अनुभव होता है और वह घेंघा (exophethalinic goitre) हो जाता है। साथ ही साथ इस ग्रंथि-रस के अभाव में व्यक्ति के अन्दर सुस्ती व आलस आ जाता है और वह हर समय ऊँघता रहता है।

थायरॉयड ग्रन्थि का बुद्धि और व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए, यदि एक बालक के बचपन से उसकी थायरॉयड ग्रन्थि उचित आनुपातिक मात्रा में रस नहीं देती है तो वह साधारण रूप से विकसित नहीं हो सकता और उसका मानसिक एवं शारीरिक विकास परिपूर्ण नहीं हो पाता। इसी प्रकार यदि किसी बालक में यह रस बहुत ही थोड़ी मात्रा में उत्पन्न होता है तो वह बालक वामन (cretins) हो जाता है, मानसिक विकास के अनुसार वह बालक मूर्ख या मन्द-बुद्धि कहलाता है। उसका पेट कुछ बड़ा और अनुपात में टाँगें छोटी और अविकसित होती हैं। यदि बचपन में बालक को थायरॉयड एक्सट्रेक्ट (thyroid extract) दे दिया जाय तो बालक का विकास साधारण रूप से हो जायेगा।

थायरॉयड स्राव के आधिक्य वाले व्यक्तियों (hyper-thyroid) के रक्त में रस का मिश्रण होता है और इस आधिक्य रस वाले व्यक्ति के हृदय की धड़कन तीव्र होती है क्योंकि थायरॉयड रस के कारण भोजन शीघ्र जल जाता है और परिणामतः वह हतोत्साहित और शीघ्र ही संवेग के वश में आ जाता है।

(iv) थॉयरॉयड ग्रन्थि के पास ही में उप-थायरॉयड या उप-चुल्लिका (para thyroid) ग्रन्थियाँ स्थित होती हैं। इन ग्रन्थियों से एक ऐसे स्राव की उत्पत्ति होती है जो शरीर को शक्तिवान बनाता है। यदि उप-चुल्लिका ग्रन्थि को अलग कर दिया जाय अथवा ग्रन्थि में अस्वस्थता हो तो इसके स्राव के अभाव के कारण सम्पूर्ण शरीर का अनुपात नष्ट हो जाता है और ऐंठन तथा मरोड़ पैदा हो जाती है, जिससे मृत्यु हो जाती है।

(v) छोटे-छोटे कोष जो कई भागों में बँटे होते हैं, एक आन्तरिक स्राव की उत्पत्ति करते हैं जिसे 'इन्सुलीन' (insulin) कहते हैं। यही 'लेंगरहेन्स के आईलेट्स' (islets of langerhans) के नाम से पुकारे जाते हैं। यदि यह स्राव प्रचुर मात्रा में रक्त में मिश्रित नहीं होता तो 'मधुमेह' (diabetes) का रोग हो जाता है।

इस ग्रन्थि-रस के अभाव के कारण सुस्ती व बीमारी उत्पन्न हो जाती है जो व्यक्तित्व को साधारण रूप में पनपने नहीं देती तथा व्यक्ति के अन्दर अनेकानेक संवेगात्मक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं।

(vi) पिट्यूटरी ग्रन्थि (Pituitary Glands)—बड़ी ही महत्वपूर्ण होती है। यह दो गोलार्द्धों (in two lobes) में बँटी होती है और खोपड़ी के आधार पर स्थित होती है। इस ग्रन्थि-रस के कारण अन्य ग्रन्थि-रस भी विकसित होते हैं। यह रस अन्य ग्रन्थि-रसों में अनुपात भी पैदा करता है और शरीर में एक रासायनिक आनुपातिक (chemical equilibrium) योग्यता का निर्माण करता है किन्तु यह इस रस के अभाव में सम्भव नहीं होता।

इस ग्रन्थि का अर्द्ध गोलार्द्ध शारीरिक बाढ़ को उत्तेजित करता है। गोलार्द्ध के स्राव की अधिकता दानव के लक्षण उत्पन्न कर देती है। जो व्यक्ति ■ ६ फीट लम्बा होता है, तो स्पष्ट है कि उसकी यह वृद्धि इस रस-प्रवाह की अधिकता के कारण ही सम्भव हुई। इसके ठीक विपरीत, यदि इस रस का प्रवाह कम होता है तो परिणामतः शारीरिक और लैंगिक विकास (bodily & sexual developmen परिपूर्ण रूप में नहीं होता। इसके कारण 'बौनापन' (dwarfism) या 'बालकपन' (infantilism) उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार इस स्राव की अधिकता या कमी—दोनों ही भयावह दोष उत्पन्न करने वाली होती हैं। इससे व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की अनेकता उत्पन्न हो जाती है।

(vii) थायमस या पीनियल ग्रन्थियाँ (Thymus and Pineal Glands)—यद्यपि इन ग्रन्थियों के कार्य तथा प्रयोजन के बारे में अभी तक कोई निश्चित मत नहीं है; फिर भी यह माना जाता है कि थायमस ग्रन्थि का लैंगिक विकास (Sexua development) और लैंगिक उत्पत्ति (sexual growth) में महत्वपूर्ण योग है। जब तक बालक युवा नहीं होता, यह ग्रन्थि अपना कार्य सुचारु रूप से करती है किन्तु युवावस्था आते ही यह अपना कार्य बन्द कर देती है। पीनियल ग्रन्थि भी शारीरिक विकास और लैंगिक विकास में अपने स्राव के द्वारा योग देती है।

अन्त में, हम यह कह सकते है कि यद्यपि अभी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण खोज की आवश्यकता है; फिर भी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो चुकी है जो ग्रन्थियों के व्यक्तित्व व मानव-व्यवहार पर होने वाले प्रभाव को बताती है। पिट्यूटरी, पीनियल, थायरॉयड और लिंग-ग्रन्थियों के स्राव शारीरिक वृद्धि व विकास को रोक सकते हैं और इस प्रकार अस्पष्ट रूप में मानव-व्यक्तित्व व मानव-व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं। थायरॉयड, एड्रिनल और आईलेट्स आफ लैंगरहैन्स शारीरिक बनावट या समवृत्त (metabolism) शारीरिक भोजन के प्रयोग आदि पर प्रभाव डालती हैं और इस प्रकार हमारे विकास में सहायता प्रदान करती हैं।

सहज-क्रियाएँ (Reflex Actions)

सहज-क्रियाएँ वे बिना सोची हुई अनुक्रियाएँ होती हैं जो स्वतः चालित एवं शीघ्रता से घटित होने वाली होती हैं। जैसे ही कोई उत्तेजना मिलती है, यदि उसके फलस्वरूप तुरन्त प्रतिक्रिया हो जाती है जिसमें मस्तिष्क कोई भाग नहीं लेता और

जिसमें हमारी इच्छा का कोई स्थान नहीं होता, न ही व्यक्ति को उसके होने की कोई अधिक चेतना होती है, तो ऐसी क्रिया को हम 'सहज क्रिया' की संज्ञा देते हैं। सहज-क्रियाएँ जन्मजात होती हैं। ये प्रक्रियाएँ गर्भाशय से ही बालक में आरम्भ हो जाती हैं। वुडवर्थ (Woodworth) द्वारा सहज क्रिया की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है : "सहज-क्रिया एक अनैच्छिक तथा बिना सीखी हुई क्रिया है जो किसी ज्ञानवाही उद्दीपक की मांसपेशीय अथवा ग्रन्थीय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।"[1]

सहज-क्रिया के उदाहरण हैं—आँख पर चमकती रोशनी पड़ने से आँख की पुतली का सिकुड़ना, छींक का आना, आँख की पलकों का झपकना, लार का स्राव होना, खाँसना, आँख से आँसू निकल पड़ना—इत्यादि।

सहज-क्रियाओं में उद्दीपक हमें अनजाने में मिलता है, जबकि साधारण प्रतिक्रियाओं में हमें उद्दीपक का ज्ञान रहता है। यही मुख्य भेद सहज-क्रिया तथा साधारण क्रिया में है। इसके अतिरिक्त केवल सहज क्रियाओं को छोड़कर बाकी सब सहज-क्रियाओं के सम्पन्न होने में साधारण प्रक्रियाओं से कम समय लगता है।

सहज-क्रियाओं को हम दो रूप में व्यक्त करते हैं—(१) शरीर व्यापी सहज-क्रिया (Physiological Reflex); और (२) सचेतन सहज-क्रिया (Sensation-Reflex)।

(१) शरीर व्यापी सहज क्रिया—यह वह सहज क्रिया होती है जो पूर्ण रूप से अचेतन होती है, जैसे—अधिक प्रकाश के उद्दीपक के मिलते ही आँख की पुतली का सिकुड़ जाना। हमारी आँख की पुतली का सिकुड़ना बिना हमें कोई चेतना हुए अपने आप हो जाता है। इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं के उदाहरण हैं लार का निकलना, आँख का झपकना इत्यादि। ये सभी सहज क्रियाएँ, सहज क्रिया-चाप (reflex arc) के बनने से सम्भव होती हैं। जो सहज क्रिया चाप सुषुम्ना (spinal-cord) में बनते हैं। उनके द्वारा सुषुम्ना नियन्त्रित सहज क्रियाएँ होती हैं। सुषुम्ना से सम्बन्धित सहज क्रियाएँ भी दो प्रकार की होती हैं : (१) अंगों के मुड़ने की क्रिया-सम्बन्धी सहज क्रिया (flexion reflexes), (२) अंगों और पेशियों के फैलने की क्रिया सम्बन्धी सहज क्रिया (extension reflexes)।

जब हमारी उँगलियाँ किसी गर्म चीज पर पड़ते ही स्वतः मुड़कर हट जाती हैं तो मुड़ने की यह क्रिया सहज-क्रिया कहलाती है। इस प्रकार की क्रियाओं के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

हम जैसे ही एक पैर को जमीन से उठाते हैं वैसे ही दूसरा पैर शरीर के संतुलन को रखने के लिये तन कर जमीन पर मजबूती से टिक जाता है। इसे हम अंग और मांसपेशियों के फैल जाने वाली क्रिया-सम्बन्धी सहज क्रिया कहते हैं।

---

1. "A reflex is a direct muscular or glandular response to a sensory stimulus, an involuntary and unlearned response."—*Woodworth.*

(२) *संवेदन सहज क्रिया*—*संवेदन सहज क्रिया वह होती है जिसकी हमको* कुछ चेतना होती है। इसके उदाहरण हैं—आँख में धूल पड़ जाने पर पलक के चेतन होकर झपकना, गले में खराश होने पर खाँसी आने की चेतना होना। परन्तु सहज-क्रिया भी चेतना द्वारा नियन्त्रित नहीं हो सकती। बहुत प्रयास करने पर कुछ क्षणों के लिए इसे हम रोक सकते हैं, परन्तु जैसे ही इस पर से नियन्त्रण टूटता है, सहज-क्रिया अधिक बल के साथ होने लगती है। जैसे गले में खराश होने पर हम खाँसी को थोड़ी देर तक अपनी इच्छाशक्ति से रोक सकते हैं परन्तु इसका नियन्त्रण टूटते ही हम बड़ी जोर से खाँसना आरम्भ कर देते हैं।

सहज क्रियाओं से लाभ

सहज क्रियाएँ हमारे शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती हैं। भूख का लगना, आक्रमण के समय शरीर के महत्त्वपूर्ण अंगों को रक्षा के हेतु तैयार करना, शरीर में सन्तुलन बनाये रखना इत्यादि कार्य सहज क्रियाओं द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। अतएव प्राणी के जीवन के लिये सहज क्रियाएँ बहुत ही उपयोगी होती हैं।

सहज क्रियाएँ, जैसा कि ऊपर कहा गया है, गर्भाशय में ही प्रारम्भ होने लगती हैं। परन्तु सब सहज क्रियाओं का विकास एक साथ नहीं होता। इनका उदय होना स्नायु केन्द्र की परिपक्वता पर निर्भर रहता है। बालक में जन्म के कुछ समय बाद ही खाँसने व छींकने की सहज क्रिया का उदय हो जाता है। परन्तु काम-सम्बन्धी सहज क्रिया (*sex reflexes*) १० वर्ष की आयु के उपरान्त ही उदय होती है।

सहज क्रिया चाप (*Reflex Arc*)

सुषुम्ना के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए हमने इस ओर संकेत किया है कि सहज-क्रिया के सम्पन्न होने का केन्द्र यही है। अतएव सहज क्रिया के होने में मस्तिष्क के उन केन्द्रों तक ज्ञानवाही नाड़ी को सूचना ले जाने की आवश्यकता नहीं होती, वरन् सुषुम्ना से या मस्तिष्क के नीचे केन्द्रों से ही कार्यवाही नाड़ियों को आदेश मिल जाता है और वह प्रभावक तक इसे पहुँचा देती है जो प्रतिक्रिया करता है। सहज क्रिया का मार्ग एक चाप की तरह होता है। यह चाप पार्श्व चित्र में दिखाया गया है। चित्र के अनुसार मान लीजिए ग्राहक (E) द्वारा कोई *उत्तेजना ग्रहण की जाती है, जैसे मनुष्य के* पैर के *अग्रभाग—टेन्डन पर एक रबर के* हथौड़े से हलकी चोट लगायी जाती है तो इस
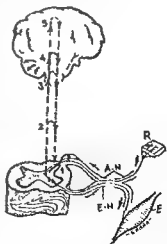
[चित्र १२—सहज क्रिया चाप]

चोट की सूचना तुरन्त नाड़ी (EN) द्वारा सुषुम्ना के केन्द्र तक पहुँचती है जहाँ से इस स्नायु आवेग को तुरन्त क्रियावाही नाड़ियों (AN) के द्वारा प्रभावक (R) तक भेज दिया जाता है। फलस्वरूप, व्यक्ति की माँसपेशियाँ प्रतिक्रिया करती हैं। वह माँसपेशी जिसे आदेश मिलता है, तुरन्त पाँव को वहाँ से हटा देती है। इस प्रकार सहज क्रिया चाप पूरा हो जाता है। कुछ सहज क्रियाओं के चाप केवल दो स्नायुओं से मिलकर बनते हैं। कभी-कभी चाप बनने में तीन से अधिक भी स्नायु लग जाते हैं।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक सहज क्रिया का सम्बन्ध नाड़ी-मण्डल के केवल एक भाग से रहता है परन्तु प्रत्येक सहज क्रिया का प्रभाव सम्पूर्ण नाड़ीमण्डल पर पड़ता है।

जितने समय में स्नायुप्रवाह किसी सहज क्रिया चाप का एक पूर्ण चक्कर लगाता है उसे 'सहज क्षण' (reflex moment) कहते हैं। यदि उत्तेजना बहुत तीव्र होती है तो सहज क्षण में अधिक देर लग जाती है। इस क्षण के विस्तार पर मद्यपान, थकावट आदि का भी प्रभाव पड़ता है।

सारांश

मानव के प्रतिक्रिया यन्त्र को समझने के लिए (१) ग्राहक; (२) स्नायु संस्थान, तथा (३) प्रभावक को भली-भाँति समझना होगा। प्राणी बाह्य जगत से उत्तेजना ग्राहक द्वारा ही प्राप्त करता है। हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ ग्राहक होती हैं। एक प्रकार से ग्राहक का विभाजन चार श्रेणियों में होता है—तापीय ग्राहक, यान्त्रिक ग्राहक, रासायनिक ग्राहक तथा प्रकाश एवं चित्र ग्राहक। दूसरे प्रकार से ग्राहक का विभाजन बाह्य ग्राहक, मध्य ग्राहक एवं आन्तरिक ग्राहक में होता है।

स्नायु संस्थान ही मानसिक क्रियाओं की आधारशिला है। इसको मोटे रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) केन्द्रीय स्नायु संस्थान, (२) स्वयं संचालित स्नायु संस्थान, तथा (३) संयोजक स्नायु संस्थान।

स्नायु की रचना—मनुष्य का शरीर जीवित कोषों का एक संग्रह मात्र है। जिन कोषों द्वारा स्नायुप्रवाह ढोया जाता है वे स्नायुकोष (neurons) कहलाते हैं। इस स्नायुकोष की रचना इस प्रकार होती है—(१) वृक्षतन्तु, (२) जीवकोष, (३) अक्षतन्तु। स्नायुतन्तु स्नायुप्रवाहों को ग्रहण करता है। जीवकोष वृक्षतन्तु द्वारा लाये हुए स्नायुप्रवाह को अपने में ग्रहण कर लेता है तथा पुनः उन्हें अक्षतन्तु की ओर भेज देता है। अक्षतन्तु द्वारा जीवकोष में जो स्नायुप्रवाह वृक्षतन्तु द्वारा आते हैं, वे बाहर भेजे जाते हैं।

स्नायु के तीन भेद किये जा सकते हैं। ज्ञानवाही स्नायु स्नायुप्रवाह को ग्राहक से लेकर मस्तिष्क या सुषुम्ना के केन्द्र को पहुँचाता है, कर्मवाही स्नायु स्नायुप्रवाहों को

ग्रन्थियों तथा ग्रंथियों तक पहुँचाता है, सहचारी तन्तु ज्ञानवाही तथा क्रियावाही ग्रों को सम्बन्धित करता है।

स्नायु-सन्धि या साइनेप्स—यह वह स्थान है जहाँ एक स्नायु का दूरतन्तु सरे स्नायु के अक्षतन्तु से सम्बन्ध स्थापित करता है। स्नायुओं के छोर सन्धिस्थल र एक-दूसरे से मिल नहीं जाते वरन् इनमें दुराव रहता है।

केन्द्रीय स्नायु संस्थान—केन्द्रीय स्नायुमण्डल को दो मुख्य भागों में बाँटा । सकता है—(i) मस्तिष्क, एवं (ii) सुषुम्ना नाड़ी।

(i) मस्तिष्क—मस्तिष्क का आकार अखरोट की मींगी से बहुत मिलता-जुलता । इसमें अनेक दरारें होती हैं जिनमें तीन दरार बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं।

मस्तिष्क के भाग—(१) सुषुम्ना शीर्षक—यह सुषुम्ना नाड़ी का ही फैलाव स्तिष्क की ओर है। यह मस्तिष्क के उच्च भागों को सुषुम्ना से सम्बन्धित करता है। सका कार्य—शरीर की आवश्यकता-सम्बन्धी सभी क्रियाओं का नियन्त्रण एवं संचालन रना है। (२) लघु मस्तिष्क—अनेक स्नायु तन्तुओं के द्वारा यह एक ओर तो सुषुम्ना-र्षक से सम्बन्ध रखता है, और दूसरी ओर सेतु के द्वारा इसका सम्बन्ध बृहत् स्तिष्क से होता है। इस भाग का मुख्य कार्य—विभिन्न शारीरिक क्रियाओं के बीच मन्वय प्राप्त करना है। (३) सेतु—पुल के महराब की तरह होता है। जो स्नायु च्च मस्तिष्क से निकलते हैं वह इसमें होकर गुजरते हैं। (४) थैलमस—लघु मस्तिष्क सामने की ओर और उच्च मस्तिष्क के नीचे की ओर स्थित होता है। जो ज्ञानवाही ायु यहाँ आते हैं उन्हें उचित स्थान की ओर रवाना करना इसका मुख्य कार्य है।) लघु थैलमस—थैलमस क्षेत्र के नीचे तथा सेतु के ऊपर होता है यह भाग दोनों केन्द्र होता है। (६) बृहत् मस्तिष्क—यह मस्तिष्क के सबसे ऊपर का भाग है। के ऊपरी भूरे भाग को कार्टेक्स कहते हैं। बृहत् मस्तिष्क मुख्य दरारों द्वारा चार गों में बँटा प्रतीत होता है। यह मस्तिष्क का भाग हमारी उच्च मानसिक क्रियाओं केन्द्र होता है।

(ii) सुषुम्ना नाड़ी—सुषुम्ना मेरुदण्ड के मध्य में होती है। यह मस्तिष्क से चे की ओर कूल्हों तक फैली होती है। यह नाड़ी सहज क्रियाओं का केन्द्र होती है। के अतिरिक्त यह नाड़ी नाड़ीय प्रवाह को मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों तक पहुँचाने का र्य भी करती है और वहाँ से आवेग प्रभावक केन्द्रों तक भी इसी की सहायता से चते हैं।

स्वयं संचालित स्नायुमण्डल—स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल के अन्तर्गत किये जाने वाले र्य सुषुम्ना से संचालित होते हैं और इनमें केन्द्रीय नाड़ीमण्डल को सक्रिय होने की ई आवश्यकता नहीं होती।

स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) अनुकम्पिक ड़ीमण्डल, तथा (२) पराअनुकम्पिक नाड़ीमण्डल। अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल का मुख्य

कार्य शरीर को खतरों से बचाने के लिए तैयार करना है। पराअनुकम्पिक नाड़ीमण्डल का मुख्य कार्य—शारीरिक शक्ति को संचित रखना है।

संयोजक नाड़ीमण्डल—इस स्नायु संस्थान द्वारा मस्तिष्क का सम्बन्ध बाहरी मांसपेशियों तथा ग्रन्थियों से स्थापित होता है।

प्रभावक—दो प्रकार के होते हैं—(१) मांसपेशियां, (२) ग्रन्थियां। मांसपेशियां तीन प्रकार की होती हैं—(१) रेखायुक्त मांसपेशी, (२) चिकनी मांसपेशी, तथा (३) हार्दिक मांसपेशी।

ग्रन्थियों द्वारा हमारे शरीर में अनेक प्रकार के रासायनिक रसों का स्राव होता है। ये दो प्रकार की होती हैं—(१) प्रणालीयुक्त ग्रन्थियां, (२) प्रणालीहीन ग्रन्थियां। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से प्रणालीहीन ग्रन्थियां अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। प्रणालीहीन ग्रन्थियों में जो ग्रन्थियां आती हैं; वे—एड्रिनल ग्रन्थि, गोनड्स, थायरॉयड ग्रन्थियां, उप-थायरॉयड ग्रन्थियां, लैंगरहेन्स के आईलेट्स, पिट्यूटरी ग्रन्थि तथा थायमस।

सहज क्रियाएँ—ये क्रियाएँ अनैच्छिक तथा बिना सोची हुई होती हैं। ये दो प्रकार से हो सकती हैं—(i) शरीरव्यापी सहज क्रिया, एवं (ii) संवेदन सहज क्रिया। सहज-क्रिया हमारे शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है।

सहज क्रिया चाप—वह मार्ग होता है जिसका ज्ञानवाही तथा कर्मवाही स्नायु अनुसरण करते हैं, जो सहज क्रिया के सम्पन्न होने में भाग लेते हैं।

अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. ग्राहक से आप क्या समझते हैं? पर्यावरण से प्राणी का सम्बन्ध स्थापित करने में उनका क्या महत्त्व है?
२. स्नायु-सन्धिस्थल (synapse) से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं का सविस्तार वर्णन कीजिए।
३. स्नायु की बनावट एवं प्रकार पर प्रकाश डालिए। विभिन्न प्रकार के स्नायु के महत्त्व का विवरण दीजिए।
४. केन्द्रीय स्नायु संस्थान से आप क्या समझते हैं? इनमें भाग लेने वाले मुख्य अंगों की बनावट एवं कार्य का वर्णन कीजिए।
५. स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल हमारे शरीर के लिए किस प्रकार उपयोगी है? इसके विभिन्न भागों के कार्यों पर प्रकाश डालिए।
६. त्वक् नाड़ीमण्डल (Peripheral Nervous System) से आप क्या समझते हैं? यह किस प्रकार कार्य करता है?
७. सहज क्रिया से आप क्या समझते हैं? यह हमारे लिए किस प्रकार लाभदायक होती है? सहज क्रिया चाप का चित्र देकर समझाइए कि इससे आप क्या समझते हैं?

सहायक पुस्तकों की सूची

१. बाइकोव, के० एम० : टेक्स्ट बुक ऑफ़ फ़िज़ियोलॉजी, फ़ॉरेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, १९६० ।

२. बॉरिंग, लैंगफ़ील्ड, वेल्ड : फाउण्डेशन्स ऑफ़ साइकॉलॉजी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६१ ।

३. मन, नारमन एल० : मनोविज्ञान, राजकमल, दिल्ली, १९६१ ।

४. वुडवर्थ, आर० एस० व मार्क्विस डी० जी० : मनोविज्ञान, दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, १९६६ ।

५. ब्रेज़ियर, मेरी ए० बी० (सं०) : दि सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम एण्ड बिहेवियर, दि जोशिया मैसी जूनियर फाउण्डेशन, १९५९ ।

६. हेब, डी० ओ० : ए टेक्स्ट बुक ऑफ़ साइकॉलॉजी, लन्दन, सॉण्डर्स, १९५८ ।

५

वंशानुक्रम एवं पर्यावरण[1]

एक युवा मानव जिस प्रकार से गूढ़ प्रक्रिया करता है, वह उसके जन्मजात गुणों एवं उसकी वृद्धि पर, जो उसकी भ्रूण (foetus) अवस्था से ही आरम्भ हो जाती है, आधारित होती है। बहुत कुछ मानव की शरीर की बनावट एवं उसके मूल व्यवहार उसके वंशानुक्रम (heredity) पर निर्भर होते हैं। परन्तु उसके चारों ओर जो पर्यावरण (environment) होता है वह उसकी वृद्धि एवं मूल व्यवहार पर प्रभाव उसके जीवन के आरम्भ से ही डालने लगता है। इसके फलस्वरूप अपनी आयु के किसी समय भी एक मानव जो कुछ होता है और जैसा वह व्यवहार करता है, वह उस पर्यावरण एवं वंशानुक्रम—दोनों के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही होता है।

प्रत्येक मानव जीवित रहने की इच्छा रखता है। जीवित रहने से तात्पर्य—'जीवन से समायोजन स्थापित करने' (living is an adjusting) से है। मानव के चारों ओर के पर्यावरण में अनेक घटनाएँ, परिवर्तन एवं क्रियाएँ होती रहती हैं। मानव को जीवित रहने के लिए अपने को इन परिवर्तनों के अनुकूल बनाना होता है। किन्तु इस प्रकार अनुकूलन का प्राप्त करना उसकी वृद्धि पर प्रभाव डालता है और इस ओर संकेत करता है कि बालक का किस प्रकार का, किस दिशा में और किस सीमा तक वृद्धि एवं विकास होगा।

प्रायः यह देखा जाता है कि जैसे माता-पिता होते हैं, वैसी ही उनकी सन्तान होती है। बुद्धिमान माता-पिता की सन्तान बुद्धिमान, और मूर्ख माता-पिता की सन्तान मूर्ख होती है। इसीलिए जनसामान्य में यह सिद्धान्त प्रचलित है कि जैसा बीज होगा, वैसा ही वृक्ष। किसी सीमा तक यह कथन सत्य भी है। विशेष रूप से भारतीय समाज

1. Heredity and Environment.

हाँ वंशानुक्रम के आधार पर ही जातियाँ बनती हैं, वंशानुक्रम के आधार पर अस्पृश्य और घृणित समझे जाते हैं, जहाँ भाग्यवाद का ही बोलबाला है, क्रम के सिद्धान्त को 'आप्त-वाक्य' मानना, मानव के सम्पूर्ण जीवन का निर्माता असम्भव नहीं। किन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि वकील का लड़का वकील गीतज्ञ का पुत्र संगीतज्ञ तथा संस्कृत व्यक्ति का पुत्र सभ्य—वंशानुक्रम के कारण र उस सुन्दर और अनुकूल पर्यावरण के कारण हो, जो उसे हर समय अपने में मिलता है। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि बुद्धिमान माता-पिता तान मूर्ख, और मूर्ख माता-पिता की सन्तान बुद्धिमान तथा एक सन्त का पुत्र होता है। यदि हम केवल वंशानुक्रम के सिद्धान्त को ही मानकर चलें तो स्या का समाधान नहीं हो सकता क्योंकि वंशानुक्रम के अनुसार मानव "जैसे के ही होने चाहिए। अतः ऐसी कोई दूसरी शक्ति अवश्य है जो मानव के व्यक्तित्व के में योग देती है। यह शक्ति है 'पर्यावरण'। अच्छे वंशानुक्रम की सन्तान दूषित रण में पलने से भी बिगड़ जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि मानव के निर्माण नुक्रम और पर्यावरण—दोनों का ही योग होता है। किन्तु इस प्रश्न को लेकर निकों में आपस में मतभेद है। एक पक्ष के मनोवैज्ञानिक केवल 'वंशानुक्रम' महत्व देते हैं और दूसरे पक्ष के केवल 'पर्यावरण' को। इस दृष्टि से इस प्रश्न म्भीर रूप से विचार कर लेना चाहिए कि—केवल वंशानुक्रम अथवा केवल ग मानव के व्यक्तित्व का निर्माण करता है, अथवा मानव के व्यक्तित्व में दोनों का ही योगदान है? इस प्रश्न की सही-सही जानकारी के बिना लकों को उपयुक्त शिक्षा देने में सफल नहीं हो सकते। दूसरे, बुद्धिमान ता के मूर्ख सन्तान क्यों होती है, और मूर्ख माता-पिता के बुद्धिमान कैसे उत्पन्न होते हैं? इसका अध्ययन भी परम आवश्यक है। अतः इस अध्याय इन्हीं उपरोक्त समस्याओं पर विचार करेंगे।

वंशानुक्रम क्या है ?[1]

इसके पहले कि हम वंशानुक्रम और पर्यावरण की सापेक्ष महत्ता पर करें, हमें यह समझ लेना चाहिए कि वंशानुक्रम है क्या? कुछ विद्वानों के वंशानुक्रम "जन्मजात वैयक्तिक गुणों का योगफल है।" ओवसाल्ट के "निषिक्त अण्ड में सम्भावतः उपस्थित विशिष्ट गुणों का योग ही वंशानुक्रम प्रायः यह देखा जाता है कि एक बिल्ली—बिल्ली को, कुत्ता—कुत्ते को और व—मानव को ही जन्म देता है। इसी तथ्य के आधार पर हम कहते हैं कुत्ते से कुत्ता ही अथवा "समान से समान"[3] ही उत्पन्न होता है। फिर भी

1. What ■ Heredity ?
2. he sum-total of the traits potentially present in the fertilized ovum.
3. ike begets like.

एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तानों में आपस में बहुत भेद पाया जाता है। इसी वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन गाल्टन, विजमैन, लेमार्क प्रभृति विद्वानों ने किया और उनके कारणों की खोज कर उन पर प्रकाश डाला।

जैविक वंशानुक्रम (Biological Heredity)—प्रत्येक मनुष्य का शरीर कोषों से निर्मित होता है किन्तु गर्भावस्था की प्राथमिक स्थिति में भ्रूण की रचना केवल एक ही कोष (cell) से होती है। वह 'युक्ता' (zygote) कहलाता है। युक्ता पुरुष के शुक्र (sperm) और स्त्री के अण्ड (ovum) के संयोग होने पर निर्मित होता है। गर्भाधान के समय अण्ड प्रविष्ट होकर गर्भाधान नाल (fallopion tube) द्वारा गर्भाशय (womb) में आता है, वहाँ शुक्र से उसका संयोग होता है। इस प्रकार दोनों के सायुज्यन (fusion) से निषेचन क्रिया (fertilization) सम्पन्न होती है और भ्रूण (embroyo) का प्रथम स्वरूप बन जाता है तथा युक्ता भ्रूणकोष में परिवर्तित हो जाता है। शुक्र और अण्ड—दोनों ही बीजकोषों (germ cell) के रूप में कुछ विशेष गुणों और दोषों के वाहक होते हैं। वे समस्त गुण भ्रूण में आ जाते हैं और जन्म के उपरान्त वंशानु-क्रम कहलाते हैं।

जीवशास्त्रियों में यह मत-भेद का विषय रहा है कि पित्रैक (genes) किस प्रकार कार्य करते हैं? और क्या वहाँ पित्रैक जैसी किसी पदार्थ की सत्ता भी है? किन्तु अनन्त निरीक्षणों और परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि जन्म से पहले ही मानव-जीवन के निर्णायक कुछ उत्पादक तत्त्व होते हैं जिन्हें 'बीजकोष' कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के बीजकोष अपने विशिष्ट गुणों से युक्त होते हैं। इन्हीं विशिष्ट गुणों को लेकर बालक जन्म लेता है। फिर भी यह कोई आवश्यक नहीं कि बालक—हूबहू अपने माता-पिता के ही समान हो। क्योंकि यदा-कदा यह भी देखा गया है कि बालक में उन सभी गुणों (traits) का अभाव है जो उसके माता-पिता के मुख्य गुण होते हैं। अतः यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है। कुछ विद्वानों का मत है कि माता-पिता पित्रैको अथवा गुणों के उत्पादक नहीं होते वरन् प्रकृति ही प्रजनन और वंशानुक्रम के गुणों के संक्रमण का नियोजन करती है। किसी भी व्यक्ति के गुण, उसके जनक—माता और पिता—मात्र दो व्यक्तियों पर आधारित नहीं है वरन् उसके दादा-परदादा और पूर्वजों से भी संक्रमित होकर आते हैं। वंशानुक्रम के बारे में इन विविध दृष्टिकोणों को समझने के लिये वंशानुक्रम की यन्त्र-रचना को समझ लेना चाहिए। तदुपरान्त हम वंशानुक्रम के परीक्षणात्मक साक्ष्य पर विचार करेंगे।

वंशानुक्रम की यन्त्र-रचना (Mechanism of Heredity)—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि माता-पिता के बीजकोष एक निश्चित मात्रा में आपस में मिलते हैं और वही सन्तान के विशिष्ट गुणों को निर्धारित करते हैं। सन्तान के यही गुण यह निर्धारित करते हैं कि बालक लम्बा, नाटा, गोरा, काला, हरी अथवा नीली आँखों वाला होगा।

वंशसूत्र (Chromosomes)—पुरुष के शुक्रकोष और स्त्री के अण्डकोष में कुछ धागे जैसे छोटे कण (thread like small particles) होते हैं। इन्हें वंश-सूत्र कहते हैं। बहुत से परीक्षणों के उपरान्त यह भी सिद्ध हो चुका है कि एक निषिक्त-अण्ड (fertilized ovum) में वंशसूत्रों (chromosomes) के २३ जोड़े उपस्थित होते हैं जिनमें से आधे पिता के और आधे माता के होते हैं। वस्तुतः ये ही वंशसूत्र बालक के विशिष्ट गुणों के वाहक होते हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि शुक्र एवं अण्डकोष में केवल २३ ही वंशसूत्र होते हैं जबकि शरीर के अन्य कोषों में यह ४६ होते हैं।

वास्तव में होता यह है कि ४६ वंश-सूत्र बालक के एक कोष का निर्माण करते हैं। फिर यह कोष दो कोषों में, दो से चार में, इसी प्रकार विभक्त होकर बालक के शरीर का निर्माण करते हैं। इसी निर्माण में एक समय आता है जबकि अण्ड अथवा शुक्र के कोष बनते हैं। इनके बनने में केवल २३ वंश-सूत्र, ४६ में से मिलते हैं जो अनियमित ढंग (random) से मिलते हैं। वर्तमान खोजों के आधार पर अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि वंशसूत्र कुल ४६ होते हैं। फिर भी यह संख्या पूर्ण रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है। कुछ विद्वान् अब भी कुल ४८ वंशसूत्र मानते हैं।

प्रत्येक वंशसूत्र में और भी सूक्ष्म पदार्थ होते हैं, जिन्हें जीन्स या पित्रैक *(genes) कहते हैं। यही पित्रैक जिनकी संख्या एक वंशसूत्र (chromosome) में* ४० से १०० तक होती है, बालक के विभिन्न गुणों के वास्तविक वाहक होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पित्रैक अपने में एक ऐसा पदार्थ अथवा एक ऐसी रचना लेकर आता है, जो बालक के गुण अथवा उसके व्यवहार के निर्धारण का मूल कारण होता है। व्यक्ति के वंशानुक्रम में कुछ ऐसे विशेष गुण होते हैं जो एक पित्रैक-समूह द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित हो जाते हैं। गर्भाधान के समय शुक्र और अण्ड के वंशसूत्रों के पित्रैक आपस में जोड़ा बनाते हैं। उपरोक्त वर्णित वंशानुक्रम यन्त्र-रचना को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है—

वंशानुक्रम की यन्त्र-रचना

[चित्र—१६ (अ)]

अण्ड और शुक्र के समागम से निषेचन क्रिया होती है।

[चित्र—१६ (ब)]

२३-२३ वंशसूत्र प्रत्येक अण्ड और शुक्र में उपस्थित होते हैं।

[चित्र—१६ (स)]

प्रत्येक वंशसूत्र में छोटे-छोटे बहुत से पित्रैक होते हैं, यही विभिन्न गुणों के वाहक होते हैं।
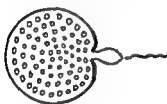
चित्र—१७

(निषेचन : Fertilization)

माता और पिता के २३-२३ वंशसूत्रों के पित्रैकों का सायुज्यम (fusion) एक रासायनिक क्रिया के रूप में होता है। यही रासायनिक संयोग सन्तान के वंशानुगत गुणों का विधायक होता है।

प्रचुर परीक्षाओं से यह सिद्ध हो चुका है व्यक्ति की शारीरिक विशेषताएँ, जैसे—रंग-रूप, नेत्र, त्वचा, खून का प्रकार, लम्बाई, ठिगनापन, स्वास्थ्य आदि सभी—पित्रागत होती हैं। किन्तु मानसिक गुण भी पित्रागत होते हैं अथवा नहीं, इसके बारे में लोग अभी अनुमान ही लगाते हैं, पूर्ण विश्वस्त नहीं।

इस स्थान पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि वंशानुक्रम की यन्त्र-रचना पिता-पुत्र और माता-पुत्री में होने वाली विभिन्नताओं के ऊपर भी प्रभाव डालती है। माता-पिता के पित्रैक उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण सन्तान से भिन्न हो सकते हैं; जैसे अत्यन्त प्रतिभाशाली पुरुष और स्त्रियों में भी मन्दबुद्धि से लेकर प्रकाण्ड प्रतिभा तक के पित्रैक मौजूद होते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उनमें प्रतिभा के पित्रैक अधिक शक्तिशाली होते हैं और मन्दबुद्धिता के हीन। किन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि गर्भाधान के समय मन्दबुद्धिता के पित्रैक शक्तिशाली हों और बुद्धिमान माता-पिता की सन्तान मन्द-बुद्धि हो। इसी के आधार पर यह भी आश्चर्य नहीं कि गौर

गर्भ माता-पिता की सन्तान करती हो। परन्तु यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि एक व्यक्ति के समस्त गुण केवल माता-पिता से ही न प्राप्त होकर उनके दादा-दा इत्यादि से भी मिलते हैं।

यौन निर्धारण (Sex Determination)

वंशानुक्रम की यन्त्र-रचना को और अच्छी तरह से समझने के लिए हम एक उदाहरण बालक के यौन-निर्धारण का ले रहे हैं। क्योंकि वंशसूत्र ही शरीर-रचना का निर्देशन करते हैं, इस कारण वही यह निर्धारित करते हैं कि बालक स्त्री होगा अथवा पुरुष। २३ वंश-सूत्रों के जोड़ों में से एक जोड़ा इसी निर्धारण से सम्बन्धित होता है। यदि इस जोड़े में वे दोनों वंशसूत्र एक-से हैं जिन्हें हम x वंशसूत्र कह सकते हैं तो लड़की का जन्म होता है। यदि यह दोनों विषम हैं—एक x वंशसूत्र है और दूसरा y वंशसूत्र तो लड़के का जन्म होगा। यहाँ यह याद रखना है कि माता का वंशसूत्र सदैव एक-सा x ही होता है। पिता के वंशसूत्र में दोनों x एवं y वंश-सूत्र हो सकते हैं। माता के वंशसूत्र जब टूट कर एक भाग बनाते हैं तो उसमें केवल x ही वंशसूत्र रहता है। हमने ऊपर कहा है कि अण्ड अथवा शुक्रकोष में केवल २३ ही वंशसूत्र होते हैं जबकि दूसरे कोषों में यह ४६ होते हैं। इन २३ वंशसूत्रों में माता तथा पिता द्वारा प्राप्त किये हुए ४६ वंशसूत्रों में से केवल कोई भी २३ मिलकर अण्ड-कोष अथवा शुक्रकोष का निर्माण करते हैं। अब क्योंकि स्त्री में केवल x ही वंशसूत्र होते हैं इसलिए २३ वंशसूत्र जो अण्डकोष का निर्माण करते हैं उसमें सब x ही वंश-सूत्र होते हैं, किन्तु पुरुष में x एवं y वंशसूत्र होते हैं तो २३ वंशसूत्र मिलने में एक शुक्रकोष में x वंशसूत्र हो सकता है और दूसरे में y वंशसूत्र।
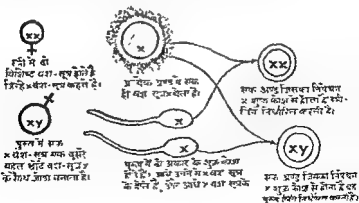
[चित्र १८—एक बालक का यौन-निर्धारण]

जब स्त्री एवं पुरुष का संयोग होता है तो ऐसा हो सकता है कि पुरुष का x वंशसूत्र वाला शुक्रकोष स्त्री के अण्डकोष से मिले, जिसमें केवल x ही वंशसूत्र होते हैं और दो x वंशसूत्र मिलने से नये बालक का लिङ्ग स्त्री हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि पुरुष के y वंशसूत्र का शुक्रकोष स्त्री के अण्डकोष से मिले। अब x एवं y वंशसूत्र का जोड़ा बन जाता है और नये बालक का लिंग पुरुष हो जाता है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि यौन निर्धारण में स्त्री का योग कुछ भी नहीं होता। पुरुष के वंशसूत्र वाला शुक्रकोष ही इसका निर्धारण करता है। इसका स्पष्ट परिचय चित्र—१८ (पृ० ९९) के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

वंशानुक्रम के नियम

उपरोक्त की गयी चर्चा के आधार पर वंशानुक्रम [illegible] कुछ सामान्य नियम निर्धारित किये जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) समान समान को ही जन्म देता है (like begets like); (ख) भिन्नता का नियम (law of variation), और (ग) प्रत्यागमन (regression)।

(क) समान समान को ही जन्म देता है—इस नियम का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार के माता-पिता होते हैं उसी प्रकार की उनकी सन्तान होती है। बुद्धिमान माता-पिता के बच्चे बुद्धिमान, मन्दबुद्धि वाले माता-पिता की सन्तान मन्दबुद्धि होती है। इसी प्रकार गौरवर्ण माता-पिता के बच्चे गोरे और श्यामवर्ण माता-पिता के बालक श्यामवर्ण के होते हैं।

इस नियम को हम सार्वभौमिक और सर्वग्राही सत्य मानकर नहीं चल सकते, क्योंकि इसके भी अपवाद मिलते हैं। यह देखा गया है कि कभी-कभी गौरवर्ण माता-पिता की काली सन्तान होती है और काले माता-पिता की गौरवर्ण की सन्तान होती है। इस अनियमितता और अपवाद के कारणों की व्याख्या वंशानुक्रम के दूसरे सिद्धान्त 'भिन्नता के नियम' द्वारा की गयी है।

(ख) भिन्नता का नियम—बच्चे अपने माता-पिता की सच्ची प्रतिकृति नहीं हुआ करते। वे अपनी आकृति और बनावट में माता से कुछ-न-कुछ भिन्न अवश्य होते हैं। इस भिन्नता के कारण माता-पिता के बीजकोषों की विशिष्टताएँ हुआ करती हैं। बीजकोषों के अन्दर गुणसूत्र या जीन्स (genes) होते हैं, जो विभिन्न संयोजनों में मिलते तथा आपस में विभिन्न होने के कारण ऐसी सन्तानों को जन्म [illegible] हैं जो आपस में भिन्न होती हैं।

एक माता-पिता के बालकों में भिन्न-भिन्न गुणसूत्र-संयोजन के कारण उनमें आपस में भिन्नता आ जाती है। यह भी देखा गया है कि एक ही माता-पिता कभी गोरी सन्तान को, और कभी काली सन्तान को जन्म देते हैं। सोरेन्सन और मालेमन

का निश्चय पित्रैकों के संयोग से होता है। यह भिन्नता जिस प्रकार से होती है उसका वर्णन मैण्डलवाद में किया गया है।

भिन्नता का नियम हमें यह बताता है कि एक ही परिवार के बालकों शारीरिक मानसिक और रंग-रूप की भिन्नता क्यों होती है। किन्तु यह निश्चय कि वे आपस में भिन्न होते हुए भी अन्य बालकों की अपेक्षा आपस में अधिक समानत रखते हैं।

(ग) प्रत्यागमन—सॉरेनसन (Sorenson) के अनुसार "प्रतिभाशाली माता पिता के कम प्रतिभाशाली सन्तान होने की प्रवृत्ति और निम्न कोटि के माता-पिता के कम निम्न कोटि की सन्तान होने की प्रवृत्ति ही प्रत्यागमन है।" प्रकृति में कुछ ऐस नियम है कि वह प्रत्येक गुण (trait) को सामान्य रूप में प्रकट करना चाहती है इसलिए एक प्रतिभाशाली माता-पिता की सन्तान में 'सामान्य वृद्धि' की ओर ह प्रवृत्ति के गुण पाये जायेंगे। इससे तात्पर्य यह नहीं है कि सदैव ही सब प्राणियों में प्रत्यागमन होता है किन्तु यह प्रवृत्ति पायी अवश्य जाती है।

यह तो प्रायः देखा जाता है कि अत्यन्त मेधावी माता-पिता की सन्तान उतनी मेधावी नहीं होती। प्रत्यागमन के कारण इस प्रकार हैं—

(i) माता अथवा पिता जो अत्यन्त प्रतिभाशाली होते हैं उनके अन्दर अपने पितरों में प्रतिभा बीजकोषों का संयोग होता है जो उन्हें प्रतिभासम्पन्न बना देता है। पिता के सर्वोत्कृष्ट गुण (best trait) जब माता के सर्वोत्कृष्ट गुणवाहक पित्रैकों से मिलते हैं तो प्रतिभासम्पन्न बालक का जन्म होता है। अतः प्रायः प्रतिभावान बालक में सामान्य अथवा न्यून कोटि के बीजकोष उस संयोग की अपेक्षा, जिससे उसका जन्म हुआ, हीन होते हैं।

(ii) यदि प्रतिभावान माता अथवा पिता का दूसरे ऐसे व्यक्ति (माता-पिता में से कोई एक) से समागम होता है, जिसमें उसके समान प्रतिभा-उत्पादक तत्व नहीं होते तो इस समागम में उस प्रकार के उत्कृष्ट बीजकोषों का मेल नहीं हो सकता, जैसा कि दो प्रतिभावान व्यक्तियों के संयोग से होता है। फलस्वरूप, बालक उतना प्रतिभावान नहीं होगा जितने पितर होते हैं।

इसी प्रकार दो मूर्खों के बीजकोष उन बीजकोषों के संयोग से अच्छे भी हो सकते हैं, जिनसे वे स्वतः उत्पन्न हुए। अतः इस प्रकार के माता-पिता की संतानें उनसे कहीं बुद्धिमान होंगी क्योंकि वे सामान्य की तरफ विकसित होंगी।

वंशानुक्रम के ये तीन नियम मनुष्य की विशेषताओं और गुणों को समझने में बड़े उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं।

पर्यावरण क्या है ?[1]

साधारण बोलचाल की भाषा में हम 'पर्यावरण' का अर्थ अपने चारों तरफ की परिस्थितियों से लगाते हैं। डगलस (Douglas) और हॉलैण्ड (Halland) ने अपनी

1. What is environment ?

पुस्तक 'एजूकेशनल सायकॉलॉजी' में पर्यावरण शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—"वातावरण वह शब्द है जो समस्त बाह्य शक्तियों, प्रभावों और परिस्थितियों का सामूहिक रूप से वर्णन करता है, जो जीवधारी के जीवन और स्वभाव, व्यवहार और अभिवृद्धि, विकास तथा प्रौढ़ता पर प्रभाव डालता है।"

वास्तव में पर्यावरण के अन्तर्गत वह सभी कुछ आता है जिसका बालक के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध है।

मानसिक पर्यावरण (Mental Environment)

बालक कुछ सहज योग्यताएँ लेकर जन्म लेता है। यदि उसे अनुकूल वातावरण के द्वारा कोई उपयुक्त उद्दीपक नहीं प्रदान किया जाता तो वे योग्यताएँ अपने प्रकृत-रूप में विकसित होती हैं। यद्यपि एक व्यक्ति की शारीरिक रचना; जैसे—लम्बाई, ठिगनापन आदि—उसके वंशानुक्रम से निर्धारित होती है किन्तु यदि वह गन्दे वातावरण में कार्य करता है जहाँ उसको स्वस्थ वायु नहीं मिलती तो उसकी जीवनशक्ति के मर्म पर आघात होता है। इसी प्रकार से बालक में किसी भी प्रकार की सम्भावनाएँ और योग्यताएँ क्यों न हों, जब तक उसे उचित मानसिक वातावरण नहीं मिलेगा, वह उनका समुचित विकास नहीं कर सकता।

मानसिक पर्यावरण से हमारा तात्पर्य उन सम्यक् परिस्थितियों से है जिनमें बालक का वांछित विकास हो सके और जो उसके मन पर प्रभाव डालती हों। पाठशाला की वे सभी वस्तुएँ मानसिक पर्यावरण के अन्तर्गत आती हैं जिनसे बालक का समुचित मानसिक विकास होता है। इस दृष्टिकोण से पाठशाला के मानसिक पर्यावरण के अन्तर्गत परीक्षणशाला, पुस्तकालय, गोष्ठी और संघ आते हैं। इन सभी की उचित व्यवस्था बालक के इस मानसिक विकास में पूर्ण योग देती है।

पाठशाला में उपयुक्त मानसिक वातावरण उत्पन्न करने से बालक की सीखने की क्रिया को भली-भाँति व्यवस्थित किया जा सकता है और बालक अनजाने में ही बहुत-सी बातें सीख लेता है। इस प्रकार उपयुक्त पर्यावरण के द्वारा बालक को अप्रत्यक्ष रूप से ही शिक्षा देना महान् बौद्धिक योजना मानी जाती है।

सामाजिक दाय (Social Heritage)

किसी समाज की प्राचीन एवं अर्वाचीन संस्कृति ही उस सामाजिक समुदाय का दाय कहलाता है। वही उसकी सामाजिक सम्पत्ति होती है। यह सामाजिक दाय जाति की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होता रहता है किन्तु यह माता-पिता के बीजकोषों द्वारा संक्रमित न होकर रीति-रिवाज, परम्परा, भाषा, साहित्य, शिष्टाचार और जातीय दर्शन के द्वारा होता है।

किसी भी जाति का सामाजिक दाय उसके लिये गर्व का विषय होता है। जाति की प्रत्येक पीढ़ी इसे आगामी पीढ़ी में संक्रमित करती है और अपने सामाजिक

जीवन को उसके अनुरूप बनाने की चेष्टा करती है। किन्तु इस हस्तान्तरण में प्रत्ये पीढ़ी में उस सामाजिक दाय में कुछ-न-कुछ और जुड़ जाता है। इस प्रकार संस्कृ का विकास होता रहता है; और हर पीढ़ी के योगदान से उस जाति की संस्कृ समृद्धिशाली बनती है जो पुन. आगे की पीढ़ियों में संक्रमित हो जाती है।

वंशानुक्रम एवं पर्यावरण पर कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग

वर्तमान समय में अनेक प्रयोग वंशानुक्रम एवं पर्यावरण के प्रभावों का अल अलग अध्ययन करने के लिए किये गये हैं। इन प्रयोगों का उद्देश्य यह था कि य पता लगाया जाय कि पर्यावरण अथवा वंशानुक्रम में व्यक्ति के जीवन में कौन अधि महत्वपूर्ण है, या यह पता लगा लें कि मानव जीवन की अभिवृद्धि एवं विकास कि खण्ड पर अधिक निर्भर है—वंशानुक्रम पर या पर्यावरण पर ? स्पष्ट है कि इस प्रका के प्रयोगों को करने के लिए या तो हमें पर्यावरण को स्थिर रखना होगा और वंशानु क्रम को परिवर्तनशील या वंशानुक्रम को स्थिर रखना होगा और पर्यावरण को परिवर्तनशील बनाना होगा। फिर परिवर्तनशील खण्ड का प्रभाव मानव जीवन प देखना होगा। मनोविज्ञान या जीवविज्ञान के विशेषज्ञों ने जो अनुसंधान किये वे इन्हीं दो दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर किये हैं। यहाँ हम कुछ महत्वपूर्ण प्रयोगों का जो इन दोनों दिशाओं में किये गये, विवरण देंगे। परन्तु यह बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पर्यावरण और वंशानुक्रम में से किसी भी खण्ड को पूर्ण रूप से स्थिर या नियन्त्रित रखना सम्भव नहीं है। हाँ, हम इनमें से किसी भी खण्ड को एक निश्चित सीमा तक सीमित अवश्य कर सकते हैं। अतएव जिन प्रयोगों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, वे एक खण्ड को कुछ सीमा तक ही सीमित करने में सफल माने जाते हैं।

वंशानुक्रम स्थिर : पर्यावरण परिवर्तित

वंशानुक्रम को स्थिर रखकर जो अध्ययन किये गये हैं, वे प्रायः यमजों (twins) पर किये गये परीक्षण हैं। यमज दो प्रकार के होते हैं—एक तो एकसम (identical twins), दूसरे भ्रातीय (fraternal twins)। एकसम यमज सदैव एक ही लिंग (sex) के होते हैं और एक-दूसरे से बहुत समानता रखते हैं। भ्रातीय यमज एक साथ पैदा होने वाले भाई या बहिन होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि वे एक ही लिंग के हों। इसके अतिरिक्त ऐसे यमज दो उर्वरित अण्ड (fertilized ova) से विकसित होते हैं। वे भाई-बहिन जिनमें आयु का अन्तर होता है, सहोदर भाई-बहिन कहलाते हैं। इनमें भी आनुवंशिकता (heredity) समान होती है। परन्तु दोनों में बिल्कुल वही आनुवंशिकता हो, ऐसा नहीं होता। जो अध्ययन किये गये हैं उनमें यह भी जानने की चेष्टा की गयी है कि समान या एक-सी आनुवंशिकता का मानव जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है।

एकसम यमजों पर परीक्षण

गेसेल (Gesell) महोदय ने यमजैक नियन्त्रण विधि (Co-twin Control Procedure) का आविष्कार किया। उन्होंने देखा कि एकसम यमजों (identical twins) में शारीरिक और मानसिक गुणों में बहुत अधिक एकरूपता एवं सादृश्य होता है। इनके गुणों की यह समता प्रारम्भ में बहुत अधिक होती है। किन्तु बड़े हो जाने पर भी जब कि दोनों जुड़वाँ बालक विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित किये जाते हैं; उनमें सादृश्य बना रहता है। जैसे, यदि एकसम यमज को सीढ़ी चढ़ने में प्रशिक्षित (training in stair climbing) किया जाय और दूसरे को शब्द सचयन में (training in vocabulary), तब भी उनके बुद्धि के स्तर में विशेष अन्तर नहीं आता। इन तथ्यों के आधार पर गेसेल महोदय इस निर्णय पर आये कि जुड़वाँ बालकों की यह समानता पर्यावरण के कारण नहीं है वरन् उनके वंशानुक्रम के ही कारण है, जिसे दोनों ने समान रूप से पित्रागत दाय के रूप में प्राप्त किया है।

यहाँ हम एक धैर्यपूर्ण ढंग से किये गये अध्ययन का ब्यौरा प्रस्तुत कर रहे हैं जो एकसम यमजों पर किया गया है। इस अध्ययन में उन यमजों की संख्या काफी कम है जिन पर अध्ययन किया गया; फिर भी हम एक बड़ी सीमा तक इस अध्ययन के परिणामों को विश्वसनीय मान सकते हैं।

इस अध्ययन में एकसम यमजों के ५० युग्म (pairs) लिये गये जो एक साथ पले थे और १८ ऐसे एकसम यमजों के युग्म लिये गये; जो अलग पले हुए थे।

इन परीक्षणों के आधार पर जो परिणाम निकाले गये, वे इस प्रकार थे—

(१) एक साथ पले हुए ५० एकसम यमजों के औसतन कद में, वजन में तथा बुद्धि स्तर[1] में जो अन्तर पाये गये, वे क्रमशः १ इंच से कम, ४ पौण्ड एवं ५ बिन्दु थे। यह भी देखा गया कि ५० यमजों में से २४ बुद्धि-लब्धि (intelligence-quotient) में एक-दूसरे से ५ बिन्दुओं से भी कम अन्तर था। बुद्धि-लब्धि को मापने की जो विधि (स्टेनफोर्ड-बिने परीक्षण) अपनायी गयी, उसमें ■ बिन्दु तक की त्रुटि का होना सम्भव माना जाता है। इससे तात्पर्य यह है कि इस बुद्धि-परीक्षा द्वारा यदि एक व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि १०० निकलती है तो पुनर्परीक्षण करने पर उसकी बुद्धि-लब्धि ६५ या १०५ तक हो सकती है। तात्पर्य यह कि इस परीक्षा द्वारा बुद्धि-लब्धि की माप लगभग ५ बिन्दु के अन्दर ही ठीक मानी जा सकती है, बिल्कुल सही माप का होना सम्भव नहीं माना जाता है। इस प्रकार ५० यमजों में जो औसतन ५ बुद्धि-लब्धि का अन्तर आता है, वह परीक्षण के दोष के कारण भी हो सकता है। यह तथ्य इस बात पर बल देता है कि जब आनुवंशिकता (heredity) और पर्यावरण (environ-

1. बुद्धि-स्तर से हमारा क्या तात्पर्य है और यह कैसे मापा जाता है? इस सम्बन्ध में ११ वें अध्याय में विस्तृत वर्णन किया गया है।

ment) एक-से होते हैं तो बालकों के बुद्धि के स्तर में कोई अन्तर नहीं होता। इ
अतिरिक्त उनके कद और वजन में भी बहुत ही कम अन्तर होता है।

(२) एकसम यमजों के १९ युग्मों में जो अलग-अलग पाले-पोसे गये हैं,
युग्मों की अपेक्षा जो साथ-साथ पाले गये हैं, कद में थोड़ा अधिक और वजन में
अधिक अन्तर मिलता है। बुद्धि-लब्धि का अन्तर ऐसे १९ युग्मों में औसतन
बिन्दु का पाया गया है। ५ बिन्दु तक की त्रुटि जो ऐसे परीक्षण में सम्भव है, नि
कर हम देखते हैं कि केवल ८·२—५=३·२ बिन्दु का अन्तर ऐसे एकसम यमजों
जोड़ों में पाया जाता है जो अलग-अलग वातावरण में पाले गये हैं। इस प्रकार
देखते हैं कि परिवेश विभिन्न होते हुए भी बालकों की बुद्धि-लब्धि में बहुत कम अ
होता है। इस कम अन्तर का कारण उनकी एकसी आनुवंशिकता (heredity) ही
अतएव इससे यह सिद्ध हो जाता है कि बालक की आनुवंशिकता उसके मानसि
विकास में बहुत महत्वपूर्ण है। और यदि पर्यावरण और आनुवंशिकता समान हो
बालकों की बुद्धि का स्तर भी एक बड़ी सीमा तक समान होगा।

इस प्रयोग के अतिरिक्त जो अन्य प्रयोग आनुवंशिकता को स्थिर रखकर कि
गये, वे अधिकतर बुद्धि-लब्धि के सम्बन्ध में किये गये हैं। यहाँ अब हम उनका वर्ण
करेंगे। यथा :—

मानसिक योग्यता के संक्रमण पर प्रयोग[1]

बहुत-सी विधियों से यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य की सामान्य योग्यत
अथवा बुद्धि आगे की पीढ़ियों में संक्रमित होती है। पर्यावरण का कार्य केवल उ
जन्मजात शक्ति के विकास के लिए उपस्थित परिस्थितियों का निर्माण करना है
पर्यावरण किसी भी ऐसी योग्यता को उत्पन्न नहीं कर सकता जो व्यक्ति में पहले
उपस्थित नहीं होती। कभी-कभी लोग बुद्धि और ज्ञान को भी एक ही ठहराते हैं
ऐसा ठीक नहीं; क्योंकि बुद्धि जन्मजात होती है और ज्ञान अर्जित। बुद्धि वंशानुक्र
पर आधारित होती है और ज्ञान वातावरण पर। यह कोई आवश्यक नहीं कि जो
बुद्धिमान व्यक्ति है वह धुरंधर विद्वान् भी हो और जो विद्वान् है उसके लिए भी आव
श्यक नहीं कि वह बुद्धिमान भी हो। बहुत-से गाँव के बिना पढ़े लिखे लोग भी बुद्धि
मान देखे जाते हैं और बहुत से एम० ए० पास व्यक्ति भी सामान्य योग्यता से हीन
मिलते हैं। यह अवश्य है कि अनुकूल वातावरण द्वारा जन्मजात योग्यता-बुद्धि का
विकास किया जा सकता है, उसे उपयोगी कार्यों में लगाया जा सकता है तथा निर्माण
एवं रचनात्मक कार्यों की ओर उसे दिशा दी जा सकती है।

क्या बुद्धि संक्रमित होती है? इस प्रश्न का सही-सही उत्तर पाने के लिए
आज के मनोवैज्ञानिक खोजियों ने विश्वसनीय एवं प्रामाणिक सामग्री को एकत्र करने

1. Experiments on Inheritance of Mental Abilities.

के लिए निम्नलिखित विषयों का प्रयोग किया है—सह-सम्बन्ध प्रणाली,[1] कुटुम्ब-इतिहास का अध्ययन[2], यमजक नियन्त्रण विधि[3], धात्रेय बालकों का परीक्षण[4]।

सह-सम्बन्ध प्रणाली—इस प्रणाली में विभिन्न व्यक्तियों के एक समूह की बुद्धि-परीक्षा द्वारा उनके सह-सम्बन्ध और उनके रक्त-सम्बन्ध की विभिन्न मात्रा का आकलन किया जाता है।

किन्तु सह-सम्बन्ध या आपसी सम्बन्ध से क्या तात्पर्य है ? हमें इस शब्द का अर्थ भली-भाँति समझ लेना चाहिए। इस गुणक की सीमा ऋणात्मक मान —1·00 से लेकर धनात्मक मान +1·00 तक होती है। यह विस्तार सीमा दो धावांक अथवा तथ्यों के सह-सम्बन्ध की मात्रा की ओर संकेत करती है। जैसे यदि कोई बालक बुद्धि-परीक्षा में कुछ धावांक (score) प्राप्त करता है और यदि उसके द्वारा प्राप्तांक उसके पिता के प्राप्तांकों के समान सह-सम्बद्ध हैं तो उसका परिणाम होगा +1·00। इससे यह सिद्ध हुआ कि पिता और पुत्र में पूर्ण सह-सम्बन्ध का मान्य 0 (शून्य) आता है तो इससे यह तात्पर्य है कि पिता और पुत्र की बुद्धि में आपस में कोई सह-सम्बन्ध नहीं है। यदि सह-सम्बन्ध का मान —1·00 आता है तो इससे तात्पर्य यह है कि पिता और पुत्र की बुद्धि में समानता नहीं वरन् वैपरीत्य अनुपात है; अर्थात् अगर पिता प्रतिभाशाली है तो पुत्र मन्दबुद्धि होगा, और यदि पिता मन्दबुद्धि है तो पुत्र प्रतिभाशाली होगा। +1·00 का सह-सम्बन्ध दो व्यक्तियों की बुद्धि के आपसी सम्बन्ध की मात्रा को बताने वाला है, जैसे +·8 से तात्पर्य पिता-पुत्र की बुद्धि में बहुत अधिक समानता से है। अर्थात् पिता और पुत्र—दोनों में ही बहुत अधिक मात्रा में प्रतिभा अथवा मन्दबुद्धिता में समानता होगी।

सन् १९०४ में पीयर्सन ने सर्वप्रथम इस सह-सम्बन्ध प्रणाली को कुछ रक्त-सम्बन्धित व्यक्तियों के आपसी बुद्धि-सम्बन्ध को जानने के लिए प्रयोग किया। उनके परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि माता-पिता और सन्तान की शारीरिक और मानसिक शक्तियों में +·50 का सह-सम्बन्ध है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रक्त-सम्बन्ध होने के कारण माता-पिता और उनकी सन्तानों में थोड़ा सह-सम्बन्ध नहीं है वरन् उनमें पर्याप्त समानता है। मानसिक और शारीरिक विषमताएँ सदैव आगामी पीढ़ी में संक्रमित होती हैं और उपरोक्त परीक्षण में पिता-पुत्र का सह-सम्बन्ध लगभग +·50 है। अतः उनके मानसिक और शारीरिक गुण उसी मात्रा और उसी प्रकार से संक्रमित हुए, यद्यपि उनका सीमा-विस्तार अधिक रहा।

दो समान यमजों अथवा जुड़वाँ बालकों (identical twins) का अध्ययन किया गया। बुद्धि-परीक्षा से प्राप्त जो उनके धावांक आये तो पता चला कि उनमें

1. The Correlation Technique.
2. Family History Studies.
3. Co-twin Control Procedure.
4. Foster Children Experiment.

बहुत ही अधिक सह-सम्बन्ध है, यह +·१ था। भाई और बहिनों के विविध युग्मों में +·५ का सह-सम्बन्ध पाया गया तथा चचेरे भाई-बहिनों में सह-सम्बन्ध की मात्रा +·२५ पाई गई।[1] ये सह-सम्बन्ध स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करते हैं कि रक्त-सम्बन्ध जितना घना होगा उसी मात्रा में बुद्धि-परीक्षा में प्राप्तांकों की भी समानता होगी। वे चाहे प्रतिभा के पात्रांक हों अथवा मन्दबुद्धिता के, उनमें अधिक समानता होगी। यही तथ्य सह-सम्बन्ध और बुद्धि-परीक्षा के आधार पर सिद्ध हुआ है। किन्तु पूर्ण विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि यह सह-सम्बन्ध की मात्रा केवल वंशानुक्रम के कारण है अथवा उसमें वातावरण का भी प्रभाव था। आजकल यह सर्वमान्य है कि केवल वंशानुक्रम ही व्यक्ति के जीवन का विधायक नहीं, वातावरण का भी उसमें एक बड़ी मात्रा में हाथ होता है, अतः इसे भी नहीं भुलाया जा सकता।

कुटुम्ब-इतिहास अध्ययन—कई मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि के संक्रमण की सम्यक् जानकारी के लिये कालीकॉक ज्यूकस और एडवर्ड परिवार का इतिहासपरक अध्ययन किया। कालीकॉक युद्ध मे एक सामान्य कोटि का सिपाही था। युद्धकाल में एक निम्न कोटि की महिला से उसका सम्बन्ध हो गया और उससे कुछ सन्तानें उत्पन्न हुईं। युद्धोपरान्त उसने एक सम्भ्रान्त परिवार की श्रेष्ठ महिला से परिणय किया। इस प्रकार कालीकॉक महोदय से दो भिन्न श्रेणी—मन्दबुद्धि और प्रतिभाशाली—स्त्रियों से दो विभिन्न प्रकार के परिवारों का सूत्रपात हुआ। प्रथम महिला के उत्पन्न वंशजों से ४८० व्यक्ति उत्पन्न हुए। उनके अध्ययन से पता चला कि उनमें १४३ मन्दबुद्धि, ४६ सामान्य, ३६ जारज सन्तानें, ३३ वेश्याएँ, २४ शराबी, ३ मिरगी के रोगी और ३ अधन्य अपराधी थे। दूसरी पत्नी से उत्पन्न वंशजों के लगभग ४९६ व्यक्ति हुए। इनमें सभी व्यक्ति सामान्य और प्रतिभाशाली थे, केवल ५ ऐसे व्यक्ति निकले जो मन्दबुद्धि अथवा दुराचारी थे। यह अध्ययन गॉडार्ड (Godard) महोदय द्वारा किया गया था।

अध्ययन की इस दिशा में अंग्रेजी मनोवैज्ञानिक गॉल्टन ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने ९७७ प्रतिभावान व्यक्तियों का अध्ययन किया तो पता चला कि उनमें ५३५ व्यक्तियों में निकट रक्त-सम्बन्ध था। इसी प्रकार उन्होंने ९७७ सामान्य व्यक्तियों का भी अध्ययन किया तो उनमें निकटतम रक्त-सम्बन्धियों में से केवल ४ ही प्रतिभावान् और प्रसिद्ध व्यक्ति निकले। इससे यह सिद्ध होता है कि वंशानुक्रम का प्रभाव निश्चित है तथा बुद्धि का संक्रमण अवश्य होता है।

इसी प्रकार नॅन महोदय ने अमरीका के ज्यूकस परिवार का भी ऐतिहासिक अध्ययन किया। उससे पता चला कि ज्यूकस एक दुराचारी व्यक्ति था, उसने एक भ्रष्ट महिला से शादी कर, एक अपराधी कुटुम्ब को जन्म दिया। १७२० से लेकर

1. "Influence of Environment on the Intelligence Achievement and Conduct of Foster-Children."—*Freeman, F. N.* (etal).

१८७७ ई० तक उसकी पाँच पीढ़ियों में लगभग १,००० व्यक्ति हुए। उनमें ३०० शैशवकाल मे ही मर गये, ४४० लोग रोगी रहे, १३० अपराधी हुए, ३१० को अनाथालयों में रहना पड़ा, केवल २० कुछ व्यवसाय अथवा कारीगरी सीख चुके, दुर्भाग्य से उनमे से भी १० जेल की तंग प्राचीरों के अन्दर बन्द कुछ कारीगरी सीख सके।

इन सबसे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति के जीवन मे वंशानुक्रम का कितना प्रभाव है और विशेषतया बुद्धि के क्षेत्र मे, यह तो सम्पूर्ण रूप से आने वाली पीढ़ियों में संक्रमित हो जाती है।

धात्रेय-बालकों का परीक्षण (Foster Children Experiment)

एकसम यमजों के १० जोड़ों को जन्म के उपरान्त अलग-अलग वातावरण में पाला गया। प्रौढ़ होने पर उन्हें साथ-साथ लाया गया और उनका सूक्ष्म अध्ययन किया गया। अध्ययन के आधार पर स्वीजिंगर (Schwesenger) महोदय ने देखा कि उनमें से ६ जोड़ों की बुद्धि में कोई विशेष अन्तर न था, दो युग्मों की बुद्धि-लब्धि मे ११ अंकों का अन्तर था तथा शेष की बुद्धि-लब्धि में १२ से १७ अंकों तक अन्तर मिला।

इन सभी अध्ययनों से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि व्यक्ति के ऊपर सामाजिक और शैक्षणिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता तो है, किन्तु वातावरण जन्मजात योग्यता-बुद्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं ला सकता। बुद्धि तो वंशानुक्रम का ही परिणाम है। अतः बालकों की 'बुद्धि' की मात्रा का निर्धारक उसका वंशानुक्रम ही है।

पर्यावरण स्थिर : आनुवंशिकता परिवर्तित

दूसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिनमे पर्यावरण या वातावरण को स्थिर रखा जाता है और आनुवंशिकता मे परिवर्तन लाया जाता है। इस प्रकार जो पर्यावरण स्थिर-सम्बन्धी अध्ययन हैं वे व्यक्ति के जीवन पर पर्यावरण के प्रभाव के सम्बन्ध में बताते हैं। परन्तु पर्यावरण को स्थिर रखना कोई सरल कार्य नहीं है। परिवेश या पर्यावरण में व्यक्ति के जीवन पर वे सब बाहरी प्रभाव आ जाते हैं जो उसके उत्पन्न होने के समय से ही उस पर प्रभाव डालने लगते हैं। इस प्रकार उसका परिवार, समाज, पड़ोस, विद्यालय, धर्म, निवास-स्थान, मुहल्ला, शहर इत्यादि सब उसके वातावरण के अन्तर्गत ही आते हैं। इन सबका स्थिर रखना बहुत कठिन है। हम चाहे जितनी चेष्टा करें कि ऐसे बालकों का परिवेश एक समान हो जाये जिन पर हमे प्रयोग करना है फिर भी कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य ऐसा रह जायगा जो हमारे प्रयोगों के फलों की वस्तुनिष्ठता (objectivity) मे कमी ला देगा। जैसे—दो बालकों को एक साथ एक ही परिवार मे विकसित होने का अवसर देने पर भी उनका वातावरण इस दृष्टिकोण से विभिन्न हो सकता है कि एक बालक को अधिक प्यार मिले, अथवा एक बालक हो

और दूसरी बालिका, या एक को ही उसकी रुचि की वस्तुएँ उपलब्ध हों जबकि दूसरे को नहीं, या इसी प्रकार की कोई अन्य रुकावट हो सकती है।

पर्यावरण स्थिर करने की इन कठिनाइयों के कारण ही बहुधा मनोवैज्ञानिक पशुओं पर प्रयोग करके वातावरण के प्रभाव के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते हैं। यहाँ हम एक परीक्षण का वर्णन करेंगे, जो चूहों पर किया गया—

इस प्रयोग में १४२ सफेद चूहे चुने गये। इन चूहों को एक भूल-भुलैया से रास्ता खोजने के लिए उनमें से प्रत्येक को १९ बार परीक्षा दी गयी। भूल-भुलैया से बाहर निकलने का केवल एक ही रास्ता होता है। अन्य रास्ते अन्धी गलियों (blind alleys) में जाकर समाप्त हो जाते हैं। इस प्रयोग में यह देखा गया कि सही रास्ता प्राप्त करने से पहले प्रत्येक चूहा कितनी बार अन्धी गलियों में गया। प्रत्येक अन्धी गली में जाना उस चूहे की, जिस पर प्रयोग किया जाता, एक त्रुटि मानी जाती थी। इस प्रकार के प्रयोग में यह देखा गया कि त्रुटियों की अधिकतम संख्या २१४ और न्यूनतम ७ थी। तात्पर्य यह कि विभिन्न चूहों ने ७ से लेकर २१४ तक त्रुटियाँ कीं। जिन चूहों ने सबसे कम गलतियाँ कीं उन्हें कुशाग्र-बुद्धि माना गया और जिन्होंने सबसे अधिक गलतियाँ कीं, उन्हें मन्द-बुद्धि माना गया।

प्रयोग में पर्यावरण को एक सा रखा गया। प्रत्येक चूहे को एक-सा आहार दिया गया, समान प्रकाश और समान तापक्रम पर वे रखे गये। इसके अतिरिक्त अन्य पर्यावरण की दशाएँ भी समान रखी गयीं। फिर प्रयोगकर्त्ता ने कई पीढ़ियों तक कुशाग्र-बुद्धि के चूहों का कुशाग्र-बुद्धि वालों से और मन्दबुद्धि का मन्दबुद्धि वालों से संयोग कराया और इस प्रकार कुशाग्र और मन्द-बुद्धि के चूहों की दो जातियाँ प्राप्त कर लीं। प्रत्येक नई पीढ़ी के कुशाग्र-बुद्धि और मन्द-बुद्धि के चूहों को छाँट लिया गया और उनका आपस में संयोग कराकर गर्भाधान कराया गया। सातवीं पीढ़ी के बाद देखा गया कि विविध प्रकृति के प्रजनन के प्रभाव नगण्य हो गये। दोनों समूहों में पृथकता तो निश्चित रूप से रही परन्तु पृथकता में कोई वृद्धि नहीं हुई।

उपरोक्त प्रयोग के समाप्त होने पर स्वतन्त्रतापूर्वक कुशाग्र और मन्दबुद्धि चूहों का संयोग कराया गया। इस प्रकार के गर्भाधान से उत्पन्न चूहों में यह देखा गया कि अधिकतर चूहे औसत के निकट थे। बहुत तेज बुद्धि के और मन्दबुद्धि के चूहों की संख्या बहुत कम प्राप्त हुई। इससे यह स्पष्ट हो गया कि बहुत कुशाग्रबुद्धि के जीन्स (genes) या पित्रैक और मन्दबुद्धि के जीन्स औसत बुद्धि के जीन्स में मिल गये।

इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि भूल-भुलैया द्वारा मार्ग ज्ञात करने में आनुवंशिक खण्डों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यदि हम प्रजनन पर नियन्त्रण रखें तो चूहों की दो जातियाँ स्पष्ट रूप से प्राप्त कर सकते हैं। यह तर्क यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है कि यह प्रयोग यह सिद्ध तो नहीं करता कि वंशानुक्रम द्वारा भूल-भुलैया से रास्ता प्राप्त करने का अर्जित ज्ञान संक्रमण हो जाता है परन्तु हम यह

तो कह ही सकते हैं कि आनुवंशिकता शारीरिक बल, चुस्ती और बुद्धि इत्यादि का कारण तो हो ही सकती है; और क्योंकि भूल-भुलैया से मार्ग ढूंढने में ये सब गुण उपयोगी होते हैं, अतएव वंश-परम्परा इस ओर भी गुणकारी सिद्ध होती है।

अन्त में, हम कुछ उन अध्ययनों का वर्णन करेंगे जो बुद्धि के स्तर पर पर्यावरण का क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानने के लिए किये गये हैं। ये अध्ययन इस ओर संकेत करते हैं कि अच्छे या बुरे वातावरण का व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

अच्छे और दूषित पर्यावरण का बुद्धि-लब्धि पर प्रभाव

अनुकूल पर्यावरण का व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इसे भली-भाँति जानने के लिए इस दिशा में बहुत से विद्वानों ने कार्य किया। उन्होंने यह भी खोज करने का प्रयास किया कि सामान्य वातावरण का भी बुद्धि-लब्धि पर क्या प्रभाव होता है। इन सभी अध्ययनों के आधार पर विद्वान् लोग इस निष्कर्ष पर आये कि उपयुक्त वातावरण से बुद्धि-लब्धि में थोड़ी धनात्मक वृद्धि होने की सम्भावना होती है, जैसे—किसी बालक की बुद्धि-लब्धि ११० होती है तो उसे उपयुक्त वातावरण और अनुकूल प्रशिक्षण के द्वारा ११५ तक बनाया जा सकता है।

यह भी देखा गया है कि बुद्धि-परीक्षा की विभिन्न परीक्षा-विधियों द्वारा एक ही व्यक्ति की विभिन्न बुद्धि-लब्धि आती है। अतः एक प्रयोगकर्त्ता को यह पहले से विचार नहीं कर लेना चाहिए कि एक बालक की बुद्धि-लब्धि की मात्रा सभी बुद्धि-परीक्षाओं के परिणामस्वरूप समान होगी तथा एक ही बुद्धि-परीक्षा विधि के दोहराने से यह भी आवश्यक नहीं कि समान निष्कर्ष ही आये। परीक्षणों के आधार पर यह भी देखा गया कि व्यक्ति के विद्यालय जीवन में यदि प्रारम्भ से ही शैक्षिक वातावरण अच्छा है तो उसके बुद्धि-निष्कर्षों में अवश्य ही शीघ्र परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन बुद्धि के उत्तरोत्तर विकास की दशा में होता है। कॉलेज के विद्यार्थियों में बुद्धि-परीक्षा-प्राप्तांक की भी अभिवृद्धि पायी जाती है।

बहुत-से विद्वानों के अनुसन्धानों के आधार पर यह पूर्णतः सिद्ध हो चुका है कि विभिन्न व्यक्तियों की मानसिक योग्यताओं के विकास की गति में अन्तर होता है। उनमें विभिन्न मात्राओं में वृद्धि होती है। हॉरजाइक (Horzike) महोदय ने इस दिशा में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया। उन्होंने २१ मास से लेकर ७२ मास तक के बालकों का अध्ययन किया। फ्रीमैन और फ्लोरे ने ८ वर्ष से लेकर १७ वर्ष तक के बालकों का अध्ययन किया, और बेलमैन ने विद्यालय अवस्था के प्रथम स्तर से लेकर कॉलेज अवस्था तक का अध्ययन किया। इन सभी का मत है कि विभिन्न बालकों में मानसिक विकास—विभिन्न गति और मात्रा में होता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने पर्यावरण, बालक और उसके विकास का सम्यक् अध्ययन करके यह देखा कि अनुपयुक्त पर्यावरण बालक के मानसिक विकास में बाधा

डालता है और उसकी अभिवृद्धि की गति को धीमा बना देता है। यही कारण है कि शिक्षित कुल में उत्पन्न हुए बालकों को यदि उपयुक्त पर्यावरण में नहीं रखा गया, उन्हें समुचित शिक्षा नहीं मिली तो उनकी बुद्धि-वृद्धि रुक जाती है और अशिक्षित कुल में उत्पन्न होने पर भी उचित वातावरण मिलने पर उनकी बुद्धि में अधिक विकास होता है। इस दिशा में विशेष अध्ययन हुए हैं। अशर का 'केन्टुकी गिरि-बालकों का अध्ययन'[1] (१९३५), शरमन और के महोदय का 'पहाड़ों पर अलग किये हुए बालकों का अध्ययन'[2] (१९३२), और ह्वीलर का 'पूर्व-टेनेसी बालकों का स्वरोच्चारण का अध्ययन'[3] आदि।

वंशानुक्रम और पर्यावरण का सापेक्ष महत्त्व
(Relative Importance of Heredity & Environment)

वंशानुक्रम और पर्यावरण दो महान् शक्तियाँ हैं जो मानव जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। वस्तुतः मानव दोनों की ही उपज है। वातावरण के अन्तर्गत वे सभी नैतिक, सामाजिक, शारीरिक और बौद्धिक परिस्थितियाँ आती हैं जो व्यक्ति के जीवन पर अपना प्रभाव डालती हैं। वंशानुक्रम उन सभी गुणों का योग है, जिन्हें बालक जन्म से ही लेकर आता है। ये पितागत गुण व्यक्ति को कुछ निश्चित विशेषताएँ प्रदान करते हैं किन्तु उन्हें परिमार्जित और रूपान्तरित कर एक विशेष एवं उपयुक्त साँचे में ढालना पर्यावरण का ही कार्य है। अतः वंशानुक्रम और पर्यावरण एक-दूसरे के पूरक हैं। वे मानव जीवन को सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक—सभी क्षेत्रों में एक-दूसरे के पूरक बनकर बहुत अधिक सहायता देते हैं। व्यक्ति के जीवन का निर्माण किसी एक के द्वारा सम्भव नहीं, वह तो वंशानुक्रम और पर्यावरण—दोनों के सहयोग से ही प्राप्त किया जा सकता है।

किसी भी कुटुम्ब में जन्म लेने वाला बालक उसी परिवार के रीति-रिवाज और परम्पराओं को ग्रहण करता है। उसके सम्पूर्ण दृष्टिकोण का निर्माण उस कुटुम्ब की पूर्व-धारणाओं एवं पूर्व-विचारणा के आधार पर होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी बालक का जन्म ऐसे कबीले में होता है जो छोटी-मोटी चोरी करने में अत्यन्त दक्ष है तो वह बालक भी अपने परिवार के सदस्यों के साहचर्य में उस कला में प्रवीण हो जायगा। यदि घर का वातावरण सुन्दर है तो बालक का विकास भी स्वाभाविक रूप से होता है और यदि गंदा है तो बालक व्यक्तित्व भी कुसमायोजित (mal-adjusted) बन जाता है। इसी प्रकार से अन्य सामाजिक समुदायों का बालक के

---

1. Asher's Study of 'Kentucky Mountain Children' (1935).
2. Sherman and Key's 'Study of Isolated Mountain Children' (1932)
3. Wheeler's 'Account of East Tennesee-children'.

जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अपराधी जाति में उत्पन्न होने वाले बालक में अपराध-वृत्ति की तरफ स्वतः रुझान हो जाता है और वह लूटमार एवं डकैती की कला को बड़ी निपुणता और सहज रूप में सीख लेता है। अतएव जिस प्रकार वंशानुक्रम का महत्व एक व्यक्ति के विकास मे बहुत है, उसी प्रकार पर्यावरण के महत्व को भी व्यक्ति के विकास में नही भुलाया जा सकता।

सारांश

"व्यक्ति के जन्मजात गुणों का कुल योग ही वंशानुक्रम कहलाता है।" जैविक दृष्टि से निषिक्त अण्ड में सम्भाव्यतः उपस्थित विशिष्ट गुणों का योग ही वंशानुक्रम है। पुरुष के शुक्र और स्त्री के अण्ड के संयोग से व्यक्ति के जीवन का प्रारम्भ होता है। माँ-बाप के बीजकोषों में कुछ निश्चित विशेषताएँ होती हैं जो मिलकर सन्तान के गुणों को निर्धारित करती हैं। एक निषिक्त अण्ड में २३ युग्म वंशसूत्र होते हैं जिनमें आधे माँ के और आधे पिता के होते हैं। वस्तुतः ये ही वंशसूत्र वंशानुक्रम के लक्षणों को निर्धारित करते हैं। प्रत्येक वंशसूत्र मे छोटे-छोटे कण होते हैं जो पित्रैक कहलाते हैं। ये पित्रैक ही वंशानुक्रम के वास्तविक निर्धारक होते हैं। ये ही माँ-बाप और बालक की भिन्नता के कारणों का स्पष्टीकरण करते हैं। गॉल्टन महोदय ने एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित होने वाले गुणों का सांख्यिकीय अध्ययन किया और बताया कि माँ-बाप के ही गुण सन्तान मे संक्रमित नहीं होते हैं, वरन् दादा और परदादा एवं अन्य पूर्वजों की पीढ़ियों के भी गुण सन्तान मे संक्रमति हो जाते हैं।

आजकल वंशानुक्रम के तीन मुख्य नियम माने जाते हैं—(क) समान से समान ही उत्पन्न होता है; (ख) भिन्नता, और (ग) प्रत्यागमन। समान से समान ही उत्पन्न होता है, इससे तात्पर्य है कि मनुष्य के मनुष्य और बन्दर के बन्दर ही उत्पन्न होता है। भिन्नता का नियम यह बताता है कि बालक अपने माँ-बाप की प्रतिकृति नहीं होता, उसमे भी अपने पूर्वजों से कुछ भिन्नताएँ होती हैं। प्राणियों में प्रतिभावान माता-पिता के कम बुद्धि वाली सन्तान होने की प्रवृत्ति तथा इसी के समानान्तर कम बुद्धि वाले माता-पिता के परम प्रतिभा-सम्पन्न सन्तान होने की प्रवृत्ति को ही प्रत्यागमन कहते हैं। बहुत-से निरीक्षण एवं गम्भीर अध्ययनों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि बुद्धि भी संक्रमित होती है। बहुत-से आधुनिक विद्वानों ने निम्नलिखित विधियों के द्वारा विश्वसनीय सामग्री एकत्र कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि बुद्धि-लब्धि पर पर्यावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है—सह-सम्बन्ध प्रणाली, कुटुम्ब-इतिहास का अध्ययन, यमज नियन्त्रण विधि तथा धात्रेय बालकों की परीक्षा। अन्य प्रकार के विविध अध्ययनों द्वारा यह भी सिद्ध हो चुका है कि वातावरण भी बुद्धि-लब्धि पर प्रभाव डालता है किन्तु उसका प्रभाव क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है।

व्यक्ति के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण—दोनों ही अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दोनों ही उसके जीवन पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न

१. बालक के विकास में पर्यावरण कहाँ तक सहायक होता है ? इसका मूल्यांकन करते हुए प्रत्यक्ष उदाहरण दीजिए।

२. बालक के मानसिक विकास में वंशानुक्रम और पर्यावरण का क्या सापेक्षिक महत्त्व है ? इसके ऊपर प्रकाश डालते हुए एक समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।

३. जैविक वंशानुक्रम से आप क्या समझते हैं ? मानव में जैविक वंशानुक्रम की प्रक्रिया का क्रमबद्ध वर्णन कीजिए।

४. वंशानुक्रम और पर्यावरण का बालक के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इस दृष्टि से भारत की जाति-प्रथा की समालोचना कीजिए।

५. "एक ही माता-पिता की सन्तान एक ही वातावरण में पलने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करती है।" उदाहरण देते हुए इस कथन की पुष्टि कीजिए तथा उसके कारणों पर प्रकाश डालिए।

६. क्या चुने हुए स्त्री-पुरुषों के संयोग से मानव-जाति उन्नति कर सकती है ? विस्तृत व्याख्या कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. फैकल्टी ऑफ दि यूनिवर्सिटी : हाउ चिल्ड्रन डेवलप, कोलम्बिया सीरीज, नं० ३, ओहियो स्टेट यूनिवर्सिटी, १९४९

२. गॉल्टन, फ्रान्सिस : हेरिडिटी जीनियस, लार्ड मैकमिलन एण्ड कम्पनी १८६९।

३. गोडार्ड, एच० एच० : दि कॉलीकाक फेमिली—मैकमिलन कं०, न्यूयार्क १९१२।

४. जेनिंग्स, एच० एस० : बॉयलॉजीकल बेसिस ऑफ ह्यूमन नेचर, डब्ल्यू० डब्ल्यू० नॉर्टन एण्ड कं० १९३२।

५. जेनिंग्स, एच० एस० : जेनेटिक्स, डब्ल्यू० डब्ल्यू० नॉर्टन एण्ड कं०, न्यूयार्क, १९३५।

६. जर्सील्ड ए० टी० : चाइल्ड सायकॉलोजी, अध्याय १, प्रेन्टिस हॉल, न्यूयार्क, १९४७।

७. थॉर्प, एल० पी० : चाइल्ड सायकॉलोजी एण्ड डेवलपमेण्ट, अध्याय २–५, दि रोनाल्ड प्रेस कं०, १९४६।

८. वॉल्टर, एच० ई० : जेनेटिक्स, दि मैकमिलन एण्ड कं०, न्यूयार्क, १९३८।

९. विनशिप, एम० ई० : ज्यूक्स-एडवर्ड : ए स्टडी इन एजूकेशन एण्ड हेरिडिटी, मेयर्स हेरिसबर्ग, १९००।

१०. माथुर, एस० एस० : एजूकेशनल सायकॉलोजी, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९६१।

६

अभिवृद्धि तथा परिपक्वन[1]

पिछले अध्याय में हमने वर्णन किया है कि किस प्रकार वंशानुक्रम एवं पर्यावरण एक व्यक्ति के विकास पर प्रभाव डालते हैं। हमने वहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि वातावरण एवं वंशानुक्रम—दोनों ही एक व्यक्ति की वृद्धि पर समुचित प्रभाव डालते हैं। बालक का जीवन एक सरल योग से आरम्भ होता है। इस योग में पुरुष का शुक्र स्त्री के अण्ड के साथ संयोग करता है और गर्भाधान की क्रिया सम्पन्न होती है। परन्तु जैसा हमने पिछले अध्याय में कहा है कि गर्भाधान के समय कौन-कौन से पिता के गुण माता के गुणों के साथ मिलकर बालक की आनुवंशिकता को निर्धारित करते हैं यह कहना अत्यन्त कठिन है। हम तो बालक की वृद्धि को देखकर ही यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अमुक पिता का अथवा अमुक माता का या परिवार के किसी अन्य पूर्वज का गुण बालक में विद्यमान है। परन्तु हमारे ये निष्कर्ष अशुद्ध भी हो सकते हैं, क्योंकि जो गुण हम पिता या माता का बालक में पितागत मान लेते हैं, वह वास्तव में पर्यावरण के प्रभाव के कारण भी बालक में विकसित हो सकता है। जैसे—एक संगीतज्ञ की पुत्री को हम संगीत में पारंगत पाते हैं तो हम कह देते हैं कि संगीत का गुण तो उसका निजी गुण है। परन्तु एक अच्छे संगीतकार की पुत्री अच्छी संगीतज्ञ इस कारण भी हो सकती है कि उसे संगीत के ही वातावरण में पाला-पोसा गया है। अतएव हमारा यह निष्कर्ष कि संगीत का गुण जन्मजात है, गलत हो जाता है। यहाँ इन सब पिछले अध्याय की बातों को दोहरा देने से हमारा उद्देश्य यही है कि बालक की अभिवृद्धि एवं विकास में [illegible] शब्द हैं उन्हें समझ लें और फिर

1. [illegible]

सीखना है तो उसमें मानसिक परिपक्वता का होना आवश्यक है। इस प्रकार बालक शारीरिक या मानसिक कार्य उसी समय ठीक ढंग से कर सकेगा जब उस कार्य में उपयोग किये जाने वाले अङ्ग परिपक्वता को प्राप्त कर चुके हैं।

अभिवृद्धि से विकास की अवस्थाएँ
(Stages of Growth)

एक व्यक्ति अपने जीवन-काल में विकास की अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। मोटे तौर पर इन अवस्थाओं का वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१—भ्रूण अवस्था (parental period),
२—जन्म (birth),
३—शैशव (infancy),
४—बाल्यकाल (childhood),
५—किशोरावस्था (adolescence),
६—प्रौढ़ावस्था (maturity or adulthood),
७—वृद्धावस्था (old age), और अन्त में
८—मृत्यु (death)।

यहाँ हम इन सब अवस्थाओं की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करेंगे। यथा—

१. भ्रूण अवस्था (Parental Period)

यह अवस्था पूर्ण रूप से एक मानव के जीवन की पराधीन अवस्था है। इस अवस्था में भी मानव की अभिवृद्धि एवं विकास चलता रहता है और जिस समय यह विकास उस सीमा तक पहुँच जाता है जबकि भ्रूण माता के पेट से बाहर निकलकर स्वतन्त्र रूप से जीवित रह सकता है तभी उसका जन्म होता है।

निषेचित अण्डकोष (fertilized egg cell) एक इंच का करीब २०००वाँ भाग होता है। इसकी लम्बाई ८ वें सप्ताह में जाकर १ इंच हो जाती है और जिस समय बालक जन्म लेता है उसकी लम्बाई लगभग २० इंच होती है। भ्रूण अवस्था में मानव के हृदय और मस्तिष्क की वृद्धि तेजी से होती है और जन्म के समय तक प्रायः मस्तिष्क की वृद्धि पूर्ण हो चुकी होती है।

भ्रूण की गतिशीलता का अनुभव गर्भवती माताओं को गर्भ के चौथे और पाँचवें महीने के बीच में प्रतीत होने लगता है। ४-५ महीने बाद भ्रूण साँस लेने के योग्य भी हो जाता है।

६ठवें महीने में भ्रूण चूसने की क्रिया उस समय करने लगता है जब उसके गाल को छुआ जाये। वह मुट्ठी बन्द करने की क्रिया भी कर सकता है। ७वें महीने का भ्रूण दूध चूसने, चीखने, साँस लेने आदि की सहज क्रियाओं के लिये तैयार हो जाता है।

६ महीने तक जो भ्रूण की वृद्धि होती है वह उसकी आन्तरिक शक्ति के ही कारण होती है। माता द्वारा तो उसे केवल भोजन एवं पानी ही बाहर से मिलता है। माता से उसको कोई भाव इत्यादि नहीं मिलते। माता का और बालक का इस अवस्था में रक्तवाहिनी अथवा अन्य किन्हीं नाड़ियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी कारण माँ के विचार, संवेग इत्यादि शिशु पर इस अवस्था में कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। यह धारणा प्रचलित विचारों के प्रतिकूल है परन्तु अनेक परीक्षणों द्वारा इसकी विश्वसनीयता स्थापित की जा चुकी है।

२. जन्म (Birth)

जन्म मानव भ्रूण का बाहर निकलकर एक व्यक्तिगत और अधिकृत रूप में स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की अवस्था है। बालक के संसार में जन्म लेने के तुरन्त बाद ही उस पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ने लगता है। उसकी आवश्यकताएँ दूसरे व्यक्तियों को पूरी करनी होती हैं जिनके उसके प्रति व्यवहार पर ही उसके सामाजिक जीवन का विकास होने लगता है।

जन्म के समय बालक का विकास जटिल हो चुका होता है। वह अनेक उत्तेजकों के प्रति प्रतिक्रिया करने के लिए परिपक्व हो चुका होता है, वह अनेक प्रकार की गति का प्रदर्शन कर सकता है, वह उत्तेजित हो सकता है, चिल्ला सकता है और माता के प्रेम के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को प्रदर्शित कर सकता है।

एक बालक जन्म के पश्चात् बहुधा सोता रहता है। वह जागने पर कुछ अनिश्चित-सी क्रियायें करता रहता है। सहज क्रिया के रूप में वह भोजन प्राप्त करने की क्रिया भी करता रहता है।

३. शैशव (Infancy)

बालक की प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय जन्म के समय से ही काम करने योग्य होती है या कुछ समय बाद ही वहकाम करने के योग्य हो जाती है। एक शिशु वे सब सहज-क्रियाएँ कर सकता है, जो एक बड़ा व्यक्ति कर सकता है। परन्तु उसकी शारीरिक, गामक, सामाजिक, संवेगात्मक तथा मानसिक अभिवृद्धि तेजी के साथ इस काल में होती है। वर्तमान काल में सब मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि इस काल का जीवन व्यक्ति के भविष्य के जीवन में एक विशेष महत्त्व रखता है, अतएव एक शिशु का लालन-पालन बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

४. बाल्यावस्था (Childhood)

शैशव अवस्था और किशोरावस्था की अपेक्षा इस अवस्था में विकास की गति धीमी होती है किन्तु इसमें सभी शक्तियों का संगठन एवं गठन होता है। ६ से ७ वर्ष के उपरान्त वह समय आता है, जबकि विकास की गति में बहुत ही मन्दरता आ जाती है और इस प्रकार की स्थिरता-सी दिखाई पड़ती है। हालांकि इस अवस्था

में भी धीमा-धीमा विकास चलता ही रहता है। यह अवस्था कैशोर्य के प्रारम्भ तक रहती है।

५. किशोरावस्था (Adolescence)

कैशोर्य व्यक्ति के जीवन की वह अवस्था है जो बाल्यकाल की समाप्ति पर प्रारम्भ होती है और प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भ होने पर समाप्त होती है। बालिकाओं में इस अवस्था का आगमन रजोदर्शन से माना जाता है परन्तु बालकों में कैशोर्य के लक्षण बालिकाओं के समान स्पष्ट नहीं होते। फिर भी उनमें तारुण्य आने पर दाढ़ी, मूँछों के रूप में हल्की रोमावलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस अवस्था में शारीरिक अभिवृद्धि तेजी से होती है और बालक में काम-सम्बन्धी परिपक्वता (sexual-maturity) आ जाती है। बालक तरंगपूर्ण एवं कल्पनाशील हो जाता है। उसमें भावुकता, अस्थिरता, घबराहट—भावों के उतार-चढ़ाव एवं अहं चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वह मैत्री भाव से भरा होता है और सामाजिक रूप से अपने को व्यवस्थित करने की चेष्टा करता है। वह आदर्शवादी भी होता है।

६. प्रौढ़ावस्था (Adulthood)

इस अवस्था में मानसिक तथा शारीरिक परिपक्वता पूर्ण हो जाती है। जो कुछ भी बालक ने अपनी समस्याओं को हल करने के लिए कैशोर्य और बाल्यावस्था में सीखा है उसी के आधार पर प्रौढ़ावस्था में वह पर्यावरण में अपना अनुकूलन प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यदि उसने अपनी संवेगात्मक, काम सम्बन्धी अथवा अन्य उत्तेजनाओं पर प्रौढ़ावस्था से पहले नियंत्रण करना सीख लिया है तो वह इस अवस्था में अपने जीवन के लिए एक सुन्दर पथ चुन लेता है और उसी का अनुसरण करने में अपना जीवन बिताने लगता है।

७. वृद्धावस्था (Old Age)

प्रौढ़ावस्था में स्वास्थ्य का गिरना अथवा अन्य प्रकार की गिरावट (decline) बहुत धीमी होती है परन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति वृद्ध होता जाता है, उसकी शक्ति का ह्रास (decline) होने लगता है और वह क्षीण तथा कमजोर हो जाता है। बुढ़ापे में आकर उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ दूषित हो जाती हैं और अधिक आयु बढ़ने पर उसका मानसिक सन्तुलन भी बिगड़ने लगता है।

८. मृत्यु (Death)

मानव शरीर का अन्त 'मृत्यु' है। एक प्रौढ़ व्यक्ति मृत्यु को गम्भीरता से नहीं लेता परन्तु जैसे-जैसे वह वृद्ध होता जाता है, वह मृत्यु को अपने निकट देखने लगता है और इसकी ओर उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। वह गम्भीर हो जाता है।

हमने यहाँ विकास की अवस्थाओं का वर्णन किया है। अब हम संक्षेप में विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले—शारीरिक, गामक, संवेगात्मक, मानसिक एवं सामाजिक विकास का वर्णन करेंगे।

बालक का शारीरिक विकास (Physical Development of Child)

जन्म के समय बालक की लम्बाई लगभग २० इंच होती है। लड़के लड़कियों से अपेक्षाकृत लम्बे और भार मे भी अधिक होते हैं। बालक के जीवन के प्रथम वर्ष में उसकी लम्बाई और भार—दोनों में बहुत वृद्धि होती है, लम्बाई और भार-वृद्धि की यह द्रुतता दूसरे वर्ष में भी बनी रहती है किन्तु प्रथम वर्ष की अपेक्षा वृद्धि कम होती है। बालक का भार ६ मास में जन्म से दुगुना हो जाता है और एक वर्ष में तो तीन गुना हो जाता है।

इसी प्रकार तीसरे वर्ष तक बालक की शारीरिक अभिवृद्धि द्रुतगति से होती रहती है किन्तु इसके उपरान्त यह धीमी पड़ती जाती है, जब तक किशोरावस्था नहीं आती। यह किशोरावस्था बालकों में लगभग १३ या १४ वर्ष से प्रारम्भ होती है और बालिकाओं मे १२ या १३ वर्ष से। किशोरावस्था में शारीरिक विकास अत्यन्त द्रुतगति से होता है, उनकी शारीरिक वृद्धि भी अत्यन्त शीघ्र होती है। जब तक बालक और बालिकाओं मे किशोरावस्था नहीं आती तब तक बालक बालिकाओं से भार और लम्बाई—दोनों मे कहीं अधिक होते हैं। किन्तु बालिकाओं में कैशोर्य का आगमन पहले होता है, इसलिए इस अवस्था में बालिकाओं का भार और लम्बाई बालकों के भार और लम्बाई से अधिक हो जाती है। *किन्तु बालक ज्यों ही १४ या १५ वर्ष का होता है, उसकी शारीरिक वृद्धि अत्यन्त शीघ्रता से प्रारम्भ होती है और वह बालिकाओं से अधिक शारीरिक समृद्धि प्राप्त करता है। प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने पर औसतन बालक लम्बाई में बालिकाओं से ४ इंच लम्बे और भार में २० पौण्ड तक अधिक भारी होते हैं।*

यहाँ पर सामान्य बालक और बालिकाओं को ध्यान में रखकर वर्णन किया गया है। किन्तु यदि कोई लम्बी बालिका है तो वह औसत बालक से अधिक लम्बी हो सकती है और इसी प्रकार से एक मोटी बालिका सामान्य बालक से अधिक भारी होगी। विभिन्न व्यक्तियों मे भी ऊँचाई और भार की दृष्टि में बहुत अन्तर हो सकता है। जैसे ८½ फीट के लम्बे भीमकाय व्यक्ति भी मिल सकते हैं और २ फीट के छोटे बौने भी।

व्यक्ति में उसकी उम्र के साथ-साथ उसकी ऊँचाई और भार भी बढ़ता जाता है। किन्तु विभिन्न व्यक्तियों में यह शारीरिक वृद्धि विभिन्न मात्रा में होती है। कुछ बालक बहुत शीघ्र बढ़ते है और एक ही उम्र में अन्य बालकों से बहुत अधिक लम्बे और भारी हो जाते हैं। बालक का भार उसकी उम्र की अपेक्षा उसकी लम्बाई पर आधारित रहता है। जो बालक अधिक लम्बे होते हैं, उनका भार भी निश्चित रूप से अधिक होता है।

बालक की अभिवृद्धि के समय शारीरिक परिवर्तन—बालक जैसे-जैसे बढ़ता जाता है—उसमें वृद्धि होती जाती है, वैसे ही वैसे उसमें बहुत से शारीरिक परिवर्तन
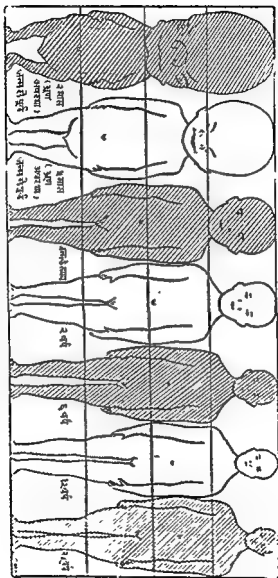
[चित्र १६—जन्म से पहले तथा बाद में आयु के साथ शरीर के अनुपातों में होने वाला परिवर्तन।]

भी हो जाते हैं। इन्हीं परिवर्तनों के कारण एक बालक प्रौढ़ व्यक्ति से बिल्कुल भि दिखाई पड़ता है। अभिवृद्धि का स्वरूप एक बालक में दूसरे से भिन्न होता है। कि कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ होती हैं जो अधिकतर बालकों में एक ही समय प्रकट होती हैं।

उम्र के बढ़ने के साथ-साथ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शारीरिक परिवर्त मस्तिष्क और सम्पूर्ण नाड़ीमण्डल की परिपक्वता होती है। माँसपेशियों में भी आ के साथ-साथ वृद्धि होती है और वे भी यौवन तक पूर्ण समृद्ध होती हैं। शारीरि अस्थि-ढाँचे में परिवर्तन होता है। हड्डियाँ अपेक्षाकृत अधिक लम्बी और मोटी हो जाती हैं तथा प्रत्येक जोड़ प्रौढ़ एवं परिपक्व हो जाता है। शरीर की ग्रन्थियों में भी ए सीमा तक काफी परिवर्तन आ जाता है। ये समस्त शारीरिक परिवर्तन बालक के व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव डालते हैं।

अभिवृद्धि और शारीरिक अनुपात (Growth and Bodily Proportion)—एक शिशु, बालक और किशोर में शारीरिक अनुपात की दृष्टि से बहुत अन्तर होता है। बाल्यावस्था में एक बालक का सिर उसके शरीर की लम्बाई से अनुपाततः किशोरावस्था की अपेक्षा अधिक बड़ा होता है। जन्म के समय बालक के सिर का अनुपात उसके शरीर की लम्बाई का एक-चौथाई होता है। किन्तु कैशोर्य की परिपक्वावस्था के समय इसका अनुपात एक का आठवाँ भाग हो जाता है। बाल्यावस्था में टाँगें अपेक्षाकृत छोटी होती हैं, शरीर की सम्पूर्ण लम्बाई के साथ उनका तीन : आठ (३ : ८) का अनुपात होता है। किन्तु कैशोर्य की प्रौढ़ता पर उनका अनुपात ½ (एक का आधा) हो जाता है। इस प्रकार किशोर को अपने चारों तरफ के वातावरण में व्यवस्थित करने के उपयुक्त बनाया जाता है। उसकी टाँगें उसकी महान् सम्पत्ति होती हैं। उनकी अभिवृद्धि इसलिए होती है कि किशोर अपने शरीर का अधिक से अधिक सन्तुलन प्राप्त कर सके। हाथ और पैरों की अभिवृद्धि का अनुपात उम्र की दृष्टि से सिर के बढ़ने की अपेक्षा बहुत होता है।

बालक और बालिकाओं की शारीरिक अभिवृद्धि में अन्तर—बाल्यावस्था में शारीरिक दृष्टि से बालिकाएँ बालकों से अधिक विकसित होती हैं। एक सामान्य बालक से एक बालिका में एक या डेढ़ वर्ष पहले ही लैंगिक अंग विकसित हो जाते हैं और उसे ऋतुस्राव होने लगता है। अनुपाततः बालिकाएँ बाल्यावस्था की एक ही उम्र में बालकों से अधिक भारी और लम्बी होती हैं। इसका विस्तृत वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन (Bodily Changes in Adolescence)—किशोरावस्था व्यक्ति के जीवन का वह काल है जबकि वह सन्तानोत्पादन के योग्य हो जाता है। यही वह समय है जब बालकों की लिंग ग्रन्थियों में शुक्रस्राव होने लगता है जो स्त्री के अण्ड से मिलकर गर्भाधान करने के योग्य हो जाता है। इसी प्रकार से यह बालिकाओं के लिए लैंगिक प्रौढ़ता का समय है। भारत में लैंगिक प्रौढ़ता का

यह काल बालिकाओं में १२-१३ और बालकों में १३-१४ वर्ष से प्रारम्भ होता है और उनमें लैंगिग तारुण्य के लक्षण प्रथम बार दिखाई पड़ते हैं। किशोरावस्था को प्राप्त करने पर बालिकाओं में रजस्राव तथा बालकों में शुक्रस्राव होने लगता है। किशोरावस्था का काल पूर्ण प्रौढ़ता तक चलता रहता है और यह भारत में १७ से १८ वर्ष तक माना जाता है।

बालिकाओं में अभिवृद्धि की सबसे अधिक द्रुतगति १२½ वर्ष पर होती है और बालकों में लगभग १४ वर्ष पर। इस अवस्था में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं और अभिवृद्धि की दृष्टि से उनमें नाटकीय परिवर्तन होता है। किशोर के हाथ, पैर, नाक इत्यादि बहुत लम्बे हो जाते हैं। उसके भार में बहुत अधिक और शीघ्र परिवर्तन होता है, यह लगभग २२ पौण्ड तक एक ही वर्ष में बढ़ जाता है। बालक की आवाज भारी पड़ जाती है, वह प्रौढ़ व्यक्ति के समान प्रतीत होती है। आवाज फट सी जाती है जिसके कारण कभी-कभी बालक में घबराहट भी आ जाती है। दाढ़ी और मूँछें निकलना प्रारम्भ हो जाती हैं जिससे बालक को बड़ा भद्दा अनुभव होता है। लड़कियों में उरोज विकसित होने लगते हैं, वे अधिक उन्नत और गोलाकार रूप में बढ़ते हैं। ये सभी परिवर्तन बालक के स्वभाव में चिड़चिड़ापन लाते हैं। वह बेचैनी का अनुभव करता है तथा आत्मकेन्द्रित बन जाता है।

तारुण्य के आ जाने से बालकों में विषम लिंगीय (hetro-sexual) प्रेम उत्पन्न हो जाता है। काम-भावना की जागृति तीव्रगति से होती है। १८ वर्ष की अवस्था तक बहुत से बालक उचित वातावरण न मिलने पर बिगड़ जाते हैं, उनकी रुचि विपरीत लिंग के प्रति विकृतावस्था तक पहुँच जाती है।

गामक विकास

बालक का सर्वांगीण विकास उसके गतिवाही विकास (motor development) पर बहुत अधिक आधारित होता है। गामक विकास से हमारा अभिप्राय— "बालक की शक्ति, गति और माँसपेशियों के विकास से तथा हाथ-पैरों के उचित उपयोग की क्षमता आ जाने से है।" बालक का संवेगात्मक व्यवहार एवं उसका मानसिक विकास बहुत हद तक उसके गतिवाही विकास पर अवलम्बित होता है। बालक समुचित गामक विकास के द्वारा ही अपने को समाज के अनुरूप बनाना सीखता है। अपनी बौद्धिक जिज्ञासा को वस्तुओं के नियन्त्रण, खोज और प्रदर्शन के द्वारा शान्त करता है। वह दूसरे से व्यवहार करने के ढंग सीखता है। उनमें सहयोग करने की भावना को ग्रहण करता है। यह सभी बातें बालक में समुचित गामक व्यवहार (proper motor behaviour) के सीखने पर ही आती हैं। जीवन के किसी क्षेत्र में बालक की सफलता और असफलता इस पर निर्भर रहती है कि वह अपनी गामक योग्यताओं का प्रयोग किसी कार्य में कैसे और कब करता है।

गामक कौशल का विकास (Development of Motor Skill)—बाल्यावस्था में गामक विकास बड़ी शीघ्रता से होता है। बच्चा जब १८ मास का ही होता है, वह सरलता से चलना सीख लेता है। दूसरे और तीसरे वर्ष में वह दौड़ना, चढ़ना, उछलना, कूदना, संतुलन रखना और नृत्य करना भी सीख लेता है बालक जब भी उछलना, सन्तुलन करना आदि कोई नयी चीज सीखता है तो वह लगातार उसका अभ्यास करता है तथा बड़ों से उस कार्य की स्वीकृति प्राप्त करता है कि वह दौड़ना सीख गया है अथवा उसे सन्तुलन रखना अच्छा आता है।

समय-समय पर बालक अपनी मांसपेशियों के ठीक-ठीक और समुचित प्रयोग के नये-नये ढंग सीखता है। यह देखा गया है कि एक या दो वर्ष का बालक ईंटों का छोटा मकान बना सकता है। एक ३ वर्ष का बालक किसी वृत्त[1] की आसानी से अनुकृति कर सकता है, वह एक तृतीय मानवी रेखाकृति भी बना सकता है। इसमें एक बड़ा वृत्त या गोला और उसमें दो छोटे-छोटे पैरों के लिए तथा दो-दो छोटे-छोटे गोले आँखों के लिए बनाने की क्षमता होती है। एक ४ वर्ष का बालक समकोण वाले वर्ग की नकल कर उसे बना सकता है तथा ५ वर्षीय बालक मानव की बाह्य रूपरेखा उसके हाथ, पैर, शरीर, आँखें और गर्दन का संकेत मात्र देकर बना सकता है।

गामक कौशल का विकास बालक में सामान्य कार्य से विशिष्ट की तरफ होता है। पहले बालक सामान्य, सरल और साधारण कार्यों को करना सीखता है, फिर विशिष्ट कार्यों को। यह भी देखा गया है कि फिर वह ऐसे कार्यों को सीखना चाहता है जो सामान्य और विशेष कार्यों का मिश्रण हो। तात्पर्य यह कि 'सरल से कठिन' और 'कठिन से कठिन' एवं ऐसे कार्य जिनमें ऐसी कई क्रियाएँ सम्मिलित हों जो वह प्रथम सीख चुका है, करने का प्रयत्न करता है। सर्वप्रथम बालक चलना सीखता है, अभ्यास के द्वारा उसमें कुशलता प्राप्त करने पर वह दौड़ना सीखता है। वह अपने हाथ से किसी वस्तु को पकड़ना सीखता है, फिर दौड़ते हुए भी गेंद को पकड़ना सीख लेता है। यह दौड़ते हुए गेंद को पकड़ने का कार्य दो विशिष्ट क्रियाओं का एकीकरण है, जिन्हें उसने पहले सीख लिया है—दौड़ना और गेंद को पकड़ना। इस प्रकार के कार्य करने में शरीर की विभिन्न मांसपेशियों—हाथ, पैर और नेत्रों—के समन्वय की आवश्यकता होती है।

गामक-क्रिया और लिंग-भेद

जेन्किन्स (Jenkins) एवं अन्य विद्वानों का यह कथन है कि एक सामान्य बालक सामान्य बालिका से शक्ति, गति और अन्य गामक नैपुण्य की परीक्षाओं में अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होता है। गामक-शक्ति के अन्तर्गत में बालकों की यह श्रेष्ठता की

1. Circle.

कारणों से प्रतीत होती है—(१) उनके जन्मजात कारणों से, तथा (२) सांस्कृतिक प्रभाव से। बालक प्रारम्भ से ही बाहर के सामाजिक कार्यों में भाग लेना प्रारम्भ कर देते हैं। किन्तु हमारी संस्कृति लड़कियों को इस प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देती। वे प्रारम्भ से ही घर की चहारदीवारी के अन्दर बन्द रहती हैं, उनका कार्य-क्षेत्र केवल अपना घर ही होता है। यदि कोई लड़की सामाजिक कार्यों में अधिक भाग लेती है तो समाज उसे हेय दृष्टि से देखता है। शायद हमारे समाज ने स्त्री के लिए चरित्र का मानदण्ड घर के अन्दर बन्द रहना ही बना रखा है। शारीरिक दृष्टि से भी लड़कियाँ बालकों के समान कठिन कार्यों को करने के योग्य नहीं होतीं। तारुण्य प्राप्त करने पर भी उनके हाथ, पैर और शारीरिक आकृति बालकों की अपेक्षा अनुपाततः छोटे होते हैं किन्तु उनकी गर्दन अनुपाततः बालकों से लम्बी होती है।

जैसे-जैसे बालक-बालिकाओं की उम्र बढ़ती जाती है वैसे ही उनकी गतिवाही शक्तियों में भी अन्तर बढ़ता जाता है। बालिकाओं में इन गामक शक्तियों का विकास अपने चरम बिन्दु पर १४ वर्ष की उम्र में पहुँच जाता है जबकि बालकों में यह विकास १७ वर्ष की उम्र तक होता रहता है। बालिकाएँ बालकों से उन मिश्रित कार्यों में आगे निकल जाती हैं जिनमें मात्र शारीरिक शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। एम० मैकफॉर्लेन (M. McFarlane) ने अध्ययन करने के उपरान्त यह देखा कि बालक बालिकाओं से ऐसे संकार्यों (operations) में बहुत आगे निकल जाते हैं, जैसे—लकड़ी के टुकड़ों को इकट्ठा करना जिससे एक पहियेदार गाड़ी बनती हो। ठीक इसी के समान लड़कियाँ लड़कों से कपड़ों के टुकड़ों को एकत्र करने में बहुत आगे निकल जाती हैं, जिनसे मिलकर कोई वस्त्र बनता है और शारीरिक शक्ति की अधिक आवश्यकता नहीं होती।

व्यक्ति के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में संवेगात्मक प्रतिक्रिया[1]

यदि आप किसी नवजात शिशु का निरीक्षण करें—जो अभी कुछ दिन पूर्व जन्मा हो तो आप देखेंगे कि उस शिशु का व्यवहार एक विचित्र प्रकार का होगा—वह चीखता है, अपने पैरों को फेंकता है। उसका यह व्यवहार वस्तुतः संवेगात्मक ही है। किन्तु उसके इस व्यवहार में आपको विभिन्नता का अभाव मिलेगा। उस बालक में उन किन्हीं भी उद्दीपकों के प्रति प्रतिक्रिया नहीं होगी जिनसे कि बाल्यकाल अथवा बड़े होने पर होती है। उसकी प्रतिक्रिया एक "सामान्य उत्तेजना" (general excitement) के रूप में होगी; उसके भय, क्रोध, सुख-दुःख इस प्रकार के भावों में आप कोई अन्तर नहीं कर सकेंगे। शिशु की संवेगात्मक प्रतिक्रिया को सुख-दुःख आदि निश्चित संवेगों में वर्गीकृत करना अत्यन्त कठिन कार्य है। वास्तव में तरुणावस्था में भी प्रत्येक संवेग को अलग-अलग करना बड़ा दुस्तर हो जाता है; फिर भी बालक

1. Emotional reaction of an individual at the earlier stage of his development.

ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, उसकी अभिव्यक्तियाँ अधिक से अधिक स्पष्ट होती जाती हैं, अतः उनको मोटे तौर पर सरलता से वर्गीकृत किया जा सकता है।

शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास[1]—गुडनवो (Goodenbough) ने एक १० मास के बालक के चित्रों को लेकर बालकों के संवेगों का वर्गीकरण करना चाहा और इस निष्कर्ष पर आये कि कुशल परीक्षक अधिकतर केवल उन परिस्थितियों का अनुमान लगा सके जिनमें कि बालक के विविध चित्र खींचे गये थे। किन्तु जी० एस० व्रॉल महोदय ने एक प्रौढ़ को कई मुद्राओं व अंग अनेक चित्र उतारे तो परीक्षक लोग विभिन्न मुद्राओं और उनके प्रकारों को काफी हद तक सही-सही पहिचानने में सफल हुए। यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि प्रौढ़ व्यक्तियों की मुख-मुद्रा बहुत-कुछ रूढ़ियों एवं संस्कारों से प्रभावित होती है तथा विभिन्न व्यक्तियों की मुखमुद्रा विभिन्न प्रकार की होती है। कोई प्रौढ़ जो क्रोध से जल रहा हो, अपने मुख पर हल्की मुसकान भी ला सकता है और दूसरे वयस्क की क्रोधाभिव्यक्ति चेहरे की माँसपेशियों के बंकिम और विपर्यास से भी हो सकती है। फिर भी हम विभिन्न संवेगों को अलग-अलग पहिचान सकते हैं। किन्तु शिशुओं के संवेगात्मक व्यवहार में आपको कोई विभिन्नता नहीं मिलेगी, इसलिए आप शिशु की चेष्टाओं को पृथक्-पृथक् वर्गीकृत नहीं कर सकते।

बाल्यावस्था के प्रारम्भ में संवेगों का विकास[2]—बालक के जन्म के कुछ महीनों तक उसके चेहरे पर मानव चेहरे को देखने की प्रतिक्रियास्वरूप जो मुसकान दिखाई पड़ती है, कालान्तर में यही अभिव्यक्ति हँसी का रूप धारण कर लेती है। गेसेल (Gasell) ने बालकों पर बहुत से परीक्षण किये और उनका सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त वह इस निष्कर्ष पर आये कि चार सप्ताह के उपरान्त शिशु के भूख-रुदन, क्रोध-रुदन और कष्ट-रुदन को पहिचाना जा सकता है। शिशुओं के रोने का प्रकार प्रायः एक से दूसरे का सर्वथा भिन्न होता है। एक माँ अपने बालक के रुदन को तुरन्त पहिचान लेगी किन्तु बिना लक्षण पहिचाने बालक के रुदन को पहिचानना उसके लिए भी संभव नहीं। बालक के जीवन के प्रथम वर्ष में उसकी चीख और रुदन का सूक्ष्म अध्ययन करने से आप उसकी भय, प्रसन्नता और प्यार की अभिव्यक्ति को आसानी से पहिचान सकते हैं।

बालक की जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, उसके संवेगों की अभिव्यक्ति में भी विभिन्नता आती जाती है। इसके साथ-साथ उसके हाथ-पैर हिलाने की क्रिया में भी समन्वयन आता है। बालक की यह क्रिया वातावरण में व्यवस्थित होने की चेष्टा करती है जो फलस्वरूप, बाह्य प्रतिक्रिया को जन्म देती है। बालक का ज्यों ही बढ़ना प्रारम्भ होता है, वह वस्तु-विशेष या व्यक्ति-विशेष के प्रति अपना आक्रोश प्रकट करता

1. Emotional development in Infancy.
2. Development of emotions in early childhood.

है जबकि प्रारम्भिक अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति सामान्य थी, किसी विशेष के प्रति नहीं, जैसा कि अब होने लगा है।

बालक की उम्र में जैसे ही कुछ और वर्ष जुड़ते जाते हैं, उसकी प्रचण्ड प्रतिक्रिया उसकी संवेगात्मक अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्ट बना देती है। बालक जब एक वर्ष से कम उम्र का होता है तो क्रोध की अभिव्यक्ति अधिक प्रचण्डता से करता है। यदि दूध की बोतल उसके मुख से छीन ली जाती है तो उसके प्रति क्रोध दर्शाने के लिए उसका समस्त शरीर विद्रोह कर उठता है, वह पैर पटकता है, हाथ मारता है, चीखता है और प्रचण्ड रुदन के द्वारा सारे घर को सिर पर उठा लेता है। वही बालक ७ या ८ वर्ष की उम्र में बहुत कम उग्रता की साथ क्रोध की अभिव्यक्ति करता है। उसके रुदन और चीखने की मात्रा किसी चोट की प्रतिक्रियास्वरूप पहले की अपेक्षा कम हो जाती है तथा क्रोध आने पर वह पूर्व की तरह प्रचण्डता से नहीं चीखता।

सामाजिक भावना का विकास

सामाजिक भावना का विकास भी बालक की अभिवृद्धि से ही सम्बन्धित है। बालक जैसे-जैसे बढ़ता जाता है—वैसे ही उसके शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक और प्रवृत्त्यात्मक व्यवहार का विकास ही नहीं, वरन् सामाजिक व्यवहार का भी विकास होता जाता है। वह अधिकाधिक मानव-प्रिय और सामाजिक बनता जाता है।

बालक के मानसिक विकास का उसके सामाजिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालक के परिवार के सदस्यों के प्रति व्यवहार अथवा समाज के साथ उसके व्यवहार में हम उसकी बुद्धि के प्रथम लक्षणों को देखते हैं। वह एक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो उसके बुद्धि के लक्षणों की ओर संकेत करती है। भाषा व्यक्ति के भावों और विचारों को दूसरों तक पहुँचाने का साधन है। भाषा एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के अन्तर्गत रहने वाले प्राणियों में सामाजिक भावना का विकास होता है। अतः जब बालक में भाषा की योग्यता का विकास होता है, तभी उसमें सामाजिक योग्यता की भी अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार संवेगात्मक और सामाजिक विकास भी आपस में सम्बद्ध हैं। बालक की प्रायः सभी संवेगात्मक दशाओं का सामाजिक महत्त्व होता है, और बहुत-सी सामाजिक समस्याओं का मूल कारण—संवेगात्मक समस्याएँ ही होती हैं।

सामाजिक भावना की प्रौढ़ता के विभिन्न स्तर (Different Levels of Social Maturity)—सामाजिक भावना की प्रौढ़ता के विभिन्न स्तरों को अलग-अलग बताना अत्यन्त कठिन कार्य है। सामाजिक विकास के अलग-अलग कोई स्पष्ट स्तर नहीं हैं। कोई महान् मनोवैज्ञानिक भी सामाजिक भावना के विकास को स्पष्ट-स्पष्ट कर उन्हें किन्हीं निश्चित स्तरों में नहीं बाँट सकता कि अमुक उम्र से प्रथम स्तर प्रारम्भ होता है, अमुक उम्र से दूसरा स्तर प्रारम्भ होता है। ऐसी अकाट्य विभाजन-रेखा खींचना

अत्यन्त दुस्तर कार्य है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति के समाजीकरण के स्तरों को *उसके व्यवहार तथा उसकी उम्र और वर्ग के गतिवाही, संवेगात्मक* और मानसिक विकास एवं व्यवस्थापन की योग्यता के आपसी सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए समझा जा सकता है। *जैसे—यदि बालक की सामाजिकता की आयु उसकी* वास्तविक आयु के समान है तो उसी के अनुरूप हम उसकी सामाजिक भावना के सामान्य स्तरों को समझ सकते हैं।

सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में निम्नलिखित सामान्य प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—

(१) दूसरों के प्रति सचेतनता (Awareness of Others)—बालक जन्म के कुछ मास उपरान्त ही दूसरों के प्रति सचेतनता प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर देता है। जब कोई व्यक्ति उसके पास आता है तो वह मुसकराने लगता है। उसकी यह प्रवृत्ति दूसरों के अवधान को आकर्षित करने के लिए होती है। उसकी सामाजिक प्रतिक्रियाएँ विशेष रूप से प्रौढ़ व्यक्तियों के प्रति होती हैं।

(२) सामाजिक वर्गों में मेल-जोल (Mixing in Social Groups)—बालक जब छः मास का होता है तभी से वह दूसरे बालकों को भी पहिचानना सीख लेता है। किन्तु डेढ़ वर्ष की आयु तक वह अन्य बालकों के साथ सामूहिक खेलों में भाग नहीं लेता। २ वर्ष से ६ वर्ष की अवस्था तक बालक में दूसरों से मिलने, और उनके साथ खेलने की भावना का उत्तरोत्तर विकास होता है। वे साथ-साथ खेलने और साथ-साथ रहना अधिक पसन्द करते हैं।

फर्फे (Furfey) महोदय अपने निरीक्षण के आधार पर लिखते हैं कि अधिकतर बालक १० वर्ष की आयु में उस अवस्था को पहुँच जाते हैं जबकि उनमें सामूहिक चेतना का विकास हो जाता है। किन्तु कुछ बालक ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें इस उम्र में भी सामुदायिक रुचि इतनी विकसित न हुई हो और उनका व्यवहार अब भी व्यक्तिपरक हो, वे समाज के सामूहिक कार्यों की अपेक्षा अपने वैयक्तिक कार्यों में ही अधिक रुचि लेते हों।

लगभग १० वर्ष की उम्र से बालक प्रतियोगी खेलों में अधिक भाग लेना प्रारम्भ कर देता है। वह जिस दल (team) का सदस्य होता है, उसके प्रति महान् निष्ठा प्रकट करता है। वह अपने वैयक्तिक कार्यों के प्रति अधिक परवाह नहीं करता। वस्तुतः उसकी सम्पूर्ण रुचि दल के कार्यों के प्रति केन्द्रीभूत हो जाती है। उसका खिलाड़ी दल खेल में विजयी हो, यही उसकी सबसे बड़ी कामना होती है और उस समय यही उसका सबसे बड़ा ध्येय होता है।

(३) बालक और बालिकाओं के सम्बन्धों में परिवर्तन (Change in Relationship between Boys & Girls)—बाल्यावस्था के प्रारम्भ में बालक [illegible] समान रूप से दल में सक्रिय भाग लेते हैं। किन्तु बाद की कुछ

सामाजिक बन्धनों के कारण और कुछ स्वयं नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण बालक और बालिकाएँ अपनी ही जाति के साथ अधिक रुचि दिखाते हैं। बालक बालकों के साथ घर के बाहर खेलना पसन्द करता है, बालिका बालिकाओं के साथ घर के भीतर गुड़िया खेलना पसन्द करती है। तरुणावस्था तक बालक-बालिकाएँ अपने ही लिंग के सामूहिक कार्यों के प्रति रुचि प्रदर्शित करते और उनमें सक्रिय भाग लेते हैं।

तरुणावस्था में आकर बालक पुनः विषम-लिंगी के प्रति आकर्षित होता और उनमें रुचि लेता है। बालक बालिका का, और बालिका बालक का साथ चाहती है; इस प्रकार मिश्रित दलों का निर्माण हो जाता है। किन्तु यह भी ध्यान देने की बात है कि हमारे देश में अपनी भिन्न सांस्कृतिक चेतना के कारण बालक और बालिकाओं का स्वतन्त्र मिलना-जुलना सम्भव नहीं, अतः तरुणावस्था में भी जब व्यक्ति विषम-लिंगी का साहचर्य चाहता है, उसके दल का निर्माण केवल स्वलिंगीय सदस्य से ही होता है। किन्तु उनकी रुचि विषमलिंगी के प्रति किंचित् भी कम नहीं होती वरन् उनमें एक-दूसरे के प्रति जिज्ञासा और अधिक बढ़ जाती है।

बालक की सामाजिक भावना के विकास में माता का प्रभाव
(Influence of Mother in the Development of Social Feelings)

माता और बालकों के सम्बन्धों में मनोवैज्ञानिकों की सदैव से रुचि रही है। हाल में ही कुछ निरीक्षण-वेत्ताओं ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि एक विशिष्ट; प्रकार की घनिष्ठ अन्तःक्रिया माता तथा बालक के बीच बालक के वांछित विकास के लिये आवश्यक है। यह निष्कर्ष बालक के ऐसे अध्ययनों द्वारा निकाला गया, जिनमें बालक को माता से अलग रखकर पाला गया।

स्पिट्ज (Spitz) ने देखा कि वह बालक जिनको माता या माता की प्रतीक किसी स्त्री से अलग रखा गया, तब वह बड़ी देर तक रोते रहे और बहुत बेचैन रहे। इन बालकों की सब शारीरिक आवश्यकतायें पूरी की जाती थीं फिर भी वह रोते थे और कुछ समय पश्चात् खामोश होकर पड़ जाते थे जिसे स्पिट्ज महोदय ग़म का प्रतीक बताते हैं। यदि बालकों को माता से अधिक समय तक अलग रखा जाता था तो वह अजीब शारीरिक हरकतें करने लगते थे। उनका शारीरिक और मनोवैज्ञानिक विकास रुक जाता था। भाषा का विकास भी बहुत पिछड़ जाता था।

स्पिट्ज महोदय का विश्वास है कि प्रत्येक बालक का एक विशेष समय (critical period) होता है। इस समय माता द्वारा उत्तेजना सामान्य विकास के लिए आवश्यक है।

स्पिट्ज के विचारों की बहुत आलोचना भी की गई है। किन्तु यदि यह विचार सही है तो स्पष्ट है कि सामाजिक विकास में माता के प्रेम की मूल-प्रवृत्ति बहुत महत्वपूर्ण है। विचारों की आलोचना प्रयोग की दशाओं पर पूर्ण नियन्त्रण न रख पाने के कारण की जाती है। यदि दशाओं पर ठीक से नियन्त्रण रखकर बालकों

के साथ प्रयोग दोहराये जायें तो आशा है कि इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलेगी।

बालक का मानसिक विकास

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि बालक के मानसिक विकास के विभिन्न स्तरों को रेखीय क्रम में विभाजित नहीं किया जा सकता फिर भी कुछ ऐसी विशिष्ट विकास की दिशाएँ और व्यवहार की विशिष्ट सारणियाँ होती हैं जो एक स्तर पर दिखाई नहीं देतीं और दूसरे स्तर अथवा उच्च स्तर पर दृष्टिगोचर होती हैं।

बालक के जीवन के प्रथम मास में इन्द्रियाँ ज्ञान का विकास प्रारम्भ होता है और वह ज्ञानेन्द्रिय अवयवों के उपयोग को सीखता है। आयु के प्रथम दो वर्षों में वह इन्द्रियों की सहायता से समन्वेषण की दृष्टि को प्राप्त करता है।

बालक प्रथम दो वर्षों में धीरे-धीरे भाषा का प्रयोग करना भी सीख लेता है। सबसे पहले बालक मौखिक प्रतीकों और ध्वनि-संकेतों का प्रयोग करना सीखता है जो विशिष्ट वाक्य अथवा भावना के प्रतीक स्वरूप होते हैं। यह अस्पष्ट, तोतली, सूत्रात्मक एवं प्रतीकात्मक भाषा होती है। फिर बालक धीरे-धीरे शब्दों को स्पष्ट रूप से बोलना सीखता है। दो से तीन वर्ष की अवस्था तक वह छोटे-छोटे वाक्यों को बोलना सीखता है। ये प्रायः वे ही वाक्य होते हैं जो उसके परिवार के बड़े सदस्य बोलते हैं। बालक उनका अनुकरण कर उन्हें मात्र दोहराता है।

तीसरे वर्ष के प्रारम्भ में बालक अपने आस-पास की वस्तुओं में अधिक रुचि लेना आरम्भ कर देता है। वह बड़ा जिज्ञासु बन जाता है और ऐसे प्रश्न करता है—यह किसने किया ?, यह क्या है ?, यह यहाँ क्यों रखा है ? बालकों द्वारा सर्वाधिक प्रयोग में लाया जाने वाला "यह क्या है ?" होता है।

इसी प्रकार ५ वर्ष से १२ वर्ष तक और १३ वर्ष से १८ वर्ष तक बालकों में विभिन्न प्रकार के विकास और रुचियाँ देखी जाती हैं; जैसे—५ और १२ वर्ष की उम्र [illegible] बीच में बालक दूसरे का रूप धारण करना, बड़े लोगों की तरह व्यवहार करना आदि खेलों में अधिक दिलचस्पी लेता है। वह एक सिपाही का स्वांग रचता है। कभी वह डॉक्टर बनता है, कभी नर्स और कभी राजा का अभिनय करता है। इस प्रकार के अनुकरणात्मक खेलों में उसकी अभिरुचि अधिक होती है, उसका मन उन्हीं में रमता है। किन्तु किशोरावस्था में वह रोमानी खेलों में दिलचस्पी लेता और ऐसे खेलों में जिनमें कि वह अपनी आत्माभिव्यक्ति कर सके, अपना आत्म-प्रदर्शन कर मन को तुष्टि दे सके।

जन्म के समय बालक में स्मृति-शक्ति बहुत थोड़ी होती है, जिसकी वृद्धि उत्तरोत्तर उसके विकास और अनुभव के आधार पर होती है। व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण घटनाओं की स्मृति सदैव बनी रहती है। दुःखद घटनाओं को व्यक्ति शीघ्र भूल जाता है। यह भी प्रकृति की देन है, अन्यथा उसका जीवन ही दूभर हो जाय।

जन्म के समय बालक केवल 'चीख' सकता है, यही केवल ध्वनि या ध्वनि-संकेत है, जिसे वह प्रकट कर सकता है। शनैः-शनैः बालक दूसरी अन्य ध्वनियों को भी उत्पन्न करना सीखता है और फिर दो-चार सरलतम शब्दों को बोलना सीख लेता है। उसके शब्द-भण्डार में वृद्धि होती है और ऐसे शब्दों का प्रयोग करना सीखता है, जिनके अनेक अर्थ होते हैं।

द्विभाषीय वातावरण में बालक को प्रारम्भ में सीखने में कठिनाई होती है। उसके सीखने की गति धीमी होती है किन्तु यह वातावरण आगे चलकर बालक के भाषा-विकास में बाधा उत्पन्न नहीं करता और बालक दोनों भाषाओं को सरलता-पूर्वक सीख लेता है। प्रारम्भ में बालकों की तर्क-शक्ति अपरिपक्व और असंगत होती है। वे सही और गलत के बारे में प्रथम दृष्टि अपने अभिभावकों से ही प्राप्त करते हैं। एक अध्यापक बालक के मानसिक विकास की सम्यक् जानकारी से परम लाभान्वित हो सकता है। वह बालक के मानसिक स्तर और उसकी परिपक्वता के अनुसार बालक के लिए पाठ्य-विषय और पुस्तकों का चुनाव करेगा जिससे वह उनको पढ़ने और सीखने में रुचि प्रदर्शित करे और अपना समुचित विकास करे।

सारांश

अभिवृद्धि तथा परिपक्वता—दोनों शब्द प्रायः पर्यायवाची समझे जाते हैं, परन्तु मनोवैज्ञानिक दोनों शब्दों में भेद करते हैं। उनके 'अनुसार' अभिवृद्धि शब्द का प्रयोग बढ़ने या आधिक्य के रूप किया जाता है। 'परिपक्वन' से वह प्रक्रिया को समझते हैं, जिससे हम शारीरिक और मानसिक विकास की अन्तिम सीमा तक पहुँचते हैं।

विकास की मुख्य अवस्थाएँ हैं—(१) भ्रूण अवस्था, (२) जन्म, (३) शैशव, (४) बाल्यकाल, (५) कैशोर्य, (६) प्रौढ़ावस्था, (७) वृद्धावस्था, और अन्तिम (८) मृत्यु।

बालक के शारीरिक एवं गामक विकास—बालक की उम्र के साथ-साथ लम्बाई और भार बढ़ता है किन्तु यह भार और लम्बाई सभी बालकों में समान रूप से नहीं बढ़ती वरन् अभिवृद्धि की मात्रा में भिन्नता होती है। आयु के बढ़ने के साथ-साथ मस्तिष्क और सम्पूर्ण नाड़ीमण्डल प्रौढ़ता को प्राप्त होता है।

बालक के गामक विकास से तात्पर्य—बालक को शक्ति और माँसपेशियों के विकास से तथा हाथ-पैरों के समुचित प्रयोग की क्षमता आ जाने से है। गामक-विकास बाल्यावस्था में तीव्रगति से होता है। गामक कौशल का विकास बालक में सामान्य से विशिष्ट की ओर होता है। पहले बालक सामान्य और साधारण कार्यों को करना सीखता है, फिर विशिष्ट कार्यों को।

बालक का संवेगात्मक विकास—शैशवकाल में बालक के संवेग मिल-जुल कर समग्र रूप में सामने आते हैं, उनका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। वह अपनी हँसी, खुशी, नाराजगी केवल एक 'चीखने' के संकेत से ही प्रकट करता है। किन्तु

ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है, संवेगों का विविध प्रकार भी स्पष्ट होता जात है और उनकी अभिव्यक्तियों में अन्तर आता जाता है। बालक की आयु जैसे-जै बढ़ती जाती है, वह संवेग की सीधी-सादी, सरल और स्पष्ट अभिव्यक्ति को अधिक अस्पष्ट और छद्म अथवा जटिल रूप में प्रकट करता है।

बालक का सामाजिक विकास—बालक का सामाजिक व्यवहार का विकास उसके अन्य प्रकार के व्यवहारों के विकास से घने रूप से सम्बन्धित है। बालक के व्यक्तिगत विकास के कुछ स्तरों द्वारा ही उसका सामाजिक विकास पूर्णता को प्राप्त होता है किन्तु ये स्तर स्पष्ट रूप से प्रथम नहीं दिखाई पड़ते क्योंकि विकास काल की ऐसी कोई निश्चित सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती कि यहां से अमुक विकास प्रारम्भ होता है और यहां से अमुक स्तर का विकास आरम्भ होता है। किन्तु फिर भी उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है : (१) दूसरों के प्रति सचेतनता—यह बालक के जन्म के कुछ माह उपरान्त ही बालक में आ जाती है। (२) सामाजिक वर्गों से मेल-जोल की भावना—यह २ वर्ष से ६ वर्ष की आयु तक स्पष्ट देखी जा सकती है। १० वर्ष की अवस्था पर बालक में दल-भावना का विकास होता है; और (३) बालक और बालिकाओं के आपसी सम्बन्ध में परिवर्तन—तरुणाई से पहले प्रायः सामाजिक वर्गों का निर्माण अपने ही लिंग के व्यक्तियों द्वारा होता है। किन्तु तरुणाई आ जाने पर बालक बालिका के साथ और बालिका बालक के साथ मिल-जुलकर कार्य करना या आपस में मिलना पसन्द करते हैं।

बालक का मानसिक विकास—शैशवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक बालक की उम्र के विकास के साथ-साथ उसका मानसिक विकास भी निम्नलिखित आधार पर होता है—(१) उसकी रुचियों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, (२) उसमें काल-चेतना जागृत होती है, (३) उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार प्रौढ़ हो जाता है तथा भाषा-विकास होता है, (४) वह सुदूर भविष्य में प्राप्त होने वाले उद्देश्यों की योजना बनाता है। परन्तु बालक के अन्दर मानसिक प्रौढ़ता धीरे-धीरे आती है। ऐसा कोई समय नहीं होता जबकि उसमें किसी-न-किसी प्रकार का मानसिक विकास न हो रहा हो। प्रत्येक व्यक्ति में उसके विकास की सभी अवस्थाओं में परिपक्वता की प्रक्रिया चलती ही रहती है।

अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. बालक की वृद्धि, विकास एवं परिपक्वता से आप क्या समझते हैं ? परिपक्वता बिना सीखना सम्भव नहीं है, इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।
२. एक शिशु का शारीरिक तथा गामक विकास किस प्रकार होता है ? आप शिशु को 'चलना' सीखने में किस प्रकार सहायता प्रदान कर सकते हैं ?
३. संवेगात्मक विकास जो एक व्यक्ति के विकास के विभिन्न स्तर पर होता है, उसका वर्णन कीजिए तथा स्पष्ट कीजिए कि एक छोटे बालक के संवेग एक प्रौढ़ से किस प्रकार विभिन्न होते हैं ?

४. प्रत्येक बालक में सामाजिक विकास होता है। यह विकास किस क्रम से होता है, इस सम्बन्ध में विवेचना कीजिए ?
५. मानसिक परिपक्वता किस आयु में आती है ? एक शिशु और किशोर की मानसिक वृद्धि में क्या अन्तर होता है, स्पष्ट कीजिए ?
६. एक मानव की विभिन्न विकास की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए और उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. गैसेल, ए० एल० और एल्स, एफ० एल० : दि चाइल्ड फ्रॉम फाइव टू टेन, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९४६।
२. पूलस पर्थ, एफ० के० : दि फिजिकल एण्ड मेण्टल ग्रोथ ऑफ गर्ल्स एण्ड बाइज ऐज सिक्स टू माइण्टीन; इन रिलेशन टू ऐज ऐंड मैक्जिमम ग्रोथ; नेशनल रिसर्च काउन्सिल, वाशिंगटन, १९३६।
३. हरलॉक, ई० बी० : चाइल्ड डेवलपमेण्ट, मैक-ग्रो हिल, बुक कम्पनी, न्यूयार्क, १९४७।
४. बर्नहारट, के०एल० : प्रेक्टीकल सायकॉलॉजी, मैक-ग्रो, न्यूयार्क, १९५३।
५. भाटिया, हंसराज : सामान्य मनोविज्ञान, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०।
६. पीयगुसास, जे० और युजेन, जे० एल० : सायकॉलॉजी ऑफ ह्यूमन डेवलपमेण्ट, मैक-ग्रो, न्यूयार्क, १९६१।
७. गैरेट, एस० ई० : मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद), एलाइड पब्लिशर्स, बम्बई, १९५९।

७

अनुप्रेरणा[1]

मनोविज्ञान में अनुप्रेरणा का बहुत महत्त्व है। मानव-व्यवहार की व्याख्या करना बिना अनुप्रेरणा के समझे संभव नहीं। एक व्यक्ति किसी भी समय जो विशिष्ट व्यवहार अपनाता है, यदि हम उसका कारण ढूँढ़ना चाहें तो हमें यह जानना आवश्यक हो जायगा कि किस अनुप्रेरणा के वशीभूत होकर उसने वह व्यवहार अपनाया है। उदाहरण के लिए, हम एक छोटे बालक को रोता हुआ देखते हैं। उसकी माता उसे दूध पिला देती है और वह रोना बन्द कर देता है, तो हम बालक के इस प्रकार के व्यवहार का कारण उसकी भूख ही मानेंगे। बालक भूखा था इसलिए रोता था। भूख मिट गयी तो उसका रोना भी बन्द हो गया। यहाँ भूख ही उसके व्यवहार की अनुप्रेरणा थी। इस प्रकार आप एक व्यक्ति को बहुत ध्यानपूर्वक अखबार में किसी खेल का विवरण पढ़ते हुए देखते हैं जबकि दूसरे व्यक्ति का ध्यान उसी अखबार में सिनेमा के विज्ञापनों की ओर लगा हुआ पाते हैं। यदि आप यह जानना चाहें कि ये दोनों व्यक्ति एक ही समय में एक ही चीज के सम्बन्ध में विभिन्न व्यवहार क्यों व्यक्त करते हैं तो पता चलेगा कि दोनों व्यक्तियों को जो प्रेरणाएँ मिली हैं, वे भिन्न-भिन्न हैं। खेल के वर्णन को पढ़ने वाले की रुचि, जो एक शक्तिशाली अनुप्रेरक (motive) है, खेल की ओर जाग्रत हो सकती है और सिनेमा के विज्ञापनों को देखने वाले की रुचि सिनेमा की ओर बढ़ी हुई हो सकती है, अथवा रुचि के अतिरिक्त कोई और अनुप्रेरक हो सकते हैं जो दोनों व्यक्तियों के व्यवहार में भिन्नता ला देते हैं; जैसे—एक व्यक्ति कोई

1. *Motivation.*

निकट सम्बन्धी खेल प्रतियोगिता में भाग ले रहा हो और दूसरे को शाम को सिनेमा देखने जाना हो। अब तक हमने 'अनुप्रेरणा' एवं 'अनुप्रेरक' शब्दों का प्रयोग बिना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के ही किया है। अब हम यह देखेंगे कि अनुप्रेरक से वास्तव में हमारा अभिप्राय क्या है? हम इन शब्दों की व्याख्या करके अनुप्रेरकों के प्रकार पर भी ध्यान देंगे, परन्तु इससे पहले कि हम अब अनुप्रेरणा के सम्बन्ध में कुछ कहें—जो व्यक्ति को एक विशेष प्रकार की क्रिया या व्यवहार करने को बाध्य करती है—हम प्राणी की उत्तेजनाओं और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में कुछ विचार करना आवश्यक समझते हैं।

उत्तेजक प्रतिक्रिया (Stimulus Response)

५वें और ६ठवें अध्याय में हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि बालक के विकास में पर्यावरण और वंशानुक्रम—दोनों का बहुत महत्व है। हमने वहाँ इस बात पर भी बल दिया है कि जन्म के पश्चात् बालक के पर्यावरण में जो तत्व होते हैं वे उसे उत्तेजनाएँ प्रदान करते हैं, जिनके फलस्वरूप वह प्रतिक्रिया करता है। ये ही प्रतिक्रियाएँ उसके विकास में सहायक होती हैं और इन्हीं के आधार पर उसका सीखना आरम्भ होता है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राणी को उत्तेजक आन्तरिक (internal) रूप से भी मिलते हैं, जिसके फलस्वरूप वह प्रतिक्रिया करता है।

एक प्राणी वातावरण में अपने को व्यवस्थित (adjust) करने के लिए प्रतिक्रिया करता है। इस प्रकार उत्तेजक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही वह अपने को वातावरण में व्यवस्थित करने में सफल होता है। एक प्राणी का व्यवहार उ–प्र (S–R) के प्रकार से होता है। उ से तात्पर्य है उद्दीपक (stimulus) और प्र से तात्पर्य है प्रतिक्रिया (response)। प्राणी को उद्दीपक मिलता है और वह उद्दीपक ही उसमें प्रतिक्रिया को जन्म देता है तथा इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह व्यवस्थित होने के लिए तैयार हो जाता है। उ–प्र (S–R) सूत्र में हमने प्राणी को कोई महत्व नहीं दिया है, इस कारण, अच्छा सूत्र "उ–जी–प्र" (S–O–R) समझा जाता है। जी से यहाँ तात्पर्य है जीव (organism) से। मानव के व्यवहार को व्यक्त करने के लिए हम इसी सूत्र का सहारा लेते हैं। यह सम्भव माना जाता है कि मानव-जीवन की सब क्रियाओं की व्याख्या इस साधारण सूत्र की सहायता से की जा सकती है। इस सूत्र से तात्पर्य यही है कि उत्तेजनाओं के मिलने से जो प्रतिक्रिया होती है वह प्राणी की ओर बिना कोई ध्यान दिये हुए सुनिश्चित रूप से ही सम्पन्न हो जाय। उदाहरण के लिए, जब आप बहुत देर से लिख रहे हैं और सहसा आपके पेन में स्याही समाप्त हो जाती है तो एक समय तो यह हो सकता है जबकि आप पास रखी हुई दवात से स्याही भर लें, परन्तु दूसरे समय यह भी हो सकता है कि आप काम करने से उठ जायें तथा कुछ और करने लगें। विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया एक ही समान

उद्दीपक के प्रति व्यक्त होने के कारण, जीव या प्राणी पर ही निर्भर है। इ
उ-ओ-प्र (S-O-R) सूत्र हमें अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कुछ मनोवैज्ञानि
सूत्र में प (E) और जोड़ देते हैं। अब सूत्र हो जाता है : प-उ-ओ-प्र (E-S-O-
प (E) का तात्पर्य यहाँ वातावरण (environment) से है। क्योंकि उत्ते
या उद्दीपक पर्यावरण से ही प्राप्त हुए समझे जाते हैं और पर्यावरण में ही प्राण
व्यवस्थित करना होता है, इस कारण 'प' (E) तत्त्व और जोड़ दिया जाता है।

प्रस्तुत अध्याय में हमारा प्रयोजन इन सूत्रों की व्याख्या करना न
वरन् यह जानना है कि एक प्राणी वैसी प्रतिक्रिया क्यों करता है जैसी कि वह
हुए पाया जाता है? उसका व्यवहार एक समय में जो रूप लिए होता है, क्यों
उन्हीं उद्दीपकों के मिलने पर दूसरे समय में वैसा नहीं रहता? स्याही समाप्त
पर कभी पेन में स्याही भर लेता है और कभी कार्य को उठा कर रख देता है।
क्यों करता है? इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही हमें अनुप्रेरणा का अध्
करना होगा क्योंकि 'अनुप्रेरणा' की शक्ति (force of motivation) ही
व्यवहारों में विभिन्न मोड़ लाती है।

अनुप्रेरणा तथा अनुप्रेरक (Motivation and Motives)

हमें जीवन भर अनेक प्रकार के अनुप्रेरक मिलते हैं जो हमारे व्यवहार
बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं। हमारे और पशुओं के आचरण में जो अन्तर होता
उसका कारण बहुत-कुछ हमारी यह क्षमता है कि जो अनुप्रेरक हमें मिलते हैं, हम
पर नियन्त्रण रख सकते हैं, परन्तु एक पशु का व्यवहार पूर्ण रूप से उसके अनुप्रे
द्वारा ही नियन्त्रित होता है। पशुओं में विभिन्न अनुप्रेरक भी मिलते हैं और उ
आत्म-नियन्त्रण सीख लेने की क्षमता भी होती है। मानव और पशुओं के व्यव
में भिन्नता लाने वाले मुख्य प्रेरक एवं नियन्त्रण हमारे सामाजिक अनुप्रेरक, आदर्श
माता-पिता इत्यादि से प्राप्त होते हैं, तथा आकांक्षाएँ एवं रुचियाँ हैं।

अनुप्रेरकों से हमारा क्या तात्पर्य है (What do We mean by Motives)?

अनुप्रेरक हमारे शरीर में वह 'शारीरिक और मनोविज्ञानिक' अवस्था है
विभिन्न रूप से कार्य करती है। अनुप्रेरक कई प्रकार के हो सकते हैं और उन्हें
विभिन्न शब्दों द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे—आवश्यकता, इच्छा, तनाव, निर्ध
प्रवृत्तियाँ, व्यवहार, रुचि, संधान रखने वाले उत्तेजक आदि। मैककोंच ने अनुप्रेर
की व्याख्या इस प्रकार की है—"व्यक्ति की कोई दशा जो उसे किसी दिये हुए लक्ष्य
की ओर अभ्यास करने का संकेत देती है और जो उसकी क्रियाओं की पर्याप्तता और
लक्ष्य की प्राप्ति पर प्रकाश डालती है, 'अनुप्रेरक' कहलाती है।"[1]

इस विचारानुसार अनुप्रेरक किसी भी प्रकार उत्तेजक नहीं कहे जा सकते,

---

1. J. A. McCouch : *The Psychology of Human Learning*, p. 27.

किन्तु उत्तेजक वास्तव मे वे लक्ष्य अथवा वह उत्तजनाएं हैं जो अपनाये जाने पर सम्भावित रूप में प्रेरक दशाओं को सन्तुष्ट कर सकती हैं।

अनुप्रेरणा के प्रकार

मानव को दिये जाने वाले अनुप्रेरक इतने अधिक हैं कि उनकी सूची बनाना कठिन है किन्तु विस्तृत आधार पर हम उन्हें दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं: (१) वह अनुप्रेरक जो शारीरिक अथवा आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण होते हैं (Bio-genic Motives); (२) वह अनुप्रेरक जो सामाजिक आवश्यकताओं के कारण होते हैं (Socio-genic Motives)। जिन अनुप्रेरकों की उत्पत्ति शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है उन्हें शरीर जनित अनुप्रेरक (Bio-genic Motives) कहते हैं। जिन प्रेरकों की उत्पत्ति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होती है, उन्हें समाज जनित अनुप्रेरक (Socio-genic Motives) कहते हैं।

१-शरीर जनित अनुप्रेरक (Bio-genic Motives)

व्यक्तियों के अन्दर आन्तरिक प्रवृत्तियां—आवश्यकताएँ, रुचि तथा भूख आदि—होती हैं। ये ही जन्मजात अनुप्रेरणाएं होती हैं। मानव अपने जन्म के समय बहुत कम ही बना हुआ तैयार व्यवहार लेकर उत्पन्न होता है। जिसमे कुछ मूल प्रवृत्तियां होती हैं या बिना सीखी हुई क्रियाएँ होती हैं। सीखने की क्रिया के द्वारा यह मानवीय क्रियाएँ बदल जाती हैं और उनमें परिवर्तन हो जाता है। किन्तु इस प्रकार सीखने का कोई आन्तरिक या शारीरिक कारण होता है। यह शारीरिक अथवा आन्तरिक अनुप्रेरणा ही होती है—जो उसे व्यवहार को सीखने की ओर खींचती है।

व्यक्ति के अन्दर खाने-पीने, आराम करने, सोने, परिवर्तन या काम की अभिलाषा होती है। मानव जीवन का अधिकांश भाग इन्ही अभिलाषाओं की अनुप्रेरणा के ऊपर व्यय किया जाता है अथवा इन्ही के द्वारा प्रेरित होता है। हमारी प्रसन्नता, सन्तोष और मानसिक स्वास्थ्य का आधार मुख्य रूप से हमारी सुरक्षा की भावनाओं पर है जो हमारी प्रारम्भिक शारीरिक आवश्यकताओं के रूप मे हों। जब कभी व्यक्ति की सुरक्षा पर आपत्ति आती है तो व्यक्ति को कई रूपों मे प्रेरणा मिलती है। वह कठोर परिश्रम कर सकता है, विचारों में पूर्णता ला सकता है। वह दूसरों के ऊपर दोषारोपण कर सकता है। इन कई बातों मे से एक को अपना सकता है और यह उसके अनुभव या शिक्षा पर निर्भर होता है।

अब हम कुछ मुख्य आन्तरिक अनुप्रेरकों पर जो शारीरिक आवश्यकताओं के रूप मे होते हैं, प्रकाश डालेंगे।

शारीरिक आवश्यकताएं (Organic Needs or Appetites)

मनुष्य की रचना कुछ इस प्रकार है कि उसे अपने को जीवित रखने के लिए कुछ वस्तुओं की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। जैसा हमने ऊपर देखा है, उसका

निर्माण कुछ इस ढंग से हुआ है कि ये आवश्यकताएँ उसके अन्दर जब अनुभव की जाती हैं तो वह कुछ क्रियाएँ करने को बाध्य हो जाता है जो उसकी आवश्यकता की पूर्ति करने में सफल हो जाती हैं। उसे अपने को जीवित रखने के लिए साँस लेने, खाना खाने, पानी पीने, मल-मूत्र त्यागने, आराम, निद्रा एवं कामेच्छा की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। ये सब आवश्यकताएँ क्रियाओं को जन्म देती हैं, और उनको उस समय तक जारी रखती हैं तथा उन पर नियन्त्रण रखती हैं जब तक कि आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो जाती। हम इन आवश्यकताओं को 'भूख' (appetites) के नाम से पुकार सकते हैं।

भूख की यह विशेषता है कि वह व्यक्ति को सक्रिय बना देती है। एक भूखा व्यक्ति बेचैन रहता है और वह उस बेचैनी को तभी दूर कर सकता है, जब उसकी भूख दूर जाय। दूसरे, भूख न केवल प्राणी को सक्रिय बनाती है—वरन् उसको भूख मिटाने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की क्रिया का बोध कराती है, जिस क्रिया के करने से आम तौर से व्यक्ति की भूख मिट जाती है। तीसरे, भूख अपने कार्य में तालमय (rhythmical) स्वयं है। इससे तात्पर्य यह है कि वह जब सन्तुष्ट हो जाती है तो कुछ काल तक सुप्त हो जाती है और फिर जब शारीरिक आवश्यकता जोर पकड़ती है तब फिर सक्रिय हो जाती है। जब तक भूख नहीं मिटती, व्यक्ति में तनाव रहता है और जितना उसकी भूख की सन्तुष्टि में विलम्ब होता जाता है, उसके तनाव में वृद्धि होती जाती है और वह कुछ उन क्रियाओं को करने को बाध्य हो जाता है जो उसकी भूख को मिटा दें।

यदि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति तुरन्त नहीं होती तो उसमें जो तनाव उत्पन्न होता है उसके कारण व्यक्ति का शारीरिक सन्तुलन भंग हो जाता है। हमारे शरीर की रचना ऐसी है कि—हम अपना शरीर-सन्तुलन अपनी क्रियाओं द्वारा ही बनाये रहते हैं। जब भी हमारे शरीर का सन्तुलन भंग हो जाता है, तुरन्त हम उस सन्तुलन को पुनर्स्थापित करने को प्रवृत्त हो जाते हैं। शारीरिक सन्तुलन को इस प्रकार बनाये रखने की व्याख्या एक धारणा द्वारा जिसे 'समस्थि' (homeostasis) कहते हैं, की जाती है। यह धारणा इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है कि एक प्राणी में जो प्रभाव उसे असन्तुलित करने वाले होते हैं, वे स्वयं ही ऐसी क्रियाओं का प्रादुर्भाव कर देते हैं जिससे वह असन्तुलन दूर हो जाता है। यही कारण है कि हमारे शरीर के तापमान को बढ़ने न देने के लिए तुरन्त पसीना आने लगता है, इसी प्रकार रक्तचाप नियन्त्रण में रखा जाता है।

अब हम यहाँ कुछ ऐसे प्रेरकों का वर्णन करेंगे जो मानवीय समायोजन में महत्वपूर्ण हैं। यथा—

भूख (The Appetite of Hunger)

खाने की आवश्यकता तो इतनी स्पष्ट है कि इसके सम्बन्ध में कुछ अधिक

कहना व्यर्थ होगा। जिस समय हमारे आमाशय में खालीपन का अनुभव होने लगता है, हमें भूख लगती है।

भूख की अवस्था में दो प्रकार से परिवर्तन होते हैं—(१) बाह्य व्यवहारों में परिवर्तन; और (२) शरीर की दशा में परिवर्तन।

बाह्य परिवर्तनों के सम्बन्ध में हम टॉलमैन (Tolman), हॉन्जिक (Honzik) एवं रॉबिन्सन (Robinson) महोदयों के चूहों पर प्रयोग का वर्णन कर सकते हैं। इन प्रयोगों द्वारा यह पता चला कि चूहे जब भूख की अवस्था में होते हैं तो जो कार्य उन्हें करने को दिया जाता है, उसमें गलतियाँ कम होती हैं। यह देखा गया कि भूख की अवस्था में प्राणी की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। प्राणी खाना मिलने के कुछ समय बाद तक भी क्रियाशील रहता है, परन्तु कुछ और समय बाद उसमें शिथिलता आ जाती है।

शारीरिक दशाओं में भूख के समय के परिवर्तनों को जानने के लिए भी कुछ प्रयोग किये गये हैं। एक प्रयोग में उस व्यक्ति को, जिस पर प्रयोग किया जाता था, एक गुब्बारा, जो रबड़ की नली से लगा हुआ होता है, निगलने को दिया गया। फिर इस नली द्वारा उस गुब्बारे को धीरे-धीरे फुलाया गया—जिसमें वह सारे पेट में फैल जाये। रबड़ की नली को कीमोग्राफ[1] से जोड़ दिया गया। इस तरह करने से आमाशय का प्रत्येक चिह्न यन्त्र के खोल पर रेखाओं के रूप में अंकित हो गया। इसके अतिरिक्त व्यक्ति से यह भी कहा गया कि जब भी वह भूख की पीड़ा को अनुभव करे, एक कुंजी को दबा दे। इसे दबाने से दूसरी पिन की सहायता से आमाशय की क्रिया के लेखा-चित्र के नीचे चिह्न लग गये। इस प्रयोग से यह स्पष्ट रूप से पता चल गया कि पेट में जो सिकुड़न होती है, वह भूख की टीस के साथ-साथ चलती है। जैसे-जैसे खाना खाने के पश्चात् अधिक समय व्यतीत होता जाता है, आमाशय की सिकुड़न और भूख की टीस की संख्या और तीव्रता बढ़ती जाती है।

परन्तु पेट की सिकुड़न ही केवल भूख की संवेदना का प्रतीक हो, ऐसा नहीं है। कुछ लोगों को भूख के समय पेट की सिकुड़न का कोई अनुभव नहीं होता। कुछ चूहों के आमाशय को हटाकर प्रयोग करने पर भी यह देखा गया कि उनमें बेचैनी बढ़ जाती है, जब उनको भूख लगती है। इस कारण हम यह नहीं कह सकते हैं कि भूख केवल पेट की सिकुड़न है।

कुछ शरीर विज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार भूख की पीड़ा और आमाशय का सिकुड़ना, रक्त की रासायनिक दशा पर निर्भर है। जब रक्त में चीनी की मात्रा की कमी हो जाती है तो उसके कारण पेट की माँसपेशियों में सिकुड़न होती है। परन्तु

---

1. यह एक यन्त्र होता है, जिसकी काली सतह पर विशेष प्रकार की पिनों द्वारा लेखाचित्र बन जाता है। ये पिनें नली से जोड़ दी गयीं और जैसे-जैसे गुब्बारे में सिकुड़न या फैलाव हुआ, उसको रेखाओं के रूप में अंकित करती गयीं।

यदि ग्लूकोज (glucose) को रक्त में मिला दिया जाय—जिससे रक्त में चीनी की मात्रा ठीक हो जाती है तो पेट की सिकुड़न का अन्त हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पेट की सिकुड़न रासायनिक परिवर्तनों के ही कारण होती है। परन्तु यह कहना भ्रामक है कि भूख की पीड़ा केवल रक्त के रासायनिक परिवर्तनों के आधार पर होती है। क्योंकि जब स्कॉट (Scot) महोदय ने इस सम्बन्ध एक प्रयोग ऐसे दो व्यक्तियों के रक्त की जाँच करके किया, जिनमे एक भूखा था तो उन्होंने पाया कि *उन दोनों व्यक्तियों के रक्त के रासायनिक तत्त्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं था।* फिर भी मनोवैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि भूख लगने पर रक्त के रासायनिक अंशों में कुछ परिवर्तन होता है। परन्तु यह परिवर्तन किस प्रकार का होता है, इस सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं है।

भूख एक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति तो है ही, परन्तु इसके सम्बन्ध में जो व्यवहार मानव व्यक्त करता है—उस पर समाज, परिवार इत्यादि का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। हम दिन में तीन-चार बार अपनी आवश्यकता के अनुसार न खाकर, आदत के अनुसार खाने लगते हैं। एक छोटे बालक को प्रत्येक तीसरे-चौथे घण्टे बाद भूख लगती है परन्तु जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है, उसके घर के नियम उस पर प्रभाव डालते हैं और उसे दिन भर में ३ या ४ बार खाने की आवश्यकता रह जाती है।

यहाँ एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। भूख लगने पर खाद्य पदार्थों का चुनाव प्राणी स्वयं इस प्रकार से करता है कि वह उसके शरीर की वृद्धि में सहयोग प्रदान करते हैं। कई पशुओं पर किये प्रयोगों में देखा गया है कि जब उनको बहुत से खाद्य पदार्थों में से स्वतन्त्रतापूर्वक अपने खाने के लिए खाद्य पदार्थ चुनने के अवसर दिये गये तो उन्होंने वही पदार्थ चुने जो उनकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सबसे उत्तम थे। छोटे बालकों के साथ भी यह देखा गया है कि वह भी उस समय जब समाज, परिवार या अन्य किसी प्रकार के प्रभाव से स्वतन्त्र होते हैं, अपने खाने के लिये वही वस्तुएं चुनते हैं जो उनके शरीर के विकास लिए सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु जीवन के प्रारम्भ के वर्षों में ही बालक समाज के निर्देशन के कारण खाने की वस्तुओं के प्रति पसन्द और नापसन्द में भेदभाव करने लगता है और भूख द्वारा खाद्य-पदार्थों का सही चुनाव अब सम्भव नहीं रह पाता।

प्यास (Thirst)

प्यास भी एक शारीरिक आवश्यकता है जो क्रिया करने की प्रेरणा प्रदान करती है। इस क्रिया के लिए उद्दीपक गले के सूखने की संवेदना है। परन्तु मुँह और गले को गीला करने के अतिरिक्त और भी अनेक शारीरिक आवश्यकताओं के लिए पानी पिया जाता है, जैसे—पसीने और पेशाब के लिए, मुँह में लार के लिए, आँख में आँसू के लिए या खून लिए—इत्यादि।

पानी के पेट में पहुँचने के तुरन्त बाद ही प्यास की अनुभूति समाप्त नहीं हो जाती। इस प्रकार पानी के शरीर में पहुँचने पर भी गले और मुँह का सूखापन कुछ समय तक रहता है। जब जल पर्याप्त रूप से उपकलाओं में प्रविष्ट हो जाता है तभी प्यास बुझ पाती है। यह भी देखा गया है कि यदि गले और मुँह को केवल भिगो दिया जाय तो थोड़ी देर को प्यास की अनुभूति कम हो जाती है।

प्यास की क्रियाशीलता बहुत-कुछ भूख से मिलती-जुलती है। यह मूल आवश्यकताएँ उस समय बहुत सक्रिय होती हैं जब उनकी तुष्टि नहीं हो पाती। ऐसी दशा में प्राणी अपनी भूख मिटाने के लिए किसी भी सीमा तक जा सकता है।

काम (Sex)

कामेच्छा को फ्रॉयड एवं अन्य मनोविश्लेषणवादी (Psycho-analyst) बहुत महत्त्व देते हैं। यह अनुप्रेरक हमारे जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण है। अनुप्रेरणा प्रत्येक प्राणी में पायी जाती है। यह व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव डालती है। मानव के बहुत से आचरण काम की भावना से ही प्रेरित होते हैं।

काम की इच्छा मानव में हर आयु-स्तर पर बहुत सक्रिय रूप में नहीं मिलती। मानव में किशोरावस्था से सम्भोग करने की अनुप्रेरणा बढ़ जाती है और वृद्धावस्था में यह दुर्बल हो जाती है। पशुओं में इसके सक्रिय होने की विशेष ऋतुएँ होती हैं। इन ऋतुओं में मादा नर को स्वीकार करती है। जब काम की इच्छा बलवती हो जाती है तो पशुओं की सक्रियता बढ़ जाती है। चूहों पर किये गये प्रयोग इस ओर विशेष प्रकाश डालते हैं। प्रौढ़ चुहियाँ (mature rats) को ऐसे पिंजड़ों में रखा गया जो घूमने वाले ढालों से युक्त थे और जब चूहे भाग दौड़ करते थे तो दौड़-भाग की सकल एक रेखाचित्र के रूप में अङ्कित हो जाती थी। इस प्रयोग द्वारा यह पता चला कि चुहिया की चंचलता हर चौथे या पाँचवें दिन अधिक हो जाती थी। इस प्रकार की क्रियाशीलता चुहियों ने वयःसन्धि के आरम्भ से रजोनिवृत्ति (menopause) तक के समय तक दिखायी। यह देखा कि जब चुहियाँ सबसे अधिक सक्रिय थीं, तब वह मैथुन (sexual intercourse) के लिए विशेष तौर से तैयार थीं। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया कि यदि वयःसन्धि से पूर्व उनके डिम्बाशय (ovaries) को निकाल दिया जाता है तो उनकी चंचलता बहुत कम हो जाती है और वह मैथुन के लिए तैयार नहीं रहती हैं।

मानव की काम-भावना को अनुप्रेरणा में दो तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वह हैं—(१) लिंग ग्रन्थियों (sex glands) के स्राव जिन्हें हॉर्मोन (hormones) कहते हैं, और (२) आदत प्रजनन ग्रन्थियों से जो हॉर्मोन का स्राव होता है वह कामेच्छा पर बहुत प्रभाव डालता है। नर की ग्रन्थियों से जो ऐण्ड्रोजेन (androgen) नामक रस निकलता है और मादा के डिम्बाशय से जो हॉर्मोन स्रवित होता है, उसे एस्ट्रोजेन कहते हैं। काम-प्रेरणा की प्रबलता इन रसों पर ही निर्भर रहती है। यदि वयःसन्धि

या रजोधर्म (menses) से पहले मादा में से डिम्बाशय निकाल दिया जाता है तो उसमें नारीत्व के लक्षण प्रकट ही नहीं होते हैं। यौन-संप्रेरणा प्रजनन ग्रन्थियों के अतिरिक्त अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से भी प्रभावित हो जाती है। इसके अतिरिक्त पिट्यूटरी तथा एड्रीनल भी अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थियाँ हैं।

यह भी देखा गया है कि यदि प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों की प्रजनन ग्रन्थियाँ निकाल दी जाती हैं तो भी उनकी यौन-प्रक्रिया चलती रहती है। ऐसा इस कारण होता है कि व्यक्तियों में वे आदतें एवं प्रवृत्तियाँ स्थायी रहती हैं जो प्रजनन ग्रन्थियों के प्रभाव से तो आरम्भ में बनी थीं, परन्तु बार-बार दोहराने पर उन पर निर्भर नहीं रहतीं वरन् अपनी स्वयं की आस्था रखने लगती हैं।

यौन-संप्रेरणा प्रत्येक व्यक्ति में एक-सी नहीं होती। उनमें बहुत-कुछ व्यक्तिगत भिन्नता होती है। यह भिन्नता बहुत-कुछ सामाजिक परम्पराओं एवं आदतों पर निर्भर होती है। यह देखा गया है कि कई परिवारों में जहाँ काम को बहुत हीन दृष्टि से देखा जाता है, व्यक्ति यौन-प्रशीतन (sexual frigidity) से ग्रस्त हो जाते हैं। वह मैथुन के समय कोई उत्तेजना नहीं अनुभव करते। दूसरी ओर ऐसे वातावरण में जहाँ काम-सम्बन्धी स्वच्छन्दता होती है, व्यक्ति की काम की इच्छा पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। कभी-कभी यह दशा ग्रन्थियों की अत्यधिक क्रियाशीलता के कारण भी हो जाती है।

यदि यौन-संप्रेरणा की तुष्टि को उचित अवसर नहीं मिलते तो यह असामान्य रूप ले लेता है। कुछ मनुष्यों में असामान्य रूप बहुत ही असामाजिक हो जाते हैं। काम-संप्रेरणा का स्पष्टीकरण ऐसे व्यवहारों में भी हो जाता है, जैसे—साहित्य की रसानुभूति इत्यादि।

आराम और निद्रा (Appetite for Rest and Sleep)

यदि व्यक्ति कार्य करता जाये और आराम न करे तो वह जीवित नहीं रह सकता। इस प्रकार आराम और नींद की आवश्यकता व्यक्ति की सुरक्षा के लिए होती है। कुछ कार्य करने के बाद आराम करना आवश्यक भी है, क्योंकि यह व्यक्ति को सन्तुष्टि प्रदान करता है।

कुछ अन्य आवश्यकताएँ (Some Other Appetites)

उपरोक्त भूखों के अतिरिक्त भी कुछ और भूखें हैं जिनका हम विस्तृत वर्णन न करके केवल संकेत मात्र दें। वह हैं : (१) परिवर्तन अथवा विभिन्नता की भूख (the appetite for change or variety)। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह जो क्रियाएँ करता है उनमें कुछ परिवर्तन आये, वह एक-सा ही कार्य न करता रहे वरन् समय के साथ उसमें परिवर्तन आये। यदि व्यक्ति के जीवन में कोई भी परिवर्तन नहीं आता तो वह जीवन को कष्टदायी एवं नीरस समझने

लगता है और जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है; (२) मल-मूत्र त्यागने की भूख; (३) साँस लेने की भूख; (४) शरीर का तापमान स्थिर रखने की भूख—इत्यादि।

आवश्यकता, उदीरणा एवं प्रेरक में अन्तर
(Difference in Needs, Drives and Motives)

वास्तव मे अनुप्रेरण के सम्बन्ध मे बहुत से शब्द उपयोग किये जाते हैं, जैसे— भूख (appetites), आवश्यकताएँ (needs), उदीरणा (drives), प्रेरक (Motives) एवं आवश्यकताओं के सम्बन्ध मे हमने ऊपर वर्णन किया है। इससे पूर्व कि हम बाह्य इत्यादि। मूल प्रेरकों का वर्णन करें, उदीरणा तथा प्रेरकों से क्या समझते हैं, इसे स्पष्ट कर लेना चाहिए।

उदीरणा (Drives)

उदीरणा का प्रयोग हम उस समय करते हैं जब शरीर की आवश्यकताओं से उत्पन्न हमे मानसिक तनाव की अनुभूति होती है, जैसे—जब भोजन की कमी होती है तो हमे भूख लगती है या पानी की कमी से प्यास लगती है। इस प्रकार हम उदीरणा मे भूख, प्यास इत्यादि को रख सकते हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि उदीरणा आवश्यकता से उत्पन्न होती है और प्राणी को कार्य करने की ओर अग्रसर करती है। कुछ महत्त्वपूर्ण उदीरणाओं का वर्णन हम आवश्यकताओं के अन्तर्गत ऊपर कर चुके हैं।

अनुप्रेरक (Motives)

अनुप्रेरक मे आवश्यकता और उदीरणा के साथ-साथ लक्ष्य के भाव का और समावेश हो जाता है। इससे तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति में आवश्यकता और उदीरणा सक्रिय हैं और उसमे किसी एक लक्ष्य की ओर कार्य करने के हेतु चयनात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय तो इस अवस्था को 'अनुप्रेरक' (motive) की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार अनुप्रेरक के आवश्यक अंग ये हैं—(१) आवश्यकता एवं उदीरणा जो व्यक्ति में सक्रियता उत्पन्न करती है, (२) उद्देश्य-प्राप्ति की ओर व्यवहारों का दिशा-नियन्त्रण, तथा (३) लक्ष्य तथा उद्देश्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् क्रियाओं का अन्त।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अनुप्रेरक और प्रोत्साहन (incentives) में भी अन्तर है। प्रेरक तो व्यक्ति मे आन्तरिक रूप से रहता है, जबकि प्रोत्साहन बाहर से डाली हुई अनुप्रेरणा है। जब कोई वस्तु स्थिति या क्रिया-व्यवहार को उत्तेजित करके उसे निश्चित दिशा की ओर निर्देशित करके चलाती है तो वह प्रोत्साहन ही कही जा सकती है। जब एक बालक से कहा जाता है कि वह परीक्षा पास कर लेगा तो उसे पुरस्कार मिलेगा—तो पुरस्कार एक 'प्रोत्साहन' है, जबकि परीक्षा का पास करना एक 'प्रेरक' है।

इच्छा (Wants)

आवश्यकता (need) और इच्छा (want) में यह अन्तर है कि आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य को सामान्य रूप से प्रतीत होती है, पर इच्छा को प्रत्येक व्यक्ति सामान्य आवश्यकताओं के आधार पर अपने निजी जीवन के लिए निर्धारित कर लेता है। उदाहरण के लिए—हम सबको भोजन की आवश्यकता है, परन्तु हम सब इस बात में भिन्न हैं कि हम किस प्रकार के भोजन की इच्छा करते हैं। एक व्यक्ति को चावल अधिक अच्छे लगते हैं तो दूसरे को गेहूँ की रोटी। इसी प्रकार एक व्यक्ति का भोजन उस समय तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि उसमें माँस न हो परन्तु दूसरा व्यक्ति माँस से घृणा करता है। इसी प्रकार से प्यास या काम की आवश्यकताओं की चाहना में भी व्यक्तिगत भिन्नता हो सकती है। एक बार एक इच्छा (want) अर्जित कर ली जाती है तो वह आवश्यकता की तरह से कार्य करने लगती है, जैसे—यदि किसी व्यक्ति को सायंकाल नाश्ते के साथ चाय पीने की आदत है और उसे चाय न मिले तो वह खिन्न-मन हो जायेगा और इस बात की चेष्टा में लगा रहेगा कि उसकी इस इच्छा की सन्तुष्टि हो जाये। परन्तु इच्छाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। एक व्यक्ति की जो इच्छा बाल्यकाल में होती है, वह प्रौढ़ावस्था में पूर्ण रूप से बदल सकती है।

संवेग (Emotions as Motives)

संवेग भी शक्तिशाली अनुप्रेरक होते हैं। अगले अध्याय में हम इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करेंगे। यहाँ यह कह देना पर्याप्त होगा कि संवेग हमारे बहुत से व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हैं। जब संवेगों द्वारा कोई प्रेरक अवस्था उपस्थित हो जाती है तो हम बहुधा ऐसा कार्य करने लगते हैं जो हम उस समय कदापि न करेंगे जब वह प्रेरक अवस्था नहीं होती है; जैसे—जब हम भयभीत होते हैं तो हमारा व्यवहार हमारे सामान्य व्यवहारों से सर्वथा भिन्न हो जाता है। हम भय के द्वारा बालकों को अच्छा आचरण करने को बाध्य कर देते हैं। इसी प्रकार बहुत से धार्मिक नेता ईश्वर या मौत का भय खड़ा करके व्यक्तियों को पूजा-पाठ करने को उत्साहित करते हैं। जिस तरह से भय हमारे व्यवहार के संचालन में महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार क्रोध भी एक ऐसा संवेग है जो मानव व्यवहार पर बहुत गहरा प्रभाव डालता है। जब हम क्रोधित होते हैं तो हम लड़ने के लिए शीघ्र तत्पर हो जाते हैं। कभी-कभी क्रोध में आकर ऐसी बातें कह जाते हैं जो हमको बिल्कुल शोभा नहीं देतीं। संवेगों के ही साथ हम ऐसे अनुप्रेरकों, जैसे—भावनाएँ (sentiments) और स्थिति) का वर्णन कर सकते हैं। इनका प्रभाव भी मानव व्यवहार पर बहुत पड़ता अनुप्रेरक उतने शक्तिशाली नहीं होते जितना कि संवेग।

मनोस्थिति और अनुप्रेरक (Feelings and Attitudes as Motives)

जो कुछ भी व्यक्ति अनुभव करता है या कार्य करता है, वह उसे प्रसन्नता या प्रदान करने वाला होता है। हम एक ऐसे मापदण्ड (scale) की कल्पना

कर सकते हैं जो प्रसन्नता से आरम्भ होकर अप्रसन्नता पर समाप्त होता है। प्रसन्नता और अप्रसन्नता के बीच के माप को हम प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के श्रेणी के विभिन्न स्तर मान सकते हैं। यदि हम ऐसा मापदण्ड निर्धारित करें तो देखेंगे कि जो कुछ हम अनुभव करते हैं वह इस मापदण्ड मे किसी बिन्दु पर अंकित किया जा सकता है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि हम प्रत्येक अनुभव का वर्गीकरण दो प्रकार से कर सकते हैं—(१) प्रसन्नता प्रदान करने वाला, तथा (२) अप्रसन्नता प्रदान करने वाला। और जब कोई अनुभव हमें प्रसन्नता प्रदान करता है तो हमारी मनोस्थिति (attitude) उस अनुभव की ओर ऐसी हो जाती है कि वह अनुभव या तो अधिक काल तक चलता रहे या उसको दुबारा दोहरा दिया जावे। परन्तु यदि अनुभव खिन्नता प्रदान करता है तो हम उस अनुभव को छोड़ने को तैयार हो जाते हैं और चाहते हैं कि वह अनुभव समाप्त हो जावे और उसकी पुनरावृत्ति न हो। इस प्रकार हमारे प्रसन्नता और अप्रसन्नता के भाव जो हमारी मनोवृत्ति (attitude) की ओर अग्रसर होने या उससे पीछे हट आने के साथ सम्बन्धित होते हैं, हमारे व्यवहार के नियन्त्रण में शक्तिशाली प्रेरकों की तरह कार्य करते हैं।

उपर्युक्त जितनी अनुप्रेरणाओं का हमने वर्णन किया है, वह सब प्रेरणाएँ शारीरिक आवश्यकताओं से उत्पन्न होती हैं। और हालांकि हम उनमें बहुत-कुछ परिवर्तन ला सकते हैं, फिर भी उनका स्रोत शरीर की सुरक्षा एवं जीवित रहने के लिए आवश्यक क्रियाओं में मिलता है। व्यक्ति को इन प्रेरणाओं के अतिरिक्त और भी विभिन्न प्रकार की प्रेरणाएँ मिलती हैं। हम शरीर जनित अनुप्रेरकों के अतिरिक्त अन्य अनुप्रेरकों को दो प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं—(१) व्यक्तिगत अनुप्रेरणा (individual motivation) जो व्यक्ति-विशेष में ही पायी जाती है, और (२) सामाजिक अनुप्रेरणा (social motivation) जो समाज के सभी सदस्यों में पायी जाती है। हम इन दोनों प्रकार की अनुप्रेरणाओं पर प्रकाश डालेंगे। यथा—

व्यक्तिगत अनुप्रेरणा (Individual Motivation)

वह अनुप्रेरणाएँ जो व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा सीखी जाती हैं, व्यक्तिगत अनुप्रेरणाएँ कहलाती हैं। क्योंकि यह अनुप्रेरणाएँ व्यक्ति के स्वयं के अनुभवों पर निर्भर रहती हैं, इस कारण इनमें व्यक्तिगत भिन्नता होती है। व्यक्तिगत अनुप्रेरणाओं के अन्तर्गत हम आदत (habits), जीवन-उद्देश्य (life-goal), लालसा-धरातल (level of aspiration), अभिरुचि, मनोवृत्ति, (attitude) अचेतन प्रेरणा, इत्यादि रखते हैं। अब हम संक्षेप में प्रत्येक का वर्णन करेंगे।

आदत (Habits)

आदत किसी क्रिया को बार-बार दोहराने से पड़ती है। जब आदत पड़ जाती है तब वह स्वयंचालित (automatic) हो जाती है। उसे फिर केवल एक उत्तेजक की आवश्यकता होती है जो आदतन प्रक्रिया को चालित कर देता है। प्रत्येक व्यक्ति

में उसके व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर आदतें पड़ जाती हैं; जैसे—एक व्यक्ति जो प्रतिदिन सुबह ■ बजे जाग जाता है और स्नान करता है, तो धीरे-धीरे यह उसकी आदत पड़ जाती है। अब यदि वह किसी दिन सुबह न उठ पाये या स्नान न कर पाये तो उसे अत्यन्त बेचैनी अनुभव होती है। वह इस बेचैनी से छुटकारा पाने के लिए कुछ क्रिया करने को प्रेरित हो जाता है। इस रूप में आदत एक प्रेरक की तरह कार्य करती है।

जीवन-ध्येय (Life-Goal)

प्रत्येक व्यक्ति अपना एक जीवन-ध्येय बनाता है। यह ध्येय समाज या परिवार के सदस्यों के सम्पर्क में आने से निर्धारित होता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-ध्येय में भिन्नता होती है—क्योंकि वह उसकी अपनी निजी इच्छाओं, प्रेरणाओं और विचारों पर आधारित होता है, परन्तु जब एक व्यक्ति का जीवन-ध्येय निर्धारित हो जाता है तो वह उसे प्राप्त करने के लिए चेष्टा करने लगता है। इस प्रकार जीवन-ध्येय उसकी अनेक क्रियाओं के लिए उत्प्रेरक होता है; जैसे—एक व्यक्ति का जीवन-ध्येय धन-संग्रह करना है, तो वह ऐसी क्रियाएँ करेगा जिससे उसके पास धन-संग्रह हो सके। वह जो कुछ कमायेगा—उसे जमा करेगा, उसके आर्थिक पहलू को पहले देखेगा और हर समय उसके सम्मुख यही विचार रहेगा कि वह क्या कार्य करे जिससे उसके पास अधिक से अधिक धन एकत्र हो जाय।

लालसा या स्पृहा-धरातल (Level of Aspiration)

प्रत्येक व्यक्ति के स्पृहा-धरातल में भी अन्तर होता है। स्पृहा-धरातल वह सीमा बताता है, जिस सीमा तक एक व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। एक व्यक्ति जो डॉक्टर बनना चाहता है उसका जीवन-ध्येय डॉक्टर बनना ही होगा और उसका लालसा-धरातल इसी के अनुरूप होगा। परन्तु दो व्यक्ति जो डॉक्टर बनना चाहते हैं, किस सीमा तक सफलता प्राप्त करना चाहते हैं—यह उनके लालसा-धरातल की भिन्नता को स्पष्ट कर देगा। एक डाक्टरी की सबसे उच्च डिग्री प्राप्त करना चाहता है, परन्तु दूसरा कुछ डाक्टरी सीखकर ही अपना कार्य चलाना चाहता है। इस प्रकार दोनों के ध्येय एक से होते हुए भी उनके स्पृहा-धरातलों में भिन्नता होगी। जो व्यक्ति उच्च डाक्टरी की डिग्री चाहता है वह उसके लिए अत्यधिक [illegible] करेगा और वर्षों तक लगा रहेगा जबकि दूसरा व्यक्ति मामूली अध्ययन करेगा और थोड़ा ही सीखने पर सन्तुष्ट हो जायगा। एक व्यक्ति का स्पृहा-धरातल उस समय आगे की ओर बढ़ जाता है जब वह उस तक पहुँचने में सफल हो जाता है, जैसे—
[illegible] के पश्चात् आगे अन्वेषण करके नयी खोज करना और
[illegible] स्पृहा-धरातल बना लेता है। ऐसे व्यक्ति का स्पृहा-धरातल
पूर्व-निश्चित स्पृहा-धरातल को प्राप्त करने में असमर्थ नहीं

हो पाता। यदि डॉक्टर उच्च डिग्री प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता तो उसका धरातल निम्न कोटि की डिग्री प्राप्त करना ही रह जायगा।

लालसा-धरातल के सम्बन्ध में एक बात और याद रखनी चाहिए कि इसके कारण मानसिक संघर्ष (conflicts) भी उत्पन्न हो जाते हैं। यदि एक व्यक्ति अपना स्पृहा-धरातल बहुत ऊँचा बना लेता है और जब योग्यता की कमी या अन्य किसी कारण से वह उस धरातल तक पहुँचने में समर्थ नहीं होता और न वह अपना स्पृहा-धरातल कम करता है तो ऐसा व्यक्ति सदैव इस बात से चिन्तित रहता है कि स्पृहा-धरातल तक पहुँचने में असमर्थ है और कभी-कभी अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के समायोजन के लिये स्पृहा-धरातल के अनुरूप क्रिया करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य हो जाता है।

अभिरुचि (Taste)

व्यक्ति की अभिरुचि उसे पदार्थों को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है जो उसे रुचिकर लगें, और जिनको प्राप्त करने से उसे प्रसन्नता मिलती हो। हमने पीछे, भाव एवं अभिरुचि के अन्तर्गत, इस सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट कर दिये हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की अभिरुचि भिन्न हो सकती है। इसमें आयु के अनुसार भी परिवर्तन होता रहता है। एक वृद्ध की अभिरुचि ईश्वर-भक्ति में हो सकती है जबकि एक बालक की अभिरुचि मुख्यतः खेल से सम्बन्धित रहती है। परन्तु जिसकी जैसी अभिरुचि होती है, वह उसके अनुसार कार्य करने को प्रेरित होता है, जैसे—विज्ञान के अन्वेषणों में अभिरुचि रखने वाला व्यक्ति ऐसी क्रिया करेगा कि वह अधिक से अधिक अन्वेषणों से परिचित हो जाय।

मनोवृत्ति (Attitude)

व्यक्तिगत प्रेरकों में हम मनोवृत्ति को भी एक महत्वपूर्ण प्रेरक मान सकते हैं। मनोवृत्ति एक आन्तरिक दशा है। यह व्यक्ति को किसी कार्य के करने या छोड़ने के लिए प्रेरित करती है। यह प्रेरक अभिरुचि से भिन्न है। अभिरुचि-प्रेरक के कारण हम उन कार्यों में संलग्न हो जाते हैं जो हमारी पसन्द के होते हैं परन्तु मनोवृत्ति-प्रेरक के कारण हम अपनी पसन्द की वस्तुओं की ओर आकर्षित हो जाते हैं और नापसन्द की वस्तुओं की ओर से हट जाते हैं। यदि हमारी मनोवृत्ति किसी का भला चाहने में है तो हम वह कार्य करेंगे जिससे उसे लाभ हो और उन कार्यों को करने से अपने को हटा लेंगे जिनसे उसे हानि पहुँचने की सम्भावना हो।

अचेतन अनुप्रेरणा (Unconscious Motivation)

हमारी बहुत-सी इच्छाएँ एवं कामनाएँ जिनकी सन्तुष्टि नहीं हो पाती, अचेतन-मन में दब जाती हैं। इस प्रकार के दमन से ये इच्छाएँ इत्यादि नष्ट नहीं होतीं वरन् अचेतन मन में पहुँच कर वहीं से अपनी सन्तुष्टि का प्रयास करती हैं। परन्तु उसी

रूप में अचेतन मन से निकलने पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं। इस कारण से वे रूप बदल कर हमारे व्यवहारों एवं अनेक प्रकार की क्रियाओं पर प्रभाव डालती हैं, जैसे—एक व्यक्ति जो लिखने में बार-बार त्रुटि करता है, या बात करने में मुँह बनाता है, या बार-बार एक बात को भूल जाता है, दमन की हुई इच्छाओं इत्यादि के कारण ही ऐसा करता है जिसका पता मनोविश्लेषण से लग सकता है। अतएव अचेतन अनुप्रेरणा हमारे व्यवहारों पर बहुत प्रभाव डालती है और हमारे कार्य इससे बहुत-कुछ प्रेरित होते हैं।

इस सम्बन्ध में हम 'चेतना' नामक अध्याय में फिर वर्णन करेंगे।

२–समाज जनित अनुप्रेरक
(Socio-genic Motives)

मानव की अनुप्रेरणाओं में सामाजिक प्रेरकों का भी मुख्य स्थान है। सामाजिक अनुप्रेरकों से हमारा तात्पर्य ऐसे अनुप्रेरकों से है जो व्यक्ति को सामाजिक व्यवहार करने की प्रेरणा देते हैं।

यदि मानव को मिलने वाली अनुप्रेरणाएँ केवल उसकी शारीरिक आवश्यकताओं, भाव और संवेगों पर निर्भर होती तो हम अपनी भूख-प्यास या काम की आवश्यकताओं को बहुत सरल ढंग से पूरा कर सकते थे। परन्तु हम सामाजिक प्राणी हैं, हमें समाज में रहना होता है। समाज के प्रभाव के कारण मानव में विशेष प्रकार की प्रवृत्तियाँ निर्धारित हो गयी हैं और जीवन व्यतीत करने का ढंग समाज-स्वीकृत हो गया है। हम कुछ अनुप्रेरकों का यहाँ वर्णन करेंगे जो मानव को समाज में उचित व्यवहार करने तथा इसके द्वारा उसको सामाजिक व्यवस्थापन (social adjustment) प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं।

आत्मगौरव एवं आत्महीनता के अनुप्रेरक (Motives of Self-assertion and Self-submission)

आत्मगौरव या आत्महीनता की प्रवृत्तियाँ हम में जन्मजात पायी जाती हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये प्रवृत्तियाँ सामाजिक रीति-रिवाज या समाज के के कारण व्यक्तियों में प्रोत्साहन पाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रवृत्ति होती है [illegible] की तुलना में अच्छा सिद्ध हो, अधिक सफलता प्राप्त करे और सब प्रतिद्वन्द्वियों से आगे निकल जाये। यदि हमारे मार्ग में कुछ बाधाएँ आयें उन पर विजय प्राप्त कर लें। इसे हम आत्मगौरव की प्रवृत्ति कह सकते हैं। [illegible] कठिनाइयों पर विजय पाने, प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करने, सफलता [illegible] मेहनत से कार्य करने आदि की प्रेरणा देता है। इसी अनुप्रेरक [illegible] (combat) के अनुप्रेरक को ले सकते हैं। जब हम सफलता की है और सीधे तरीके से उसे प्राप्त करने में असफल हो जाते हैं तो हम में प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है और हम लड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। हम

जब अपने प्रतिद्वन्द्वियों से किसी और तरह से विजय प्राप्त नहीं कर सकते तो हम उनसे लड़ने को तत्पर हो जाते हैं।

आत्मगौरव के साथ-साथ जो दूसरा अनुप्रेरक आता है वह आत्महीनता है। प्रत्येक मानव में यह भी प्रवृत्ति पायी जाती है कि जब कोई समाज का ऐसा सदस्य उपस्थित है जिसकी तुलना में वह अपने को छोटा समझता है तो वह उसके सामने अपने को हीन समझने लगता है। वह उससे दब जाता है। परन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिए कि किसी को जबरदस्ती दबाकर हीनता की प्रवृत्ति जगाने की चेष्टा को यहाँ हम आत्महीनता की प्रवृत्ति के अन्तर्गत नहीं रख सकेंगे, क्योंकि ऐसी दशा में व्यक्ति को न प्रसन्नता मिलती है, न सन्तोष परन्तु इसके विपरीत जब एक व्यक्ति ऐसी दशा में उन समस्याओं को, जो उसके समक्ष हैं, सुलझाने में असफल होता है अथवा जब वह अपने आप को किसी व्यक्ति, विचार, धर्म या समाज के नियमों के अधीन कर देता है तो इस प्रकार की हीनता उसको सन्तोष प्रदान करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्महीनता के अनुप्रेरक हमें ऐसे कार्य करने को बाध्य करते हैं जिनके द्वारा हम अपने आप को दूसरों के अधीन कर देते हैं और उनके विचारों एवं मतों के अनुसार कार्य करने लगते हैं। एक बालक इसी प्रेरणा के आधार पर एक प्रौढ़ का कहना मानता है या एक कम बुद्धि वाला व्यक्ति कुशाग्र बुद्धि वाले व्यक्ति की तुलना में अपने को हीन समझता है। इस प्रेरक तथा आत्मगौरव के अनुप्रेरक के कारण ही हम सत्ता की मान्यता को मानने के लिए तत्पर रहते हैं। इस प्रकार हम में सुरक्षा की भावना बलवती होती है।

इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में एक सन्तुलन प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता तो मानसिक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। किसी समय हमें आत्मगौरव से प्रेरणा ग्रहण करनी पड़ती है परन्तु किसी दूसरी परिस्थिति में हमारी अच्छाई इसी में होती है कि हम अपने को हीन समझें। एक व्यक्ति जो परिस्थितियों के अनुसार आत्मगौरव या आत्महीनता प्रदर्शित करता है, अपना सन्तुलन रख सकता है। समाज में हम दूसरों के साथ अच्छे सम्बन्ध उसी समय रख सकते हैं जब हम किन्हीं व्यक्तियों से अपने को हीन समझें और किन्हीं व्यक्तियों से एवं किन्हीं परिस्थितियों में अपने को दूसरों से उच्च समझें।

सामाजिक स्वीकृति एवं अस्वीकृति के अनुप्रेरक (Motives of Social Approval or Disapproval)

एक दूसरा महत्वपूर्ण सामाजिक अनुप्रेरक सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति है। हम में से अधिकतर व्यक्तियों में यह चाहना होती है कि समाज हमारे व्यवहार एवं क्रियाकलापों को अच्छी दृष्टि से देखे। हम जो कुछ करें, उसे समाज स्वीकृति प्रदान करे। यह चाहना कभी-कभी तो प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हो जाती है परन्तु बहुधा

इसके प्रकट होने के तरीके अप्रत्यक्ष होते हैं। एक बालक जब अपने व्यवहार द्वारा दूसरों को आकर्षित करता है तो यह प्रेरणा अप्रत्यक्ष रूप से उसमें बलवती होती है। इसी प्रकार एक व्यक्ति जो शक्तिशाली, कुशल, बुद्धिमान, चपल एवं योग्य बनने की चेष्टा करता है तो वह भी अप्रत्यक्ष ढंग से इसी अनुप्रेरणा से अनुप्रेरित होता है। व्यक्ति का व्यवहार जो सामाजिक स्वीकृति चाहता है, उस समूह में पायी जाने वाली धारणाओं से बहुत-कुछ निर्धारित होता है; जैसे—डाकुओं के गिरोह का एक सदस्य इस अनुप्रेरणा से अनुप्रेरित होकर ऐसा कार्य करेगा जिसे हम बहुत बुरा कहते हैं। वह निर्दयी, निकृष्ट, अत्याचारी, खूनी बनने की चेष्टा करेगा ताकि उसका गिरोह उसे अपने समाज का अच्छा सदस्य समझे।

वर्तमान समय में हम जिस फैशनपरस्ती का बोलबाला देखते हैं वह भी इसी प्रेरणा के कारण है। हमारे कॉलेजों के छात्र-छात्राएँ अनेक नये फैशन के कपड़े पहनते हैं ताकि दूसरे उनकी ओर आदर की दृष्टि से देखें। यदि कोई विद्यार्थी ऐसे कॉलेज में, जहाँ सब फैशन के दास हैं, सीधे-सादे कपड़े पहनता है तो उसे गँवार की संज्ञा दे दी जाती है और प्रत्येक स्थान पर उसकी हँसी उड़ायी जाती है। इस प्रकार बहुत से व्यक्तियों को सामाजिक अस्वीकृति के भय से ऐसे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है जो वह भय के न होने पर शायद कभी नहीं करते।

सामाजिक स्वीकृति की अनुप्रेरणा के कारण ही स्त्रियों में सुन्दरता बढ़ाने के अनेक साधनों का उपयोग होता है। इसी प्रकार पुरुषों में इसी अनुप्रेरक के कारण धनार्जन करने, घर बनाने, बढ़िया पहिनने, खेल-कूद में प्रधानता पाने, दान तथा करने की प्रवृत्तियाँ प्रोत्साहन पाती हैं। वास्तव में व्यक्ति ■ अनेक ऐसे कार्य हैं जो केवल समाज की स्वीकृति के लिए किए जाते हैं। व्यक्ति कोई-न-कोई ऐसा ढंग निकालता है जिससे समाज उसे आदर की दृष्टि से देखे।

सामाजिक सुरक्षा (Social Security)

सामाजिक स्वीकृति की प्रेरणा के साथ-साथ हम सामाजिक सुरक्षा की प्रेरणा को भी ले सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि जिस समाज का वह सदस्य है वह उसे अपनाये, उसको पसन्द करे और अपने में मिलाये रखे। यह अनुप्रेरक हमारे भारतीय समाज में अब तक एक बहुत ही शक्तिशाली प्रेरक रहा है। भारतवासी, विशेषकर हिन्दू धर्म के अनुयायी, जो इस देश में हैं, उनमें जातिवाद का बहुत जोर है। यदि एक व्यक्ति को जाति से बहिष्कार करने की धमकी दी जाती है तो वह अपने को पूर्णतया असुरक्षित समझने लगता है और वह जाति से बहिष्कृत न किया जाये, इसके लिए कुछ भी कार्य करने को तत्पर हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जातिवाद का हमारा जीवन पर देश की उन्नति में बहुत बड़ी बाधा है, परन्तु इसका अस्तित्व इस में प्रत्येक की सामाजिक [illegible] भावना के कारण ही है। यदि व्यक्तियों को यह विश्वास हो जाये [illegible] सुरक्षित होने पर उनका कुछ भी

प्रतिष्ठा नहीं होगा और जाति से बना हुआ समाज निम्न दृष्टि से देखा जायगा तो यह भावना बहुत कुछ समाप्त हो सकती है। जाति से बहिष्कृत होने के भय से जो प्रेरणा कार्यों को मिलती है उसका रूप बदला जा सकता है।

हम अपने देश में देखते हैं कि समाज का भय हमारे अनेक कार्यों पर नियन्त्रण रखता है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सामाजिक अनुप्रेरक बहुत शक्तिशाली होते हैं और हमारे सामाजिक जीवन को उचित अथवा अनुचित रूप प्रदान करने में उनका सबसे बड़ा हाथ रहता है।

अनुप्रेरकों की शक्ति

जब हमारे सम्मुख सभी प्रकार के अनुप्रेरकों की सूची आती है तो सबसे प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन प्रेरकों में से कौन सबसे अधिक शक्तिशाली है? हमारी प्रेरणाएँ जन्मजात अथवा अर्जित होती हैं। इन अनुप्रेरणाओं में यह पता लगाना, कि कौन-सी अधिक शक्तिशाली हैं, सरल नहीं है। फिर भी हममें कोई संदेह नहीं है कि हमारी जन्मजात प्रेरणाएँ बहुत अधिक बलवती होती हैं। एक भूखा या प्यासा आदमी बाकी और सब अनुप्रेरकों को दूर हटा कर केवल भोजन या पानी की खोज करने लगता है। जब वह भूखा होता है तो अन्य किसी बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। परन्तु कभी-कभी हमारा जीवन-ध्येय या हमारी अभिलाषाएँ या आदर्श इस प्रेरक पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। महात्मा गांधी उपवास रखकर अपने आदर्श का पालन करते थे। उनके लिए भूख की प्रेरणा गौण थी तथा जीवन का आदर्श प्रधान था। परन्तु ऐसा तभी समय होता है जब व्यक्ति एवं चरित्र का विकास एक आदर्शमय ढंग से हुआ है। अनुप्रेरणाओं में से कौन-सी अधिक बलवती होती है और कौन-सी कम, इसे [illegible] भार सम्बन्धी प्रयोग किये जाते हैं।

इसके प्रकट होने के तरीके अलग-अलग होते हैं। एक बालक जब अपने व्यवहार
दूसरों को आकर्षित करता है तो वह प्रेरणा अप्रत्यक्ष रूप से उसमें कार्य करती है।
इसी प्रकार एक व्यक्ति जो शक्तिशाली, कुशल, बुद्धिमान, सबल एवं प्रेम करने
चेष्टा करता है तो वह भी अप्रत्यक्ष ढंग से इसी अनुप्रेरणा से अनुप्रेरित है।
व्यक्ति का व्यवहार जो सामाजिक स्वीकृति चाहता है, उस समूह के द्वारा बने
धारणाओं से बहुत-कुछ निर्धारित होता है; जैसे—डाकुओं के गिरोह का एक सदस्य
इस अनुप्रेरणा से अनुप्रेरित होकर ऐसा कार्य करेगा जिसे हम बहुत बुरा कहते हैं।
वह निर्दयी, निकृष्ट, अत्याचारी, खूनी बनने की चेष्टा करेगा ताकि उसका गिरोह
उसे समाज का अच्छा सदस्य समझे।

वर्तमान समय में हम जिस फैशनपरस्ती का बोलबाला देखते हैं वह भी इसी
प्रेरणा के कारण है। हमारे कॉलेजों के छात्र-छात्राएँ अनेक नये फैशन के वस्त्र
हैं ताकि दूसरे उनकी ओर आदर की दृष्टि से देखें। यदि कोई विद्यार्थी ऐसे
में, जहाँ सब फैशन के दास हैं, सीधे-सादे कपड़े पहनता है तो उसे देहाती की संज्ञा
दी जाती है और प्रत्येक स्थान पर उसकी हँसी उड़ायी जाती है। इस प्रकार
व्यक्तियों को सामाजिक अस्वीकृति के भय ने ऐसे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है
जो वह भय के न होने पर शायद कभी नहीं करते।

सामाजिक स्वीकृति की अनुप्रेरणा के कारण ही स्त्रियों में सुन्दरता बढ़ाने के
अनेक साधनों का उपयोग होता है। इसी प्रकार पुरुषों में इसी अनुप्रेरणा के कारण
धनार्जन करने, घर बनाने, बढ़िया पहिनने, खेल-कूद में प्रवीणता पाने, दान-पुण्य करने
की प्रवृत्तियाँ प्रोत्साहन पाती हैं। वास्तव में व्यक्ति के अनेक ऐसे कार्य हैं जो केवल
समाज की स्वीकृति के लिए किए जाते हैं। व्यक्ति कोई-न-कोई ऐसा ढंग निकालता
है जिससे समाज उसे आदर की दृष्टि से देखे।

सामाजिक सुरक्षा (Social Security)

सामाजिक स्वीकृति की प्रेरणा के साथ-साथ हम सामाजिक सुरक्षा की प्रेरणा
को भी ले सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि जिस समाज का वह सदस्य है
वह उसे अपनाये, उसको पसन्द करे और अपने में मिलाये रखे। यह अनुप्रेरक हमारे
भारतीय समाज में अब तक एक बहुत ही शक्तिशाली प्रेरक रहा है। भारतवासी,
विशेषकर हिन्दू धर्म के अनुयायी, जो इस देश में हैं, उनमें जातिवाद का बहुत जोर
है। यदि एक व्यक्ति को जाति से बहिष्कार करने की धमकी दी जाती है तो वह अपने
को पूर्णतया असुरक्षित समझने लगता है और वह जाति से बहिष्कृत न किया जाये
इसके लिए कुछ भी कार्य करने को तत्पर हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि
जातिवाद का इतना पोषण कर देश की प्रगति में बहुत बड़ी बाधा है, परन्तु इसका
अस्तित्व हम में प्रत्येक की सामाजिक सुरक्षा की भावना के कारण ही है। यदि
व्यक्तियों को यह विश्वास हो जाये कि जाति से बहिष्कृत होने पर उनका कुछ भी

अनिष्ट नहीं होगा और जाति से बना हुआ समाज निम्न दृष्टि से देखा जायेगा तो यह भावना बहुत कुछ समाप्त हो सकती है। जाति से बहिष्कृत होने के भय से जो प्रेरणा कार्यों को मिलती है उसका रूप बदला जा सकता है।

हम अपने देश में देखते हैं कि समाज का भय हमारे अनेक कार्यों पर नियन्त्रण रखता है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सामाजिक अनुप्रेरक बहुत शक्तिशाली होते हैं और हमारे सामाजिक जीवन को उचित अथवा अनुचित रूप प्रदान करने में उनका सबसे बड़ा हाथ रहता है।

अनुप्रेरकों की शक्ति

जब हमारे सम्मुख सभी प्रकार के अनुप्रेरकों की सूची आती है तो सबसे प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन प्रेरकों में से कौन सबसे अधिक शक्तिशाली है ? हमारी प्रेरणाएँ जन्मजात अथवा अर्जित होती हैं। इन अनुप्रेरणाओं में यह पता लगाना, कि कौन-सी अधिक शक्तिशाली है, सरल नहीं है। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमारी जन्मजात प्रेरणाएँ बहुत अधिक बलवती होती हैं। एक भूखा या प्यासा आदमी बाकी और सब अनुप्रेरकों को दूर हटा कर केवल भोजन या पानी की खोज करने लगता है। जब वह भूखा होता है तो अन्य किसी बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। परन्तु कभी-कभी हमारा जीवन-ध्येय या हमारी अभिलाषाएँ या आदर्श इस प्रेरक पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। महात्मा गांधी उपवास रखकर अपने आदर्श का पालन करते थे। उनके लिए भूख की प्रेरणा गौण थी तथा जीवन का आदर्श प्रधान था। परन्तु ऐसा उसी समय होता है जब व्यक्ति एवं चरित्र का विकास एक आदर्शमय ढंग से हुआ है। अनुप्रेरणाओं में से कौन-सी अधिक बलवती होती है और कौन-सी कम, इसे निर्धारित करने के लिए अनुप्रेरणा माप सम्बन्धी प्रयोग किये जाते हैं। यहाँ हम इन प्रयोगों का ही उल्लेख करेंगे।

अनुप्रेरणा की माप

अनुप्रेरणा को माप करने की कई विधियाँ हैं। आमतौर पर इन विधियों का उपयोग जानवरों के साथ अध्ययन करने में किया गया है। जो मुख्य विधियाँ प्रेरणा की माप के लिए प्रयोग की जाती हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) अवरोध-विधि (Obstruction Method)—इस विधि में पशु को अनुप्रेरणा मिलती है और जब वह अपने ध्येय को प्राप्त करने की क्रिया करता है तो उसके मार्ग में अवरोध आते हैं। जितनी बलवती प्रेरणा होती है, पशु उतने ही प्रबल से अवरोध को हटाकर ध्येय पर पहुँचने की चेष्टा करता है। इस प्रकार के प्रयोग जो चूहों के साथ किये गये, उनमें चूहों को एक सुरंग से गुजरना होता है। सुरंग के दूसरी ओर कुछ पुरस्कार, जैसे—खाने की कुछ वस्तुएँ इत्यादि, रखे दे दी जाती हैं। जब चूहा सुरंग में से गुजरता है तो उसे एक बिजली का झटका लगता है। यह देखा

गया कि जब सफेद चूहों के सम्मुख कोई खास लक्ष्य नहीं था तो उन्होंने २० मिनट में ३ या ४ बार बिजली के झटके को खाकर भी सुरंग पार कर ली। परन्तु जब चूहे खूब भूखे रखे गये, उनको २-४ दिन खाना न दिया गया, तब वह औसतन २० मिनट में १८ बार सुरंग को पार कर गये। जिस प्रकार से भूख के प्रेरक की शक्ति इस विधि से मापी गयी, उसी प्रकार काम के प्रेरक एवं प्यास के प्रेरक की शक्ति २० मिनट में सुरंग पार करने की औसत संख्या द्वारा ज्ञात की गयी। इस औसत संख्या के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि शिशु-पालन, प्यास एवं भूख के प्रेरक काम के प्रेरक से अधिक बलवान हैं। परन्तु काम का अनुप्रेरक अनुसन्धानात्मक अनुप्रेरक से अधिक शक्तिशाली है।

(२) अभिरुचि विधि (Choice Method)—इस विधि द्वारा दो अनुप्रेरणाओं को एक साथ सक्रिय कर दिया जाता है। अतः यह देखा जाता है कि पशु किस अनुप्रेरणा से अधिक प्रभावित होता है। पशु के सम्मुख पानी और खाना उससे दूर रख दिया जाता है। जो ध्येय पशु प्राप्त करने की चेष्टा करता है, वह ही इस बात का पता देता है कि उसमें कौन-सी प्रेरणा अधिक प्रबल है।

(३) शिक्षण विधि—मानव पर बाह्य प्रेरणाओं के प्रभाव का अध्ययन शिक्षण विधि द्वारा किया जा सकता है। यह विधि मानव को सीखने में प्रेरक तत्वों का पता लगाने के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। यदि हमें देखना है कि बालकों के सीखने में कौन अधिक शक्तिशाली है—आरोप या प्रशंसा? तो हम बालकों के तीन बराबर के समूह लेकर एक-सी दशा में उन्हें प्रशिक्षित कर सकते हैं। तीनों समूहों को शिक्षा देने में हम केवल यह भिन्नता रखते हैं कि एक के साथ प्रशंसा प्रेरक का उपयोग करते हैं, दूसरे के साथ आरोप का, और तीसरे के साथ कोई भी नहीं। इन तीनों समूहों में यदि बालक एक-सी बुद्धि, आयु, आर्थिक तथा सामाजिक स्तर के होते हैं तो एक निश्चित काल की शिक्षा के पश्चात् जो समूह अधिक सीख जाता है, उसकी ही दी जाने वाली प्रेरणा अधिक प्रबल मानी जाती है। अनेक अध्ययनों के आधार पर यह पता लगा है कि आरोप की तुलना में प्रशंसा अधिक बलवती है।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि प्रेरक हमारे व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव डालते हैं और यदि हम मानव-कल्याण के हेतु कोई भी अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें मानव पर पड़ने वाले विभिन्न प्रेरकों का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना होगा।

सारांश

एक प्राणी उत्तेजना-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही वातावरण में अभियोजन कर पाता है। एक प्राणी के व्यवहार को व्यक्त करने के लिए हम 'उ-जी-प्र' (S-O-R) सूत्र का सहारा लेते हैं।

अनुप्रेरणाएँ मुख्यतः दो प्रकार से व्यक्त की जा सकती हैं—(१) शरीर जनित, (२) समाज जनित।

शरीर जनित अनुप्रेरणा में शारीरिक आवश्यकताएँ या भूख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भूख की अनुप्रेरणा से प्रत्येक प्राणी प्रभावित होता है, प्यास की अनुप्रेरणा, काम की अनुप्रेरणा, आराम और निद्रा इत्यादि की अनुप्रेरणाएँ शारीरिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत आती हैं।

आवश्यकता, उदीरणा और अनुप्रेरक में अन्तर है। उदीरणा का प्रयोग हम उस समय करते हैं जब शरीर की आवश्यकताओं से उत्पन्न हमें मानसिक तनाव की अनुभूति होती है। प्रेरक में आवश्यकता और उदीरणा से साथ-साथ लक्ष्य के भाव का भी समावेश हो जाता है। आवश्यकता (needs) और इच्छा (wants) में अन्तर यह है कि आवश्यकता प्रत्येक प्राणी को प्रतीत होती है और वह एक-सी होती है, जबकि इच्छा (wants) को प्रत्येक व्यक्ति सामान्य आवश्यकताओं के आधार पर अपने निजी जीवन के लिए निर्धारित कर लेता है। आन्तरिक अनुप्रेरणा के अन्तर्गत हम संवेग, भाव और ढंग (attitudes) को भी रखते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्तिगत प्रेरणाएँ भी हैं; जैसे—आदत, जीवन-ध्येय, लालसा-धरातल, अभिरुचि, मनोवृत्ति एवं अचेतन अनुप्रेरणा।

सामाजिक प्रेरणा में मुख्य प्रेरक हैं—आत्मगौरव एवं आत्महीनता के प्रेरक, सामाजिक स्वीकृति एवं अस्वीकृति के अनुप्रेरक एवं सामाजिक सुरक्षा ■ अनुप्रेरक।

अनुप्रेरणाओं में कौन-सी अधिक बलवती होती हैं और कौन-सी कम? इसे निर्धारित करने के लिए अनुप्रेरणा माप-सम्बन्धी प्रयोग किये जाते हैं। जो मुख्य विधियाँ अनुप्रेरणा प्राप्त करने के लिए प्रयोग की जाती हैं, वे हैं—(१) अवरोध विधि, (२) अभिरुचि विधि, एवं (३) शिक्षण विधि।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. अनुप्रेरकों से आप क्या समझते हैं? कितने प्रकार के अनुप्रेरक आप जानते हैं? इनमें क्या अन्तर होता है?
२. "हमारी शारीरिक आवश्यकताओं पर निर्भर अनुप्रेरक ही सबसे अधिक प्रबल होते हैं।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं? अपने मत की पुष्टि कीजिए।
३. इच्छाओं (wants) और आवश्यकताओं (needs) में क्या अन्तर होता है? ये मानव को अनुप्रेरणा प्रदान करने में लक्ष्यों का कैसे नियन्त्रण करती हैं?
४. मानव के व्यक्तिगत अनुप्रेरक क्या हैं? प्रत्येक के महत्त्व का वर्णन कीजिए।
५. "मानव सामाजिक अनुप्रेरकों की अवहेलना नहीं कर सकता।" ऐसा वह क्यों नहीं कर सकता? अपना मत प्रकट कीजिए।

६. अनुप्रेरकों की प्रबलता की माप आप कैसे कर सकते हैं? विभिन्न विधियों का वर्णन कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. मन, नॉरमन एल० : मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद), राजकमल, दिल्ली, १९६१।
२. माथुर, एस० एस० : शिक्षा-मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९५१।
३. वुडवर्थ एवं मार्क्विस : मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद), दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९५६।
४. मर्फी गार्डनर : ए ब्रीफर जनरल सायकोलॉजी, हार्पर, न्यूयार्क।
५. गैरेट हेनरी ई० : मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद), एलाइड पब्लिशर्स, बम्बई, १९६६।

८

भाव और संवेग[1]

आपने अपने जीवन में बहुधा प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के भावों का अनुभव किया होगा। जब आप कोई ऐसी बात सुनते हैं या देखते हैं या ज्ञानेन्द्रिय द्वारा आप किसी ऐसी वस्तु का अनुभव करते हैं जो आपके जीवन के लिए सुखदायी प्रतीत होती है तो आप प्रसन्न हो उठते हैं। परन्तु जब भी कोई कष्टकारक अनुभव आपको होता है तो आपका मन खिन्न हो जाता है और आप अप्रसन्नता की भावना से भर जाते हैं। ये भाव उस समय की आपकी क्रियाओं के बहुत बड़े अनुप्रेरक बन जाते हैं और आपके व्यवहार पर अपना नियन्त्रण जमा लेते हैं। इस अध्याय में हम 'भाव' (feelings) क्या हैं, इनकी प्रकृति क्या है, और ये मानव व्यवहार में क्यों महत्त्वपूर्ण हैं—इस पर प्रकाश डालेंगे।

प्रसन्नता-अप्रसन्नता के भावों के अतिरिक्त आपने कभी-कभी ऐसे शक्तिशाली भावों का भी अनुभव किया होगा, जैसे—क्रोध, भय, घृणा, प्रेम इत्यादि। मार्ग में जाते समय यदि आपकी किसी सर्प से भेंट हो जाये तो आप अवश्य भयभीत हो उठेंगे। इसी प्रकार यदि कोई कार्य जिसे आप पसन्द न करते हों, बार-बार दोहराया जाय तो आप क्रोधित हो उठेंगे। क्रोध, भय, प्रेम इत्यादि जिन्हें हम 'संवेग' (emotions) के नाम से पुकारते हैं, हमारे व्यवहार के शक्तिशाली प्रेरक होते हैं। इसी कारण हमारा यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि संवेगों की प्रकृति क्या है, यह किन अवस्थाओं में कम या अधिक होते हैं, इन संवेगों को कैसे मापा जा सकता है, संवेग सम्बन्धी सिद्धान्त क्या हैं, विकृत अवस्था (abnormal conditions) में संवेग

1. Feelings and Emotions.

क्या रूप धारण कर लेते हैं और इन पर नियन्त्रण कैसे रखा जा सकता है ? इत्यादि। प्रस्तुत अध्याय में हम भाव का वर्णन करने के पश्चात् संवेग सम्बन्धी उठाये गये उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

भाव अथवा अनुभूति
(Feelings)

हमारे मन के तीन पहलू होते हैं : पहला—ज्ञानात्मक (cognitive), दूसरा—भावात्मक (affective), तथा तीसरा—क्रियात्मक (conative)। किसी भी मानसिक *प्रक्रिया में ज्ञान, भाव अथवा क्रिया—कोई भी पहलू प्रमुख हो सकता है। जो भी* पहलू प्रमुख होता है, हम उसी के अनुसार उस प्रक्रिया को ज्ञानात्मक, भावात्मक या क्रियात्मक के नाम से पुकारते हैं। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि चाहे कोई भी पहलू प्रमुख हो, दूसरे दो पहलू भी उसमें गौण रूप से विद्यमान रहते हैं। भाव का सम्बन्ध भावात्मक पहलू से होता है।

भाव एक प्रारम्भिक (elementary) सरल मानसिक प्रक्रिया है जो प्राणी को सुख अथवा दुख की अनुभूति कराती है। एक प्रारम्भिक सरल मानसिक प्रक्रिया होने *के कारण इसका विश्लेषण सम्भव नहीं है।* जब हमारी क्रियाएँ बिना किसी रुकावट के होती रहती हैं और हमारी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती रहती है तो हमें सुख का अनुभव होता है, और जब हमारी क्रियाओं में बाधा पहुँचती है तथा हमारी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं हो पाती तो हमें दुःख की अनुभूति होती है। एक दूसरी तरह से सुखद तथा दुखद भाव के उत्पन्न होने के कारण का वर्णन हम इस प्रकार से भी कर सकते हैं कि जिस समय मन की ज्ञानात्मक प्रक्रिया द्वारा हमें कोई प्रसन्नता का संवाद मिलता है तो हम सुख का अनुभव करते हैं, और जिस समय हम ऐसे संवाद इत्यादि को प्राप्त करते हैं जो हमें बुरा लगता है तो हमें दुःख का अनुभव होने लगता है। उपरोक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि मन के चेष्टात्मक या इच्छात्मक तथा ज्ञानात्मक, दोनों पहलुओं द्वारा हमें भाव का अनुभव होता है।

भाव का स्वरूप (Nature of Feeling)

भाव के स्वरूप के सम्बन्ध में हमने कुछ ऊपर कहा है। हमने इसे एक प्रारम्भिक सरल मानसिक प्रक्रिया की संज्ञा दी है और कहा है कि सुख अथवा दुःख की अनुभूति जीव इसी से करता है। हमारी कोई भी मानसिक प्रक्रिया ऐसी नहीं है जो हमें सुख या दुःख की अनुभूति न करावे। जो भी मानसिक प्रक्रिया होती है उसमें *सुख या दुःख की भावना मिश्रित होती है।* परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि हमारी कोई भी मानसिक प्रक्रिया इस प्रकार की नहीं हो सकती कि वह एक ही समय में सुखद एवं दुखद—दोनों हो। वह या तो सुखद होगी या दुखद। हम मिश्रित भाव (mixed feeling) की *अनुभूति नहीं कर सकते। जिस भाव की हमें अनुभूति* होती है उसे हम 'विशुद्ध भाव' (pure feeling) के नाम से पुकारते हैं। जब भाव

स्थायी रूप से किसी ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी घटना से निकटतम सम्बन्धित होते हैं तो हम उन्हें 'ज्ञान भाव' (sense feeling) से सम्बोधित करते हैं। जब हमें भूख, प्यास या सिरदर्द की दुखद संवेदना होती है तो यह भाव हमारी विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित रहता है, जिसे हम 'ज्ञान भाव' कह सकते हैं। यहाँ जितनी भी संवेदनाएँ होती हैं, उनका एक भावात्मक पहलू होता है।

भाव की विशेषताएँ (Characteristics of Feeling)

भाव की प्रकृति के सम्बन्ध मे जान लेने के पश्चात् इसकी विशेषताओं का अवलोकन सरलता से किया जा सकता है। भाव की मुख्य विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं—

(१) भाव सरलतम एवं प्रारम्भिक मानसिक प्रक्रिया होती है। अतः इसका विश्लेषण नहीं हो सकता।

(२) यह चंचल एवं क्षणिक होता है। एक भाव बहुत शीघ्र समाप्त हो जाता है और फिर दूसरा भाव अनुभव होने लगता है। सुख के बाद दुःख का और दुःख के बाद सुख का अनुभव होता रहता है।

(३) भाव का सम्बन्ध जीव के किसी अंग-विशेष से नहीं होता। जब हम दुःख का अनुभव करते हैं तो ऐसा नहीं है कि यह अनुभव हमारा कोई अंग-विशेष ही करे, वरन् इसका अनुभव हमारा सम्पूर्ण शरीर करता है।

(४) एक साथ एक से अधिक भाव अनुभव नहीं किये जा सकते; अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता कि हम एक ही समय मे सुख का भी अनुभव करें और दुःख का भी। सुख और दुःख का अनुभव हमें अलग-अलग होता है। इससे तात्पर्य यह है कि हम 'मिश्रित भाव' (mixed feeling) अनुभव नहीं कर सकते।

(५) प्रत्येक भाव की मात्रा एक-सी नहीं होती। कोई भाव बहुत प्रबल हो सकता है, कोई कम प्रबल, और कोई पूर्णतः निर्बल। जैसे किसी समय हम घोर दुःख का अनुभव कर सकते हैं या किसी समय किसी विषय या वस्तु या घटना पर साधारण दुःख का भी अनुभव कर सकते हैं, और कभी ऐसा भी होता है कि किसी घटना को सुनकर बस नाममात्र को ही हमे दुःख होता है और फिर हम दूसरे भाव का अनुभव करने लगते हैं।

(६) जब भी हमें कोई चेतन अनुभूति होती है या हम कोई व्यवहार करते हैं तो उसमे सुख या दुःख का अंश अवश्य मिला रहता है। हमारे व्यवहार के प्रेरकों में से सुख और दुःख बहुत शक्तिशाली हैं। हम वह कार्य करते हैं जिसमे हमे सुख मिले और उस कार्य को करने से अपने को बचाते हैं जिसे करने में हमें दुःख की प्राप्ति हो। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि मनुष्य क्षणिक सुख और स्थायी सुख मे अन्तर करना शीघ्र सीख लेता है। हम उस व्यक्ति को ही उच्च चरित्र और अच्छे विवेक का मानते हैं जो स्थायी सुख की खोज करता है। हम यहाँ भाव को

विशेषता व्यक्त कर सकते हैं कि किसी न किसी प्रकार का भाव व्यक्ति की प्रत्येक अनुभूति और व्यवहार के साथ मिला रहता है।

(७) मनुष्य भाव को सदैव अपने अन्दर अनुभव करता है। इस कारण हम इसको 'आत्मगत' कहते हैं। परन्तु भाव की आत्मगत विशेषता केवल इसकी ही विशेषता नहीं है। जिस समय हमें स्वप्न आते हैं या हम दिवा-स्वप्न में खो जाते हैं तब भी हमारी आत्मगत अनुभूतियाँ अन्य बाह्य परिस्थियों पर कोई प्रकाश नहीं डालतीं, जैसा कि भाव में भी होता है। परन्तु इन्हें हम केवल आत्मगत होने के ही आधार पर भाव नहीं कह सकते। अतएव भाव की आत्मगत विशेषता केवल इसकी ही मुख्य विशेषता हो, ऐसा नहीं है। हम यहाँ यही कह सकते हैं कि भाव भी आत्मगत होते हैं और यह भी बाह्य परिस्थितियों पर कोई प्रभाव नहीं डालते। भाव का अध्ययन केवल आन्तरिक निरीक्षण-विधि द्वारा ही किया जा सकता है।

भाव तथा संवेदना में अन्तर (Distinction Between Sensation & Feeling)

कुछ प्राचीन मनोवैज्ञानिक भाव को संवेदना की ही विशेषता मानते थे। उनके अनुसार प्राथमिक तथा अविकसित संवेदनाएँ ही भाव थीं। परन्तु यह मत अब मान्य नहीं है। यह तो ठीक है कि संवेदना और भाव में कुछ समानताएँ हैं, दोनों ही सरलतम प्राथमिक मानसिक प्रक्रियाएँ हैं जो चेतन अनुभूति के भावात्मक तथा ज्ञानात्मक पहलू से सम्बन्धित हैं; परन्तु भाव और संवेदना एक नहीं हैं, इन दोनों में अन्तर है। हम भाव तथा संवेदना के मुख्य अन्तरों को निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

(१) भाव सदैव संवेदना के बाद आता है। वह संवेदना से पहले नहीं हो सकता है। संवेदना के बिना भाव का अनुभव भी संभव नहीं है। संवेदना द्वारा हमें किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान मिलता है। यह विधेयात्मक होता है जबकि भाव आत्मगत होता है। भाव हमारी अपनी मानसिक अवस्था का वर्णन करता है जो किसी संवेदना को ग्रहण करने के पश्चात् होता है; जैसे—जब हम कोई समाचार सुनते हैं तो हमें श्रवण संवेदना होती है, परन्तु इस समाचार के सुनने से जो सुख या दुःख का अनुभव होता है वह हमारा भाव होता है। [illegible] हमारी अपनी मानसिक अवस्था होती है, जिससे बाह्य जगत की वस्तुओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इस प्रकार संवेदना द्वारा हम बाह्य जगत की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, जबकि भाव हमारी मानसिक अवस्था का बोध कराता है।

[illegible] वेदनाएँ ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर होती हैं। जितने प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ [illegible] प्रकार की संवेदना होती है, जैसे—दृष्टि-सम्बन्धी संवेदना, घ्राण-स्पर्श, स्वाद अथवा गन्ध सम्बन्धी संवेदना। परन्तु भाव केवल [illegible] है, जैसे—सुख का भाव, दुःख का भाव।

(३) संवेदनाओं का सम्बन्ध किसी-न-किसी ज्ञानेन्द्रिय से अवश्य रहता है, इस कारण इनका स्थान-निरूपण हो सकता है परन्तु भाव का सम्बन्ध शरीर के किसी एक विशेष अंग से नहीं रहता वरन् सम्पूर्ण शरीर से रहता है, इस कारण भाव का स्थान-निरूपण सम्भव नहीं होता।

(४) एक समय में मिश्रित संवेदनाएँ हो सकती हैं जबकि मिश्रित भाव का होना सम्भव नहीं है। हम जब खाना खाते हैं तो स्पर्श, गन्ध, स्वाद, दृष्टि इत्यादि की संवेदनाएँ एक ही समय मिश्रित अवस्था में हो जाती हैं परन्तु खाते समय हमें केवल सुख या दुःख के भाव का ही अनुभव हो सकता है। यदि हमें सुख का अनुभव होता है तो दुःख उसके साथ मिश्रित नहीं हो सकता।

(५) संवेदनाओं—जिनका अनुभव किया जा चुका है, की प्रतिमाओं का प्राप्त करना सम्भव है परन्तु भाव सदैव नूतन होता है, उसकी प्रतिमा की मस्तिष्क में अनुस्मृति (reproduction) करना सम्भव नहीं। जैसे—जब हम एक सुन्दर पुष्प को देखते हैं और उस समय हमें सुख की अनुभूति होती है तो कुछ समय पश्चात् जब हम उस पुष्प को मस्तिष्क में पुनः स्मरण करना चाहें तो हमें पुष्प की दृष्टि अथवा गन्ध या स्पर्श सम्बन्धी प्रतिमा तो प्राप्त हो जायेगी, परन्तु सुख के जिस भाव की अनुभूति हमने पुष्प को देखने के समय की है उसकी अनुस्मृति नहीं हो पायेगी।

(६) संवेदना तथा भाव में एक और अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। वह है—ध्यान देने के दृष्टिकोण से। जब संवेदना पर ध्यान दिया जाता है तो वह स्पष्ट हो जाती है परन्तु जब भाव पर ध्यान दिया जाता है तो वह लुप्त हो जाता है। सुख पर ध्यान केन्द्रित करने से हमारे सुख का भाव समाप्त हो जाता है। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि स्पष्टता के दृष्टिकोण से (from the point of view of clearness) संवेदना तथा भाव में अन्तर नहीं किया जा सकता।

ऊपर हमने भाव तथा संवेदना के अन्तरों को व्यक्त किया है। हमने पहले ही कहा है कि भाव संवेदना का एक गुण नहीं है। ऐसा हम कई कारणों से कहते हैं। वह कारण निम्न हैं—

भाव—संवेदना की एक विशेषता नहीं है, क्योंकि—

(१) कुल्पे (Kulpe) नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह कहा कि बिना किसी भाव के भी संवेदना हो सकती है। यदि भाव संवेदना का गुण होता तो बिना इसके संवेदना का कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है। नारंगी की विशेषता उसका आकार-विशेष, स्वाद इत्यादि हैं। यदि बिना इन विशेषताओं के हमें कोई फल मिलता है तो हम उसे नारंगी नहीं कहेंगे। परन्तु क्योंकि संवेदना बिना भाव के मिल जाती है, इस कारण हम भाव को संवेदना का गुण नहीं कहते हैं।

(२) जो भी स्वतन्त्र मानसिक प्रक्रियाएँ होती हैं उनकी अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। हम स्वतन्त्र मानसिक प्रक्रिया की संज्ञा उसी प्रक्रिया को देते हैं जिसमें ये विशेषताएँ पायी जाती हैं और जिनके समन्वय हो जाने से वे अपना स्वरूप ग्रहण करती हैं। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि स्वतन्त्र मानसिक प्रक्रियाओं की विशेषताएँ; जैसे—प्रबलता, (intensity), सत्ता-काल (duration) इत्यादि, भाव तथा संवेदना—दोनों में पाये जाते हैं। इस कारण हम दोनों को ही स्वतन्त्र मानसिक प्रक्रिया की संज्ञा देते हैं। हम भाव को संवेदना की विशेषता नहीं मान सकते।

(३) ऊपर हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि भाव आत्मगत तथा संवेदना विषयात्मक होती है। एक ही प्रकार की संवेदना होने पर भी विभिन्न समय में विभिन्न भाव पाये जाते हैं। जब हम सुन्दर वस्तु को देखते हैं तो हमें सुख का अनुभव होता है। उसी वस्तु को जब हम उस समय देखते हैं जब हमें मालूम है कि उससे हमें हानि पहुँचेगी तो हमें दुःख का अनुभव होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक ही प्रकार की संवेदना सदैव एक ही प्रकार के भाव को उत्पन्न नहीं करती। अतएव हम भाव को संवेदना का गुण नहीं मान सकते।

भाव के प्रकार (*Types of Feelings*)

भाव कितने प्रकार के होते हैं? इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में आपस में मतभेद है। परन्तु अधिकांश मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि भाव दो प्रकार के होते हैं—सुखद और दुखद।

रॉयस महोदय का मत इस विचारधारा से मेल नहीं खाता। उनके अनुसार भाव दो प्रकार के जोड़े में पाये जाते हैं। वे हैं—सुखद-दुखद, उद्दीप्त (excitement)-शान्त (quiet)। सुखद-दुखद के जोड़े में सुखद और दुखद आपस में परस्पर विरोधी हैं, उद्दीप्त एवं शान्त के जोड़े में ये दोनों भी परस्पर विरोधी हैं।

वुण्ट (Wunt) महोदय उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार भावों का वर्गीकरण तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है, वे हैं—(१) सुखद-दुखद (pleasantness-unpleasantness), (२) उद्दीप्त-शान्त (excitement-calm), तथा (३) विक्षेप-विराम (tension-relief)। इस सिद्धान्त को 'भावों का त्रि-दिशात्मक सिद्धान्त' (Tri-dimensional Theory of Feeling) कहते हैं। वुण्ट महोदय के अनुसार इन तीन भावों के विस्तारों (dimensions) में से जिसमें सब प्रकार के भाव आ जाते हैं, हम किसी भी विस्तार पर अपने किसी भी भाव को कहीं भी रख सकते हैं; जैसे—एक क्षण हमें सुख, शान्त या विराम के भाव का अनुभव हो सकता है और दूसरे क्षण दुःख, उद्दीप्त अथवा विक्षेप का अनुभव हो सकता है।

वुण्ट के सिद्धान्त की उसके शिष्य टिचनर (Titchener) ने आलोचना की। अनेक प्रयोगों के प्रमाणों के आधार पर यह तथ्य प्रस्तुत किया गया कि

सुखद एवं दुखद भावों के अतिरिक्त और दोनो भावों के जोड़े स्वतन्त्र नहीं हैं। ये दोनों जोड़े अन्तरावयव और स्नायुविक संवेदनाओं के ही प्रकार हैं, इनका स्वयं मे कोई अस्तित्व नहीं। ये दोनों जोड़े सुखद-दुखद जोड़े के साथ ही सम्मिलित समझे जा सकते हैं। जब हमें सुख का अनुभव होता है तो उसके साथ-साथ उद्दीप्त तथा विराम का भी अनुभव होता है। इसी प्रकार दुःख के साथ-साथ हमें शान्त तथा तनाव की भी अनुभूति होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाव केवल दो प्रकार के होते हैं—सुखद और दुखद। अन्य प्रकार के भावों मे वर्गीकरण की कोई प्रयोगात्मक परिणामों के आधार पर सत्यता नहीं है।

मिश्रित भाव (Mixed Feeling)

यह बात हमने भावों की विशेषताओं के सम्बन्ध मे कही है कि मिश्रित भाव का अनुभव हमे नहीं होता। यह कथन सत्य है। परन्तु फिर भी कुछ मनोवैज्ञानिक इस बात पर बल देते हैं कि मिश्रित भाव सम्भव हैं। वह अपने दृष्टिकोण की पुष्टि इस प्रकार के उदाहरणों द्वारा करते हैं, जैसे—जब हम अपने किसी सम्बन्धी को धन मिलने के सम्वाद से सुख का अनुभव करते हैं परन्तु उसी समय दुखी भी होते हैं कि वह धन हमें नहीं मिला, अथवा अपने मित्र की पदोन्नति से प्रसन्न होते हैं परन्तु दुखी भी होते हैं कि वह हमसे बिछुड़ जायगा। हम परीक्षा मे पास होने के समाचार से प्रफुल्ल हो जाते हैं परन्तु अपने सहपाठियों से बिछुड़ने के विचार से दुखी होते हैं।

उपर्युक्त सब उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि हम एक ही समय पर सुख एवं दुःख; दोनो भावों का अनुभव करते हैं। परन्तु अनेक परीक्षणों के आधार पर जिनका वर्णन करना यहाँ उपयुक्त न होगा, यह सिद्ध हो गया है कि हम एक समय में सुख और दुःख—दोनों का अनुभव नहीं करते बरन् एक क्षण सुख का और दूसरे क्षण दुःख का अनुभव करते हैं। भाव क्षणिक होते हैं और वे एक से दूसरे की ओर शीघ्र स्थानान्तरित हो जाते हैं। अतएव एक समय में हम विशुद्ध भाव (pure feeling) का ही अनुभव करते हैं। हम एक क्षण प्रसन्न हैं कि हमारे सम्बन्धी को आर्थिक लाभ हुआ परन्तु दूसरे ही क्षण, जब हमें अपनी दशा का बोध होता है, हमारा मन क्षोभ से भर जाता है।

संवेग
(Emotions)

संवेग क्या है (What is an Emotion) ?

ऑर्थर टी० जर्सील्ड के अनुसार—"'संवेग' शब्द किसी भी प्रकार से आवेश में आने, भड़क उठने अथवा उत्तेजित होने की दशा को सूचित करता है।"[1]

---

1. "The term emotion denotes a state of being moved, stirred up or aroused in some way."—*Arthur T. Jersild.*

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संवेग के अन्तर्गत भाव, आवेग तथा शारीरिक अथवा दैहिक प्रतिक्रियाएँ—सभी आती हैं। ये भाव, आवेग तथा दैहिक प्रतिक्रियाएँ विभिन्न रूप से मिश्रित होकर तथा विभिन्न श्रेणियों से प्रकट होते हैं। इन भावों और आवेगों को भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। हम दैनंदिन के व्यवहार में ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग करते हैं जो संवेगात्मक दशा को सूचित करते हैं। किन्तु कभी-कभी ऐसी संवेगात्मक दशाएँ भी होती हैं जिनको हम विशिष्ट नाम नहीं दे पाते और उन संवेग को व्यक्त करने के लिये उसे उपयुक्त नाम देने में अपने को असमर्थ पाते हैं। भाव संवेग का अंग होता है। भाव शारीरिक दशा पर निर्भर न होकर मानसिक दशा पर निर्भर होता है। वह एक ऐसा स्वतन्त्र मानसिक अनुभव है जो संवेग के कारण उत्पन्न होता है, जबकि संवेग में भाव, बाह्य उत्तेजना तथा शारीरिक अवयवों और ग्रन्थियों के परिवर्तन—सभी शामिल हैं।

संवेग को जाग्रत करने वाली दशाएँ

संवेग एक ऐसी मिली-जुली अनुभूति है जो बहुत-सी परिस्थितियों से उत्पन्न होती है। अतः किसी भी संवेग अथवा संवेगों के विशिष्ट कारणों को बताना अत्यन्त कठिन है।

संवेगों के कारणों को जानने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रतिदिन के जीवन में आने वाली आवश्यकताओं, प्रेरणाओं, इच्छाओं तथा लक्ष्यों एवं उनके मार्ग में आने वाली बाधाओं का सम्यक् अध्ययन करें। किसी भी व्यक्ति के संवेग बाह्य उत्तेजना द्वारा, किसी बाह्य विषय-वस्तु अथवा घटना द्वारा जाग्रत किये जा सकते हैं। किन्तु कभी-कभी संवेगों का कारण व्यक्ति की अपनी मानसिक दशा या व्यक्तिगत घटना भी हो सकती है। अतः संवेगों के उत्पन्न होने के कारण बाह्य तथा आभ्यन्तर—दोनों ही हो सकते हैं। जैसे, यदि किसी व्यक्ति के आत्मसम्मान पर प्रहार होता है अथवा शरीर पर आक्रमण होने की सम्भावना है तो संवेगों का भड़क उठना स्वाभाविक है। इस प्रकार की घटना से प्रायः निषेधात्मक संवेग (negative emotion); जैसे—भय, क्रोध, जिज्ञासा, अथवा शत्रुता या आत्मापमान आदि की मिली-जुली अनुभूति होती है। संवेगों के उत्पन्न होने का कारण कोई ऐसी घटना अथवा ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं जो व्यक्ति के लक्ष्य-प्राप्ति में बाधा डालती हैं।

वे परिस्थितियाँ जो संवेगों को उद्दीप्त करती हैं, व्यक्ति की रुचि और उसकी योग्यता-वृद्धि के साथ बदलती रहती हैं। शैशवकाल में केवल वे उद्दीपन जो बालक को स्पष्टतः शारीरिक हानि पहुँचाते हैं अथवा वे परिस्थितियाँ जो उसकी सुख-
में बाधा पहुँचाती हैं, बालक में संवेगों को उत्पन्न करने का कारण बन जाते
शिशु बड़ा होता है, उसका कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है और

उसी अनुपात से उसमें अधिक संवेगों के अनुभव करने की क्षमता भी बढ़ती जाती है।

यह पहले बताया जा चुका है कि किसी भी घटना अथवा वस्तु के प्रति व्यक्ति की संवेगात्मक प्रतिक्रिया घटना के स्वरूप और स्वयं व्यक्ति की अन्तर्दशा—दोनों पर ही निर्भर होती है। एक ही घटना एक व्यक्ति को आनन्द प्रदान कर सकती है, और दूसरे व्यक्ति के लिए दुःख का कारण बन सकती है, अतः यह सब व्यक्ति की मनोदशा पर ही आधारित है। यदि किसी बालक को कार्यवश घर से बाहर जाना है और उसी समय वर्षा होने लगती है तो वह खिन्न हो जायगा—दूसरा बालक जो गर्मी की तीव्रता से ऊब चुका है, वर्षा होते देख दौड़कर बाहर आयगा और वर्षा में खूब आनन्द मनायगा। यहाँ एक ही वर्षा की घटना विभिन्न बालकों को विभिन्न मानसिक दशा में विभिन्न प्रकार से दुःख और सुख के भावों का अनुभव कराती है।

कोई भी घटना जो बालक के जीवन में घटित होती है वह बालक में किस संवेग अथवा भाव-भय, सुख-दुख अथवा घृणा को उत्पन्न करेगी—यह इस पर आधारित होगा कि बालक उस घटना से कैसे और कितना लाभान्वित होगा अथवा उसे क्या हानि उठानी पड़ेगी, वह अपने से स्वयं क्या आशा रखता है अथवा दूसरे उससे क्या आशा करते होंगे।

संवेगों को जाग्रत करने की दूसरी परिस्थितियाँ हैं—रुचि और भय। जैसे-जैसे रुचि बदलती जाती है और व्यक्ति की योग्यता-वृद्धि होती जाती है, वैसे ही वैसे बहुत से संवेगों को ग्रहण करने की क्षमता घटती जाती है। जो बालक प्रारम्भ में अनेक भाइयों और बहिनों के प्रति ईर्ष्या करता है; किन्तु जैसे ही वह बाहर समाज में आने-जाने लगता है, उसकी रुचियों और स्वार्थों का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, वैसे ही उसकी ईर्ष्या-भावना में भी किसी मात्रा तक कमी होती जाती है। किन्तु यह कहना भी असंगत होगा कि संवेग उम्र के साथ कम होते जाते हैं। वस्तुतः होता यह है कि पुरानी संवेगात्मक ग्रहण-शक्ति नवीन संवेगों को ग्रहण करने योग्य हो जाती है और पुराने संवेगों के स्थान को नये संवेग ग्रहण कर लेते हैं। वयस्क भी संवेगों से उतना ही प्रभावित होता है जितना कि छोटा बालक।

कुछ ऐसे संवेग होते हैं जो व्यक्ति के विकास की प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक दशा में व्यक्ति द्वारा अनुभव किये जाते हैं, जैसे—'डर'। "एकायक तीव्र आवाज से व्यक्ति डर जाता है"—यह संवेगात्मक अनुभव सभी अवस्था के व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। किन्तु कुछ ऐसे भी संवेग हैं जो किसी क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं। वे तभी अनुभूत होते हैं जब बालक एक विशेष परिपक्वावस्था पर पहुँच जाता है।

संवेग की परिभाषा (Definition of Emotion)

संवेग की परिभाषा विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न प्रकार से दी जाती है। ये सब परिभाषाएँ इस ओर संकेत करती हैं कि 'संवेग' एक जटिल भावात्मक मानसिक प्रक्रिया है। जिस समय भाव की अभिव्यक्ति बाह्य एवं आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनों में हो जाती है तो उसे हम 'संवेग' कहने लगते हैं। संवेग की जो परिभाषा पी० टी० यंग (P. T. Young) महोदय द्वारा दी गयी है वह उपयुक्त प्रतीत होती है। इनके अनुसार, "संवेग सम्पूर्ण व्यक्ति में तीव्र उपद्रव उत्पन्न करने वाला है, जिसका उद्गम मनोवैज्ञानिक होता है तथा जिसके फलस्वरूप व्यवहार, चेतन अनुभूति तथा अन्तरावयव-सम्बन्धी क्रियाएँ होती हैं।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा से संवेग की निम्न विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) संवेग की उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है—संवेग मादक पदार्थों के द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। गांजा, भांग अथवा अन्य मादक द्रव्यों के सेवन से जो व्यवहार में अस्तव्यस्तता आ जाती है, उससे हम किसी भी प्रकार के संवेग का अनुभव नहीं करते।

(२) संवेग तीव्र उपद्रव होता है—यह यकायक उत्पन्न होता है और तीव्रता लिये होता है और कुछ क्षण बाद लुप्त हो जाता है। लेकिन सभी संवेग तीव्र हों, ऐसा नहीं है। संवेग उत्पन्न होने पर कितने ही व्यक्ति ऐसे कार्य कर लेते हैं जो सामान्य अवस्था में वे करने में असमर्थ होते हैं। अतएव यह कहना कि संवेग की दशा में सदैव व्यक्ति पंगु बन जाता है और कुछ भी करने में असमर्थ रहता है, गलत है। अतएव यंग की परिभाषा इस आधार पर पूर्णतः ठीक नहीं कही जा सकती। इसको ठीक करने के लिए हमें 'सापेक्ष' (relative) शब्द का उपयोग करना होगा। संवेग अन्य मानसिक प्रक्रियाओं; जैसे—भाव, स्थिति (mood) इत्यादि—की अपेक्षा अधिक तीव्र होते हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि संवेग मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न, सम्पूर्ण जीव का सापेक्षतया (relatively) तीव्र उपद्रव है।

(३) संवेग यकायक उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होने के लिए विशेष समय की आवश्यकता नहीं होती।

(४) संवेग की उत्पत्ति के लिए बाह्य या आन्तरिक उद्दीपक का होना आवश्यक है। संवेग इन्हीं उद्दीपकों के द्वारा उत्पन्न होता है।

(५) संवेग होने के फलस्वरूप व्यवहार, चेतन अनुभूति तथा अन्तरावयव-सम्बन्धी क्रियाएँ होती हैं।

---

1. "Emotion is an accute disturbance of the individual as a whole, psychological in origin, involving behaviour conscious experience and visceral functioning."—*P. T. Young.*

उपर्युक्त वर्णन की हुई पाँच विशेषताओं के कारण ही यंग द्वारा दी हुई संवेग की परिभाषा उपयुक्त प्रतीत होती है। जब भी हम एक व्यक्ति में किसी संवेग का विश्लेषण करते हैं तो हमें ये पाँचों विशेषताएँ उसमें मिलती हैं। उदाहरण के लिए, जब हम रात को एकान्त में बैठे हुए कुछ कार्य कर रहे हैं और एकदम से किसी भयावनी आवाज को सुनकर भयभीत हो जाते हैं तो हमारे भय के संवेग की अनुभूति में ऊपर दी हुई पाँचों विशेषताएँ पायी जाती हैं। सबसे प्रथम तो यह कि संवेग की उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है। हम आवाज से भयभीत उसी समय होते हैं जब हम उसे भयावह सुनते हैं। यदि हम उस आवाज को सुनने के अभ्यस्त हो जाते हैं या उसको सुनने की हमें आशा है और हम जानते हैं कि यह कैसे उत्पन्न होती है और हमारे लिए हानिकारक नहीं है, तब संवेग उत्पन्न नहीं होगा; अर्थात् मनोवैज्ञानिक कारण एवं भयावह होना—दोनों ही हमारे भय के संवेग की विशेषताएँ हैं। तीसरे, जब हम भय के संवेग का अनुभव करते हैं तो हम में एक प्रकार का तीव्र उपद्रव उत्पन्न हो जाता है जो हमारे सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त इस संवेग को उत्पन्न होने के लिए बाह्य उद्दीपक (भयावनी आवाज) या आन्तरिक उद्दीपक (व्यक्ति की मनोदशा) का होना आवश्यक है तथा व्यक्ति में भय की दशा में आन्तरिक एवं बाह्य शारीरिक परिवर्तन भी होने लगते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जब व्यक्ति संवेग का अनुभव करता है तो उसमें निम्न प्रकार की तीन क्रियाएँ होती हैं—

१. चेतन-अनुभूति सम्बन्धी (Conscious Experience),
२. व्यवहार सम्बन्धी (Behaviour), तथा
३. अन्तरावयव सम्बन्धी (Visceral Functioning)।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि जब कोई व्यक्ति संवेग की अनुभूति करता है तो उसका क्रम कुछ इस प्रकार होता है—

(१) उस परिस्थिति, कल्पना या स्मृति का प्रत्यक्षीकरण जो प्राणी को किसी प्रकार के सुख—भौतिक, मानसिक, सामाजिक—को ठेस पहुँचाती है और इस प्रकार प्राणी को उत्तेजित करती है।

(२) इस उत्तेजित परिस्थिति का व्यक्ति को ज्ञान होना या चेतन अनुभूति हो जाना।

(३) उत्तेजना के फलस्वरूप व्यक्ति में क्रिया करने की प्रवृत्ति का उद्बोधन हो जाना एवं उसमें बाह्य तथा आन्तरिक परिवर्तनों का होना।

(४) अन्त में व्यक्ति में विशेष उत्तेजना के कारणवश अथवा परिस्थिति-विशेष के हेतु संवेगात्मक व्यवहारों का हो जाना।

संवेग तथा भाव में अन्तर (Distinction between Emotion & Feeling)

कुछ मनोवैज्ञानिक भाव तथा संवेग में अन्तर नहीं करते, वे दोनों को एक

समान ही समझते हैं, परन्तु यह दृष्टिकोण गलत है। इन दोनों में अन्तर है, हालाँकि दोनों का सम्बन्ध मन के भावात्मक पहलू (feeling aspect) से है। संवेग तथा भाव दो भिन्न मानसिक प्रक्रियाएँ हैं क्योंकि दोनों में निम्नलिखित अन्तर हैं—

(१) भाव सरल एवं प्राथमिक मानसिक प्रक्रिया है परन्तु संवेग एक जटिल भावात्मक मानसिक प्रक्रिया है (complex affective mental activity)। भाव का विश्लेषण संभव नहीं जबकि संवेग का विश्लेषण इसमें सन्निहित विभिन्न उपक्रियाओं में किया जा सकता है।

(२) संवेग के होने के पूर्व भाव होता है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक संवेग के साथ कोई-न-कोई भाव सम्बन्धित रहता है। हम प्रत्येक संवेग का वर्गीकरण दो भावात्मक अनुभूतियों—सुख तथा दुःख—के अन्तर्गत कर सकते हैं।

इस प्रकार संवेग और भाव में गहरा सम्बन्ध है। प्रत्येक संवेग में भाव का होना आवश्यक है परन्तु जब संवेग का अभाव होता है तभी भाव की अनुभूति होती है। व्यक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहारों में जब भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है तो वह संवेग का रूप धारण कर लेती है। अतएव हम भाव तथा संवेग का अन्तर इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि भाव संवेग सम्मिलित नहीं होता जबकि संवेग भावायुक्त होता है।

(३) भाव केवल दो प्रकार का मान्य है—सुख का भाव एवं दुःख का भाव परन्तु संवेग कई प्रकार होता है। उसके अन्तर्गत हम भय, क्रोध, प्रेम, घृणा, शोक, आश्चर्य इत्यादि को रख सकते हैं।

(४) भाव आत्मगत (subjective) होता है। संवेग आत्मगत तथा वस्तुगत (Subjective & objective) दोनों प्रकार का होता है। भाव के आत्मगत होने से हमारा तात्पर्य यह है कि भाव की अनुभूति हमें स्वयं अपने अन्दर होती है, हम किसी दूसरे के भाव का अनुभव या उसको प्रत्यक्ष रूप से देख सकने में असमर्थ रहते हैं। संवेग को आत्मगत और वस्तुगत—दोनों कहा जाता है क्योंकि संवेग, जैसे क्रोध या भाव, व्यक्ति अपने आप में अनुभव करता है और इसके साथ ही साथ आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहारों में इसकी अभिव्यक्ति भी होती है।

(५) जब संवेग होता है तब व्यक्ति में अनेक प्रकार के आन्तरिक एवं बाह्य शारीरिक परिवर्तन होते हैं। परन्तु जब भाव होता है तब व्यक्ति किसी भी प्रकार के शारीरिक परिवर्तन को व्यक्त नहीं करता। जब हम क्रोधित होते हैं तो हमारी आँखें लाल हो जाती हैं, आवाज तेज हो जाती है, हम होंठ भींचने लगते हैं और हमारा शरीर काँपने लगता है। ये सब बाह्य शारीरिक परिवर्तन होते हैं, इसके साथ-साथ कुछ आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन भी होते हैं, जैसे—पाचन-क्रिया में बाधा, हृदय की तीव्रता, रक्तचाप में वृद्धि—इत्यादि। किन्तु जब हमें सुख या दुःख का भाव अनुभूत होता है, तब कोई भी शारीरिक परिवर्तन नहीं होते।

(६) संवेग के समय हमारे शरीर पर भाव की अनुभूति ■ समय की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। जब भाव होता है तब हमारे स्नायुमण्डल का बहुत कम भाग बृहत्-मस्तिष्कीय ब्लक (cerebral cortex) ही प्रभावित होता है, जबकि संवेग की अवस्था में बृहत्-मस्तिष्कीय ब्लक एवं स्वतः संचालित स्नायुमण्डल एवं हाइपोथैलमस भी प्रभावित होते हैं। यही कारण है कि भाव की अपेक्षा संवेग के समय व्यक्ति अधिक सक्रिय दिखाई पड़ता है।

(७) भाव के समय व्यक्ति की साधारण अवस्था (normal state) ही रहती है जबकि संवेग के समय वह अधिकतर असामान्य अवस्था (abnormal state) धारण कर लेता है। जब संवेग उग्र होता है तो हमारी सब क्रियाएँ अव्यवस्थित हो जाती हैं परन्तु भाव के समय हम सामान्य रूप से ही क्रियाएँ करते रहते हैं। अत्यधिक क्रोध के समय हम बहुधा वे कार्य करने लगते हैं जो एक पागल मनुष्य को ही शोभा देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव और संवेग में अनेक अन्तर हैं। शारीरिक परिवर्तन—बाह्य एवं आन्तरिक संवेग की विशेषताएँ हैं, जबकि भाव में ये परिवर्तन नहीं होते हैं। यहाँ अब हम संवेग के शारीरिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में ही अध्ययन करेंगे।

संवेग के प्रदर्शन में शारीरिक परिवर्तन
(Physiological Changes Involved in the Expression of Emotion)

जब हमें कोई संवेगात्मक अनुभव होता है तो हमारे शरीर में कई प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। ये परिवर्तन आन्तरिक तथा बाह्य—दोनों प्रकार के होते हैं। इन परिवर्तनों का प्रयत्क्षीकरण करने से यह पता चल जाता है कि किस प्रकार के संवेगात्मक अनुभव का प्रदर्शन हो रहा है। संवेग में शारीरिक परिवर्तनों का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। इनके आधार पर हम कह सकते हैं कि संवेग का प्रदर्शन तीन प्रकार के परिवर्तनों द्वारा होता है। ये हैं—

१—चेतना में परिवर्तन,
२—बाह्य व्यवहार में परिवर्तन, तथा
३—आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन।

१. चेतना में परिवर्तन (Changes in Consciousness)

संवेग के सम्बन्ध में जो अध्ययन किये गये हैं उनमें अन्तर्दर्शन विधि (introspection) अपनाने की चेष्टा की गयी। परन्तु यह विधि अधिक सफल न हो सकी क्योंकि जैसे ही संवेग का अन्तर्दर्शन किया गया, संवेग की अवस्था समाप्त हो गयी। जैसे—जब हम क्रोधित होते ■ और क्रोध के समय उस पर विचार करने लगते हैं तो क्रोध समाप्त हो जाता है और उसका अध्ययन करना उस समय, जब क्रोध हो रहा हो, असम्भव हो जाता है। यही कारण है कि संवेग की अवस्था में चेतना में परिवर्तन

का वैज्ञानिक अध्ययन ठीक रूप से नहीं हो पाया है। जो भी अध्ययन हुए हैं, वे पश्चात् दर्शन (retrospection) के आधार पर हुए हैं। इससे पता चलता है कि जब कोई व्यक्ति संवेग का अनुभव करता है तो इस स्थिति में उसकी सम्पूर्ण मानसिक क्रियाएँ बदल जाती हैं। इस स्थिति में स्मृति क्षीण पड़ जाती है, सम्पूर्ण ध्यान उस समय की संवेगात्मक परिस्थिति पर केन्द्रित हो जाता है, जो कुछ प्रत्यक्षीकरण उस समय होते हैं, वह संवेग से ही सम्बन्धित होते हैं। संवेग की अवस्था में व्यक्ति की तार्किक शक्ति मन्द पड़ जाती है और वह अपनी बौद्धिक योग्यता से कार्य न करके केवल उस समय की अपनी मनोदशा के अनुसार कार्य करता है। यही कारण है कि वह संवेग के समय शीघ्र निर्देशित हो जाता है और अपने विवेक और बुद्धि का उपयोग न करके उत्तेजित होकर कार्य करने लगता है। उसकी संकल्प-शक्ति इस अवस्था में निर्बल पड़ जाती है और उसके व्यवहार में अनैच्छिक क्रियाओं की प्रधानता पायी जाती है।

२. बाह्य व्यवहार में परिवर्तन (Changes in External Behaviour)

संवेग की अवस्था में जो शरीर में बाह्य व्यवहार में परिवर्तन होते हैं वह निम्न प्रकार के हैं—

(१) मुखमण्डलीय प्रकाशन (Facial Expressions)—*मुख में होने वाले परिवर्तनों को ही सबसे प्रथम देखकर हम यह अनुमान लगाते हैं कि व्यक्ति-विशेष को किस प्रकार का संवेग हो रहा है। हम व्यक्ति के चेहरे को देखकर ही समझ जाते हैं कि वह प्रसन्न है अथवा क्रोधित। संवेग के प्रदर्शन के समय मुख की आकृति बदल जाती है, मुख के रंग में परिवर्तन आ जाता है, भौंहें चढ़ जाती हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, माथे पर पसीना आने लगता है—इत्यादि।*

मुखाकृति के आधार पर संवेगों का पता लगाने के सम्बन्ध में जिन वैज्ञानिकों ने अध्ययन किये, उनमें डार्विन (Darwin), फर्नबर्गर, पिडरिट (Pidrit), लैण्डिस Landis) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डार्विन तथा फर्नबर्गर आदि के कुछ चेहरों के चित्रों (photographs) को—जो किसी-न-किसी संवेग को व्यक्त करते थे—कुछ निर्णायकों (judges) के समक्ष रखा गया और उनसे चेहरों को देखकर प्रदर्शित संवेग को बताने को कहा गया। यह देखा गया कि निर्णायकों के विचारों में विभिन्न मुखाकृति द्वारा प्रकाशित विभिन्न संवेगों के पहिचान में बहुत अन्तर था। उसी मुखाकृति को किसी ने आश्चर्य का संवेग का द्योतक बताया तो किसी ने किसी और संवेग का द्योतक। इन प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया कि उस समय तक जब तक यह पूर्व ज्ञान न हो कि चित्र लेते समय व्यक्ति किस परिस्थिति में था, केवल चेहरे के चित्र को देखकर संवेग का बता देना कठिन है।

(२) वाणी में परिवर्तन (Vocal changes)—*संवेग की अवस्था में* व्यक्ति की वाणी में भी परिवर्तन आ जाता है। जब हम रोते-चिल्लाते, हँसते, और

चित्र नं० २०
चिन्ता एवं शोक को व्यक्त करने वाले विभिन्न चित्र।
इन चित्रों की मुखाकृति देखकर बताइये कौन से संवेग की
अनुभूति हो रही है।

…बोलते या कराहते हैं तो हम ऐसा किसी-न-किसी संवेग का अनुभव करते हुए …ते हैं। संवेग के समय हमारे 'स्वर की गम्भीरता', ऊँचाई तथा गति सामान्य दशा …अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है। जब हम क्रोधित होते हैं तो जोर से बोलने लगते हैं …चिल्लाने लगते हैं। विषाद में होते हैं तो सिसकने या रोने लगते हैं। प्रेमविभोर …कर हमारी वाणी मधुर और सरस हो जाती है। परन्तु केवल वाणी के आधार … संवेग को पहिचानना कठिन है। कभी-कभी हम अपनी वाणी को उस समय भी …र बना लेते हैं जब हमें क्रोध का संवेग हो रहा है। इसी प्रकार से कभी-कभी … संवेगों से सम्बन्धित वाणी को हम उस समय बदल कर, जब हमें वह संवेग हो … हैं, अपने व्यवहार का निरीक्षण करने वालों को भ्रम में डाल देते हैं। जब हम …त प्रसन्न होते हैं तब भी रोने लगते हैं। हमारे व्यवहार के निरीक्षण करने वाले …रे रोने को विषाद का संवेग समझ सकते हैं।

चित्र—२१

[विदा के समय हम विषाद के संवेग से भर उठते हैं][

(३) शारीरिक-मुद्रा में परिवर्तन (Postural Changes)—संवेग की स्थिति … व्यक्ति के शरीर की मुद्रा में भी परिवर्तन हो जाता है। जब हम क्रोधित होते हैं तो …न कर खड़े हो जाते हैं, हाथों को इधर-उधर फेंकने लगते हैं। भयभीत होने लगते … तो दुबक कर बैठ जाते हैं। प्रसन्न होते हैं तो हमारा सीना तन जाता है और सिर …ँचा उठ जाता है। दुखी होने पर हमारा सारा शरीर झुक जाता है। इस प्रकार …शारीरिक मुद्रा में परिवर्तन हमारे संवेग के अनुभव करने के समय होते हैं। परन्तु

शारीरिक मुद्रा-परिवर्तन में भी वैयक्तिक विभिन्नता पायी जाती है। एक व्यक्ति भय के समय भागने लगता है तो दूसरा कर्त्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा रह जाता है। इसी प्रकार शरीर-मुद्रा द्वारा संवेग के प्रकाशन पर संस्कृति का भी प्रभाव पड़ता है। इसीलिए हम शारीरिक मुद्रा के आधार पर शत-प्रतिशत ठीक रूप से संवेग की पहचान नहीं कर सकते।

३. आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन (Internal Bodily Changes in Emotio

संवेग के उत्पन्न होने के समय व्यक्ति की अनेक आन्तरिक क्रियाओं परिवर्तन होता है। इन आन्तरिक परिवर्तनों का अध्ययन हम बाह्य रूप से नहीं सकते। मनोवैज्ञानिकों ने इन परिवर्तनों का निरीक्षण करने के लिए अनेक विशि यन्त्रों (special instruments) का निर्माण किया है। इन यन्त्रों में से उल्लेखनी हैं—न्यूमोग्राफ (pneumograph) जिसकी सहायता से श्वास-गति का अध्ययन कि जाता है, स्फिग्मोमानोमीटर (sphygmomanometer) जो रक्तचाप और नाड़ी गति के परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिए उपयोग किया जाता है। प्लीथस्मोग्रा (plethysmograph) के द्वारा अंग प्रसरण का पता लगाया जाता है। इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ (electrocardiograph) द्वारा हृदय गतीय क्रियाओं का अध्ययन कि जाता है तथा साइकोगैलवानोमीटर (psychogalvanometer) द्वारा पसीने की ग्रन्थियों की क्रियाओं तथा त्वचा की विद्युत् अवरोध शक्ति का पता लगाया जाता है। अब हम विभिन्न यन्त्रों द्वारा अध्ययन किए हुए संवेग की अवस्था में विभिन्न आन्तरिक परिवर्तनों पर प्रकाश डालेंगे। इसके अतिरिक्त संवेग में सन्निहित नाड़ी मण्डल के भागों के महत्त्व का भी विस्तृत वर्णन करेंगे—

(१) साँस की गति में परिवर्तन (Changes in Respiration)—संवेग की अवस्था में प्रायः साँस की गति में परिवर्तन आ जाता है। यह सामान्य अवस्था की अपेक्षाकृत या तो तेज हो जाती है या धीमी पड़ जाती है। जब हमें अवसाद (depression) होता है या दुःख होता है तो साँस की गति धीमी हो जाती है परन्तु क्रोध या भय की अवस्था में यह गति बढ़ जाती है। साँस की गति का मापन, जैसे ऊपर बताया गया है, न्यूमोग्राफ (pneumograph) द्वारा किया जाता है।

(२) हृदय की गति में परिवर्तन (Changes in the Heart Beat)—संवेग की अवस्था में हृदय की गति में भी परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ (electrocardiograph) यन्त्र द्वारा मापा जाता है। हृदय की गति प्रायः संवेग की अवस्था में तेज हो जाती है। पर कभी-कभी जब कोई संवेग बहुत अनिष्टकारी हो, जैसे—भय का संवेग, तो हृदय की गति धीमी भी पड़ जाती है।

(३) नाड़ी की गति में परिवर्तन (Changes in Pulse Rate)—हृदय की गति में परिवर्तन होने के साथ, संवेग की अवस्था में नाड़ी की गति में भी परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन को स्फिग्मोमानोमीटर (sphygmomanometer) यन्त्र से मापा जाता है।

चित्र नं० २२

प्रसन्नता के समय शारीरिक मुद्रा में परिवर्तन आ जाता है।

(४) रक्त-संचार में परिवर्तन (Changes in the Circulation of Blood) की अवस्था में रक्त-संचार की गति तथा विस्तार मे परिवर्तन आ है। प्रायः यह बढ़ जाता है। परन्तु भय के सवेग के समय रक्त-संचार की धीमी पड़ जाती है।

(५) रक्तचाप में परिवर्तन (Changes in Blood Pressure)—सवेगात्मक था में रक्तचाप में भी परिवर्तन आ जाता है। इस सम्बन्ध मे मार्स्टन rston) तथा लार्सन (Larson) ने अध्ययन किये और उन्होने इस बात की पुष्टि कि संवेग की अवस्था में रक्तचाप में परिवर्तन हो जाता है।

(६) रक्त के रासायनिक तत्त्वों में परिवर्तन (Changes in Blood-emicals)—कैनन इत्यादि मनोवैज्ञानिकों ने कुत्ते, बिल्ली तथा मनुष्य पर अनेक ण किये। रासायनिक तत्त्वों में परिवर्तन मापने वाले यन्त्रों का उपयोग करते ता चला कि संवेग के समय रक्त के रासायनिक तत्त्वों मे भी परिवर्तन हो ा है।

(७) रसपाक में परिवर्तन—(Metabolic Changes)—अनेक सवेगात्मक स्थाओं में रसपाक में भी परिवर्तन पाया गया है, विशेष तौर पर क्रोध और की संवेगात्मक अवस्था मे। परन्तु प्रेम के सवेग के समय रसपाक मे कोई र्तन नहीं पाया गया।

(८) पाचन-क्रिया में परिवर्तन (Changes in Digestive Function)—संवेग अवस्था मे पाचन-क्रिया पर बहुत प्रभाव पडता है। हमारी पाचन-क्रिया संवेग के य या तो (१) बिल्कुल बन्द हो जाती है, या (२) मन्द पड़ जाती है, या (३) तेज जाती है। जब संवेग होने से पाचन-क्रिया बन्द हो जाती है या मन्द पड़ जाती तो व्यक्ति को कब्ज (constipation) की शिकायत हो जाती है। जब पाचन-क्रिया अधिक तेज हो जाती है तो व्यक्ति को दस्त आने लगते हैं। मूत्रस्राव भी संवेग अवस्था मे अधिक तेजी से होने लगते हैं। सवेग की अवस्था मे पाचन-क्रिया पर प्रभाव पड़ने के कारण ही यह कहा जाता है कि खाना खाते समय क्रोध नहीं ना चाहिए या जब व्यक्ति खाना खा रहा हो तो उसे विषाद और दुःख देने वाली नाएँ नहीं सुननी चाहिए।

(९) त्वक्-प्रतिक्रिया परिवर्तन (Changes in Galvanic Skin Response)—जिस समय संवेग होते हैं उस समय त्वक्-प्रतिक्रिया परिवर्तन भी होते हैं। रन्तु विशिष्ट संवेगों के साथ इस परिवर्तन का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सका । त्वक्-प्रतिक्रिया परिवर्तन—रोंगटों के खड़े हो जाने, शरीर मे रोमांच या सिहरन उत्पन्न होने अथवा पसीने की ग्रन्थियों में परिवर्तन द्वारा व्यक्त होते हैं।

त्वक्-परिवर्तनों के साथ-साथ मानसिक तरंगों में भी अनेक परिवर्तन संवेग की अवस्था में पाये जाते हैं।

(१०) ग्रन्थियों की क्रियाओं में परिवर्तन (Changes in the Activities of

the Glands)—संवेग की अवस्था में अनेक ग्रन्थियों के स्राव में भी परिवर्तन पाये गये हैं। जिन ग्रन्थियों में विशेष रूप से ये परिवर्तन पाये जाते हैं, वे हैं—

(१) एड्रीनल ग्रन्थि (adrenal gland), (२) लार ग्रन्थि (salivary gland), (३) अश्रु ग्रन्थि (tear gland), तथा स्वेद ग्रन्थि (sweat gland)—इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवेग की अवस्था में व्यक्ति में अनेक आन्तरिक परिवर्तन पाये जाते हैं। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि प्रायः एक ही प्रकार के आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन विभिन्न संवेग की दशाओं में पाये जाते हैं और प्रत्येक संवेग में एक विशिष्ट प्रकार के आन्तरिक परिवर्तनों की शृंखला एक ही जैसी नहीं पायी जाती।

संवेग में सन्निहित नाड़ी यन्त्र
(Neural Mechanisms Involved in Emotion)

संवेग के उत्पन्न होने पर हमारा सम्पूर्ण शरीर उत्तेजित हो जाता है और हम अंग-विशेष के साथ संवेग का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते हैं। परन्तु फिर भी अध्ययनों द्वारा यह पता चलता है कि संवेग की अवस्था में हमारे नाड़ीमण्डल के कुछ भाग विशेष रूप से उत्तेजित हो जाते हैं। इन भागों के नाम हैं—

(१) स्वयं संचालित नाड़ीमण्डल, (२) वृहत् मस्तिष्कीय वल्क (cereb cortex), (३) हाइपोथैलमस (hypothalamus)। हम संवेग की अवस्था में इन म के महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे।

१. स्वयं संचालित नाड़ीमण्डल

हमने स्वयं संचालित नाड़ीमण्डल के सम्बन्ध में तीसरे अध्याय में विस्ता पूर्वक वर्णन किया है। वहां हमने यह बात स्पष्ट कर दी है कि इस नाड़ीमण के दो भाग हैं—अनुकम्पिक (sympathetic) नाड़ीमण्डल, और परा-अनुकम्पि (Para-symathetic)नाड़ीमण्डल। संवेग की अवस्था में अनुकम्पिक मण्डल क्रियाशी हो जाता है। उसके क्रियाशील होने के कारण लाल-स्राव बन्द हो जाता है। हृदय थड़कन तेज हो जाती है, ऐड्रीनल ग्रन्थियाँ उत्तेजित हो जाती हैं। ये ग्रन्थियाँ रक्त शक्कर को जो सुरक्षित शक्ति के रूप में हमारे शरीर में रहती है, मिला देती हैं जिस व्यक्ति अधिक शक्ति से कार्य करने लगता है। इसके विपरीत जब परानुकम्पि मण्डल सक्रिय होता है तो लार टपकना बढ़ जाता है, हृदय की गति मन्द पड़ जाती है और एड्रीनल ग्रन्थि की सक्रियता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की परानुकम्पि नाड़ीमण्डल की क्रियाओं के आधार पर ही केनन और बार्ड महोदयों ने सहानुभूतिक मण्डल को ही संवेग का आधार माना है।

वर्तमान अध्ययनों से जो पशुओं पर किये गये हैं, यह बात सिद्ध हो गई है कि संवेग की अवस्था में न केवल सहानुभूतिक मण्डल, वरन् परासहानुभूतिक मण्डल भी क्रियाशील हो जाता है। अतएव अब यह विश्वास किया जाता है कि संवेग की अवस्था में सम्पूर्ण स्वतः चालित नाड़ीमण्डल सक्रिय रहता है।

२. संवेग में वृहत्-मस्तिष्कीय वल्क की क्रियाएँ (Role of Cerebral Cortex in Emotion)

संवेग के समय वृहत्-मस्तिष्कीय वल्क की क्रियाओं का बहुत महत्त्व है। प्राणी संवेगात्मक परिस्थिति का अनुभव वृहत्-मस्तिष्कीय वल्क के द्वारा ही करता है। बिल्ली जिसका यह भाग काट दिया गया था, कुत्ते के समक्ष होने पर भी निष्क्रिय बैठी रही। इस प्रकार वह संवेगात्मक परिस्थिति के साथ अभियोजन सफलता के साथ न कर सकी। अतएव हम कह सकते हैं कि यह भाग संवेगात्मक परिस्थिति के साथ सफल अभियोजन करने के लिए आवश्यक है।

प्रयोगों द्वारा यह भी देखा गया है कि जिस व्यक्ति में यह भाग नहीं होता वह संवेगात्मक परिस्थिति के हट जाने के तुरन्त बाद संवेगात्मक शारीरिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ हो जाता है। साधारणतया सामान्य दशा में व्यक्ति संवेगात्मक परिस्थिति के हट जाने के बाद भी कुछ काल तक उस संवेग से वशीभूत रहता है, जैसे—हम साँप से भयभीत हो जाते हैं तो साँप के हट जाने के बाद भी कुछ देर तक भयभीत ही रहते हैं, परन्तु ऐसा वृहत्-मस्तिष्कीय वल्क के अभाव में सम्भव नहीं है।

वृहत् मस्तिष्कीय वल्क का एक और महत्त्व भी है। वह यह कि यह संवेगात्मक व्यवहार की तीव्रता को रोकता है। जिन प्राणियों में यह नहीं होता वह अपने संवेगों का प्रकाशन बहुत तीव्रता के साथ करते हैं। वास्तव में मनोवैज्ञानिकों का यह विचार है कि इस भाग द्वारा हाइपोथेलमस (hypothalmus) तथा अन्य नाड़ी-ग्रन्थों की क्रियाओं को नियन्त्रित रखा जाता है।

३. संवेग में हाइपोथेलमस की क्रियाओं का महत्त्व (Role of Hypothalamus in Emotion)

संवेग की अवस्था में हाइपोथेलमस की क्रियाओं का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कैनन (Cannon), बार्ड (Bard) इत्यादि ने भी प्रयोगात्मक आधारों पर इस भाग के महत्त्व पर बल दिया है। देखा गया है कि जिन जानवरों के मस्तिष्क में से हाइपोथेलमस भाग निकाल दिया गया, वे संवेगात्मक प्रकाशन करने में असमर्थ रहे। यह भी देखा गया कि जब मस्तिष्क के दूसरे भाग हटाये गये तो यह असमर्थता रही या नहीं। यह पाया गया कि मस्तिष्क के दूसरे भाग हटाने से इस प्रकार की असमर्थता नहीं रही। इस प्रकार संवेगात्मक प्रकाशन में यह भाग अत्यन्त महत्त्व का सिद्ध हुआ। परन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिए कि संवेग की अवस्था में केवल यही भाग महत्त्वपूर्ण नहीं है। हमने ऊपर देखा है कि वृहत्-मस्तिष्कीय वल्क तथा स्वतः चालित नाड़ीमण्डल भी संवेगात्मक अनुभूति के लिए आवश्यक है।

चित्र—२१

[भय के संवेग का प्रदर्शन]

किसी व्यक्ति की 'भय' की मनोदशा केवल बाह्य कारणों पर ही आधारित हीं है वरन् क्रोध की तरह बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के अनगिनत कारणों ीर परिस्थितियों पर निर्भर होती है; जैसे—घटना के समय प्राणी की शारीरिक ीर मानसिक दशा, चारों तरफ का वातावरण, पूर्व धारणाएं, किसी घटना की ातकता को समझने की क्षमता, व्यक्ति के जीवन की परिस्थितियां जिनके कारण वह ात्म-विश्वास खो चुका है—आदि।

अतः भय के मनोविकार को बिना व्यक्ति के अन्तर्जगत् में झांके नहीं समझा

। . ।।

भय का प्रकाशन (Expression of Fear)—भय का प्रकाशन भी विविध प्रकार से होता है। इसकी अभिव्यक्ति के प्रत्यक्ष चिह्न—काँपना, चीखना, पसीना आना, भागना, मुख विवर्ण होना इत्यादि हैं। इसमें व्यक्ति का रक्तचाप भी बढ़ जाता है और कभी तो वह बेहोश भी हो जाता है। किन्तु कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है जो अत्यन्त डरा हुआ हो किन्तु इस प्रकार के अनुभवों को प्रकट न होने दे। वह दिखाने के लिए अपने चेहरे पर मुस्कराहट ला सकता है और इस प्रकार का व्यवहार कर सकता है जैसे कि वह बिल्कुल ही भयभीत न हो जबकि मन में वह भीषण रूप से डर रहा हो। झगड़ालू और विद्रोही बालक भी अपने अन्तः में भयाक्रान्त हो सकते हैं। कभी-कभी लोग अपने भय को छिपाने के लिए 'क्रोध' का प्रदर्शन करते हैं। कभी-कभी मृदु व्यवहार और उपेक्षा दिखाकर अपने भय को छिपाना चाहते हैं।

प्रेम (Affection)

जैसे ही बालक जन्म लेता है, वैसे ही उसे अपने माँ-बाप और सगे-सम्बन्धियों का प्यार मिलता है। वह प्रेम जो बालकों को दूसरों से प्राप्त होता है और जिसके प्रतिरूप वह दूसरों से प्रेम करता है, उसके जीवन के संवेगात्मक विकास में बहुत महत्त्व रखता है। जैसे ही बालक उम्र में बड़ा होता है, वह विभिन्न वस्तुओं के प्रति विभिन्न मात्रा में प्रेम का अनुभव करता है। वह अपने कुटुम्ब, पड़ोसी, ग्राम या मुहल्ला, राष्ट्र और अन्य उन सभी संस्थाओं से प्रेम करने लगता है, जिनसे उसका सम्पर्क स्थापित होता है।

व्यक्ति अपनी सन्तान के प्रति जिस प्रेम का अनुभव करता है—वह जन्मजात एवं प्राकृतिक होता है, फिर भी वह विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न मात्रा में पाया जाता है। सभी माँ-बाप अपनी सन्तान के प्रति एक ही मात्रा में अपना प्यार प्रदर्शित नहीं करते—कोई कम करता है, कोई अधिक। वास्तव में माँ-बाप का प्रेम अपनी सन्तान के प्रति उसके जन्म के समय की—उनकी अपनी संवेगात्मक दशाओं पर निर्भर होता है। यदि बालक ऐसे कुल में जन्म लेता है जहाँ उसकी बहुत कामना होती है तथा परिवार धन-धान्य से परिपूर्ण है, उसके लालन-पालन पर बहुत धन भी व्यय किया जा सकता है, वहाँ बालक के प्रति माँ-बाप में अगाध प्रेम होता है। किन्तु जिस परिवार के माँ-बाप अधिक सन्तान नहीं चाहते, जहाँ उपस्थित व्यक्तियों को भोजन जुटाने का प्रश्न ही अत्यन्त जटिल होता है वहाँ बालक को माँ-बाप द्वारा उतना प्रेम नहीं मिलता। यदि माँ प्रजनन के समय शारीरिक दृष्टि से कमजोर है, अथवा उस गरीब माँ के कई बच्चे हैं, अथवा जहाँ माँ-बाप सन्तानोत्पत्ति को अपनी सुख-सुविधा और स्वतन्त्रता में बाधा समझते हैं, वहाँ भी बालक को यथेष्ट प्यार नहीं मिलता। कभी-कभी माँ-बाप में अच्छे सम्बन्ध न होने के कारण भी बालक की उपेक्षा की जाती है। यदि घर में विमाता या विपिता है तो भी बालक उपेक्षा का पात्र बनता है। बालक के लिए ये दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियाँ हैं, जहाँ स्वयं उसके जनक उसे प्यार नहीं देते हैं।

सिद्धान्त (James-Lange Theory), तथा (३) कैनन-बार्ड का सिद्धान्त (Cannon-Bard Theory)।

१. सामान्य सिद्धान्त (Common-Sense Theory)

यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि सर्वप्रथम हमें संवेगात्मक अनुभूति होती है और इसके पश्चात् संवेगात्मक व्यवहार होता है। जब हम संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तो सर्वप्रथम हमारे अन्दर मानसिक परिवर्तन होते हैं और फिर शारीरिक परिवर्तन होते हैं। साँप को देखकर हमें भय की अनुभूति पहले होती है और फिर इसके पश्चात् हमारी भागने की शारीरिक क्रिया होती है। वास्तव में यह सिद्धान्त किन्हीं प्रयोगात्मक परीक्षणों पर केन्द्रित नहीं है, वरन् यह साधारण व्यक्तियों का मत है जो वह अपने अनुभवों के आधार पर बना लेते हैं। मनोवैज्ञानिक इस मत को इस रूप में उस समय तक मानने को तैयार नहीं जब तक इसकी पुष्टि प्रयोगों द्वारा न हो जाय।

२. जेम्स-लांजे का सिद्धान्त (James-Lange Theory)

अमरीका निवासी मनोवैज्ञानिक जेम्स (James) तथा डेन्मार्क निवासी लांजे (Lange) ने संवेग के इस सिद्धान्त का अलग-अलग प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त सामान्य सिद्धान्त के विपरीत है। जेम्स-लांजे सिद्धान्त के अनुसार संवेगपूर्ण अनुभव चैतन्य उद्दीपक द्वारा उत्पन्न अंगों के परिवर्तन के अनुभव करने के अतिरिक्त [illegible] नहीं है। यह सिद्धान्त यह मानता है कि संवेग में पहले संवेगात्मक व्यवहार होता है और यह व्यवहार न केवल संवेग की अनुभूति से पहले होता है, वरन् यही संवेगात्मक अनुभूति का कारण भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम दुःख का अनुभव इसलिए करते हैं क्योंकि हम रोते हैं, इसलिए नहीं रोते क्योंकि हम दुखी हैं। हमें डर का संवेग इसलिए होता है। क्योंकि हम भय दिलाने वाली वस्तु को देखकर कांपने लगते हैं तथा भागने लगते हैं। यदि इस समय हम इन शारीरिक परिवर्तनों को व्यक्त न करें तो हमें भय का संवेग होगा ही नहीं।[2]

संक्षेप में, जेम्स-लांजे का सिद्धान्त इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—(१) पहले संवेगात्मक उद्दीपक का प्रत्यक्षीकरण करना, फिर (२) संवेगात्मक व्यवहार का हो जाना, तथा अन्त में (३) संवेगात्मक अनुभूति का प्राप्त होना। जेम्स महोदय शारीरिक परिवर्तनों के ज्ञान तथा अनुभव करने को ही 'संवेग' कहते हैं। यह सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख रखता है कि—जब तक शारीरिक व्यवहार नहीं होगा, उससे सम्बन्धित संवेग की अनुभूति हमें नहीं होगी।

---

1. James says, "We feel sorry because we cry, angry because we strike, afraid because we tremble and not that we cry, strike and tremble because we are sorry, angry or fearful as the case may be."

इस सिद्धान्त की सत्यता को प्रदर्शित करने के लिए जेम्स महोदय ने अभिनेताओं के अनुभवों को साक्षी रखा। उनका कहना था कि जब अभिनेता अपने अभिनय में शारीरिक परिवर्तन का प्रदर्शन करते हैं तो उनमें उस परिवर्तन से सम्बन्धित संवेग भी उत्पन्न हो जाता है। अभिनेता पहले शारीरिक परिवर्तन को व्यक्त करते हैं और इसके पश्चात् ही उनमें संवेग का प्रादुर्भाव होता है।

इस सिद्धान्त के शारीरिक आधार (physiological basis) पर विचार करके हमारे सम्मुख ये बातें आती हैं—सर्वप्रथम संवेगात्मक परिस्थिति के उत्पन्न होने से प्राणी की ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और उनसे उत्पन्न ज्ञानवाही स्नायु-प्रवाह (sensory nerve impulse) वृहद्-मस्तिष्क में ज्ञानवाही नाड़ियों द्वारा पहुँच जाते हैं। अब प्राणी को उस परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। जैसे ही प्रत्यक्षीकरण होता है, उसके साथ-साथ गतिवाही स्नायु-प्रवाह (motor nerve impulse) वृहद्-मस्तिष्क से चलकर मांसपेशियों, ग्रन्थियों इत्यादि में पहुँचते हैं। ऐसा होने पर व्यक्ति संवेगात्मक व्यवहार करता है। अब इसके साथ ही मांसपेशियों और आन्तरिक ग्राहकों (inter ceptors) से नाड़ी-प्रवाह उत्पन्न होकर वृहद्-मस्तिष्कीय स्तक में पहुँच जाते हैं और प्राणी को अपने व्यवहार की चेतना होती है, अर्थात् वह संवेग का अनुभव करने लगता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार संवेग के लिए स्वतः संचालित स्नायु-मण्डल एवं वृहद्-मस्तिष्कीय स्तक आवश्यक हैं।

जेम्स-लांजे सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of James-Lange Theory)—यह तो ठीक है कि संवेग की अवस्था में शारीरिक परिवर्तन होते हैं, परन्तु इस बात से बहुत-से मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं हैं कि शारीरिक परिवर्तनों के पश्चात् ही संवेग की अनुभूति होती है। अतएव जेम्स के सिद्धान्त की कई प्रकार से कटु आलोचना की गयी है। अब हम यहाँ इन आलोचनाओं पर प्रकाश डालेंगे। यथा—

(१) शेरिंगटन (Sherington) महोदय ने एक कुत्ते पर प्रयोग करके इस सिद्धान्त की त्रुटियों को स्पष्ट किया। उन्होंने एक कुत्ते को गर्दन की सब नाड़ियों को इस प्रकार काट दिया कि उसके अन्दर जो आन्तरिक परिवर्तन हों, उनका सन्देश मस्तिष्क तक न पहुँच सके। इस कुत्ते के सामने जब संवेगात्मक परिस्थितियाँ प्रस्तुत की गयीं तो उसने हर एक संवेग का पूर्ण प्रदर्शन किया। इस प्रकार कुत्ता शारीरिक क्रियाओं के उत्पन्न हुए बिना भी संवेगों का अनुभव करता हुआ पाया गया। यह बात जेम्स के सिद्धान्त के विरुद्ध पायी गयी।

(२) केनन (Cannon) महोदय ने भी बिल्ली पर प्रयोग करके इस सिद्धान्त के दोषों को स्पष्ट किया। उन्होंने बिल्ली के अनुकम्पित नाड़ी-मण्डल को शल्यों द्वारा इस प्रकार अलग किया कि बिल्ली के अनुकम्पित मण्डल से उत्पन्न होने वाले स्नायु-प्रवाह वृहद्-मस्तिष्कीय स्तक में न जा सकें। जब इस बिल्ली के सम्मुख कुत्ते

बिल्लियाँ इत्यादि लायी गयीं। यह भी देखा गया कि शत्रु कोटि के जानवरों की उपस्थिति में उसने क्रोध व्यक्त किया और मित्र कोटि के जानवरों की उपस्थिति में हर्ष व्यक्त किया। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि संवेग के लिए अन्तरावयव परिवर्तन आवश्यक नहीं है।

(३) एक महिला जो घोड़े से गिर गयी थी और जिसका मेरुदण्ड रज्जु (spinal cord) टूट गया था जिसके कारण सहानुभूतिक नाड़ियों का मस्तिष्क से सम्बन्ध विच्छेद हो गया था और अन्तरावयव संवेदनाएँ नष्ट हो गयी थीं उन्होंने भी संवेगात्मक परिस्थिति उत्पन्न होने पर उससे सम्बन्धित विभिन्न संवेगों का प्रकाशन किया। इससे यह पता चलता है कि संवेगात्मक अनुभूति के लिए अन्तरावयव संवेदनाओं तथा शारीरिक परिवर्तनों की आवश्यकता नहीं है।

(४) जेम्स के अनुसार अन्तरावयव संवेदना और संवेग अभिन्न हैं। परन्तु अन्तरावयव संवेदना जब हमारे ज्ञानात्मक पहलू से सम्बन्धित है तो संवेग का सम्बन्ध हमारे भावात्मक पहलू से है। संवेदना पर ध्यान दिया जाये तो वह और स्पष्ट हो जाती है—पर क्योंकि संवेग भावात्मक पहलू से सम्बन्धित हैं, उन पर ध्यान देने से वह विलीन हो जाते हैं। अतएव संवेग और संवेदना को हम अभिन्न नहीं कह सकते।

(५) संवेग और शारीरिक प्रकाशन पर यदि हम ध्यान दें तो देखेंगे कि एक विशिष्ट संवेग विशिष्ट प्रकार के शारीरिक प्रकाशन से सम्बन्धित नहीं है। कई संवेगों के साथ एक ही प्रकार का शारीरिक प्रकाशन सम्बन्धित रहता है। जब हमें दुःख होता है तब भी, और जब अत्यधिक हर्ष होता है उस समय भी आँसू निकल आते हैं। इसके अतिरिक्त एक संवेग भी कई तरह से प्रकाशित होता है। कभी हम क्रोध में चिल्लाने लगते हैं और कभी बिल्कुल चुप हो जाते हैं और हमारे मुँह से आवाज नहीं निकलती है। अतएव हम कह सकते हैं कि शारीरिक प्रकाशन के आधार पर संवेग नहीं होते।

(६) यह सिद्धान्त मानता है कि आन्तरिक परिवर्तनों के बाद संवेगात्मक-अनुभूति होती है परन्तु यह देखा गया है कि अन्तरावयव (viscere) अन्य अंगों की अपेक्षा कम संवेदनशील होते हैं और ये प्रतिक्रियाएँ करने में भी धीमे होते हैं। जिस समय संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है तो उसके एक सैकिण्ड के अन्दर ही संवेगात्मक अनुभूति होती है लेकिन अन्तरावयव में परिवर्तन एक सैकिण्ड के बाद ही होता है, अतएव हम देखते हैं। कि संवेगात्मक अनुभूति के बाद ही अन्तरावयव परिवर्तन हो सकते हैं।

(७) जेम्स महोदय ने आन्तरिक परिवर्तनों को संवेग का कारण बताया है। यह जानने के लिए कि उनका यह सिद्धान्त कहाँ तक ठीक है, कुछ व्यक्तियों को एड्रीनिन के इंजेक्शन दिये गये। इस इंजेक्शन के दिये जाने से उनमें कई प्रकार के

इस सिद्धान्त की सत्यता को प्रदर्शित करने के लिए जेम्स महोदय ने अभिनेताओं के अनुभवों को साक्षी रखा। उनका कहना था कि जब अभिनेता अपने अभिनय मे शारीरिक परिवर्तन का प्रदर्शन करते हैं तो उनमें उस परिवर्तन से सम्बन्धित संवेग भी उत्पन्न हो जाता है। अभिनेता पहले शारीरिक परिवर्तन को व्यक्त करते हैं और इसके पश्चात् ही उनमें संवेग का प्रादुर्भाव होता है।

इस सिद्धान्त के शारीरिक आधार (physiological basis) पर विचार करके हमारे सम्मुख ये बातें आती हैं—सर्वप्रथम संवेगात्मक परिस्थिति के उत्पन्न होने से प्राणी की ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और उनसे उत्पन्न ज्ञानवाही स्नायु-प्रवाह (sensory nerve impulse) वृहत्-मस्तिष्क में ज्ञानवाही नाड़ियों द्वारा पहुँच जाते हैं। अब प्राणी को उस परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। जैसे ही प्रत्यक्षीकरण होता है, उसके साथ-साथ गतिवाही स्नायु-प्रवाह (motor nerve-impulse) वृहत्-मस्तिष्क से चलकर मांसपेशियों, ग्रन्थियों इत्यादि में पहुँचते हैं। ऐसा होने पर व्यक्ति संवेगात्मक व्यवहार करता है। अब इसके साथ ही मांसपेशियों और आन्तरिक ग्राहकों (inter ceptors) से नाड़ी-प्रवाह उत्पन्न होकर वृहत्-मस्तिष्कीय ब्लक में पहुँच जाते हैं और प्राणी को अपने व्यवहार की चेतना होती है, अर्थात् वह संवेग का अनुभव करने लगता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार संवेग के लिए स्वतः संचालित स्नायु-मण्डल एवं वृहत्-मस्तिष्कीय ब्लक आवश्यक हैं।

जेम्स-लांजे सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of James-Lange Theory)—यह तो ठीक है कि संवेग की अवस्था मे शारीरिक परिवर्तन होते हैं, परन्तु इस बात से बहुत-से मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं हैं कि शारीरिक परिवर्तनों के पश्चात् ही संवेग की अनुभूति होती है। अतएव जेम्स के सिद्धान्त की कई प्रकार से कटु आलोचना की गयी है। अब हम यहाँ इन आलोचनाओं पर प्रकाश डालेंगे। यथा—

(१) शेरिंगटन (Sherington) महोदय ने एक कुत्ते पर प्रयोग करके इस सिद्धान्त की त्रुटियों को स्पष्ट किया। उन्होंने एक कुत्ते की गले की सब नाड़ियों को इस प्रकार काट दिया कि उसके अन्दर जो आन्तरिक परिवर्तन हों, उनका सन्देश मस्तिष्क तक न पहुँच सके। इस कुत्ते के सामने जब संवेगात्मक परिस्थितियाँ प्रस्तुत की गयीं तो उसने हर एक संवेग का पूर्ण प्रदर्शन किया। इस प्रकार कुत्ता शारीरिक क्रियाओं के उत्पन्न हुए बिना भी संवेगों का अनुभव करता हुआ पाया गया। यह बात जेम्स के सिद्धान्त के विरुद्ध पायी गयी।

(२) केनन (Cannon) महोदय ने भी बिल्ली पर प्रयोग करके इस सिद्धान्त के दोषों को स्पष्ट किया। उन्होंने बिल्ली के अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल को दवाइयों द्वारा इस प्रकार जकड़ दिया कि बिल्ली के अनुकम्पिक मण्डल मे उत्पन्न होने वाले स्नायु-प्रवाह वृहत्-मस्तिष्कीय ब्लक में न जा सकें। अब इस बिल्ली के सम्मुख दूसरी

बिल्लियाँ इत्यादि लायी गयीं। यह भी देखा गया कि शत्रु कोटि के जानवरों की उपस्थिति में उसने क्रोध व्यक्त किया और मित्र कोटि के जानवरों की उपस्थिति में हर्ष व्यक्त किया। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि संवेग के लिए अन्तरावयव परिवर्तन आवश्यक नहीं है।

(३) एक महिला जो घोड़े से गिर गयी थी और जिसका मेरुदण्ड रज्जु (spinal cord) टूट गया था जिसके कारण सहानुभूतिक नाड़ियों का मस्तिष्क से सम्बन्ध विच्छेद हो गया था और अन्तरावयव संवेदनाएँ नष्ट हो गयी थीं उन्होंने भी संवेगात्मक परिस्थिति उत्पन्न होने पर उनसे सम्बन्धित विभिन्न संवेगों का प्रकाशन किया। इससे यह पता चलता है कि संवेगात्मक अनुभूति के लिए अन्तरावयव संवेदनाओं तथा शारीरिक परिवर्तनों की आवश्यकता नहीं है।

(४) जेम्स के अनुसार अन्तरावयव संवेदना और संवेग अभिन्न हैं। परन्तु अन्तरावयव संवेदना जब हमारे ज्ञानात्मक पहलू से सम्बन्धित है तो संवेग का सम्बन्ध हमारे भावात्मक पहलू से है। संवेदना पर ध्यान दिया जाये तो वह और स्पष्ट हो जाती है—पर क्योंकि संवेग भावात्मक पहलू से सम्बन्धित हैं, उन पर ध्यान देने से वह विलीन हो जाते हैं। अतएव संवेग और संवेदना को हम अभिन्न नहीं कह सकते।

(५) संवेग और शारीरिक प्रकाशन पर यदि हम ध्यान दें तो देखेंगे कि एक विशिष्ट संवेग विशिष्ट प्रकार के शारीरिक प्रकाशन से सम्बन्धित नहीं है। कई संवेगों के साथ एक ही प्रकार का शारीरिक प्रकाशन सम्बन्धित रहता है। जब हमें दुःख होता है तब भी, और जब अत्यधिक हर्ष होता है उस समय भी आँसू निकल आते हैं। इसके अतिरिक्त एक संवेग भी कई तरह से प्रकाशित होता है। कभी हम क्रोध में चिल्लाने लगते हैं और कभी बिल्कुल चुप हो जाते हैं और हमारे मुँह से आवाज नहीं निकलती है। अतएव हम कह सकते हैं कि शारीरिक प्रकाशन के आधार पर संवेग नहीं होते।

(६) यह सिद्धान्त मानता है कि आन्तरिक परिवर्तनों के बाद संवेगात्मक-अनुभूति होती है परन्तु यह देखा गया है कि अन्तरावयव (viscere) अन्य अंगों की अपेक्षा कम संवेदनशील होते हैं और ये प्रतिक्रियाएँ करने में भी धीमे होते हैं। जिस समय संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है तो उसके एक सैकिण्ड के अन्दर ही संवेगात्मक अनुभूति होती है लेकिन अन्तरावयव में परिवर्तन एक सैकिण्ड के बाद ही होता है, अतएव हम देखते हैं। कि संवेगात्मक अनुभूति के बाद ही अन्तरावयव परिवर्तन हो सकते हैं।

(७) जेम्स महोदय ने आन्तरिक परिवर्तनों को संवेग का कारण बताया है। यह जानने के लिए कि उनका यह सिद्धान्त कहाँ तक ठीक है, कुछ व्यक्तियों को एड्रीनिन के इंजेक्शन दिये गये। इस इंजेक्शन के दिये जाने से उनमें कई प्रकार के

आन्तरिक परिवर्तन लाये गये किन्तु यह देखा गया कि इन परिवर्तनों के होने के उपरान्त भी किसी व्यक्ति ने संवेग का अनुभव नहीं किया। अतएव यह सिद्धान्त सत्य नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जेम्स-लांजे सिद्धान्त में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं परन्तु फिर भी बहुत-से ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं जो इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त की आलोचना पशुओं पर प्रयोग करके की गयी है। परन्तु पशुओं और मनुष्यों में अन्तर है। अतएव पशुओं पर किये गये प्रयोगों के परिणाम मनुष्यों के लिए स्वीकृत नहीं हो सकते। इसके साथ-साथ हम यह भी कह सकते हैं कि हम शायद ही पूर्ण रूप से आन्तरिक अथवा आवयविक परिवर्तनों को रोक सकते हैं। इसके अतिरिक्त अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल के कार्यों को शायद ही रोका जा सके। यदि यह कार्य रुक भी जाये तो परा-अनुकम्पिक नाड़ीमण्डल जाग्रत हो उठता है। अतएव ऊपर जिन प्रयोगों का वर्णन किया गया है, वे न तो इस सिद्धान्त की सत्यता ही सिद्ध करते हैं, न असत्यता ही।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि जेम्स-लांजे सिद्धान्त चाहे पूर्ण रूप से हमें मान्य न हो परन्तु यही सिद्धान्त है जिसने मनोवैज्ञानिकों और शरीर-शास्त्रियों का ध्यान शारीरिक परिवर्तनों की ओर आकर्षित किया है।

३ कैनन-बार्ड सिद्धान्त (Cannon-Bard Theory) अथवा हाइपोथैलमिक सिद्धान्त (Hypothalamic Theory)

इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले कैनन तथा बार्ड महोदय हैं। यह सिद्धान्त जेम्स-लांजे सिद्धान्त को गलत बताता है। यह सिद्धान्त यह नहीं मानता कि संवेगात्मक अनुभूति संवेगात्मक व्यवहार के पश्चात् होती है। यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि जब हमें संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होता है तो इसके द्वारा हमारे संवेगात्मक अनुभव तथा आन्तरिक अवयवों की क्रियाएँ एक साथ स्वतन्त्र रूप से उठ खड़ी होती हैं।

कैनन-बार्ड सिद्धान्त के अनुसार हाइपोथैलमस ही संवेग का नियन्त्रण करता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त जेम्स-लांजे सिद्धान्त—जो केवल स्वतः स्वालित नाड़ीमण्डल के सहानुभूतिक भाग तथा वृहत्-मस्तिष्क को संवेग की अवस्था में प्रमुख मानता है—से मेल नहीं खाता है।

यह सिद्धान्त संवेग की क्रिया का वर्णन इस प्रकार करता है (आगे दिये हुए चित्र में इसे स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है)—

(१) संवेग की क्रिया के समय सबसे प्रथम तो संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होता है जिसके कारण हाइपोथैलमस उत्तेजित हो उठता है।

(२) हाइपोथैलमस से उत्तेजनाएँ या स्नायु-प्रवाह एक ही समय में एक

ओर कार्टेक्स (cortex) में और दूसरी ओर प्रभावकों में, जाती हैं (निम्न चित्र देखिए)।
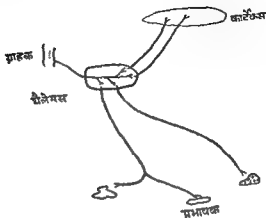
[चित्र १५—प्रभावक]

(३) जो उत्तेजनाएँ कार्टेक्स में पहुँचती हैं वे संवेग का अनुभव प्रदान करती हैं।

(४) जो उत्तेजनाएँ प्रभावकों को पहुँचती हैं जिनमें धारीदार माँसपेशियाँ और अन्तरावयव होते हैं वे शारीरिक तथा व्यावहारिक क्रियाएँ उत्पन्न करती हैं।

(३ और ४) क्रियाओं का फल यह होता है कि व्यक्ति में एक ही समय में संवेगात्मक अनुभूति और संवेगात्मक व्यवहार—दोनों होते हैं।

हाइपोथैलमिक सिद्धान्त जेम्स-लांजे सिद्धान्त के विरोध में प्राप्त किये हुए परिणामों की उचित रूप से व्याख्या करने में सफल होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस समय अन्तरावयव और वृहत्-मस्तिष्क का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तब भी वृहत्-मस्तिष्क और होइपोथैलमस का सम्बन्ध बना रहता है। अतएव जब गर्दन की सुषुम्ना नाड़ी टूट जाती है तब भी संवेगात्मक व्यवहार और उसकी अनुभूति सम्भव है। इसी प्रकार से शेरिंगटन तथा कैनन के प्रयोगों में जिन पशुओं ने भाग लिया और जिनका एक महत्त्वपूर्ण भाग काट दिया गया, वे भी संवेगात्मक अनुभूति और संवेगात्मक व्यवहार को व्यक्त कर सके क्योंकि हाइपोथैलमस और वृहत्-मस्तिष्क का सम्बन्ध बना रहा।

हाइपोथैलमिक सिद्धान्त जेम्स-लांजे सिद्धान्त की इस आलोचना की भी व्याख्या सफलतापूर्वक कर देता है कि जब अन्तरावयव को क्रियाशील होने में कुछ समय

लगता है तो फिर बिना विलम्ब संवेगात्मक उद्दीपक के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही संवेगात्मक अनुभूति क्यों हो जाती है। यह सिद्धान्त इस आलोचना की व्याख्या करता है कि हाइपोथैलमस से जब स्नायु प्रवाह वृहद्-मस्तिष्क में पहुँचता है तो उसे क्रियाशील होने में कुछ भी समय नहीं लगता है। इसीलिए संवेगात्मक अनुभूति, बिना किसी विलम्ब के हो जाती है। यह सिद्धान्त इस तथ्य को स्पष्ट रूप से रख देता है कि संवेगात्मक अनुभूति और संवेगात्मक व्यवहार एक साथ ही होते हैं।

हाइपोथैलमिक सिद्धान्त के दोष (Defects in Hypothalamic Theory)—हाइपोथैलमिक सिद्धान्त भी पूर्ण रूपेण दोष रहित नहीं है। इसमें निम्नलिखित मुख्य दोष हैं—

(१) यह सिद्धान्त संवेगात्मक अवस्था में केवल हाइपोथैलमस को ही महत्त्व देता है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि संवेग के लिए इस अंग के अतिरिक्त अन्य अंगों का भी महत्त्व है। यह देखा गया है कि जब हाइपोथैलमस को उत्तेजित करके संवेगात्मक व्यवहार प्राप्त किया जाता है तो वह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार से भिन्न होता है। अतएव संवेगात्मक व्यवहार की उत्पत्ति में हाइपोथैलमस के अतिरिक्त अन्य भागों का महत्त्व है।

(२) इसका कोई यथेष्ट प्रमाण नहीं है कि संवेगात्मक अनुभूति को उत्पन्न करने में हाइपोथैलमस क्रियाएँ (hypothalamic functions) ही महान् हैं।

उपरोक्त त्रुटियों के होते हुए भी यह सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। अनुसंवेगों के उत्पन्न होने का पूर्ण सत्य सिद्धान्त अब तक प्रतिपादित नहीं हो पाया है।

संवेग-सम्बन्धी कुछ क्रियाएँ

चित्तवृत्ति (Mood)

चित्तवृत्ति भी एक मानसिक अनुभव है। यह उस समय उत्पन्न होता है जब संवेग समाप्त होने के पश्चात् उसका कुछ प्रभाव बाकी रह जाता है। संवेग जब समाप्त हो जाता है तो कुछ काल के लिए उसका प्रभाव बना रहता है। इस समय जो व्यक्ति का मानसिक अनुभव होता है उसे ही हम 'चित्तवृत्ति' कहते हैं।

जबकि संवेग बहुत कम काल के लिए होता है और बहुत तीव्र होता है तो चित्तवृत्ति अधिक काल के लिए होती है और कम तीव्र होती है। चित्तवृत्ति का कारण बहुत कुछ व्यक्ति का शारीरिक स्वास्थ्य हो सकता है। एक चिड़चिड़ा व्यक्ति या एक दलित (depressed) व्यक्ति अथवा एक कटु स्वभाव वाला व्यक्ति बहुधा पाचन-क्रिया के दोषों से पीड़ित होता है। जब व्यक्ति की चित्तवृत्ति प्रसन्न होती है और वह सुखात्मक (optimistic) होता है तो यह पाया जायेगा कि उसके शरीर का स्वास्थ्य अच्छा है। जैसा ऊपर कहा गया है, चित्तवृत्ति पहले के संवेगात्मक अनुभवों के कारण भी हो सकती है। जब हमारा उच्चतम सीमा को पहुँचा हुआ क्रोध ठण्डा पड़

जाता है तब भी हमारे अन्दर खीझ, झुँझलाहट और लड़ने की चित्तवृत्ति बनी रहती है। जिस समय व्यक्ति किसी चित्तवृत्ति का अनुभव कर रहा है, उस समय उससे सम्बन्धित संवेग सरलता से उभारा जा सकता है।

चित्तवृत्ति शारीरिक स्वास्थ्य और एक शक्तिशाली संवेग के प्रभाव को उसके समाप्त होने पर भी बचे रह जाने के द्वारा उत्पन्न होने के अतिरिक्त एक और कारण से भी उत्पन्न हो सकता है। यह कुछ घटनाओं एवं अनुभवों के कारण भी हो जाती है, जैसे—जब हमें किसी कार्य में सफलता मिलती है तो हमारी चित्तवृत्ति प्रसन्नता और आशावादिता (optimism) की हो जाती है जो काफी समय तक बनी रहती है। परन्तु जब हम असफल होते हैं तो हमारी चित्तवृत्ति उदास और चिड़चिड़े प्रकार की हो जाती है।

चित्तवृत्ति का कार्य (action) से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह हमारे विचारों और कार्यों पर बहुत प्रभाव डालते हैं। यहाँ तक कि हम किस समय, किस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव ग्रहण कर रहे हैं—यह बहुत-कुछ हमारी उस समय की चित्तवृत्ति पर निर्भर होता है। हमारे विचारों, कल्पनाओं तथा तर्क इत्यादि पर भी उस समय की चित्तवृत्ति बहुत प्रभाव डालती है, जैसे—यदि हमारी चित्तवृत्ति उदासीनता की है तो हमारी कल्पना एवं दिवास्वप्न उसी रंग में रँगे होंगे।

हमारी शारीरिक दशाओं और संवेगात्मक अनुभवों में आपसी प्रतिक्रिया (mutual interaction) होती है। जैसी शारीरिक दशा होती है, उसके अनुरूप ही हमारी भावात्मक पृष्ठभूमि (affective back-ground) बन जाती है; और जैसी चित्तवृत्ति होती है वह हमारी शारीरिक दशाओं पर वैसा ही प्रभाव डालती है। यदि हम सदैव चिन्तित हैं या संवेगात्मक उत्तेजना से भरे हैं तो हमारे शरीर के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार प्रसन्नता की चित्तवृत्ति हमारी शारीरिक क्रियाओं को स्वास्थ्यप्रद बनाती है।

स्थायीभाव (Sentiments)

वातावरण की विभिन्न स्थितियों की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप व्यक्ति में अर्जित संस्कारों का विकास होता है जो जन्मजात प्रवृत्तियों पर अवलम्बित होते हैं। यही संस्कार बाद में मनुष्य के व्यवहार पर अधिकार कर लेते हैं। जब मूल-प्रवृत्तियाँ तथा संवेग किसी वस्तु के चारों तरफ स्थायी रूप से सुसंगठित हो जाते हैं, तब उस संगठन को स्थायीभाव कहा जाता है। अतः स्थायीभावों का निर्माण मानसिक विकास के दूसरे स्तर पर होता है। पहले स्तर पर उसमें केवल स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ ही विद्यमान रहती हैं। तीसरे स्तर पर, जो मानसिक विकास का सर्वोच्च स्तर है, विभिन्न स्थायीभाव स्वयं को एक प्रमुख स्थायीभाव के चारों तरफ संगठित कर लेते हैं जिसको मैकडूगल ने आत्मगौरव के स्थायीभाव के नाम से पुकारा है। स्थायीभाव स्थूल वस्तुओं या पदार्थों के प्रति बड़ी आसानी से बनाये जा सकते हैं। कठिनता उस समय आकर

हमारे सामने खड़ी हो जाती है, जब हमें आवश्यक प्रयत्नों के प्रति स्थायीभाव बन पड़ते हैं। स्थायीभावों के विकास के लिए मस्तिष्क का ज्ञान परमावश्यक है। नैतिक व गुणों के विषय से इसे समझना आसान नहीं है।

मानसिक विकास का तीसरा और सर्वोच्च स्तर का स्थायीभाव ही आत्मगौ का स्थायीभाव होता है। इस स्थायीभाव का निर्माण आत्म के चारों ओर होता है इस कारण आत्म-सम्बन्धी विकास का बालक में होना परमावश्यक है। आत्मविका का प्रथम स्तर वह है जब प्राणी यह अनुभव करने लगता है कि वह एक जीवित प्राण है—जो विचार, तर्क तथा कल्पना कर सकता है और हस्त-क्रियाओं में दक्षतापूर्व कार्य कर सकता है। इसका दूसरा स्तर वह होता है, जब बालक स्वयं तथा अन्य व्यक्तियों में भिन्नता प्रदर्शित करता है।

रौस के अनुसार चरित्र केवल संगठित आत्म है। उच्च नैतिक चरित्र, नैतिक स्थायीभावों का 'आदर्श आत्म' के प्रति संगठन है। दृढ़ चरित्र के गुण हैं: (१) विश्वस नीयता, (२) कार्य में दृढ़ता, (३) उद्यम तथा अध्ययनशीलता, (४) प्रसन्नता (५) आशावादिता, और (६) साहसिकता। चरित्र के विकास में मूल प्रवृत्यात्मक शक्तियों पर अधिकार किया जाता है। सबसे पहले बालक मूल प्रवृत्यात्मक कार्यों के स्थान पर आदत के अनुसार कार्य करने लगता है। इसके पश्चात् स्थायीभावों को व्यवस्थित करना सीख लेता है। फिर उसमें आत्माभिमान के स्थायीभाव का विकास होता है। यह ही स्थायीभाव फिर उसके आचरण को नियन्त्रित करने लगता है। उसमें आत्मादर्श का निर्माण हो जाता है।

भावना-ग्रन्थि (Complex)

हमारी बहुत-सी इच्छाएँ जो समाज के विरुद्ध होती हैं, दमन कर दी जाती हैं। ये दमन की हुई इच्छाएँ नष्ट नहीं होतीं वरन् अचेतन मन में धकेल दी जाती हैं और वे वहां अचेतन रूप से ही क्रियाशील रहती हैं। ऐसी इच्छाओं को 'इदम्-आवेग' (Id-impulse) की संज्ञा दी जाती है। जब यह इदम्-आवेग संख्या में बढ़ जाते हैं और किसी एक वस्तु की ओर इनका संगठन हो जाता है तो इनको 'भावना-ग्रन्थि' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भावना-ग्रन्थियाँ संगठित इदम्-आवेग हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भावना-ग्रन्थि और स्थायीभाव में बहुत कम अन्तर है। जो स्थायीभाव नैतिक हैं और जिनकी जानकारी हमें होती है; अर्थात् जो चेतन रूप से होते हैं उनको हम 'स्थायीभाव' के नाम से ही पुकारते हैं। परन्तु वे स्थायीभाव जो अनैतिक रूप से होते हैं और जिनका हमें ज्ञान नहीं होता या अचेतन रूप से होते हैं उन्हें हम 'भावना ग्रन्थि' कहते हैं।

भावना-ग्रन्थि व्यक्ति के व्यवहार पर अचेतन रूप से बहुत नियन्त्रण रखती हैं। व्यक्ति भावना-ग्रन्थि की तृप्ति करना चाहता है। इसके लिए वह समाज द्वारा स्वीकृत मार्गों को अपनाने की चेष्टा करता है। परन्तु जब यह सम्भव नहीं हो पाता तो

उसमें हीन भाव का विकास हो जाता है। फ्रॉयड महोदय ने दो भावना-ग्रन्थियों का विशेष उल्लेख किया है। वे हैं—इडिपस भावना ग्रन्थि (oedipus complex) तथा इलेक्ट्रा भावना ग्रन्थि (electra complex)। उनका कहना है कि सबसे प्रथम बालक में माता के प्रति प्रेम के स्थायीभाव का विकास होता है। पुत्रों मे मातृभाव से तात्पर्य होता है—माँ को प्यार करना, जबकि उनमें पितृभाव से तात्पर्य है—पिता को घृणा करना। अतः एक बालक अपनी माँ को प्यार करता है और पिता को घृणा। इसी माता-पिता-पुत्र की विचित्र परिस्थिति के कारण ही बालकों मे इडीपस भावना-ग्रन्थि (oedipus complex) का निर्माण होता है। यूनानी पौराणिक कथाओं के अनुसार 'इडीपस' एक ऐसा व्यक्ति था जिसने भूल से अपने बाप को मार कर अपनी माँ से विवाह किया और उससे चार सन्तानें उत्पन्न हुईं। इसीलिए यह 'इडीपस-भावना ग्रन्थि' कहलाती है। बालिकाओं मे इस भावना ग्रन्थि का विकास विपरीत ढंग से होता है। वे पिता को प्यार करती हैं और माता को घृणा। यह 'इलेक्ट्रा भावना-ग्रन्थि' (electra complex) कहलाती है। ग्रीक पौराणिक कथाओं के अनुसार 'इलेक्ट्रा' एक लड़की थी, जिसने अपने पिता एगामेमन से प्रेम होने के कारण अपने भाई 'ऑरेस्टस' को अपनी माँ 'क्लेटेम्स्ट्रा' को कत्ल करने मे सहायता दी थी।

एडलर महोदय हीनता की ग्रन्थि का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं कि जिन बालकों को जीवन के आरम्भ मे निराशा मिलती है और जिनके साथ कठोर व्यवहार किया जाता है, उनमें इस भावना ग्रन्थि का विकास हो जाता है। इस ग्रन्थि के कारण ही व्यक्ति बड़ा होने पर भी हीनता की भावना से पीड़ित होता है। वह अपने को तुच्छ समझने लगता है और किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक करने के योग्य अपने को नही समझता। वह हीनता की भावना के कारण ही असामाजिक हो जाता है और वह दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्पर्क नहीं स्थापित कर पाता। वह अत्यन्त शर्मीला हो जाता है और हर समय चिन्तित रहता है कि कहीं वह कोई गलत काम तो नही कर रहा है।

कुछ ऐसे भी व्यक्ति पाये जाते हैं जो सदैव अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। उनमे श्रेष्ठता की ग्रन्थि (superiority complex) बन जाती है। ये दूसरों को तुच्छ समझते हैं और अपने को हर प्रकार से अच्छा एवं उच्च स्तर का मानते हैं। ऐसे व्यक्ति भी सामाजिक अभियोजन मे असफल रहते हैं—क्योंकि वह अपने आगे किसी के व्यक्तित्व का महत्व ही नहीं समझते हैं, उनके व्यवहार मे रूखापन आ जाता है जिससे दूसरे व्यक्ति उन्हें पसन्द नहीं करते।

कुछ लोगों का विश्वास है कि श्रेष्ठता ग्रन्थि वास्तव में हीनता की ग्रन्थि का ही दूसरा रूप है। ग्रन्थि केवल एक ही प्रकार की होती है, वह है हीनता की ग्रन्थि, जो व्यक्ति श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हैं वे वास्तव में हीनता की भावना से पीड़ित होते हैं। कुछ सीमा तक यह बात ठीक भी प्रतीत होती है। हमने देखा है कि बहुत डींग हाँकने वाले जहाँ जरा भी उनसे कोई श्रेष्ठ व्यक्ति मिल जाता है तो इस प्रकार से

संकुचित हो जाते हैं कि हमें यह प्रतीत होने लगता है कि वे हीनता की भावना से दबे जा रहे हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी हीनता की भावना को छिपाने के लिए ही दूसरों के सम्मुख—जिन्हें वे अपने से हीन समझते हैं—अपनी श्रेष्ठता का डंका पीटते हैं।

सारांश

भाव—एक प्रारम्भिक सरल मानसिक प्रक्रिया है जो प्राणी को सुख और दुःख की अनुभूति कराती है। भाव की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—(१) यह सरलतम प्रारम्भिक मानसिक प्रक्रिया है, (२) यह चंचल और क्षणिक होता है, (३) इसका सम्बन्ध जीव के किसी अंग-विशेष से नहीं होता है, (४) एक साथ एक से अधिक भाव अनुभव नहीं किये जा सकते, (५) प्रत्येक भाव की मात्रा एक-सी नहीं होती, (६) जब भी हमें कोई चेतन अनुभूति होती है या हम कोई व्यवहार करते हैं तो उसमें सुख या दुःख का अंश अवश्य मिला होता है, (७) भाव सदा मनुष्य अपने अन्दर अनुभव करता है, अर्थात् यह आत्मगत होता है।

'भाव' और 'संवेदना' में अन्तर है और भाव एवं संवेदना की एक-सी विशेषताएँ नहीं हैं। भाव मुख्यतः दो प्रकार का होता है—सुख का भाव तथा दुःख का भाव। हम मिश्रित भाव का अनुभव नहीं कर सकते हैं। हम सदैव विशुद्ध भाव का ही अनुभव करते हैं।

संवेग—आर्थर टी० जर्सील्ड के अनुसार," 'संवेग' शब्द किसी भी प्रकार से आवेश में आने, भड़क उठने अथवा उत्तेजित होने की दशा को सूचित करता है।" संवेग एक ऐसी मिली-जुली अनुभूति है जो बहुत-सी परिस्थितियों से उत्पन्न होती है। अतः किसी भी संवेग अथवा संवेगों के विशिष्ट कारणों को बताना अत्यन्त कठिन है।

संवेग की परिभाषा, जो पी० टी० यंग महोदय द्वारा दी गयी है, उपयुक्त प्रतीत होती है। उनके अनुसार—"संवेग सम्पूर्ण व्यक्ति के तीव्र उपद्रव उत्पन्न करने वाला है जिसका उद्गम मनोवैज्ञानिक होता है तथा जिसके फलस्वरूप व्यवहार, चेतन अनुभूति तथा अन्तरावयव सम्बन्धी क्रियाएँ होती हैं।"

'संवेग' तथा 'भाव' में अन्तर है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों में गहरा सम्बन्ध भी है। प्रत्येक संवेग में भाव का होना आवश्यक है किन्तु भाव में संवेग सम्मिलित नहीं होता।

जब हमें कोई संवेगात्मक अनुभव होता है तो हमारे शरीर में कई प्रकार के परिवर्तन होते हैं। संवेग का प्रदर्शन इन तीन प्रकार के परिवर्तनों द्वारा होता है—(१) चेतना में परिवर्तन, (२) बाह्य व्यवहार में परिवर्तन, तथा (३) आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन।

संवेग की अवस्था में जो हमारे बाह्य व्यवहार में परिवर्तन होते हैं, वे

निम्न प्रकार के हैं—(१) मुखमण्डलीय प्रकाशन में परिवर्तन, (२) वाणी में परिवर्तन, (३) शरीर-मुद्रा में परिवर्तन।

संवेग की अवस्था में इस प्रकार के आन्तरिक परिवर्तन होते हैं—(i) साँस की गति में परिवर्तन, (ii) हृदय की गति में परिवर्तन, (iii) नाड़ी की गति में परिवर्तन, (iv) रक्त-संचार में परिवर्तन, (v) रक्तचाप में परिवर्तन, (vi) रक्त के रासायनिक तत्त्वों में परिवर्तन, (vii) रसपाक में परिवर्तन, (viii) पाचन-क्रिया में परिवर्तन, (ix) त्वक् प्रतिक्रिया में परिवर्तन, (x) ग्रन्थियों की क्रियाओं में परिवर्तन।

संवेग की अवस्था में हमारे नाड़ीमण्डल के कुछ भाग विशेष रूप से उत्तेजित हो जाते हैं। इन भागों के नाम हैं—(i) स्वयं संचालित नाड़ीमण्डल, (ii) वृहत्-मस्तिष्कीय वल्क, तथा (iii) हाइपोथैलमस। संवेग की अवस्था में सम्पूर्ण स्वतः चालित नाड़ीमण्डल सक्रिय रहता है।

प्राणी संवेगात्मक परिस्थिति का अनुभव वृहत्-मस्तिष्कीय वल्क के द्वारा ही करता है। यह संवेगात्मक व्यवहार की तीव्रता को भी रोकता है। हाइपोथैलमस संवेगात्मक प्रकाशन के लिए महत्त्वपूर्ण भाग है।

कुछ प्रमुख संवेगों के उदाहरण हैं—क्रोध, भय, प्रेम, तथा सुख।

संवेगों के सम्बन्ध में तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं। वे हैं—(१) सामान्य सिद्धान्त, (२) जेम्स-लांजे का सिद्धान्त, तथा (३) कैनन-बार्ड का सिद्धान्त।

१. सामान्य सिद्धान्त—इस बात पर बल देता है कि सर्वप्रथम हमें संवेगात्मक अनुभूति होती है और इसके पश्चात् संवेगात्मक व्यवहार होता है।

२. जेम्स-लांजे सिद्धान्त—इसके अनुसार संवेग पूर्ण अनुभव चैतन्य उद्दीपक द्वारा उत्पन्न अंगों के परिवर्तन के अनुभव करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनका मत है कि जब तक शारीरिक व्यवहार नहीं होगा, उससे सम्बन्धित संवेग की अनुभूति हमें नहीं होगी। इस सिद्धान्त की बहुत-सी आलोचनाएँ भी की गयी हैं। इनमें से शेरिंगटन तथा कैनन महोदय के सिद्धान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

३. कैनन-बार्ड सिद्धान्त—यह नहीं
व्यवहार के पश्चात् होती है। यह
गात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण है।
आन्तरिक अवस्थाओं की
सिद्धान्त के

अनुभूति संवेगात्मक
ता है कि जब हमें संवे-
संवेगात्मक अनुभव तथा
उठ खड़ी होती है। इस
है। इस सिद्धान्त
है।
और यह उससे कम तीव्र
उत्पन्न होती है। इसको
संवेग का प्रभाव उसके

स्थायीभाव—जब मूल-प्रवृत्तियाँ तथा संवेग किसी वस्तु के चारों ओर स्थायी रूप से सुसंगठित हो जाते हैं तब उस संगठन को 'स्थायीभाव' कहा जाता है। नैतिक चरित्र—नैतिक स्थायीभावों का आदर्श आत्म के प्रति संगठन है।

भावना ग्रन्थि—भावना ग्रन्थियाँ संगठित इदम्-आवेश हैं। ये व्यक्ति के व्यवहार पर अचेतन रूप से बहुत नियन्त्रण रखती हैं। एडलर महोदय हीनता की भावना ग्रन्थि का उल्लेख करते हैं। हीनता के अतिरिक्त श्रेष्ठता की भावना ग्रन्थि मानी जाती है, परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिक श्रेष्ठता की भावना ग्रन्थि को हीनता ग्रन्थि से अलग नहीं मानते हैं।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. भाव से आप क्या समझते हैं ? भाव और संवेग के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
२. भाव तथा संवेदना में क्या अन्तर है ? क्या हम भाव को संवेदना की एक विशेषता कह सकते हैं ? अपने मत की पुष्टि कारण सहित कीजिए।
३. संवेग की परिभाषा दीजिए। आप किस परिभाषा को उपयुक्त समझते हैं, और क्यों ?
४. संवेग में शारीरिक परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए। आन्तरिक तथा बाह्य परिवर्तनों का विवरण दीजिए।
५. संवेग के किस सिद्धान्त को आप उपयुक्त समझते हैं ? कारण सहित स्पष्ट कीजिए।
६. जेम्स-लांजे का क्या सिद्धान्त है ? उसकी आलोचनाओं से आप कहाँ तक सहमत हैं ?
७. संवेग में सन्निहित नाड़ीमण्डल के विभिन्न भागों के महत्व पर प्रकाश डालिए।
८. चित्तवृत्ति से आप क्या समझते हैं ? इसमें और संवेग में क्या अन्तर है ?
९. स्थायीभाव तथा भावना ग्रन्थि के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। हीन भावना- ग्रन्थि के बनने को आप कैसे रोक सकते हैं ?

सहायक पुस्तकों की सूची

१. बर्नहार्ट : प्रेक्टिकल साइकॉलॉजी, मैकग्रो, न्यूयार्क, १९५३।
२. बोरिंग, लेंगफील्ड, वेल्ड : फाउण्डेशन्स ऑफ साइकॉलॉजी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९५६।
३. मन, नारमन एल० : मनोविज्ञान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६१।
४. वुडवर्थ और मार्क्विस : मनोविज्ञान, दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, लखनऊ, १९५६।

९

ऐच्छिक तथा अनैच्छिक क्रियाएँ[1]

बालक जन्म के समय से ही कुछ-न-कुछ क्रिया एवं प्रतिक्रिया करने लगता है। वह इन क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं द्वारा वातावरण में अपने एकीकरण (adjustment to environment) की चेष्टा में लगा रहता है। वातावरण में एकीकरण करने की उसकी चेष्टा जीवन-पर्यन्त चलती रहती है। अतएव उसकी अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ जीवन भर चलती रहती हैं।

व्यक्ति की क्रियाओं को हम मुख्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं : (१) ऐच्छिक क्रियाएँ, तथा (२) अनैच्छिक क्रियाएँ। ऐच्छिक क्रियाएँ व्यक्ति जान-बूझकर करता है। वह अपने उद्देश्य प्राप्त करने के लिए अथवा अपनी रुचि को संतुष्ट करने के लिए चेतन (conscious) रूप से कार्य करता है। ये क्रियाएँ अर्जित (acquired) होती हैं और व्यक्ति इन्हें अपने जीवन में सीखता (learned) है।

अनैच्छिक क्रियाएँ अर्जित एवं अनसीखी होती हैं। व्यक्ति इन क्रियाओं को करने के लिए चेतन रूप से कार्य नहीं करता, वरन् ये क्रियाएँ अचेतन रूप से होती हैं। ये आप से आप संचालित हो जाती हैं। व्यक्ति को इन्हें करने के लिए सोचना-समझना नहीं पड़ता।

ऐच्छिक तथा अनैच्छिक क्रियाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। अधोंकित तालिका में इनका वर्गीकरण किया गया है। हम इस अध्याय में प्रत्येक प्रकार की क्रिया (जो तालिका में दी है) का अध्ययन करेंगे। हम पहले अनैच्छिक क्रिया के प्रकारों का वर्णन करेंगे, फिर ऐच्छिक क्रिया के प्रकारों पर प्रकाश डालेंगे।

---

1. Voluntary and Involuntary Actions.

क्रिया
(Action)
ऐच्छिक क्रियाएँ
(Voluntary actions)
(i) सहज
(Simple)
(ii) जटिल
(Complex)
(iii) अर्द्ध ऐच्छिक क्रियाएँ अथवा आदत जन्य
(Semi Voluntary or habitual)
अनैच्छिक क्रियाएँ
(Involuntary actions)
(i) स्वयं संचालित क्रियाएँ
(Automatic-actions)
(ii) आकस्मिक क्रियाएँ
(Random-actions)
(iii) सहज क्रियाएँ
(Reflex actions)
(iv) सम्बद्ध सहज क्रियाएँ
(Conditioned-Reflex actions)
(v) भावनाजन्य क्रियाएँ
(Ideo-Motor actions)
(vi) मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ
(Instinctive actions)
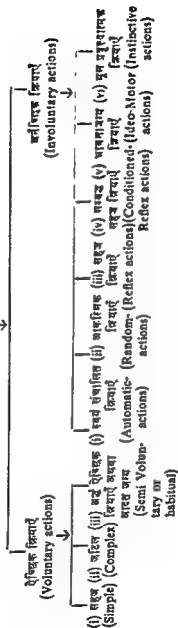
अनैच्छिक क्रियाएँ
(Involuntary Actions)

१. स्वयं संचालित क्रियाएँ (Automatic Actions)

हमारे शरीर की बहुत-सी क्रियाएँ स्वयं संचालित होती हैं। यह हमारे शरीर को जीवित रखने के लिए परम आवश्यक होती हैं। इनके संचालन के लिए हमें चेतन रूप से कुछ नहीं करना पड़ता वरन् यह तो जन्म के समय से ही अचेतन रूप से होती रहती हैं और हमारे शरीर को स्वस्थ रखती हैं। इन क्रियाओं के उदाहरण हैं : रक्त का संचार, फेफड़ों द्वारा श्वास-क्रिया, हृदय के कार्य, पाचन-क्रिया इत्यादि। हम उस समय इनकी ओर ध्यान देने को बाध्य हो जाते हैं, जब इनके संचालन में कोई बाधा उत्पन्न हो जाती है। इन क्रियाओं के रुकते ही प्रायः प्राणी की मृत्यु हो जाती है। इन क्रियाओं का संचालन स्वयं संचालित नाड़ीमण्डल द्वारा होता है।

२. आकस्मिक क्रियाएँ (Random Actions)

आकस्मिक क्रियाएँ उद्देश्यरहित (aimless) एवं अव्यवस्थित (irregular) होती हैं। इनके उदाहरण हैं—शिशु का बराबर हाथ-पाँव हिलाते रहना, आँखों की पुतली को घुमाना इत्यादि। ये क्रियाएँ प्रौढ़ों तथा पशुओं में भी देखी जाती हैं। ये आकस्मिक होती हैं और इनके लिए किसी बाह्य उद्दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये आकस्मिक क्रियाएँ शिशु की मांसपेशियों को शक्तिशाली बनाती हैं तथा आगे चलकर व्यवस्थित क्रियाओं (co-ordination movements) का आधार बन जाती हैं।

३. सहज क्रियाएँ (Reflex Actions)

सहज क्रिया का वर्णन हमने अध्याय ४ में किया है। वहाँ हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि सहज क्रियाएँ बिना सीखी हुई होती हैं और व्यक्ति उन्हें अचेतन रूप से ही करता है। इनके उदाहरण हैं—छींक का आ जाना या तेज रोशनी पड़ने पर पलक झपकाना, पिन चुभने पर तुरन्त हाथ या पाँव को हटा लेना इत्यादि। ये क्रियाएँ उद्दीपक मिलते ही अविलम्ब सम्पन्न हो जाती हैं।

सहज क्रियाओं के शारीरिक आधार (physiological basis of reflex actions) के सम्बन्ध में हम अध्याय ४ में प्रकाश डाल चुके हैं।

सहज क्रियाओं की विशेषताएँ (Characteristics of Reflex Actions) :—

(१) सहज क्रिया अचेतन रूप से तुरन्त सम्पन्न होने वाली क्रिया है। अधिकतर सहज क्रियाएँ बिना हमारे उन पर ध्यान दिये हुए हो जाती हैं। परन्तु कुछ सहज-क्रियाओं की निम्न प्रकार की चेतना हमें हो भी जाती है। जैसे जब हमारे शरीर पर चींटी चढ़ जाती है तो चींटी के चढ़ने की अनुभूति हमें होती है और हम तुरन्त शरीर झटक कर या हाथ हिलाकर उसे शरीर से हटा देते हैं। इस दशा में चेतना तो होती है परन्तु वह तीव्र नहीं होती।

(२) सहज क्रियाएँ जन्मजात (inborn) होती हैं। बालक जन्म के समय से ही इन्हें व्यक्त करने लगता है। इन्हें सीखने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

(३) इन क्रियाओं पर व्यक्ति का नियन्त्रण (control) नहीं होता। हम तेज रोशनी के पड़ने से पलक अवश्य झपकायेंगे, इसी प्रकार हमें छींक अवश्य आयेगी। ऐसी दशा में जब हम चेतन होकर सहज क्रिया पर नियन्त्रण रखने में कुछ सफल हो जाते हैं तो वह क्रिया ऐच्छिक क्रिया का रूप ले लेती है।

(४) सहज क्रियाओं का उद्देश्य—प्राणी की जीवन-रक्षा करना होता है। यह शरीर को हानि से बचाती हैं और इस प्रकार हमारे जीवन के लिए बहुत आवश्यक हैं।

(५) यह क्रियाएँ स्थानीय (local) होती हैं। तात्पर्य यह कि सहज क्रिया होने में मूल रूप से शरीर का एक विशेष अंग ही भाग लेता है। जब हम पलक झपकाते हैं तो हमारी आँखें ही सहजक्रिया में भाग लेती हैं। इसी प्रकार पिन चुभने पर जब हम टाँग हटाते हैं तो टाँग ही प्रतिक्रिया में भाग लेती है।

(६) सहज क्रियाओं में सुधार संभव नहीं है। चाहे जितनी बार उन्हें दोहराया जाये, इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। हम उसी प्रकार छींकेंगे, जैसे ही हमारे मुंह या लार निकलेगी चाहे कितनी ही बार यह क्रियाएँ दोहरायी जा चुकी हों।

सहज क्रिया के प्रकार (Kinds of Reflex Action) :—

सहज क्रियाएँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं : (१) दैहिक (physiological), तथा (२) ज्ञानात्मक (sensory)।

(१) दैहिक सहज क्रियाएँ—वे सहज क्रियाएँ—जिनका हमें ज्ञान नहीं होता, दैहिक सहज क्रियाएँ कहलाती हैं। इसके उदाहरण हैं—तेज रोशनी के सामने आँख की पुतली का सिकुड़ना, आँख में कुछ पड़ जाने से आँसू का आ जाना। ये सहज-क्रियाएँ हमारे शरीर में नियमित रूप से होती रहती हैं और हमें इनका ज्ञान नहीं होता है।

(२) ज्ञानात्मक सहज क्रियाएँ—इन क्रियाओं के होने पर मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि क्रिया हो रही है। इसके उदाहरण हैं—मुँह में लार आना, खाँसना, पिन चुभने पर हाथ पीछे खींच लेना। परन्तु सहज क्रिया का ज्ञान होने पर भी हम उन्हें रोक नहीं सकते हैं। वे स्वयं संचालित रहती हैं, केवल हमें यह पता होता है कि क्रिया हो रही है।

४. सम्बद्ध सहज क्रिया (Conditioned Reflex Action)

हमारी प्रत्येक सहज क्रिया एक विशेष उद्दीपक से उत्पन्न होती है, जैसे—लार का टपकना खाने के उद्दीपक द्वारा होता है। परन्तु पावलव महोदय ने एक कुत्ते में लार टपकने की क्रिया को घण्टी बजने से सम्बद्ध कर दिया। वह कुत्ता घण्टी बजने पर ही लार टपकाने लगा। इस प्रकार लार टपकने की सहज क्रिया इस

उद्दीपक घण्टी बजने से सम्बद्ध हो गयी। इस भाँति जो सहज क्रिया की प्रतिक्रिया कृत्रिम उद्दीपक द्वारा होती है, उसे हम 'सम्बद्ध सहज क्रिया' कहते हैं। इस सम्बन्ध में हम सीखने के अध्याय में और प्रकाश डालेंगे।

५. भावनाजन्य क्रियाएँ (Ideo-motor Actions)

भावनाजन्य क्रियाओं में संकल्पशक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। ये क्रियाएँ उस समय की जाती हैं जब व्यक्ति आवेश में आता है। जब भी किसी कार्य का विचार आते ही वह कार्य बिना किसी चेतन (conscious) नियन्त्रण के हो जाता है तो हम उस क्रिया को भावनाजन्य क्रिया कहते हैं; जैसे—मैं बात कर रहा हूँ तो मुझे फर्श पर एक पिन पड़ी दिखाई देती है, मैं बिना अपनी बातचीत बन्द किये हुए पिन को उठा लेता हूँ तो मैं भावनाजन्य क्रिया ही कर रहा होता हूँ। मेरे पिन के विचार में और उठा लेने में कोई देर नहीं लगती। किसी भावनाजन्य क्रिया में हम कार्य का विचार करते हैं और कार्य हो जाता है (We think the act and the act is done)। निर्देशित (suggestive) या अनुकरण द्वारा की गयी क्रियाएँ भावनाजन्य क्रिया ही होती हैं। जब आप एक छोटे बालक के सामने जीभ निकालते हैं, तो वह भी आपको देखकर जीभ निकालने लगता है।

६. मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ (Instinctive Actions)

आपने प्रायः एक माँ को अपने बच्चे को प्यार करते हुए देखा होगा। उसी समय आपने यह अनुभव किया होगा कि माँ अपने बच्चे को कितना अधिक प्रेम करती है। उसके मन में बालक के प्रति वात्सल्य की कितनी गहरी भावना रहती है। इसके विपरीत बालक चाहे उद्दण्ड हो, अवज्ञाकारी हो, फिर भी माँ के हृदय का प्रेम उसके प्रति कम नहीं होता। वस्तुतः यह प्राकृतिक है। स्त्री चाहे जिस जाति, वर्ग, समुदाय, रंग, वर्ण एवं धर्म की हो, यदि वह माँ है तो उसके हृदय में अपने बालक के प्रति प्यार का समुद्र सदैव हिलोरें लेता रहता है। बालक उसका निरादर एवं तिरस्कार भी करे, फिर भी इसके बदले में वह प्यार ही प्रदर्शित करती है। माँ अपने बालक को इतना प्यार क्यों करती है? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि यह भावना उसमें स्वाभाविक रूप से पायी जाती है किन्तु यदि इसका मनोवैज्ञानिक आधार ढूँढें तो यही कहा जायगा कि माँ में मातृत्व की भावना एक स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा के रूप में होती है। एक माँ में यह जन्मजात मूल प्रवृत्ति होती है जिसे मातृक मूल प्रवृत्ति कह सकते हैं जिसके फलस्वरूप ही माँ बालक के प्रति ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करती है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस अन्तःप्रेरणा अथवा मूल प्रवृत्ति से क्या तात्पर्य है? अतः इस को भली-भाँति समझने के लिए हम इसकी विवेचना करेंगे।

मूल प्रवृत्ति किसे कहते हैं? (What is an Instinct)

मूल प्रवृत्ति के स्वरूप और उसकी परिभाषा के बारे में मनोवैज्ञानिकों में बहुत ही मतभेद है। यह ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता कि [illegible] दर्शनों मानव

ने अपने पूर्वजों से संक्रमित की हैं। अतः उसके स्वरूप को निर्धारित करने के लिए हम मूल प्रवृत्तियों के परिणामों द्वारा उनकी जानकारी प्राप्त करेंगे। कुछ ऐसे कार्य-विशेष या क्रियाएँ होती हैं जिन्हें मूल प्रवृत्तियों की उपज या उनका परिणाम माना जाता है, जैसे—बालक द्वारा माँ का स्तनपान अथवा मकड़ी द्वारा जाला बुनना, मूल प्रवृत्यात्मक कार्य ही होते हैं। किन्तु मूल प्रवृत्ति की बिल्कुल सही परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। इसके पहले कि हम शब्द की हम परिभाषा करें, हमें पशु-जगत् के लिए जीवशास्त्र द्वारा गृहीत परिभाषा पर विचार कर लेना चाहिए। पशुओं में मूल प्रवृत्ति का प्रकाशन, मनुष्यों की तरह प्रच्छन्न, अस्पष्ट एवं छद्म वेश में होकर प्राकृतिक एवं सहज रूप में होता है। उच्च मानसिक विकास न होने के कारण वे मूल प्रवृत्तियों को पृथक् रूप में विभाजित कर मानव की तरह समाजीकरण के रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाते। उच्च सामाजिक प्रक्रियाएँ केवल मानव जाति में ही पायी जाती हैं पशुओं में नहीं। हाँ, यदा-कदा कुछ मानसिक दृष्टि से विकसित पशुओं में अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक बुद्धि पायी जाती है, किन्तु फिर भी मानव के समान नहीं।

मैक्डूगल के अनुसार—"मूल प्रवृत्ति मानसिक रचना की मूर्त अभिव्यक्ति है, जिसकी जानकारी हम अनुभव और व्यवहार के परिणामस्वरूप करते हैं। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों को स्थायी निधि के रूप में लेकर जन्म लेता है। इन्हीं विशिष्टताओं के अनुसार व्यक्ति विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करता है। ये विशिष्ट क्षमताएँ बिना सीखे हुए सहजात होती हैं तथा जाति-विशेष के सदस्यों द्वारा बार-बार दोहरायी जाती है।" एक मूल प्रवृत्ति मानसिक संस्थान का एक तथ्य मात्र होती है। उसके लिए उपयुक्त शब्द 'मनोवृत्ति' ही है। अतः इसे 'मानसिक वृत्ति' (disposition) के नाम से भी पुकारा जा सकता है। इससे स्वभाव का ज्ञान जीव के व्यवहार और अनुभव के आधार पर किया जाता है तथा प्राणियों का व्यवहार सदैव ही इन मानसिक वृत्तियों द्वारा निश्चित किया जाता है और उन्हीं के ऊपर आधारित होता है।

जब किसी पशु-पक्षी में कोई मूल प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है तो उसके फलस्वरूप उसमें बहुत ऊर्जा (energy) उत्पन्न होती है और वह मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी व्यवहार को जन्म देती है। यह व्यवहार उसमें बहुत दिनों तक भी बना रहता है। यह वृत्ति उसमें तब तक रहती है जब तक तत्सम्बन्धी निर्देश उसे प्राप्त नहीं हो जाता अथवा वह शिथिल नहीं हो जाती अथवा कोई अधिक शक्तिशाली मूल प्रवृत्ति जाग्रत नहीं हो उठती जो प्रथम वृत्ति को दबा देती हो। उदाहरण के लिए, ततैया अपने बच्चों के लिए भोजन एकत्र करने में अत्यन्त ही तत्परता और प्रयत्नशीलता दिखाती है। यह सामान्य से अधिक ऊर्जस्वित दिखाई पड़ती है। यह प्रवृत्ति उसमें तब तक बनी रहती है जब तक कि उसका कार्य पूर्ण नहीं हो जाता। वह इसको तभी छोड़ सकती जब कोई व्यक्ति उस पर घातक हमला करे अथवा शिथिल हो जाय, अन्यथा कार्य होने तक वह बराबर इस प्रवृत्त्यात्मक कार्य में संलग्न बनी रहेगी।

मैक्डूगल की मूल प्रवृत्ति की परिभाषा—मैक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्ति "पितृागत अथवा जन्मजात मनो-शारीरिक वृत्ति है जो इसके धारणकर्त्ता को किसी एक विशिष्ट विषय का अनुभव कराके उसकी ओर अवधान केन्द्रित करने तथा एक संवेगात्मक उत्तेजना की अनुभूति करने—जो उस विषय के किसी गुण-विशेष को संबोधना से उत्पन्न हुई हो और उसी के अनुरूप एक विशिष्ट दिशा में कार्य करने अथवा उस कार्य सम्बन्धी प्रेरणा का अनुभव कराती है।"[1]

अतः मैक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात एवं सहजात वृत्तियाँ हैं, जिनमें निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(१) संज्ञानी पक्ष (Cognitive Aspect)—किसी परिस्थिति अथवा वस्तु-विशेष की ओर ध्यान देना तथा उसमें रुचि लेना।

(२) संवेगात्मक पक्ष (Emotive Aspect)—इन वस्तुओं की ओर किसी संवेग का अनुभव करना।

(३) उनके प्रति एक विशेष प्रकार से क्रियात्मक होना।

मैक्डूगल के अनुसार संवेगात्मक या भावात्मक पक्ष मूल है। ऊपर के तीन पक्षों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार में मानसिक अनुभव की तीनों क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। ये तीनों क्रियाएँ—ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा चेष्टात्मक कहलाती हैं।

मूल प्रवृत्ति तथा मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार में अन्तर
(Difference between Instinct and Instinctive Action)

व्यवहार एक परिवर्तनशील क्रिया है। मूल प्रवृत्ति एक मानसिक संस्कार है। यह व्यवहार का आधार बनती है। मूल प्रवृत्ति मानसिक संगठन का एक अंग है, जब कि मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार इसका कार्य-रूप है। इससे तात्पर्य है कि मूल प्रवृत्ति ऐसे मानसिक संस्कार हैं जो व्यवहार को व्यक्त करते हैं। एक पशु का व्यवहार उसके मानसिक संगठन पर आधारित रहता है। उसमें इस प्रकार के संस्कार होते हैं जिन्हें हम मूल प्रवृत्ति कहते हैं। अतएव प्राणी के बहुत कुछ व्यवहार का कारण मूल-प्रवृत्तियाँ ही हैं और वह व्यवहार मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार है जो सम्पूर्ण रूप से मूल-प्रवृत्तियों पर आधारित है।

1. McDougall defines an instinct as "inherited or innate psycho-physical disposition which determines its possessor to perceive and to pay attention to objects of a certain class, to experience an emotional excitement of a particular quality upon perceiving such an object and to act in regard to it in a particular manner or at least to experience an impulse to such action."

मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार के स्तर

निम्न स्तर के पशुओं में मूल प्रवृत्तियाँ प्रकृत रूप से पायी जाती हैं। ये मूल प्रवृत्तियाँ ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ, रूपांतरित भी हो जाती हैं। उच्च वर्गीय पशुओं तथा मनुष्यों में अनुभव द्वारा ज्ञान वृद्धि होने के कारण उनके अन्दर मूल प्रवृत्तियाँ अपने प्रकृत रूप में नहीं पायी जातीं। उच्च वर्ग के जानवरों में बिना स्पष्ट साधनों को निश्चित किये हुए, मूल प्रवृत्तियाँ केवल विशेष उद्देश्यों के नियत करने के साथ सम्बन्धित रहती हैं।

प्रत्येक पशु में अपने उद्देश्य-प्राप्ति की जिज्ञासा, चाहे वह कितनी ही विरल क्यों न हो, पायी जाती है। मस्तिष्क में "परमावश्यक प्रवृत्ति" या "कार्य के प्रति अनुरोध" विद्यमान रहता है। पशु को यह प्रोत्साहन उद्देश्य-प्राप्ति की ओर उन्मुख करता है। "मस्तिष्क की साधारण अभिप्रायपूर्ण क्रिया"—प्रयोजन कहलाती है। इस प्रकार जीवित प्राणियों की समस्त अभिप्रायपूर्ण प्रवृत्तियाँ—प्रयोजनयुक्त प्रवृत्तियाँ होती हैं। जैसे-जैसे हम विश्वास-पथ की ओर अधिकाधिक बढ़ते हैं, तो हमारे मूल प्रयोजन या मस्तिष्क की साधारण अभिप्रायपूर्ण क्रिया में परिवर्तन होता जाता है। पशु को उन चीजों के प्रति जो उसकी स्वस्थता के लिए निमित्त हैं तथा उन उद्देश्यों के प्रति भी जो उन वस्तुओं के लिए कल्याणप्रद हैं जिनसे पशु सम्बन्ध रखता है, ध्यान रखना पड़ता है। इसी कारण से पशुओं में दो मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—

(i) आत्म-सुरक्षा की मूल प्रवृत्ति, (ii) जाति-सुरक्षा की मूल प्रवृत्ति। ये क्रमानुसार स्वयं की और जाति-भेद की मूल प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। मनोविश्लेषणवादी (Psycho-analysisits) एवं बहुत से प्रमुख मनोवैज्ञानिक जाति-भेद की मूल-प्रवृत्ति को प्रधानता देते हैं। इस तथ्य के अनुसार, कि दुनिया में ऐसे बहुत-से निम्न-वर्गीय जानवरों के नमूने हैं जिन्होंने अपनी जाति के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन को बलिदान कर दिया, यह विचारधारा जाति-भेद की मूल प्रवृत्ति को प्रधानता देती है। परन्तु सत्य तो यह है कि दोनों मूल प्रवृत्तियाँ "समान रूप से शक्तिशाली तथा प्रयोजन के मूल वृक्ष की समान शाखाएँ हैं।"

अमीबा जो कि एककोष का जानवर है, अपनी जाति को बनाये रखने के लिए स्वयं को दो भागों में विभक्त करके, अपनी और अपनी जाति की सुरक्षा का एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस जानवर के लिंगांग नहीं होते हैं, फिर भी अपनी और अपनी जाति की सुरक्षा के लिए यह स्वयं दो भागों में विभक्त हो जाता है और इस प्रकार अपनी तथा अपनी जाति की सुरक्षा की बात को पूर्ण रखता है।

एक तीसरी प्रकार की मूल प्रवृत्ति जो कि सामूहिकता की मूल प्रवृत्ति होती है, इनमें पायी जाती है। लेकिन यह प्रवृत्ति उनकी तरह न महत्वपूर्ण और न आवश्यक ही होती है। इसकी अभिवृद्धि होना सम्भवतः उन दो मूल प्रवृत्तियों को सहारा देना मात्र है। सामूहिकता की मूल प्रवृत्ति जानवरों को आत्म-सुरक्षा में सहायक होती है। एक जानवर, यदि वह झुंड में है, तो अपने आपको सभी खतरों से मुक्त रख सकता
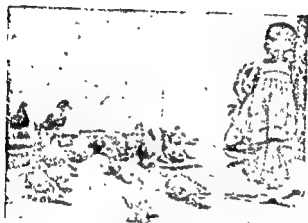
चित्र नं० २६
यह कबूतर सामूहिक मूलप्रवृत्ति के ही कारण इकट्ठे हो गये हैं।

है। समूह से अलग रहकर, उसके लिए बहुत-से खतरों की सम्भावना है, जिसके फलस्वरूप उसे जिन्दगी बसर करना अति दुर्लभ हो जायगा। सामूहिकता की मूल-प्रवृत्ति जानवरों को उनकी जाति के सुरक्षित रखने में भी सहायता करती है। उचित सहभागियों का जोड़ा बनाने में इस मूल प्रवृत्ति द्वारा दी गयी सहायता से, जो कि जाति को सुरक्षित रखने में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसे पूर्ण किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जानवरों में पायी जाने वाली यही तीन मूल-प्रवृत्तियाँ होती हैं। रॉस का कहना है कि प्रयोजन रूपी वृक्ष में आत्म और जाति-भेद रूपी दो मुख्य शाखाएँ तथा समूह-रूपी एक छोटी शाखा दृष्टिगोचर होती है। लेकिन विकास की अन्तिम सीढ़ियों पर बहुत-सी दूसरी प्रतिष्ठित मूल प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। मैक्डूगल ने मूल प्रवृत्तियों का पूर्णतः रूप स्थिर करने के लिए १४ शाखाओं का पता लगाया है।

मैक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियाँ

मैक्डूगल यह चाहता है कि मूल प्रवृत्यात्मक वितरण व्यवस्थित रूप से ही किया जाय। उसके लिए ये प्रवृत्ति उस ताले के समान हो, जो एक विशिष्ट कुँजी रूपी उद्दीपक द्वारा ही खोला जा सकता हो। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मूल प्रवृत्ति किसी भी प्रकार के उद्दीपक द्वारा किसी भी समय क्रियाशील नहीं हो सकती। जिस प्रकार एक ताला अपनी ही कुँजी द्वारा खोला जा सकता है, ठीक उसी प्रकार मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार भी विशिष्ट प्रकार के उद्दीपक द्वारा ही प्रत्यक्ष होना चाहिए। इस प्रकार किसी भी मूल प्रवृत्ति की स्थिति का पता लगाने के लिए उचित कुँजी खोलकर प्रयोग में लानी चाहिए।

संवेग और मूल प्रवृत्तियाँ

पूर्व पृष्ठों में वर्णित, मैक्डूगल के अनुसार, मूल प्रवृत्तियों की परिभाषा निम्न शब्दों में दी जा सकती है—

"किसी विशेष वस्तु का ध्यानपूर्वक परीक्षण करते हुए, उसके आवेगपूर्ण उद्दीपन के विशिष्ट गुण का अनुभव प्राप्त करना"—मूल प्रवृत्ति कहलाता है। इससे पहले कि हम इस परिभाषा की महत्ता पर विचार करें, हमें 'आवेग' शब्द को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आवेग (संवेग) को स्पष्ट करने के लिए, हम नीचे कुछ तथ्यों को निरूपित करते हैं। यथा—

मैक्डूगल के अनुसार 'संवेग' अनुभव की एक शाखा है जो कि मूल प्रवृत्यात्मक प्रेरणा के कार्य में सहायता पहुँचाती है। यह व्यावहारिक रूप में १४ मूल प्रवृत्तियों में प्रत्येक के साथ एक विशिष्ट संवेग का आरोपण करता है। संवेग व्यक्ति की गति-मान स्थिति होती है। जब यह उत्पन्न होता है, तब व्यक्ति की माँसपेशीय और ग्रन्थि-सम्बन्धी क्रियाओं में हलचल होने लगती है। यह संवेग जो मूल प्रवृत्ति की कार्य-प्रणाली में सहायता पहुँचाता है, 'प्राथमिक संवेग' कहलाता है। अन्य दूसरे प्रकार के संवेग 'द्वितीयक संवेग' होते हैं।

नीचे की तालिका में मूल प्रवृत्ति और उसको सहायता पहुँचाने वाले संवेग को क्रमातिक्रम रूप में रखा गया है। इस तालिका में मूल प्रवृत्तियों को पूरी तरह समझाने वाले विशिष्ट गुणों का भी वर्णन किया गया है।

मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts)	कुंजी (Key)	सहायता संवेग (Accompanying emotion)
१. पलायन	इसकी बहुत-सी कुंजियाँ हैं—प्रमुख, जोर की या *आकस्मिक आवाज, शारीरिक कष्ट आदि।*	भय
२. युयुत्सा	छोटे बच्चों को धमकाने या किसी भी मूल-प्रवृत्यात्मक उद्देश्य को प्राप्त करने में बाधा डालना।	क्रोध
३. विवृत्ति	*किसी अरुचिकारक वस्तु का मुख में होना।*	घृणा
४. शिशु-रक्षक	प्राणियों की निज संतान की ध्वनियाँ, गन्ध का परीक्षण अथवा उनका देखना, परन्तु विशेषतया उनकी परेशानी की चिल्लाहटें।	वात्सल्य
५. शरणागति	युयुत्सा की मूल प्रवृत्ति का अपने उद्देश्य-प्राप्ति में असफल होना।	करुणा
६. काम प्रवृत्ति	विपरीत लिंग के उचित सदस्य का उपस्थित होना	कामुकता
७. कौतूहल	कोई वस्तु या स्थिति जो कि दूसरी मूल प्रवृत्ति का अनुसरण करे, लेकिन उसे पूर्ण रूप से समझने में सफल न हो सके।	आश्चर्य
८. दैन्य	प्रजाति के किसी उच्च सदस्य की उपस्थिति का होना।	आत्म-हीनता
९. आत्म-गौरव	प्रजाति के किसी तुच्छ सदस्य की उपस्थिति का होना।	आत्माभिमान
१०. संघ प्रवृत्ति	प्रजाति के अन्य सदस्यों का देखना, उनकी गन्ध को सूँघना तथा ध्वनि का सुनना।	एकाकीपन
११. भोजनान्वेषण	भोजन की गन्ध या उसका देखना अथवा शारीरिक अवस्था।	भूख
१२. संग्रह वृत्ति	भोजन या घर की मरम्मत कराने के लिए आवश्यक एवं उचित सामान की उपस्थिति।	अधिकार-भावना
१३. विधायकता	घर या घोंसलों का निर्माण करने के लिए उचित सामान की उपस्थिति।	कृति भाव
१४. हास	परेशानी की वह स्थिति जब हम हँसते नहीं हैं।	आमोद

मूल प्रवृत्ति तथा सहज क्रिया में अन्तर
(Difference between Instinct and Reflex Action)

मूल प्रवृत्ति तथा सहज क्रिया—दोनों जन्मजात एवं अशिक्षित होती हैं। यह दोनों ही प्राणी को जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक हैं और दोनों ही प्राणी को इस योग्य बनाने में सहायता प्रदान करती हैं कि वह वातावरण में अपना एकीकरण कर सके। परन्तु समानताओं के होने के उपरान्त भी मूल प्रवृत्ति एवं सहज क्रिया एक-सी नहीं हैं। इनमें कई प्रकार के अन्तर हैं। यहाँ पर हम इन्हीं अन्तरों पर प्रकाश डालेंगे। यथा—

(१) सर्वप्रथम अन्तर सहज क्रिया एवं मूल प्रवृत्ति में यह है कि सहज-क्रियाएँ सरल (simple) होती हैं जबकि मूल प्रवृत्तियाँ जटिल (Complex) होती हैं। जब कोई पोन पैर मे चुभोयी जाती है तो तुरन्त प्रतिक्रिया हो जाती है परन्तु मूल-प्रवृत्यात्मक क्रिया में, जैसे चिड़िया का घोंसला बनाने में कई अन्य क्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं।

(२) सहज क्रिया क्षणिक होती है जबकि मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया इसकी तुलना में अधिक देर तक ठहराती है। पलक झपकना तुरन्त समाप्त हो जाता है किन्तु चिड़िया का घोंसला बनाना देर तक चलता रहता है।

(३) सहज क्रिया मे कभी भी परिवर्तन नहीं होता परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं पर जीवन के अनुभवों का असर पड़ता है और उनका रूपान्तर (modification) हो जाता है। हमारे अन्दर युद्ध की मूल प्रवृत्ति होती है परन्तु इसके प्रदर्शन करने मे जैसे-जैसे हम सभ्य होते जाते है, परिवर्तन आता जाता है।

(४) सहज क्रिया प्रायः अचेतन रूप से होती है परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया करने में हमें चेतना रहती है; जैसे—साँप को देखकर जब हम भागने लगते हैं तो हमें चेतना होती है कि हमें अपनी जान बचानी है।

(५) सहज क्रियाओं मे हमारे शरीर के विशिष्ट अंग ही भाग लेते हैं, अतएव इसका स्थान-निरूपण (localisation) करना संभव है। परन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया का सम्बन्ध हमारे सम्पूर्ण शरीर से रहता है, न कि किसी अंग-विशेष से। अतएव इनका स्थान निश्चित करना सम्भव नहीं है।

(६) अधिकतर सहज क्रियाएँ बाह्य उत्तेजना के द्वारा उत्पन्न होती हैं। किन्तु मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया में बाह्य एवं आन्तरिक—दोनों प्रकार की उत्तेजनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। यदि हम खाने को देखते हैं परन्तु आन्तरिक रूप से हमें खाने की इच्छा नहीं है तो मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया नहीं होगी। सहज क्रिया में यह बात नहीं है। उसमें तो बाह्य उद्दीपक के मिलते ही क्रिया हो जाती है।

(७) सहज क्रिया मे ध्येय तुरन्त पूरा हो जाता है। हमारी आँखों को खराब होने से बचाने के लिए पलक झपकाना या आँख बन्द करना आवश्यक है। अतः

सहज क्रिया द्वारा तुरन्त ऐसा होकर इस ध्येय की पूर्ति हो जाती है किन्तु मूल-प्रवृत्यात्मक क्रिया से ध्येय की पूर्ति तत्काल नहीं होती। यह क्रिया देर तक होती है, इसी कारण ध्येय की प्राप्ति भी देर से होती है।

ऐच्छिक क्रियाएँ (Voluntary Actions)

व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अच्छे प्रकार से विचार करके ऐच्छिक-क्रियाएँ करता है। यह स्वतः संचालित नहीं होतीं, वरन् ये व्यक्ति के नियन्त्रण में रहती हैं। व्यक्ति स्वयं यह जानकर कि—ऐसा करना अच्छा है, कार्य करता है। वह अपनी संकल्प-शक्ति एवं तर्क-शक्ति का पूर्ण उपयोग करके किसी कार्य को करने के निर्णय पर आता है और फिर उस कार्य के करने में जुट जाता है।

हमारे जीवन में बहुधा ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि हम दो या दो से अधिक में से कोई सा भी मार्ग अपने कार्य के लिए चुन सकते हैं। ऐसी स्थिति में जब हम कोई निर्णय करते हैं, उसमें हमारी ऐच्छिक क्रिया दृष्टिगोचर हो जाती है। *मान लीजिए—आपने बी० ए० पास किया है। अब आपको एक अच्छी नौकरी मिल* रही है परन्तु आप एम० ए० भी करना चाहते हैं। अतः आपके सामने यह निर्णय करने की समस्या आती है कि—आप पढ़ाई छोड़कर नौकरी करें या नौकरी छोड़कर पढ़ाई करें? आप इस समय दो विरोधी प्रेरक शक्तियों के संघर्ष का अनुभव करते हैं। आप यह जानते हैं कि नौकरी मिलना सरल नहीं, परन्तु आप यह भी जानते हैं कि *जीवन में तरक्की पाने के लिए एम० ए० करना भी आवश्यक है।* इस संघर्ष की परिस्थिति में आप दोनों विकल्पों (alternatives) पर चिन्तन करते हैं, दूसरों से विचार-विमर्श करते हैं और अन्त में इस निर्णय पर आते हैं कि नौकरी करना ही अच्छा है। आप पढ़ाई छोड़कर नौकरी करने लगते हैं। यह क्रिया जो आपने की, ऐच्छिक क्रिया ही कहलायेगी।

१. सरल ऐच्छिक क्रिया (Simple Voluntary Action)

जब आपके सम्मुख ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि दो या दो से अधिक मार्गों में से आपको अपने कार्य के लिए एक को चुनना है और आप सरलता से ऐसा करने में सफल हो जाते हैं तो इसे सरल ऐच्छिक क्रिया कहते हैं; जैसे—आपको निर्णय करना है कि इस समय बाजार जाऊँ या नहीं, अब आगे पढ़ूँ या नहीं, कौनसा खेल खेलूँ इत्यादि। आप सरलता से एक विकल्प को चुन लेते हैं और वैसा ही कार्य करने लगते हैं। अतः यह सरल ऐच्छिक क्रिया कहलाती है।

२. जटिल ऐच्छिक क्रिया (Complex Voluntary Action)

जटिल ऐच्छिक क्रिया उस समय होती है जब हमें ऐसे विकल्पों (alternatives) में से एक विकल्प चुनना है जो समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं; जैसे—आप अपनी पसन्द की लड़की से विवाह करें या माता-पिता द्वारा चुनी हुई लड़की

से। ये दोनों विकल्प आपको एक-से महत्त्व के प्रतीत होते हैं। आप इस पर चिन्तन करते हैं, तर्क करते हैं और एक निर्णय पर आने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार बड़ी कठिनता से जब आप किसी निर्णय पर आते हैं और उसे कार्यान्वित करते हैं तो यह जटिल ऐच्छिक क्रिया कहलाती है।

यदि जटिल ऐच्छिक क्रिया पर ध्यान दिया जाय तो हमें इसके दो स्तर दिखाई पड़ेंगे—(i) मानसिक स्तर (mental stage), तथा (ii) शारीरिक स्तर (bodily stage)।

(i) मानसिक स्तर (Mental Stage) :—

मानसिक स्तर पर हमे निम्न स्तर दिखाई पड़ते हैं—

(अ) अनुप्रेरकों का संघर्ष (Conflict of Motives)—हमने जैसा कि ऊपर कहा, हमारे सम्मुख बहुधा ऐसे अनुप्रेरक उठ खड़े होते हैं जो समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं। हमें उनमें से एक को चुनना होता है परन्तु हम यह सरलता से नहीं कर पाते। एक अत्यधिक सिगरेट पीने वाला सिगरेट पीना कम करना चाहता है परन्तु उसकी सिगरेट पीने की इच्छा सिगरेट छोड़ने की इच्छा से संघर्ष मे आती है। इसी प्रकार के अनेक प्रेरकों के संघर्ष का हमें समय-समय पर सामना करना पड़ता है।

(आ) रुकावट (Pause)—जब इस प्रकार के अनुप्रेरकों में संघर्ष होता है तो हमारी शारीरिक क्रिया कुछ देर को रुक जाती है। व्यक्ति क्रिया को रोककर उस पर विवेचन करने लगता है।

(इ) विवेचन (Deliberation)—विवेचना सबसे महत्त्वपूर्ण स्तर है। इस पर व्यक्ति प्रत्येक प्रेरणा का मूल्यांकन करता है। प्रत्येक प्रेरणा के गुण और दोषों की ओर ध्यान देता है। यदि विभिन्न प्रेरणाओं के संघर्ष का निपटारा नहीं हो पाता तो व्यक्ति में तनाव की स्थिति (state of tension) उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति इस स्थिति से अपने को बचाने के लिए विचार करता है कि किस प्रेरणा पर कार्य करना उत्तम होगा और उसे एक की अपेक्षा दूसरी प्रेरणा को क्यों अपनाना चाहिए ?

(ई) निर्णय (Decision)—विवेचन की क्रिया का अन्त निर्णय लेने पर हो जाता है। व्यक्ति एक प्रेरणा को चुन लेता है और उसको ही क्रियान्वित करने का निर्णय लेता है।

(ii) शारीरिक स्तर (Bodily Stage) :—

जब मानसिक रूप से निर्णय हो जाता है तो उसी के अनुसार शारीरिक क्रियाएँ आरम्भ हो जाती हैं। इस प्रकार शारीरिक स्तर पर व्यक्ति अपने मानसिक निर्णय को क्रियान्वित करता है।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि ऐच्छिक क्रियाओं की मुख्य विशेषता यह है कि वह वातावरण से व्यक्ति का समुचित एकीकरण (adjustment) करने मे सहायता

देती हैं। क्योंकि ऐच्छिक क्रियाएँ उद्देश्य को समझकर उसे प्राप्त करने के लिए करता है। इस कारण एकीकरण के दृष्टिकोण से वह निश्चित एवं यथार्थ (precise and accurate) होती है।

ऐच्छिक क्रियाओं में कुछ अनैच्छिक क्रियाएँ एवं अन्य सरल क्रियाएँ भी सम्मिलित रहती हैं। यही कारण है कि इनका अभियोजन विस्तार (breadth of adjustment) अधिक होता है।

आदतें (Habits of Habitual Actions)

आदतें ऐच्छिक क्रियाओं की कोटि में रखी जा सकती हैं क्योंकि जो हमारी आदतें बनती हैं, वे आरम्भ में हमारी इच्छा पर ही निर्भर होती हैं। हम अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं परन्तु जब हम किसी कार्य को बार-बार दोहराते चले जाते हैं तो वे हमारी इच्छा पर निर्भर न रहकर अनैच्छिक रूप ले लेती हैं और इस प्रकार हमारी आदत बन जाती हैं। आदत बनने में जो कार्य हमने अपनी इच्छा से बार-बार दोहराया है, वह स्वतः होने लगता है। क्योंकि आदत में ऐच्छिक एवं अनैच्छिक—दोनों प्रकार की क्रियाओं का महत्व रहता है, इसलिए इसे हम अर्द्ध-इच्छित क्रिया की संज्ञा देते हैं।

आदत से तात्पर्य है—किसी कार्य को स्थायी रूप से करना (habit means a confirmed way of doing a thing)। यह चेतन स्तर से बनना आरम्भ होती है परन्तु बार-बार अभ्यास के कारण स्वतः संचालित होने लगती है; जैसे—सिगरेट पहले जान-बूझकर पी जाती है परन्तु बार-बार इसे पीते रहने से इसे पीने का अभ्यास हो जाता है और आदत पड़ जाती है। अब इसे पीने के लिए इच्छा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

आदत हमारी प्रकृति के दो मुख्य तत्त्वों पर निर्भर होती है। वह है—(१) लचीलापन (plasticity), तथा (२) धारण करने की शक्ति (retentivity)। हमारा मस्तिष्क एवं स्नायु मण्डल रूपान्तरित (modify) हो सकते हैं। इनमें परिवर्तन लाये जा सकते हैं। लचीलेपन से हम यही समझते हैं, ये रूपान्तर हमारे अन्दर काफी समय तक धारण रह सकते हैं।

स्नायु संस्थान के दृष्टिकोण से आदत बनने से हमारा तात्पर्य—एक मार्ग का बनाना है। एक स्नायु आवेग बार-बार एक विशेष स्नायुओं की शृंखला से गुजरता है। इस तरह बार-बार गुजरने से सन्धिस्थल (synapse) की रुकावट स्थायी तौर से उस स्नायु आवेग के लिए कम हो जाती है और फिर इसके पश्चात् वह स्नायु-आवेग स्वतः उन स्नायु-तन्तुओं की शृंखला से सरलता से गुजर जाता है। इस प्रकार आदत बनने में स्नायु मण्डल में नये मार्ग निर्धारित हो जाते हैं।

आदत के प्रभाव (Effects of Habit)

मुख्य रूप से आदत के चार प्रभाव हैं। इनका वर्णन हम आगे दे रहे हैं—

(१) आदत कार्य को सरल बना देती है (Habit simplifies movement)—जब कार्य बार-बार दोहराया जाता है तो वह सरल हो जाता है और बेकार की हलचलें छोड़ दी जाती हैं। जैसे, टाइप करने में आरम्भ में बहुत-सी बेकार की हलचलें होती हैं परन्तु जैसे ही व्यक्ति टाइप सीख लेता है, वह सरलता से निश्चित ढंग से 'की बोर्ड' (key board) पर हाथ चलाने लगता है।

(२) आदत कार्य को अधिक सही बना देती है (Habit makes the movement more accurate)—जैसे ही ठीक आदतें बन जाती हैं, कार्य के करने में त्रुटियाँ भी कम हो जाती हैं।

(३) आदत से थकावट कम होती है (Habit diminishes fatigue)—अभ्यसित कार्य सरलता तथा सुगमता से होते हैं, इसलिए उनको करने में थकावट नहीं होती।

(४) आदत कार्य के लिए चेतन ध्यान की आवश्यकता को कम कर देती है (Habit diminishes the conscious attention needed for action)—आदत बिना चेतन नियन्त्रण के होती रहती है। व्यक्ति जो घूमने का आदी है, घूमता भी रहता है और चेतन रूप से किसी समस्या पर विचार भी करता रहता है।

अभ्यसित कार्य से लाभ (Advantages of Habitual Action)

शिक्षा के दृष्टिकोण से अच्छी आदतें बनाना बड़ा लाभदायक है। यदि आदतें अच्छी हैं तो व्यक्ति का नैतिक चरित्र भी अच्छा हो जाता है। आदत के सामाजिक महत्त्व के सम्बन्ध में जेम्स का विचार है कि "आदत समाज के लिए प्रबल गति-चक्र है तथा इसका मूल्यवान रूढ़िवादी प्रतिनिधि है।"[1] आदत के ही द्वारा हमारी परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज स्थायी रहते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे व्यक्तिगत जीवन की अनेक क्रियाएँ आदत के ही कारण हमारे अन्दर बिना तनाव उत्पन्न किये हुए सम्पन्न हो जाती हैं।

अभ्यसित कार्य से हानियाँ (Disadvantages of Habitual Action)

अभ्यसित कार्य करने में केवल लाभ ही नहीं है वरन् अनेक हानियाँ भी हैं। आदत की ही वजह से हम प्रगति करने से रुक जाते हैं। यह हमारी आदत के कारण होता है कि हम परिवर्तन को पसन्द नहीं करते। कभी-कभी हमारी आदतें इतनी शक्तिशाली हो जाती हैं कि उनको तोड़ना अत्यधिक कठिन हो जाता है। एक शराबी शराब छोड़ने के लिए चाहे कितना ही उत्सुक दिखाई पड़े परन्तु वह इस आदत को नहीं छोड़ पाता।

1. "Habit is thus the enormous fly-wheel of Society, its most precious conservative agent." —W. James : *Psychology*, p. 15.

विलियम जेम्स आदत के निर्माण के लिए निम्न चार नियम प्रतिपादित करते हैं :—

(i) नई आदत बनाने के लिए यथासम्भव शक्तिशाली प्रेरणा-शक्ति से कार्य आरम्भ करो—(Begin a new habit with as strong and decided an initiative as possible);

(ii) कभी भी नियम का अपवाद मत करो जब तक आदत स्थायी रूप से न बन जाय—(Never suffer an exception to occur till the new habit is securely rooted in your life);

(iii) अपने निर्णय पर सबसे पहले अवसर पर कार्य करो—(*Seize the first opportunity to act on your resoslution*); तथा

(iv) अपनी चेष्टा करने की शक्ति को प्रत्येक दिन स्वतन्त्र रूप से अभ्यास करके जीवित रखो—(Keep the faculty of effort alive in you by a little *gratuitous (free) exercise every day*).

बुरी आदतों को तोड़ने के लिए चार नियम दिये जा सकते हैं, वह हैं—

(१) अपनी प्रतिज्ञा को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए—जैसे ही आप यह प्रतिज्ञा बना लें कि इस आदत को तोड़ना है, वैसे ही उस पर कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। आपको इस बात का इन्तजार नहीं करना चाहिए कि जब उपयुक्त अवसर आयेगा, तभी उस आदत को तोड़ेंगे। आदत तोड़ने का कार्य दृढ़ प्रतिज्ञा से आरम्भ होना चाहिए और आरम्भ में कोई अपवाद नहीं होना चाहिए।

(२) पुरानी आदत के स्थान पर नई आदत बनानी चाहिए—केवल पुरानी आदत को दबा देना उचित नहीं है, वरन् इसके स्थान पर एक नई अच्छी आदत बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

(३) अपने चारों ओर का वातावरण इस प्रकार से बना लेना चाहिए कि पुरानी आदत की पुनरावृत्ति करने के लिए कम से कम प्रलोभन मिलें।

(४) अपने स्नायु संस्थान को अपना मित्र बना लें, न कि शत्रु।[1] पुरानी आदत की पुनरावृत्ति न होने दें और नई आदत को बार-बार दोहराएँ, जिससे पुराने स्नायु आवेग के मार्ग कमजोर पड़ जाएँ और नये दृढ़।

सारांश

व्यक्ति की क्रियाओं को हम मुख्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं। वे हैं—(१) ऐच्छिक क्रियाएँ, तथा (२) अनैच्छिक क्रियाएँ।

1. "Make your nervous system your ally (friend) instead of your enemy."—*James.*

अनैच्छिक क्रियाएँ—ये अनार्जित एवं अनसीखी होती हैं। इनके अन्तर्गत हम निम्न प्रकार की क्रियाओं को सम्मिलित करते हैं—

(i) स्वयं संचालित क्रियाएँ—ये क्रियाएँ शरीर को जीवित रखने के लिए आवश्यक हैं। उदाहरणार्थ—श्वास क्रिया इत्यादि।

(ii) आकस्मिक क्रियाएँ—ये उद्देश्यरहित एवं अव्यवस्थित होती हैं। जैसे—शिशु का हाथ-पाँव हिलाते रहना।

(iii) सहज क्रिया—बिना सीखी हुई क्रिया होती हैं जिन्हें व्यक्ति अचेतन रूप से करता है। उदाहरणार्थ, छींक का आ जाना, पलक झपकाना इत्यादि।

विशेषताएं—(१) अचेतन रूप से होती हैं, (२) जन्मजात होती हैं, (३) व्यक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं रहता, (४) उद्देश्य—प्राणी की जीवन-रक्षा करना होता है, (५) स्थानीय होती है, (६) सुधार संभव नहीं है। सहज क्रिया दो प्रकार की होती है—दैहिक सहज क्रिया एवं ज्ञानात्मक सहज क्रिया।

(iv) सम्बद्ध सहज क्रिया—कृत्रिम उद्दीपक से सहज क्रिया की प्रतिक्रिया होती है।

(v) भावनाजन्य क्रिया—किसी कार्य का विचार होते ही वह कार्य बिना चेतन नियन्त्रण के हो जाये। उदाहरणार्थ—फर्श पर पिन पड़ी देखकर तुरन्त उसे उठा लेना।

(vi) मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया—मैक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात एवं सहजात वृत्तियाँ हैं। इनमें मानसिक अनुभव की क्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं। ये तीन प्रकार की होती हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा चेष्टात्मक।

मैक्डूगल ने मूल प्रवृत्तियों का रूप पूर्णतः स्थिर करने के लिए १४ शाखाओं का पता लगाया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार एक ताला अपनी ही कुंजी द्वारा खोला जा सकता है, ठीक उसी प्रकार मूल प्रवृत्त्यात्मक व्यवहार भी विशिष्ट प्रकार के उद्दीपक द्वारा ही प्रयत्न होना चाहिए।

मूल प्रवृत्ति तथा सहज क्रिया में यह अन्तर है कि—(१) मूल प्रवृत्ति जटिल होती है और सहज क्रिया सरल, (२) मूल-प्रवृत्ति स्थायित्व लिए होती है जब कि सहज क्रिया क्षणिक होती है, (३) मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं में रूपान्तर हो सकता है, सहज क्रिया में नहीं, (४) सहज क्रिया अचेतन रूप से होती है। मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया जब होती है तो उसकी चेतना रहती है, (५) सहज क्रिया का स्थान-निरूपण सम्भव है, किन्तु मूल-प्रवृत्ति में असम्भव (६) सहज क्रिया बाह्य उत्तेजक के द्वारा उत्पन्न होती है। मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया आन्तरिक एवं बाह्य—दोनों प्रकार से, उत्पन्न होती है, (७) सहज क्रिया में ध्येय तुरन्त पूरा हो जाता है, मूल प्रवृत्ति में देर लगती है।

ऐच्छिक क्रियाएँ सीखी हुई होती हैं और संकल्प तथा तर्क शक्ति पर आधारित होती हैं। जब दो या दो से अधिक विकल्पों में से एक चुनना होता है तब ऐच्छिक-क्रिया की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐच्छिक क्रिया सरल हो सकती है और

१०

संवेदना[1]

बाह्य जगत् सम्बन्धी वस्तुओं तथा अपने विषय का सम्पूर्ण ज्ञान हम अपनी
ेन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं। इनके द्वारा ही हम अपने चारों ओर की वस्तुओं में
ट, ध्वनि, स्पर्श, स्वाद तथा गंध का अनुभव करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों से जो प्रभाव
प्राप्त करते हैं, उसे 'संवेदना' कहते हैं।

संवेदना सबसे अधिक प्रारम्भिक प्रक्रिया है जो कि परिपक्वतात्मकता के लिए
वश्यक है। ज्ञानेन्द्रियों की व्याख्या—"आत्मा के वातायन अथवा ज्ञान के प्रमुख
वाजे"—के रूप में की जाती है। एक विशेष ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ही संवेदना चेतन-
स्तिष्क तक आती है, संवेदना किसी उद्दीपक से उत्पन्न होती है। "संवेदना ज्ञानेन्द्रियों
प्रतिक्रिया है जो उत्तेजित होने पर मस्तिष्क और नाड़ीमण्डल के केन्द्र में स्नायुक
राएँ भेजती है। इस प्रकार मस्तिष्क का प्रथम प्रत्युत्तर ही संवेदना है।"

संवेदना—मस्तिष्क की एक सामान्य तथा सरलतम प्रक्रिया है। इसे अधिक
ल व सामान्य नहीं बनाया जा सकता। मस्तिष्क की इस प्रारम्भिक एवं सरलतम
क्रिया, 'संवेदना' का सम्यक् विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। शुद्ध संवेदना का
ा प्रायः असम्भव है। एक नवयुवक व्यावहारिक रूप से शुद्ध संवेदना कभी भी
त नहीं कर सकता। क्योंकि जैसे ही हम संवेदना प्राप्त करते हैं, हम अपने पूर्व
ुभवों पर आधारित अभिप्राय को चेतना अथवा अचेतनता से इसमें लगाने का
ास करते हैं। बाल्यावस्था के प्रारम्भ में जब बच्चे के सम्पूर्ण अनुभव अपूर्ण होते
उस समय ही यह कहा जा सकता है कि उसे कुछ प्रारम्भिक अथवा विशुद्ध संवेदना
त होती है।

---

[1] Sensation.

संवेदना का वर्गीकरण (Classification of Sensation)

वैज्ञानिकों ने संवेदनाओं का वर्गीकरण इस प्रकार से किया है—

(१) दृष्टि संवेदना (Visual), (२) ध्वनि संवेदना (Auditory), (३) घ्राण संवेदना (Olfactory), (४) स्पर्श संवेदना (Tactual), (५) स्वाद संवेदना (Taste), (६) मांसपेशीय संवेदना (Muscular sensation), (७) आंतरिक संवेदना, तथा (८) *संतुलन-संवेदना (Sensation of equilibrium)*।

मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार गति-सम्बन्धी संवेदनाऐं प्रारम्भिक प्रकार की होती है। ये संवेदनाएँ गति तथा स्थिति (Position) के सम्बन्ध में होती हैं। स्पर्शेन्द्रिय-संवेदनाओं को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—उष्णता (heat), शीतलता (cold), तथा दबाव (pressure)। विभिन्न व्यक्तियों में संवेदनाओं की किसी भी दिशा में विभिन्नता होती है। कुछ में दृष्टि-सम्बन्धी तथा कुछ में घ्राण-सम्बन्धी या किसी अन्य प्रकार की संवेदना अधिक मात्रा में विकसित होती है।

संवेदना के विधायक तत्त्व (Components of Sensation)

प्रत्येक संवेदना में एक या सम्पूर्ण निम्नलिखित तत्त्व पाये जाते हैं—(१) गुण (*quality*), (२) तीव्रता (*intensity*), (३) काल (*duration*), (४) विस्तार (extensity), तथा (५) स्थानीय चिन्ह (local colour)।

१. गुण (Quality)

एक संवेदना की प्रकृति दूसरे से भिन्न होती है। दृष्टि अथवा ध्वनि-संवेदनाएं एक-दूसरे से भिन्न होती हैं व इनकी भिन्नता उनकी प्रकृति-विशेष पर निर्भर रहती है। स्वयं दृष्टि संवेदना में ही गुण के आधार पर भिन्नता हो सकती है, जैसे—नीले रंग की भिन्न-भिन्न छायाएँ। इसी प्रकार दो ध्वनियां एक-दूसरे से ऊँचाई (pitch) में विभिन्न हो सकती हैं। गुण की विभिन्नता जातीय (genetic) या विशिष्ट (*specific*) प्रकार की हो सकती है।

जातीय गुण—विभिन्न प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों से जो विभिन्न संवेदनाएँ होती हैं, उनमें उनका जातीय गुण होता है; जैसे—दृष्टि संवेदना से घ्राण संवेदना विभिन्न होती है या स्पर्श संवेदना ध्वनि संवेदना से विभिन्न होती है। ऐसा इन दोनों प्रकार की संवेदनाओं में जातीय विभिन्नता के ही कारण होता है।

जातीय गुण के आधार पर संवेदनाएँ निम्न प्रकार की हैं—

(१) आंतरिक संवेदना (Organic Sensation),

(२) पेशीय संवेदना (Muscular Sensation), तथा

(३) विशिष्ट बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ (Special External Sense-Organs)

एक ही ज्ञानेन्द्रिय से उत्पन्न हुई विभिन्न संवेदनाओं में विशिष्ट गुण पाये जाते हैं; जैसे—दृष्टि संवेदना में हमें लाल या पीले रंग की संवेदना होती है। इसके अतिरिक्त लाल रंग में गहरा लाल, हल्का लाल; पीला लाल रंग इत्यादि की संवेदना

होती है। इस प्रकार जो विभिन्न संवेदना हमें लाल रंग की विभिन्न छायाओं के प्रति मिलती हैं, वे इसके विशिष्ट गुण के ही कारण होती हैं।

२. तीव्रता (Intensity)

इसका तात्पर्य—संवेदना की मात्रा से है। अगर हम दो नीले रंग की छायाएँ लें तो हम यह देखेंगे कि एक छाया दूसरी से अधिक चमकीली है। यह एक रंग की अपेक्षाकृत दूसरे की तीव्रता को दर्शाती है। इसी प्रकार एक १० पावर के बल्ब से उत्पन्न संवेदना एक २५ पावर के बल्ब से उत्पन्न संवेदना से भिन्न होगी। एक खाने की वस्तु में कम मिर्च डालने से जो स्वाद की संवेदना होगी वह अधिक मिर्च डाले हुए खाने के स्वाद से भिन्न होगी।

संवेदना की तीव्रता दो बातों पर निर्भर रहती है—(१) उत्तेजना-तीव्रता (intensity of stimulus), एवं (२) उत्तेजित किये गये नाड़ी तन्तुओं की संख्या। यदि उत्तेजना तीव्र है तो संवेदना भी तीव्र होगी क्योंकि तीव्र उत्तेजना ज्ञानेन्द्रियों के नाड़ी-तन्तुओं को भी उत्तेजित करेगी। इसी प्रकार एक तीव्र उत्तेजक द्वारा जो संवेदना उत्पन्न होती, वह क्षीण उत्तेजक द्वारा उत्पन्न संवेदना से भिन्न होगी।

३. अवधि (Duration)

संवेदना जितने समय तक रहती है, वह संवेदना की अवधि कहलाती है। एक ध्वनि जो हमें निरन्तर सुनाई देती है, उस ध्वनि से भिन्न गूंज पैदा करती है जो हमें कुछ क्षण को सुनाई देती है। जब हमें कोई ध्वनि-संवेदना ५ सैकिण्ड के लिए होती है और वही संवेदना उसी स्थिति में १६—सैकिण्ड के लिए होती है तो दोनों प्रकार की संवेदनाओं में हमें अन्तर प्रतीत होता है। यह अन्तर अवधि के कारण ही होता है।

४. विस्तार (Extensity)

संवेदनाओं में विस्तार का भी गुण पाया जाता है। विस्तार का अभिप्राय—स्थान से है। नाक के शीर्ष के स्पर्श का विस्तार नाक के अन्य भाग के स्पर्श के विस्तार से कम होगा। एक गुलाब के पेड़ को देखने की संवेदना का विस्तार एक गुलाब के बाग को देखने की संवेदना से भिन्न होता है। विस्तार बहुत-कुछ ज्ञानेन्द्रिय के उस क्षेत्र पर निर्भर रहता है जिसे उत्तेजना मिलती है, जैसे—जीभ की नोक पर खाना रखने से जो स्वाद मिलता है, वह उस स्वाद से भिन्न होता है जो खाने को जीभ के मध्य भाग पर रखने से मिलता है।

५. स्थानीय चिह्न (Local Sign)

स्थानीय चिह्न से यह अभिप्राय है कि उत्तेजना किस स्थान को छू रही है ? लॉजे (Lonze) नामक वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम इसका पता लगाया और संवेदना की विशेषता के रूप में रखा। हम जिस समय अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं और हमारे

शरीर के किसी भी स्थान को उत्तेजना मिलती है तो हमें पता चल जाता है कि हमारे शरीर के किस भाग को इस समय उत्तेजना मिल रही है ? इसी प्रकार यदि हमारे शरीर के किसी भाग में पीड़ा हो रही है तो हमें तुरन्त पता चल जाता है कि यह पीड़ा शरीर के कौन-से भाग में हो रही है ? यह आभास हमें संवेदनाओं के स्थानीय चिह्न के गुण से ही प्राप्त होता है।

संवेदना—भाव तथा संवेग से इसी आधार पर भिन्न है कि संवेदना में स्थान-निरूपण होता है, जबकि भाव तथा संवेग में यह सम्भव नहीं है। हमने अध्याय ८ में इस पर विशेष विचार किया है।

वेबर-फेक्नर नियम (Weber-Fechner Law)

हमने ऊपर वर्णन किया है कि प्रत्येक संवेदना किसी उत्तेजक द्वारा उत्पन्न होती है। अतः यदि उत्तेजक की मात्रा बढ़ा दी जाय तो संवेदना की तीव्रता में भी वृद्धि हो जाती है पर संवेदना की तीव्रता उत्तेजक की तीव्रता पर कुछ विशेष दशाओं में ही निर्भर रहती है। वे दशाएँ निम्न हैं :—

(१) यदि उत्तेजक बहुत क्षीण है तो वह कोई भी संवेदना उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होगा। वह बिन्दु जहाँ पर उत्तेजक की तीव्रता केवल इतनी संवेदना उत्पन्न कर पाती है कि हम उसका बहुत ही क्षीण अनुभव कर सकें और उद्दीपक की तीव्रता इससे कम हो जाने पर संवेदना का बिलकुल अनुभव न कर सकें तो उस उद्दीपक की सीमान्त तीव्रता (liminal intensity of the stimulus) या संवेदना का सीमांतिक परिमाण (threshold of sensation) कहते हैं। उद्दीपक की सीमावर्ती तीव्रता हम उद्दीपक के दृष्टिकोण से कहते हैं और संवेदना का सीमांतिक परिमाण हम मस्तिष्क के दृष्टिकोण से कहते हैं।

परन्तु उद्दीपक की तीव्रता—संवेदना की तीव्रता को एक सीमा तक ही बढ़ा सकती है। उस सीमा से आगे बढ़ने पर उद्दीपक की तीव्रता चाहे जितनी भी बढ़ायी जाय, संवेदना की तीव्रता में कोई अन्तर नहीं आयेगा। इस सीमा को संवेदना की पराम्त सीमा (height of sensibility) कहते हैं।

(२) वेबर नाम के एक जर्मन शरीर शास्त्री ने एक नियम का प्रतिपादन किया जिसे 'वेबर का नियम' (Weber's Law) कहते हैं। यह नियम उद्दीपक की तीव्रता और संवेदना की सीमा से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस नियम के अनुसार—"एक संवेदना की तीव्रता में उपयुक्त भेद प्राप्त करने के लिए उसके उत्तेजक को उसी अनुपात से बढ़ाना आवश्यक है।"[1] अतएव यह नियम हमें बताता है कि जिस गति से उत्तेजना की तीव्रता बढ़ती है, उसी गति से संवेदना की तीव्रता नहीं बढ़ती वरन्

---

1. "In order to secure a just noticeable increase in the intensity of a sensation, it is necessary to increase the stimulus arousing the sensation by a constant fraction of itself."

इन दोनों में एक अन्य सम्बन्ध है; अर्थात् उत्तेजक की तीव्रता जब तक निश्चित अनुपात में बढ़ायी जाती है तभी संवेदना की तीव्रता का अनुभव होता है। यह निश्चित अनुपात संवेदनाओं के क्षेत्रों पर निर्भर रहता है। यह दृष्टि क्षेत्र के लिये १/१००, श्रवण क्षेत्र के लिये १/६, दबाव और ताप क्षेत्र के लिये १/३ और गन्ध क्षेत्र के लिये १/४ है।

हम वेबर के नियम का स्पष्टीकरण एक उदाहरण देकर करेंगे। मान लीजिए आप २१ सेर भार का कोई वजन उठाते हैं। अतः आपको केवल २१ सेर दबाव की ही संवेदना होगी। यदि आप इस संवेदना को बढ़ाना चाहते हैं और केवल एक सेर ही अधिक का वजन उठाते हैं, तो वेबर के नियम के अनुसार आपकी संवेदना में कोई वृद्धि नही होगी क्योंकि आरम्भिक दबाव की तीव्रता बढ़ाने के लिए आपको उद्दीपक की तीव्रता को एक निश्चित अनुपात में बढाना है, जो १/३ है। अतएव जो भार आपको बढ़ाना है वह २१×१/३ अर्थात्=७ होना चाहिए। तात्पर्य यह कि संवेदना की तीव्रता बढ़ाने के लिए आपको २१+७=२८ सेर का भार उठाना चाहिए क्योंकि आपको २१ सेर से लेकर २७ सेर के भार तक की संवेदना में कोई अन्तर अनुभव नहीं होगा।

वेबर के नियम को एक अन्य प्रकार से भी प्रतिपादित किया जाता है कि—"संवेदना की तीव्रता में क्रमागत वृद्धि करने के लिए, उद्दीपक की तीव्रता को रेखा-गणित के क्रम (geometrical progression) मे बढ़ाना चाहिए।"[1] यहाँ गणितात्मक क्रम मे तात्पर्य यह है कि उद्दीपक को एक निश्चित गुणक (constant factor) से गुणा किया जाय। यह निश्चित गुणक दृष्टि के क्षेत्र में १०१/१००, श्रवण के क्षेत्र में ७/६, दबाव और तापक्रम के क्षेत्र में ४/३ और गन्ध के क्षेत्र मे ५/४ है। उपर्युक्त उदाहरण में २१ सेर को ४/३ से गुणा करके वह भार निकाला जा सकता है जो संवेदना की तीव्रता की सीमावर्ती अनुभव में वृद्धि करे।

फेक्नर महोदय ने वेबर के नियम में सुधार करने की चेष्टा की। उन्होंने कहा कि यदि उत्तेजक ज्यामित रूप मे बढ़ता है तो संवेदना की तीव्रता अंकगणित के क्रम (arithmetic progression) के रूप मे बढ़ती है। इसे वेबर-फेक्नर नियम[2] कहते हैं। परन्तु इस नियम से बहुत से मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं हैं।

यह सिद्धान्त कुछ सीमा तक ही सही उतरता है। स्वाद और घ्राण संवेदनाओं में इसकी परीक्षा सफल नहीं हो पायी। तापमान के सम्बन्ध मे भी इसके फल अनिश्चित हैं।

---

1. "In order to get successive increase in intensity of the sensation, the stimulus should be increased by Geometrical Progression (G. P.)."
2. "As the stimulus increase in Geometrical Progression (G. P.), the sensation increases in Arithmetical Progression (A. P.)." —*Weber-Fechner Law.*

ज्ञानेन्द्रियाँ (Sense Organ)

जो कुछ भी ज्ञान हमें मिलता है वह हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही मिलता है। इस कारण हमें ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी होनी चाहिए।

हमारी प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय एक ग्रहण करने तथा अंकित करने वाला कोमल यंत्र (delicate receiving and registering instrument) है; जैसे—आँख एक ऐसा यंत्र है जो प्रकाश की तरंगों (light waves) को उसी प्रकार ग्रहण एवं अंकित करता है जिस प्रकार रेडियो ईथर (ether) में से ध्वनि की तरंगों को ग्रहण एवं अंकित करता है। इसके अतिरिक्त हमारी प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय एक विशिष्ट प्रकार की उत्तेजना को ही ग्रहण करती है; जैसे—कान केवल ध्वनि की तरंगों को, और आँख प्रकाश की तरंगों को ही ग्रहण करती है।

प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय में ज्ञानात्मक कोष (sensory cells) होता है, एक ज्ञानात्मक स्नायु (sensory nerve) होती है जो इन कोषों को केन्द्रीय स्नायु मण्डल से सम्बन्धित करती है तथा एक सहायक यंत्र होता है जिसकी सहायता से संवेदनात्मक उत्तेजना को कुशलता से ग्रहण किया जा सकता है।

एक ज्ञानेन्द्रिय की मुख्य विशेषताएँ निम्न होती हैं :—

(१) यह विशिष्ट प्रकार के उद्दीपकों के द्वारा ही उत्तेजित होती है।

(२) यह बहुत संवेदनशील होती है, जिससे बहुत ही क्षीण उद्दीपक के प्रति भी प्रतिक्रिया कर सके।

(३) यह विभिन्न तीव्रता की उत्तेजनाओं के प्रति विभिन्नता प्रदर्शित करती है।

(४) यह उद्दीपक के विभिन्न गुणों (qualities) में भिन्नता ज्ञात करने की क्षमता रखती है।

ज्ञानेन्द्रियों का कार्य—ग्रहण करना होता है। अतः इन्हें ग्राहक (receptor) भी कहा जाता है। ग्राहक या ज्ञानेन्द्रियों का विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है—(i) बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ (extero-ceptors)—जो उत्तेजना को शरीर के बाहर से ग्रहण करती हैं; (ii) आन्तरिक ज्ञानेन्द्रियाँ (intero-ceptors) जो उत्तेजना को शरीर के आन्तरिक भागों से ग्रहण करती हैं, तथा (iii) मध्य-ज्ञानेन्द्रिय (propiro-ceptors)—जो उत्तेजना को माँसपेशी एवं जोड़ों इत्यादि से ग्रहण करती हैं। नीचे हमने ज्ञानेन्द्रियों का वर्गीकरण इन तीनों वर्गों के आधार पर किया है। यथा—

दृष्टि-संवेदना (Visual Sensation)

मानव के लिए आँख एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। हम यहाँ इस ज्ञानेन्द्रिय की बनावट एवं कार्यविधि का अध्ययन करेंगे।

आँख की बनावट (Structure of the Eye) :—

मानव की आँख के गोलार्द्ध (eye-ball) लगभग वृत्ताकार होते हैं। नेत्र-गोलार्द्ध में अग्रांकित तीन तहें होती हैं—

(i) श्वेतपटल (sclerotic), (ii) मध्यपटल (choroid), तथा (iii) दृष्टिपटल या पत्रिपट (retina)।

(i) श्वेतपटल (Sclerotic)—आँख की सबसे बाहरी सतह श्वेतपटल कहलाती है। यह चारों ओर से अपारदर्शी होती है तथा सामने से पारदर्शी होती है। इसका पारदर्शी भाग कनीनिका (cornea) कहलाता है। यह आँख की सफेदी को निर्मित करती है और देखने में कड़ी प्रतीत होती है। कनीनिका पर वह भाग नेत्र का उभरा हुआ भाग है जो बाहर से दीखता है। श्वेतपटल आँख के ताल (lens) तथा उपतारा (*iris*) की रक्षा करता है।
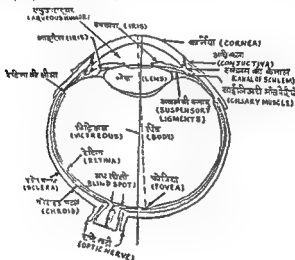
[चित्र—२७]

(ii) मध्यपटल (Choroid)—श्वेतपटल एक हल्की-सी झिल्ली से घिरा रहता है जिसे मध्यपटल कहते हैं। इस सतह पर मुख्यतः छोटे रक्त की वाहिनियाँ (blood vessels) होती हैं। यह प्रायः काले एवं भूरे रंग का होता है। यह अपारदर्शक होता है। मध्यपटल आगे बढ़कर मांसपेशियों के समूह में पक्ष्मिक स्नायु (ciliary muscles) का रूप धारण कर लेता है।

(iii) दृष्टिपटल (Retina)—मध्यपटल के नीचे आँख की बहुत महत्वपूर्ण सतह है जिसे अक्षिपट या दृष्टिपटल कहते हैं। इस आवरण अथवा तह की बनावट अत्यन्त जटिल है।

(a) उपतारा (Iris)—यह आँख का रंगीन भाग है जो कनीनिका (cornea) के पीछे स्थित रहता है। वास्तव में यह कनीनिका का ही विस्तार (extension) है।

(b) लैंस (Lens)—उपतारा के पीछे लैंस होता है। पुतली (pupil) द्वारा इस ताल तक प्रकाश आता है।

(c) पुतली (Pupil)—पुतली उपतारा के मध्य में एक काले बिन्दु के समान प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में यह कैमरे के छिद्र की भाँति होती है, जिससे फिल्म पर प्रकाश पड़ता है। उपतारा की मांसपेशियों की सहज क्रिया के कारण। पुतली तीव्र प्रकाश के आँख पर पड़ने से सिकुड़ जाती है तथा प्रकाश के मन्द होने प बड़ी हो जाती है।

कनीनिका (Cornea) और ताल (lens) दोनों का रूप इस प्रकार का होत है कि वह उस प्रकाश की किरण को जो आँखों द्वारा प्रवेश पा रही है, अन्दर को मो मोड़ दें। लैंस का वास्तविक रूप वृत्ताकार (spherical) होता है परन्तु यह चपटा हो जाता है और अपनी ओर स्थित विपक्ष बन्ध (suspensary ligaments) द्वारा बन रहता है।

ताल (lens) का कार्य—प्रतिमा को ठीक से केन्द्रित करना होता है। यह अत्यन्त लचीला (elastic) होता है और इसका रूप उस वस्तु के निकट होने पर निर्भर होता है, जिसकी दृष्टि-संवेदना प्राप्त हो रही है। लैंस के यह कार्य उससे जुड़ी हुई सिलेरी मांसपेशी (cellary mucles) द्वारा होते हैं। लैंस के आगे तथा पीछे दो तरल रस पाये जाते हैं जिन्हें एक्वस रस (aqueous humor) तथा कांचद्रव रस (vitreous humor) कहते हैं। कांचद्रव रस का कार्य—नेत्र गोलक को आकृति रूप में रखना होता है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, अक्षिपट (retina) नेत्र का सबसे निचला पटल है। यह वह पटल है जिस पर वस्तु की प्रतिमा पड़ती है। यह स्नायुओं (neurons) की एक जटिल बनावट है। इसके स्नायुकोष मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं : एक को दण्ड (rods) और दूसरे को शंकु (cones) कहते हैं। शंकु का उपयोग दिन के प्रकाश में देखने के लिए किया जाता है और दण्ड का उपयोग शाम के समय क्षीण प्रकाश में किया जाता है। दण्ड लम्बे होते हैं और शंकु त्रिकोण होते हैं। ताल (lens) के सामने शंकु अधिक संख्या में पास-पास सटे हुए पाये जाते हैं। इसको हम पीत-बिन्दु (fovea or yellow spot) कहते हैं। इस स्थान से बढ़ने पर शंकुओं की संख्या क्रमशः कम होती जाती है और दण्ड की संख्या में वृद्धि होती जाती है। इन शंकु के द्वारा विभिन्न रंगों की संवेदना होती है। दण्ड से प्रकाश एवं अन्धकार की संवेदना होती है। पीत-बिन्दु से थोड़ा हटकर अन्ध-बिन्दु (blind spot) मिलता है। इस बिन्दु पर प्रकाश एवं अन्धकार के अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। इसी स्थान से मस्तिष्क को मिलाने वाली नेत्र स्नायु (optic nerve) जाती है।

दृष्टि-संवेदना किस प्रकार होती है ?

नेत्र के विभिन्न भाग का विवरण देने के पश्चात् अब हम यह वर्णन करेंगे कि नेत्र द्वारा हमें दृष्टि-संवेदना किस प्रकार मिलती है।

दृष्टि-संवेदना का अवयव आँख है, और इसका उद्दीपक प्रकाश है। मान लीजिए, हमारे सम्मुख एक बिजली का बल्ब है जिसकी दृष्टि-संवेदना हमें हो रही है। इससे प्रकाश की लहरें आँख को उत्तेजित करती हैं और कनीनिका से होती हुई लेंस द्वारा केन्द्रित हो जाती हैं तथा इसकी प्रतिमा अक्षिपटल पर बन जाती है। अक्षिपटल की विभिन्न परतों से होती हुई यह दण्ड या शंकु से टकराती है जिससे दण्ड या शंकु में रासायनिक परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन के होने से स्नायु-प्रवाह (nerve-impulse) उत्पन्न हो जाता है। यह स्नायु-प्रवाह नेत्र-स्नायु (optic nerve) द्वारा मस्तिष्क को पहुँच जाता है और हमें दृष्टि-संवेदना होती है।
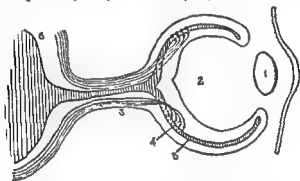
[चित्र—२८]

अक्षिपटल तथा नेत्र स्नायु का मस्तिष्क के दूसरे भागों से सम्बन्ध

[1. लेंस, 2. नेत्र गोलार्द्ध, 3. नेत्र स्नायु, 4. अक्षिपटल, 5. पिगमेण्टल सतह (pigmental layer), 6. सेरीब्रल वाल (cerebral wall)]

रंग संवेदना (Colour Vision)

हमने ऊपर वर्णन किया है कि जब प्रकाश की तरंगें हमारे अक्षिपटल के ग्राहकों को उत्तेजित करती हैं तो हमें दृष्टि-संवेदना होती है। परन्तु प्रकाश की सब तरंगें समान नहीं होतीं। इनमें लम्बाई (length), सघनता (amplitude), तथा बारम्बारता (frequency) की भिन्नताएँ होती हैं। भिन्न रंगों की तरंग-लम्बाई (wave length) भिन्न होती है। हमें रंग की दृष्टि-संवेदना इस कारण होती है कि हमारे अक्षिपटल के शंकु भिन्न तरंग-लम्बाई के प्रकाश के साथ भिन्न प्रतिक्रिया करते हैं। प्रकाश की तरंग जिसकी तरंग-लम्बाई की माप एक मिलीमीटर के दस लाखवें हिस्से के द्वारा की जाती है इसे *mμ* द्वारा व्यक्त करते हैं। वे प्रकाश की तरंगें जिनकी लम्बाई ७६० से ३९० *mμ* तक है वह एक साधारण मानवीय आँख को रंग की संवेदना देती है। इस विस्तार में इन्द्रधनुष के सब रंग मिल जाते हैं, जो हैं—लाल

(red), नारंगी (orange), पीला (yellow), हरा (green), नीला (blue), बैंजनी (indigo). तथा वायलेट (violet)। यह सब रंग एक स्पेक्ट्रम (spectrum) में हमें दिखायी पड़ते हैं। जिन तरंगों की तरंग-लम्बाई ७६० μμ से अधिक होती है उन्हें लाल रंग से नीचे का रंग इन्फ्रा रेड (infra red) कहते हैं और जिन तरंगों की तरंग-लम्बाई ३६० μμ से कम होती है उन्हें जामुनी रंग से ऊपर या अल्ट्रा वायलेट (ultra violet) कहते हैं। इन्फ्रा रेड ताप की संवेदना देते हैं परन्तु प्रकाश की नहीं। अल्ट्रा वायलेट (ultra violet) कुछ प्रभाव व्यक्त करते हैं परन्तु रंग की कोई संवेदना नहीं देते। हम रंगों को एक वृत्त में उपरोक्त चित्र के अनुसार रख सकते हैं।
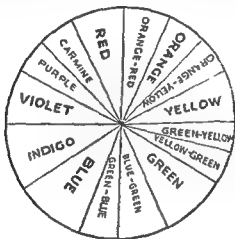
[चित्र—२६]

चमकीलापन (Brightness)

रंग केवल विभिन्न प्रकार की छायाओं (hues) और संतृप्तता (saturation) की मात्रा के कारण ही एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते, वरन् उनकी भिन्नता उनके चमकीलेपन के कारण भी होती है। चमकीलापन अंशतः उद्दीपक की शक्ति अथवा तीव्रता पर निर्भर होता है। दो प्रकाश तरंगें जिनकी तरंग-लम्बाई एक-सी है परन्तु लम्बता (amplitude) में अन्तर है (चित्र ३०) तथा दो रंग हैं जो एक-सी छाया के हो हैं परन्तु उनके चमकीलेपन में भिन्नता है, विभिन्न संवेदना देंगे।

परन्तु चमकीलापन केवल उद्दीपक की शक्ति पर निर्भर नहीं होता, इस पर तरंग-लम्बाई का भी प्रभाव पड़ता है। हमारी आँख उन तरंग लम्बाइयों की ओर सदैव अधिक उत्तेजनशील है जो स्पेक्ट्रम (spectrum) के मध्य में हैं। इसी कारण एक उद्दीपक, जिसकी शक्ति दी हुई है और जिसकी तरंग-लम्बाई साधारण

[चित्र—११]
रंग-मिश्रण यंत्र

जिन रंगों को मिलाना है उन्हें डिस्क पर लगाकर उसे तेजी से घुमा देते हैं। डिस्क के तेज घूमने से जिन रंगों को डिस्क पर लगाया गया है वे मिश्रित हो जाते हैं। यदि हम आधी डिस्क पर लाल और आधी पर पीले रंग को लगायें तो डिस्क के तेजी से घूमने पर नारंगी (orange) रंग की संवेदना होगी जो लाल और पीले रंग का मिश्रण होता है। इसी प्रकार यदि नीले और पीले रंग को मिलायें तो भूरे (grey) रंग की संवेदना होगी। इसी प्रकार से लाल तथा हरे रंग एवं काले तथा सफेद रंग को मिलाने से भूरे रंग की संवेदना होगी। इन रंगों को हम एक-दूसरे की अनुपूरक छाया (complementary hue) के नाम से सम्बोधित करते हैं। स्पेक्ट्रम (spectrum) के प्रत्येक रंग का—चाहे वह शुद्ध हो या मिश्रण, एक अनुपूरक रंग होता है। यह स्पेक्ट्रम में हो सकता है या इसके बाहर कार्मिन पर्पिल (carmine purple) विस्तार में।

यंग हेलमोज का सिद्धान्त (Young Helmholtz Theory)

यंग हेलमंज के अनुसार केवल तीन रंग ही मौलिक हैं; यथा—लाल, हरा और नीला। शेष सब रंग इन्हीं की सहायता से उत्पन्न किये जाते हैं। यह कहा जाता है कि इन तीनों रंगों के नाड़ी-तन्तुओं के अलग-अलग रेशे होते हैं जो हमारे अक्षिपटल पर पाये जाते हैं। इस सिद्धान्त की मान्यता में यह कठिनाई है कि इसके द्वारा अनुबिम्ब (after image), रंग विरोध (colour contrast), रंग अन्धता (colour blindness) इत्यादि की घटनाओं को नहीं समझा जा सकता। अतएव यह सिद्धान्त पूर्णतया मान्य नहीं है।

हैरिंग का सिद्धान्त (The Herring Theory)

हैरिंग ने तीन रंगों के स्थान पर चार रंगों को स्वीकार किया। उसके अनुसार चार प्राथमिक रंग हैं—हरा, लाल, नीला और पीला। इन रंगों में से प्रत्येक को दो-दो जोड़ों में रख दिया गया और जैसा कि हमने ऊपर रंग-मिश्रण में वर्णन किया, प्रत्येक जोड़े के दोनों रंगों को एक-दूसरे का अनुपूरक माना गया। इस सिद्धान्त के अनुसार नेत्रपटल पर तीन प्रकार के शंकु माने जाते हैं। इनमें से प्रत्येक दो रंगों की संवेदनाएँ देते हैं। यह संवेदनशीलता दो प्रकार की कही जा सकती है—निर्माणात्मक (Anabolism) तथा ध्वंसात्मक (Catabolism)। निर्माणात्मक संवेदनशीलता के द्वारा हरे, नीले, काले रंग की उत्पत्ति होती है, और ध्वंसात्मक द्वारा पीले और ... की।

यह सिद्धान्त 'यंग हेलमोज सिद्धान्त' से अधिक अच्छा माना जाता है क्योंकि इसके द्वारा रंग-मिश्रण, रंग-अन्धता इत्यादि की व्याख्या की जा सकती है। परन्तु इस सिद्धान्त में यह त्रुटि है कि प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि अक्षिपटल पर तीन ही प्रकार के शंकु होते हैं।

अनुसंवेदना (After Sensations)

यदि आप देर तक एक तीव्र उद्दीपक, जैसे—एक तेज विद्युत के बल्ब, की ओर देखते रहें और फिर अपनी आँखों को बन्द कर लें तो यह संवेदना फिर भी कुछ काल के लिये स्थायी रहती है। यह धनात्मक पश्चात् प्रतिमा (positive after image) या अनुबिम्ब कहलाती है।

इसके अतिरिक्त यदि आप एक लाल वर्गाकार कार्ड पर आधे मिनट तक दृष्टि जमाये रहें और फिर कार्ड को हटा दें तथा एक भूरी पृष्ठभूमि पर अपनी निगाह डालें तो आपको एक हरा वर्ग दिखायी देगा। यह निषेधात्मक अनुसंवेदना या पश्चात् प्रतिमा (negative after image) कहलाती है। यहाँ पर लाल रंग का अनुपूरक रंग-हरा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की क्रिया को हम उत्तरोत्तर रंग विरोध (successive colour contrast) की संज्ञा देते हैं।

एक और प्रकार का विरोध भी देखने में आता है जिसे हम समकालीन विरोध (simultaneous contrast) कहते हैं। इस प्रकार का विरोध उस समय दृष्टिगोचर होता है जब हम दो पूरक रंगों को सटाकर रखते हैं। ऐसा करने से हम देखते हैं कि दोनों रंग पहले से अधिक तीव्र प्रतीत होने लगते हैं। यदि हरे और लाल रंग को पास-पास रखा जाये तो हरा अधिक हरा और लाल अधिक लाल प्रतीत होने लगता है। यह इस कारण होता है कि प्रत्येक रंग अपने पूरक रंग की चमक को अपने में मिला लेता है।

अनुकूलन (Adaptation)

जब आप धूप की तेज रोशनी से एकदम अन्धेरे कमरे में प्रवेश करते हैं तो कुछ देर तक आपको कुछ दिखाई नहीं पड़ता परन्तु कुछ समय बाद आपको वस्तुएँ दिखायी पड़ने लगती हैं। हम इस क्रिया को अनुकूलन कहते हैं। हमारी आँखें अँधेरे के साथ अपना अनुकूलन कर लेती हैं और हमें वस्तुएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। इसी प्रकार का अनुकूलन उस समय भी होता है जब आप अँधेरे कमरे से एकदम तेज प्रकाश में आ जाते हैं।

रंग-अन्धता (Colour Blindness)

यह देखा गया है कि लगभग ४ प्रतिशत पुरुष और लगभग १ प्रतिशत स्त्रियाँ रंग-अन्धता से पीड़ित होती हैं। रंग-अन्धता जन्मजात होती है। इसे बीमारी कहना ठीक नहीं है। यह व्यक्तियों में शंकु (cones) के दोषपूर्ण विकास के कारण होती है। यह भी पाया जाता है कि कुछ व्यक्ति एक ही आँख में रंग-अन्ध होते हैं।

वह व्यक्ति जो पूर्णतः रंग का अन्धा है, संसार को काला, सफेद या भूरे रंग में रँगा देखता है, परन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं। अधिकतर व्यक्ति लाल-हरी अन्धता से पीड़ित होते हैं। इनमें पीले और नीले रंग की तो संवेदना होती है, परन्तु लाल और हरे रंग की नहीं। ये रंग-अन्ध व्यक्ति केवल रंग की छाया के प्रति ही अन्ध होते हैं, रंग के दूसरे गुणों के प्रति नहीं। चमकीलेपन में वे प्रायः सभी रंगों की पहिचान उनकी चमक के अनुपात में करते हैं।

नेत्रपटल पर रंगों की परिधियाँ (Colour-Zones on Retina)

नेत्रपटल या अक्षिपटल तीन परिधियों (zones) में बाँटा जा सकता चित्र ३२ में जो मध्य क्षेत्र (C) है, वह पीत-बिन्दु या फोविया (fovea) चारों ओर होता है। यह क्षेत्र सबसे स्पष्ट दृष्टि-क्षेत्र है, और यही वह भाग है सब रंगों की संवेदना ग्रहण कर सकता है। बीच का क्षेत्र (B) केवल नीले पीले रंगों द्वारा संवेदनशील होता है, लाल और हरे के लिए नहीं। बाह्य क्षेत्र (पूर्णतया रंग-अन्ध है।
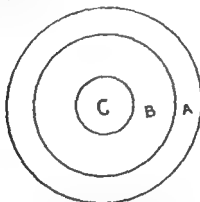
[चित्र—३२]
नेत्रपटल पर रंगों की परिधियाँ

इन परिधियों का पता एक यंत्र द्वारा जिसे 'पेरीमीटर' (perimeter) कहते हैं, लगाया जाता है।

लैड फ्रैंकलिन सिद्धान्त (Ladd Franklin Theory)

'लैड फ्रैंकलिन सिद्धान्त' सर्वप्रथम अमरीकी मनोवैज्ञानिक लैड फ्रैंकलिन द्वारा प्रतिपादित किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार रंग की संवेदना धीरे-धीरे विकसित हुई है। ऐसा देखा गया है कि केवल कुछ दूध पिलाने वाले पशुओं को छोड़कर सभी पशु रंग के अन्धे होते हैं।

श्रवण-संवेदना (Auditory Sensation)

कान—ध्वनि की ज्ञानेन्द्रिय है। यहाँ हम सर्वप्रथम कान की बनावट पर ध्यान देंगे और देखेंगे कि हमें ध्वनि-संवेदना किस प्रकार होती है।

कान की बनावट—कान की बनावट को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(i) बाह्य कान (external ear), (ii) मध्य कान (middle ear), तथा आन्तरिक कान (internal ear)—(देखिए चित्र ३४)।
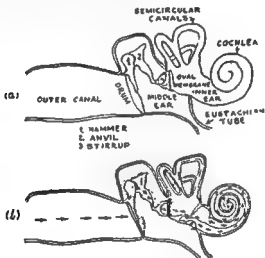
[चित्र—३४]

(i) बाह्य कान—इसके भी दो भाग होते हैं, यथा—(क) कान का सबसे ऊपरी भाग, जो सीप के आकार का होता है। इसकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं होती है, क्योंकि बिना इसके भी ध्वनि की संवेदना होती है। (ख) कान की नली (auditory tube)—यह भाग कान के ढोल (ear-drum) से सम्बद्ध रहता है। कान का ढोल बाह्य और मध्य कान के बीच में स्थित रहता है। इस नली द्वारा कोई भी ध्वनि कान के ढोल तक पहुँच जाती है।

(ii) मध्य कान—यह कनपटी की हड्डियों के बीच स्थित रहता है। इसका आकार इस प्रकार का है कि यह बाहर की ओर फैला रहता है और भीतर की ओर संकीर्ण। इसमें कण्ठकर्ण-नली (eustachian) गले तक जाती है, जिसके अन्दर एक खाली नली हमेशा हवा से भरी रहती है। मध्य कान के अन्दर तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ हैं जो आपस में बँधी रहती हैं और कान के ढोल से सटी हुई पायी जाती हैं। इनमें से जो हड्डी ढोल के निकटतम है उसे हथौड़ा (hammer) कहते हैं। बीच वाली हड्डी

निहाई (anvil) कहलाती है, और जो हड्डी आन्तरिक कान के निकट होती है उसे रकाब (stirrup) कहते हैं। ईथर प्रकम्पन (ether vibration) से ढोल प्रकम्पित हो जाता है जिसके प्रकम्पित होने से ये हड्डियाँ प्रकम्पित होने लगती हैं और इस प्रकार मध्य कान द्वारा प्रकम्पन आन्तरिक कान को भेज दिया जाता है।

(iii) आन्तरिक कान—यह खोपड़ी की हड्डियों के अन्दर स्थित है। इसमें एक शंख (cochlea) नामक इन्द्रिय पायी जाती है जो एक तरल पदार्थ से भरी रहती है। इस तरल पदार्थ में एक झिल्ली जिसे तलपत्र (basilar membrane) कहते हैं, पायी जाती है। इस पर अनेक केशकोष (hair cells) स्थित रहते हैं। तलपत्र से ही निकल कर ध्वनि की संवेदनाएँ मस्तिष्क के श्रवण केन्द्र में पहुँच जाती हैं।

हमें ध्वनि की संवेदना कैसे होती है ?

ध्वनि की तरंगें कान की नली से होकर ढोल पर प्रहार करती हैं जिससे ढोल में प्रकम्पन होने लगते हैं। ये प्रकम्पन तीनों हड्डियों—हथौड़ा, निहाई तथा रकाब—की शृंखला से होकर मध्य कान को पार करते हुए आन्तरिक कान के प्रवेश पर ओवल झिल्ली (oval membrane) तक पहुँचते हैं और इसके पश्चात् ओवल खिड़की (oval window) द्वारा यह तरल पदार्थ से होकर गुजरने लगते हैं (देखिए चित्र १५, इसमें तीर के निशान प्रकम्पन के मार्ग को व्यक्त करते हैं)। शंख के अन्दर तरल पदार्थ से गुजरते हुए ये प्रकम्पन तलपत्र नामक झिल्ली पर पहुँचते हैं जहाँ हजारों छोटे-छोटे रेशे होते हैं और वो प्रकम्पित हो जाते हैं। तलपत्र के रेशे छोटे-छोटे केशकोष (hair-cells) द्वारा उन स्नायु रेशों (nerve fibers) के सिरों से जुड़े रहते हैं जो मस्तिष्क में जाते हैं। इस प्रकार प्रकम्पन इन स्नायु रेशों द्वारा मस्तिष्क के ध्वनि-केन्द्र में पहुँच जाता है और हमें ध्वनि की संवेदना होती है।

[चित्र—१५]

बहिरापन ढोल को हानि पहुँचाने से या मध्य कान की हड्डियों के कड़े या दोषपूर्ण होने से या ओवल खिड़की को चोट लग जाने से या शंख या ध्वनि-स्नायु के

दूषित होने से या अन्य अनेक कारणों से हो सकता है। जहाँ पर बहिरापन बाह्य या मध्य कान की खराबी से होता है वहाँ एक यंत्र की सहायता से व्यक्ति को सुनने योग्य बनाया जा सकता है। यह यंत्र ध्वनि-तरंगों को तीव्र कर देता है और उनको एक कम्पन करने वाली झिल्ली को भेज देता है। यह झिल्ली कान के पीछे खोपड़ी के साथ सम्बन्धित रहती है। इस प्रकार ध्वनि-तरंगें खोपड़ी की हड्डियों द्वारा सीधी आन्तरिक कान को पहुँचा दी जाती हैं।

ध्वनि-तरंग (Sound Wave)

जिस प्रकार हमको दृष्टि-संवेदना प्रकाश-तरंग द्वारा होती है इसी प्रकार ध्वनि-तरंग द्वारा हमें श्रवण-संवेदना होती है। परन्तु ध्वनि-तरंग और प्रकाश-तरंग में बहुत अन्तर है। ध्वनि-तरंग को माध्यम (medium) की आवश्यकता है, जबकि प्रकाश-तरंग शून्य (vaccum) में भी चल सकती है। ध्वनि का माध्यम हवा, पानी या अन्य कोई पदार्थ हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रकाश एक घण्टे में ६७ करोड़ मील की रफ्तार से चलता है, जबकि ध्वनि एक घण्टे में ७०० मील चलती है।

जो ध्वनि-तरंगें मानव कान को सुनाई पड़ती हैं, उनकी कम्पन गति (rate of vibration) २० प्रति सैकिण्ड से लेकर २०,००० प्रति सैकिण्ड तक होती है। हमारी उच्च स्तर (pitch) की ध्वनि की संवेदना की ग्रहण करने की शक्ति सबसे अधिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में होती है। २५ वर्ष के बाद यह कम होनी आरम्भ हो जाती है। बहुत से पशु हैं जिनकी उच्च स्तर की ध्वनि की संवेदना ग्रहण करने की शक्ति मनुष्य से कहीं अधिक है।

स्वाद की संवेदना तथा गन्ध की संवेदना (Sensation of Taste and Smell)

स्वाद तथा गन्ध की संवेदना किन्हीं तरंगों या प्रकम्पनों द्वारा उत्पन्न नहीं होती वरन् यह वास्तविक स्पर्श द्वारा उत्पन्न होती है।

स्वाद संवेदना (Taste Sensation)

स्वाद-संवेदना स्वाद-कलिका (taste buds) द्वारा ग्रहण की जाती है। यह कलिका मुख्यतः जीभ में पायी जाती है, परन्तु इनमें से कुछ मुलायम प्लेट (soft plate) और टॉन्सिल के चारों ओर भी पायी जाती हैं। यदि हम एक खुर्दबीन (magnifying glass) द्वारा जबान की सतह देखें तो हमें पता चलेगा कि यह छोटे छोटे गड्ढों (pits) से भरी हुई है और संवेदन-कोष के सिरे जो स्वाद-कलिका को बनाते हैं, इन गड्ढों के एक ओर होते हैं—(चित्र ३६ देखिए)।

स्वाद की संवेदना रासायनिक पदार्थ द्वारा होती है। हम केवल तरल पदार्थ का ही स्वाद ले सकते हैं, क्योंकि जिस पदार्थ का हमें स्वाद लेना है उसको इन गड्ढों में प्रवेश पाना चाहिए जिससे कि स्वाद-कलिकाओं पर प्रभाव पड़े।

मुख्य स्वाद चार होते हैं; यथा—खट्टा (sour), मीठा (sweet), नमकीन (salt), और कड़वा (bitter)। इनके अतिरिक्त जितनी भी स्वाद की संवेदनाएँ हैं वे

इन्हीं चारों के मिश्रण से बनती हैं। जिह्वा के क्षेत्र में यह चारों प्रारम्भिक स्वाद की संवेदनाएँ विभिन्न स्थानों पर पायी जाती हैं। साधारणतः जीभ के निम्न भाग में कड़वे, अग्रभाग में मीठे, दोनों बगलों में खट्टे, तथा प्रत्येक भाग में नमकीन की संवेदना होती है।
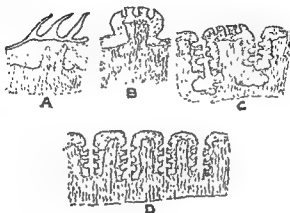
[चित्र—३६]

[A=फाइलीफोर्म पैपिला (filiform papillae) जिसमें कोई स्वाद कलिका नहीं होती और जो त्वक संवेदना से सम्बन्धित रहती है;
B=फंगीफोर्म पैपिला (fungiform papillae);
C=सरकमवैलेट पैपिला (Circumvallate papillae);
D=फोलियट पैपिला (Foliate papillae)]

जिन संवेदनाओं को हम 'सुस्वाद' कहते हैं, वह वास्तव में स्वाद तथा अन्य प्रकार की संवेदनाओं का मिश्रण होती हैं। यदि गन्ध की संवेदना को स्वाद की संवेदना से अलग कर दिया जाय तो प्याज तथा आलू का स्वाद एक-सा ही प्रतीत होगा। गन्ध के अतिरिक्त स्पर्श, शीत, ताप एवं कठोर और कोमल इत्यादि संवेदनाएँ भी हमारे स्वाद की संवेदना के अनुभव पर प्रभाव डालती हैं।

गन्ध-संवेदना (Olfactory Sensation)

वह ज्ञानेन्द्रियाँ जिनके द्वारा हमें गन्ध की संवेदना होती है, हमारी नाक के खोखले में सबसे ऊपर की ओर पायी जाती हैं। गन्ध की संवेदना ग्रहण करने वाले छोटे-बड़े बाल के समान (hair like cells) कोष होते हैं, जो ज्ञानात्मक स्नायु (sensory nerve) से जुड़े रहते हैं।

जब हम गंध लेते हैं तो उस गंध के कण—जो हमें गन्ध का उद्दीपक प्रदान करते हैं, नाक में पहुँच जाते हैं। वहाँ वह गन्ध-कोशों में रासायनिक क्रिया आरम्भ कर देते हैं और स्नायु-धारा को गन्ध-नलिका (olfactory nerve) द्वारा मस्तिष्क में पहुँचा देते हैं।

[चित्र—३७]

एक जर्मन मनोवैज्ञानिक हैनिङ्ग (Hanning) ने गन्ध-संवेदना को छः भागों में बाँटा है; यथा—(१) सुरभित गन्ध (fragrant odour), (२) मसालेदार गन्ध (spicy odour), (३) फल की गन्ध (fruity odour), (४) राल गन्ध (resinous odour), (५) भस्म गन्ध (burned odour), (६) सड़ी गन्ध (putrid odour)।

परन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिए कि गन्ध का वर्गीकरण इतना सरल नहीं है, जैसा ऊपर किया गया है। अतएव उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत अधिक सन्तोषजनक नहीं है।

गन्ध के सम्बन्ध में एक बात महत्त्वपूर्ण है कि जब हम बहुत देर तक गन्ध सूँघते रहते हैं तो हम उसके प्रति अपने आप को अनुकूलित कर लेते हैं। हमें उस गन्ध की संवेदना होनी बन्द हो जाती है।

त्वचा-संवेदना (Cutaneous Sensation)

इससे हमें केवल स्पर्श-संवेदना ही प्राप्त नहीं होती, बल्कि पीड़ा (pain) तापमान तथा बल-सम्बन्धी संवेदना भी प्राप्त होती है।

त्वचा-संवेदना को ग्रहण करने वाले यन्त्र विभिन्न प्रकार के छोटे कण होते हैं जो ज्ञानवाही अक्ष स्नायु (sensory nerve axons) के अन्त में स्थित होते हैं।

दबाव या स्पर्श की संवेदना मेसनर और पेसानी (meissner and pacini) नामक सूक्ष्म अंशों (corpuscles) पर निर्भर होती है। शरीर के बिना बाल वाले भागों में मेसनर अंश पाया जाता है जो हल्के दबाव का ग्राहक है, और शरीर के बा

भागों में पेशानी (pacini) अंश पाया जाता है जो गहरे दबाव का ग्राहक है। मेसनर एवं पेशानी का वितरण शरीर के सब भागों में समान नहीं है। ये उँगलियों के छोर पर अधिक मात्रा में पाये जाते हैं अतएव इस भाग में दबाव की संवेदनशीलता अधिक होती है। ताप एवं शीत की संवेदना के ग्राहक रफीनी तथा क्रोसे (ruffini and krause) नामक सूक्ष्म अंश हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। रफीनी त्वचा के बहुत ही भीतरी सतह पर स्थित होते हैं। इन्हें 'उष्णता' बिन्दु (heat spot) के नाम से भी पुकारते हैं। क्रोसे ग्राहक कोष को 'शीत-बिन्दु' (cold spot) भी कहते हैं। इनकी संख्या उष्णता बिन्दुओं से अधिक पायी जाती है परन्तु यह दबाव-बिन्दु के लगभग समान होते हैं और पीड़ा-बिन्दु से कम। शीत-बिन्दु सबसे अधिक ललाट (forehead) तथा आँखों की पलक के भीतर पाये जाते हैं।

उपचर्म या एपीडरमिस (epidermis) कोष पीड़ा के ग्राहक कोष हैं। इन्हें पीड़ा-बिन्दु (pain-spot) भी कहते हैं। ये शरीर में दबाव एवं ताप-बिन्दुओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। ये पीड़ा-बिन्दु आँख की कनीनिका (cornea of the eye) में सबसे अधिक मात्रा में पाये जाते हैं परन्तु भीतर गाल में ये बिल्कुल नहीं पाये जाते। पीड़ा-बिन्दुओं को उत्तेजित करने में पीड़ा की संवेदना होती है।

यदि हम एक नुकीली पेंसिल लें जिसकी नोंक लगभग शरीर के ताप पर हो और हाथ को उल्टा करके विभिन्न स्थानों पर इसकी त्वचा को नोक से छुएँ तो हमें हाथ की त्वचा पर विभिन्न प्रकार की त्वचा की उत्तेजना के बिन्दु मिल जायेंगे। हम पेंसिल की नोंक के स्पर्श से छूने की संवेदना (touch sensation) का अनुभव करेंगे और जब पेंसिल किसी भी सूक्ष्म अंश (corpuscles) को छू लेगी तो हमें जिस प्रकार का वह अंश होगा, उसी प्रकार की संवेदना होगी। इस प्रकार हम उष्णता, शीत तथा पीड़ा-बिन्दुओं का पता लगा लेंगे। यह देखा गया है कि उष्णता, शीत तथा पीड़ा-बिन्दु त्वचा के कुछ भागों में दूसरों की अपेक्षाकृत अधिक पाये जाते हैं। त्वक-बिन्दु हमारे शरीर में पीछे के भाग की अपेक्षा अग्रभाग में अधिक पाये जाते हैं। हमारी जबान में बहुत कम उष्णता बिन्दु होते हैं, इस कारण ही हम गर्म चाय या कॉफी बिना कष्ट के पी जाते हैं।

मांसपेशीय संवेदना (Muscular Sensation or Kinaesthetic Sensation)

मांसपेशीय संवेदना हमें हमारे अंगों की स्थिति तथा गति का ज्ञान कराती है। प्रत्येक मांसपेशी, टेण्डन (tendon) तथा जोड़ (joint) में ग्राहक (receptors) तथा स्नायु (nerves) होते हैं—जो मांसपेशी, टेण्डन अथवा जोड़ में गति होने पर उत्तेजित हो जाते हैं। इस प्रकार हमें मांसपेशीय संवेदना हो जाती है।

मांसपेशीय संवेदना हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि बिना इसके हमारे चलने, लिखने, वस्तुओं को पकड़ने इत्यादि में जो जटिल समन्वय (complex-co ordination) विभिन्न अंगों का होता है, वह नहीं हो सकता है। यह संवेदना ही हमें दूरी तथा गहराई का निर्णय करने में सहायता करती है। वास्तव में कोई भी क्रिया जिसमें मांसपेशीय गति की आवश्यकता है, बिना इस प्रकार की संवेदना के नहीं हो सकती।

आन्तरिक संवेदना (Organic Sensation)

आन्तरिक संवेदना—हमारे शरीर के आन्तरिक अंगों पर निर्भर रहती है। इस संवेदना के सम्बन्ध में अभी हमारी जानकारी अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त जिन इन्द्रियों द्वारा यह संवेदना होती है उनको सरलता से देखना सम्भव भी नहीं है। हमें जो भूख, प्यास या क्रोध की संवेदना होती है वह इसी के अन्तर्गत आती है। इस संवेदना में किसी बाह्य उत्तेजना एवं ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। संवेदना का अनुभव उस समय होता है जब पेट, आँत, तिल्ली, गला, फेफड़ा इत्यादि की स्थिति में परिवर्तन होता है। आन्तरिक संवेदना उस समय होती है, जब आन्तरिक अंगों की क्रियाओं द्वारा स्वयं-चालित नाड़ीमण्डल से आबद्ध ज्ञानवाही तन्तु उत्तेजित हो जाते हैं।

सभी जीव इस संवेदना का अनुभव करते हैं और इस संवेदना से हमारा पूर्ण शरीर प्रभावित होता है।

सन्तुलन संवेदना (Sensation of Equilibrium)

सन्तुलन संवेदना का अनुभव हमें गति-संवेदना के साथ-साथ होता है। ये संवेदनाएं हमारे कान में पायी जाने वाली दो अर्द्धवृत्ताकार नलियों (semi circular canal) तथा लघु मस्तिष्क द्वारा होती हैं। अर्द्धवृत्ताकार नलियाँ वेस्टीबुले (vestibule) में खुलती हैं। इन नलियों में तथा वेस्टीबुले में तरल पदार्थ भरा रहता है। सिर को किसी भी प्रकार की गति दी जाये, वह इस तरल पदार्थ पर प्रभाव डालता है। प्रत्येक तरल पदार्थ में केशकोषों (hair-cells) का गुच्छ रहता है, जो तरल पदार्थ में पड़े रहते हैं। जब तरल पदार्थ पर सिर घूमने से प्रभाव पड़ता है तो केशों में गति होती है और वे झुक जाते हैं। इन केशकोषों के साथ ज्ञानात्मक स्नायु कोशिकाओं के सिरे (sensory nerve fibres) जुड़े रहते हैं जो लघु मस्तिष्क को जाते हैं। जब केशकोष में गति होती है तो वह इन कोशिकाओं द्वारा लघु मस्तिष्क को पहुँच जाती है और हमें सन्तुलन की संवेदना होती है।

अर्द्धवृत्ताकार नलियाँ केवल सिर की गति से उत्तेजना ग्रहण करती हैं। हमारी गतिहीन (static) अवस्था की स्थिति की संवेदना वेस्टीबुले (vestibule) के कारण होती है, जिसमें भी केशकोष होते हैं। जब हम तेजी से घूमते हैं तब अर्द्-

वृत्ताकार नलियाँ तथा वेस्टीबुले—दोनों प्रभावित हो जाती हैं और अस्थायी तौर से हमारा सन्तुलन विगड़ जाता है और हमारा जी मितलाने लगता है।

सारांश

मस्तिष्क का प्रथम प्रत्युत्तर ही संवेदना है। प्रत्येक संवेदना में गुण, तीव्रता, काल, विस्तार एवं स्थानीय चिह्न पाये जाते हैं। गुण दो प्रकार का हो सकता है—जातीय और विशिष्ट। तीव्रता दो बातों पर निर्भर रहती है—उत्तेजना की तीव्रता एवं उत्तेजित किये गये नाड़ी-तन्तुओं की संख्या पर। संवेदना की तीव्रता के सम्बन्ध में वेबर महोदय ने एक नियम प्रतिपादित किया जो इस बात पर बल देता है कि जिस गति से उद्दीपक की तीव्रता बढ़ती है उसी गति से संवेदना की तीव्रता नहीं बढ़ती, वरन् इन दोनों में एक अन्य सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त की आलोचना कई कारणों से की जाती है।

प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय में (१) स्नायु कोष होते हैं, (२) एक ज्ञानात्मक स्नायु होता है, तथा (३) एक सहायक यन्त्र होता है जो संवेदनात्मक उत्तेजना को ग्रहण करता है। ज्ञानेन्द्रियों का विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है—(१) बाह्य ज्ञानेन्द्रिय, (२) आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय, तथा (३) मध्य ज्ञानेन्द्रिय।

दृष्टि संवेदना—दृष्टि संवेदना आँख द्वारा होती है। आँख के गोलार्द्ध में तीन पर्तें होती हैं—(क) श्वेतपटल, (ख) मध्यपटल, तथा (ग) अक्षिपटल। इसके अन्य भाग हैं—(च) उपतारा, (छ) ताल (lense), (ज) पुतली। अक्षिपटल में दो प्रकार के स्नायु-कोष पाये जाते हैं—दण्ड (rods), तथा शंकु।

दृष्टि संवेदना में प्रकाश तरंगें पुतली पर पड़ती हैं। वहाँ से ताल द्वारा ग्रहण की जाती हैं और इनकी प्रतिमा अक्षिपटल पर बनती है। यहाँ वे दण्ड या शंकु से टकराती हैं और एक रासायनिक परिवर्तन हो जाता है, जिसके कारण स्नायुप्रवाह उत्पन्न होकर नेत्र-स्नायु द्वारा मस्तिष्क को पहुँच जाता है और दृष्टि-संवेदना हो जाती है।

रंग संवेदना—विभिन्न रंगों की तरंग-लम्बाई भिन्न होती है। हमें रंग की दृष्टि संवेदना इस कारण होती है कि हमारे अक्षिपटल के शंकु विभिन्न तरंग-लम्बाई के प्रकाश के साथ भिन्न प्रतिक्रिया करते हैं।

रंगों का चमकीलापन उद्दीपक की शक्ति अथवा तीव्रता पर निर्भर होता है और तरंग-लम्बाई का भी इस पर प्रभाव पड़ता है। रंग की संवेदना तीन प्रकार से भिन्नता लिये होती है—(१) चमकीलेपन में, (२) रंग की छाया में, तथा (३) रंग की संतृप्तता में।

प्रत्येक प्रकार की रंग की छाया को, केवल चार प्राथमिक रंगों को छोड़कर, हम एक रंग-मिश्रण यन्त्र द्वारा उत्पन्न कर सकते हैं।

'यंग हेलमोज सिद्धान्त' के अनुसार केवल तीन ही प्रारम्भिक रंग माने जाते

है—लाल, हरा तथा नीला। हेरिंग ने तीन रंगों के स्थान पर चार रंगों को स्वीकार किया—हरा, लाल, नीला और पीला। यह सिद्धान्त पहले वाले सिद्धान्त से अधिक अच्छा माना जाता है।

हमको दो प्रकार की अनुसंवेदना होती है—धनात्मक अनुसंवेदना तथा निषेधात्मक अनुसंवेदना।

बहुत-से व्यक्ति रंग-अन्ध पाये जाते हैं। रंग-अन्धता शंकुओं के दोषपूर्ण विकास के कारण होती है। अधिकतर व्यक्ति लाल तथा हरे रंग के अन्धे होते हैं।

अक्षिपटल पर तीन रंगों की परिधियों का पता चलता है। इनमें बाह्य क्षेत्र पूर्णतः रंग-अन्ध होता है और मध्य क्षेत्र सबसे स्पष्ट दृष्टि का क्षेत्र है। बीच का क्षेत्र केवल नीले और पीले रंगों द्वारा संवेदनशील होता है।

'लैड फ्रेंकलिन सिद्धान्त' के अनुसार रंग की संवेदना उद्विकास के क्रम के अनुसार होती है। यह सिद्धान्त बहुत-कुछ सत्य प्रतीत होता है।

श्रवण संवेदना—श्रवण संवेदना की ज्ञानेन्द्रिय कान है। कान की बनावट को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं: (i) बाह्य कान, (ii) मध्य कान, तथा (iii) आन्तरिक कान।

ध्वनि की तरंगें कर्ण ढोल पर प्रहार करती हैं। ढोल का प्रकम्पन तीन हड्डियों की शृंखला द्वारा मध्य कान को पार करके आन्तरिक कान में प्रवेश करता है। शंख के अन्दर तरल पदार्थ से गुजरता हुआ यह प्रकम्पन तलपत्र झिल्ली पर पहुँचता है। यहाँ छोटे-छोटे रेशे प्रकम्पित हो जाते हैं और प्रकम्पन केशकोष द्वारा स्नायु रेशों को पहुँचता है, जहाँ से वह मस्तिष्क के ध्वनि-केन्द्र को ले जाया जाता है और ध्वनि संवेदना होती है।

स्वाद-संवेदना—स्वाद की संवेदना स्वाद-कलिका द्वारा ग्रहण की जाती है। प्रधान स्वाद चार माने गये हैं—मीठा, कड़वा, नमकीन और खट्टा।

गन्ध-संवेदना—गन्ध की संवेदना को ग्रहण करने वाले छोटे बाल के सम कोष होते हैं जो ज्ञानात्मक स्नायु से जुड़े रहते हैं।

त्वचा-संवेदना—यह चार प्रकार की होती है—(१) दबाव या स्पर्श संवेदना, (२) पीड़ा की संवेदना, (३) ताप संवेदना, तथा (४) शीत संवेदना।

माँसपेशीय संवेदना—यह हमारे अङ्गों की स्थिति तथा गति का ज्ञान कराती है।

आन्तरिक संवेदना—इस संवेदना का अनुभव हमें उस समय होता है जब पेट, आँत, तिल्ली, गला, फेफड़ा, इत्यादि की स्थिति में परिवर्तन होता है।

संतुलन संवेदना—यह संवेदना हमारे कान में पायी जाने वाली दो [illegible] वृत्ताकार नलियों तथा लघु मस्तिष्क द्वारा होती है। गतिहीन अवस्था की संवेदना वेस्टीबुले के कारण होती है।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. संवेदना किस प्रकार की मानसिक क्रिया है ? इसके विधायक तत्त्व क्या हैं ? प्रत्येक का विवरण दीजिए।

२. वेबर-फेचनर नियम की व्याख्या कीजिए। इसकी आलोचना किन कारणों से की जाती है ? उनसे आप कहाँ तक सहमत हैं और क्यों ?

३. ज्ञानेन्द्रियों से आप क्या समझते हैं ? इनके विभाजन पर प्रकाश डालिए।

४. चित्र देखकर आँख की बनावट समझाइए और यह बताइए कि हमें दृष्टि संवेदना किस प्रकार होती है ?

५. रंग की संवेदना हमें किस प्रकार होती है ? रंग-मिश्रण की विधि पर प्रकाश डालिए।

६. अनुसंवेदना से आप क्या समझते हैं ? रंग-विरोध के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिए।

७. श्रवण-संवेदना की ज्ञानेन्द्रिय का वर्णन कीजिए। हमें ध्वनि संवेदना किस प्रकार से होती है ? व्याख्या कीजिए।

८. रस-संवेदन तथा घ्राण-संवेदन अन्य प्रकार के संवेदन से किस प्रकार से भिन्न हैं ? प्रत्येक के ग्राहक का वर्णन कीजिए।

९. त्वचा-संवेदना किस प्रकार से होती है तथा यह कितने प्रकार की होती है ? प्रत्येक का विवरण दीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. मार्गन, सी० टी० : इन्ट्रोडक्शन टू साइकॉलॉजी।

२. गिलफोर्ड : जनरल साइकॉलॉजी, पेरमान एवं जे० पी० हाप, लन्दन, १९३९।

३. गार्डनर मर्फी : ए ब्रीफर जनरल साइकॉलॉजी, हार्पर, न्यूयार्क।

४. रैक्स एण्ड नाइट : ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टू साइकॉलॉजी, यूनीवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रेस, लन्दन, १९५९।

५. रॉस स्टैगनर एवं कारोवस्की, टी० एफ० : साइकॉलॉजी, मैकग्रो; १९५२।

६. कायकोव, के० एम० हाउस, : टैक्स्ट बुक ऑफ फिजियोलॉजी, फॉरिन लैंग्वेज पब्लिशिंग, मास्को।

कोई भी संवेदनात्मक स्थिति प्रत्यक्षीकरण का आधार बन सकती है। साधारणतः मनुष्यों के विचार से प्रत्यक्षीकरण का अर्थ किसी भी वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से देखने का होता है। परन्तु प्रत्यक्षीकरण केवल दृष्टि की ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्धित न होकर किसी भी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा हो सकता है। किसी भी वार्तालाप को सुनना, तैयार किए जाने वाले भोजन की गन्ध, भोजन का स्वाद लेना, स्थान का तापमान मालूम करना, अथवा किसी भी चित्र का अवलोकन करना, तथा पुस्तक का अध्ययन करना—ये सब प्रत्यक्षीकरण की ही प्रतिक्रियाएँ हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वाद, गन्ध, स्पर्श तथा तापमान आदि सम्बन्धी सम्मिलित संवेदनाएँ—प्रत्यक्षीकरण की भी प्रतिक्रियाएँ हैं।

संवेदना के संगठित लक्षण हमारे पूर्व-ज्ञान पर आधारित होते हैं। एक विदेशी भाषा प्रारम्भ में ध्वनियों की मिलावट मात्र प्रतीत होती है। परन्तु जैसे-जैसे इन्हीं ध्वनियों को प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव द्वारा सीखता जाता है, वह उनसे परिचित हो जाता है और वे ध्वनियाँ उसके अनुभव में परिचित हो जाती हैं। फिर जो इन्हें अपने अनुभव द्वारा सीख जाते हैं उनके लिए यह केवल शब्दों या ध्वनियों की मिलावट मात्र नहीं रह जाती, अब इसका कुछ अर्थ वे समझने लगते हैं।

प्रत्यक्षीकरण में संवेदनात्मक पूर्व-ज्ञान का अधिक समावेश होता है। यह प्रत्यक्षीकरण का एक लक्षण है। जैसे हम एक नारंगी को साधारण तौर पर देखते हैं तो पहले केवल उसके रंग का विचार आता है, और जब हम इसी नारंगी को प्रत्यक्ष दृष्टि से पूर्व ध्यानपूर्वक देखते हैं तो हमें अपने पूर्व-ज्ञान द्वारा उसके स्वाद का अनुभव भी होता है, क्योंकि उसको देखकर कभी-कभी हमारे मुँह में पानी भी आ जाता है।

पिछले अध्यायों में हम व्यक्ति के नाना प्रकार के कार्यों तथा मानसिक क्रियाओं का वर्णन कर आये हैं। इस अध्याय में हम प्रत्यक्षीकरण का अध्ययन करेंगे, जो मनुष्य के सभी कार्यों का आधार माना जाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण वर्तमान वस्तु से प्राप्त संवेदना को अर्थ प्रदान करता है।[1] यह अर्थ प्रदान करने की क्रिया व्यक्ति के पूर्व अनुभवों पर निर्भर रहती है। अर्थ प्रदान करने में निम्नलिखित क्रियाएँ होती हैं—

(१) विभेदीकरण (Discrimination)—जब कोई संवेदना हमें प्राप्त होती है तो हम उसे अन्य संवेदनाओं से पृथक् कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, जब कोई हमारा दरवाजा थपथपाता है तो हम अन्य आवाजों से उसकी तुलना करके उसे पृथक् कर लेते हैं।

---

1. "Perception, then, is the interpretation of the sensation coming from a present object."

(२) **सहशीकरण अथवा सम्मिश्रण (Assimilation)**—वर्तमान संवेद पूर्व संवेदना के साथ सहशीकृत कर दिया जाता है। दरवाजे के खटखटाने को पूर्व में इस प्रकार से उत्पन्न हुई ध्वनि के साथ सहशीकृत या सम्मिश्रित कर दिया है। हरबर्ट इसे पूर्वानुभूति (apperceptive) कहते हैं।

(३) **पुनस्मरण या पुनरावर्तन (Revival or Reproduction)**—इस प्र में वर्तमान संवेदना अनेक संवेदनाओं को जाग्रत करती है। पुनस्मरण किये जाते तत्त्व इतने स्पष्ट और अलग नहीं होते—जितने कि वह स्मृति की दशा में हो वरन् वे वर्तमान संवेदना से गुथे-बँधे रहते हैं।

(४) **स्थानीयकरण (Localization)**—इसमें वर्तमान संवेदना और अती अनुभव मिलकर हमें उस वस्तु का ज्ञान देते हैं जो हमारे सम्मुख है; जैसे—हम अपने मित्र के घर गये हैं तो कुत्ता अन्दर से भोंका है। अब जब हम मित्र के घर का भोंकना सुनते हैं तो हम इस संवेदना एवं पुनस्मरण तत्त्व को मिश्रित क स्थानीयकरण करते हैं कि कुत्ता घर के अन्दर से भोंका होगा। स्टाउट इसे "वस्तु का अपरोक्ष अनुभव"[1] कहते हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्षीकरण में मु दो तत्त्व होते हैं—

(१) वास्तविक संवेदना को हम उपस्थितिकरण (presentation) कहते क्योंकि यह सीधे रूप से हमारे सम्मुख होती है।

(२) पुनःस्मरण किये हुए भावों एवं प्रत्यक्ष को हम पूर्व भावों का प्रतिनि (representation) कह सकते हैं, क्योंकि वे उन वस्तुओं इत्यादि के प्रतिनिधि हैं इस समय उपस्थित नहीं हैं, वरन् उनका अनुभव पूर्वकाल में किया गया है।

अतएव हम प्रत्यक्षीकरण को प्रत्यक्ष प्रतिनिधि (presentative represe tative) या उपस्थितिकरण प्रतिनिधि प्रक्रिया कह सकते हैं।

संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण में अन्तर

संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण में निम्न प्रकार के अन्तर पाये जाते हैं :—

(१) संवेदना एक सरल मानसिक प्रक्रिया है, जबकि प्रत्यक्षीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। संवेदना प्रत्यक्षीकरण का एक भाग या एक तत्त्व है। प्रत्यक्षीकरण में संवेदना के अतिरिक्त अन्य मानसिक प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित होती हैं।

(२) संवेदना केवल मानसिक उपस्थितिकरण (presentative) प्रक्रिया है, जबकि प्रत्यक्षीकरण प्रत्यक्ष और प्रतिनिधि (presentative and representative)

---

1. "Intuition of Thinghood."

दोनों है । पिल्सबरी के शब्दों में "स्मृति और संवेदना का साम्राज्य ही प्रत्यक्षीकरण है जिसमें संवेदना और स्मृति पहचानी नहीं जा सकती ।"[1]

(३) संवेदना किसी वस्तु की प्रथम अनुभूति है, प्रत्यक्षीकरण उस वस्तु के सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान है । हमारे ज्ञान का कच्चा माल (raw material) संवेदना ही है और इसी के आधार पर बाह्य वस्तुओं का स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्षीकरण द्वारा होता है । "संवेदना हमें वस्तुओं का केवल प्राथमिक परिचय कराती है, जबकि प्रत्यक्षीकरण हमें उन वस्तुओं का ज्ञान प्रदान करता है ।"[2]

(४) संवेदना एक उद्दीपक द्वारा उत्पन्न मानव का प्रथम प्रत्युत्तर (first response) है जबकि प्रत्यक्षीकरण दूसरा प्रत्युत्तर (second response), जो संवेदना के बाद होता है । संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण इस प्रकार होते हैं—(क) उद्दीपक का मिलना, (ख) ज्ञानवाही स्नायु एवं ज्ञानेन्द्रिय का उत्तेजना को ग्रहण करना, (ग) प्रथम प्रत्युत्तर या प्रतिक्रिया—जिसे संवेदना कहते हैं, तथा (घ) दूसरा प्रत्युत्तर या प्रतिक्रिया, जो प्रत्यक्षीकरण कहलाती है ।

(५) संवेदना सरल और स्पष्ट क्रिया है, जबकि प्रत्यक्षीकरण बदल भी सकता है । अस्पष्ट आवाजों या चित्रों के विभिन्न समय पर विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षीकरण किये जा सकते हैं, जबकि उनमें सम्बन्धित संवेदना उसी प्रकार की रहती है ।

(६) प्रत्यक्षीकरण संवेदना से अधिक सक्रिय होता है । संवेदना में हम अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहते हैं और बाहर से उद्दीपक ग्रहण करते हैं । प्रत्यक्षीकरण में हम सक्रिय होकर अपने पूर्व-ज्ञान के आधार पर संवेदना को अर्थ प्रदान करते हैं ।

प्रत्यक्षीकरण को संगठित करने वाले तत्त्व[3]

वर्दीमर (Wertheimer) महोदय ने प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करने वाले कुछ तत्त्वों का वर्णन अपने प्रयोगों के परिणामों के आधार पर किया है । ये तत्त्व प्रत्यक्षीकरण को संगठित करते हैं । इससे यह तात्पर्य है कि यह अंग इस बात की व्याख्या करते हैं कि जब हमें कोई प्रत्यक्षीकरण होता है तो वह विशेष प्रत्यक्षीकरण किन तत्त्वों के प्रभाव के कारण होता है । इसको और स्पष्ट रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है कि—हमारे समक्ष अनेक उद्दीपक आते हैं और अनेक प्रकार की उत्तेजनाएँ होती हैं, परन्तु हम उन सबको ग्रहण नहीं करते । उनमें से कुछ विशेष ही

---

1. "A perception is a fusion of sensation and memories, in which sensation and memory are indistinguishable."
—Pillsbury : *The Fundamentals of Psychology.*
2. "Sensation gives mere acquaintance with obtects, whereas perception gives us knowledge about them."—*William James.*
3. Factors involved in the the organization of perception.

हमारे द्वारा ग्रहण की जाती है और वे विशिष्ट प्रकार का ही प्रत्यक्षीकरण हमें प्रतिक्रियास्वरूप प्रदान करती हैं। हमारी समस्या यह है कि—क्यों हम विशिष्ट प्रकार की उत्तेजनाओं को ग्रहण करके विशिष्ट प्रकार का हो प्रत्यक्षीकरण करते हैं? जैसा कि हमने ऊपर कहा कि प्रत्यक्षीकरण का संगठन कुछ विशिष्ट तत्वों पर निर्भर रहता है और उन्हीं विशिष्ट तत्वों से हमें विशिष्ट प्रकार के प्रत्यक्षीकरण होते हैं। इन्हीं तत्वों को 'प्रत्यक्षीकरण के नियम' (Laws of perception) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। ये तत्व दो प्रकार के होते हैं—(i) बाह्य, एवं (ii) आन्तरिक। बाह्य तत्व वे हैं जो बाह्य उत्तेजना में पाये जाते हैं, और आन्तरिक अंग अथवा तत्व स्वयं उस व्यक्ति में जो प्रत्यक्षीकरण कर रहा है, पाये जाते हैं।

यहाँ भी ध्यान देने की बात है कि प्रत्यक्षीकरण दो प्रकार से होता है—(क) यह विभिन्न उत्तेजनाओं को मिलाकर एक बड़ी इकाई (larger whole) के रूप में रखने से होता है, और (ख) बड़ी इकाई का छोटी-छोटी इकाइयों में विभेदीकरण (differentiation) के द्वारा भी होता है। हम पहली क्रिया को संश्लेषण (synthesis), और दूसरी क्रिया को विश्लेषण (analysis) कहते हैं, क्योंकि प्रत्यक्षीकरण को उपस्थित करने में संश्लेषण एवं विश्लेषण का महत्वपूर्ण योग रहता है। यहाँ हम इनका वर्णन करेंगे।

समूहीकरण को निर्धारित करने वाले बाह्य तत्व (External Determining Factors for Grouping)

समूहीकरण को निर्धारित करने वाले बाह्य तत्व निम्नलिखित हैं—

(१) सहचारिता (Contiguity)—वे उत्तेजनाएँ, जो काल या स्थान में एक-दूसरे के निकट होती हैं, मिलकर सरलता से एक इकाई का रूप धारण कर लेती हैं।

[चित्र—१४]
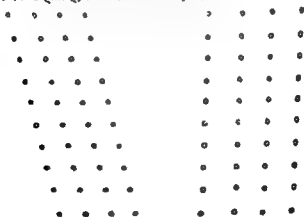
उपर्युक्त चित्र में हम १० तिरछी रेखाएँ देखते हैं और समतल (horizontal) रेखाओं की ओर ध्यान नहीं देते हैं। इसका कारण यह है कि तिरछी रेखा व्यक्त करने वाले बिन्दु, समतल रेखा व्यक्त करने वाले बिन्दुओं की अपेक्षा निकट हैं। इस प्रकार उन बिन्दुओं में सरलता से समूहीकरण (grouping) हो जाता है।

(२) समानता (Similarity)—आपस में समानता रखने वाली उत्तेजनाओं का एकीकरण (unification) उन उत्तेजनाओं की अपेक्षा जो असमान हैं, सरलता से

[चित्र—३६]

हो जाता है। उपरोक्त चित्रों में सहचारिता तो समान है परन्तु समानता में अन्तर है। समानता के कारण ही हम प्रथम चित्र में समतल रेखाएँ देखने को बाध्य होते हैं और दूसरे चित्र में लम्बवत् (vertical) रेखाएँ देखते हैं।

समानता भी कई प्रकार की हो सकती है; जैसे—आकार में, तीव्रता में, गुण इत्यादि में समानता।

(३) निरन्तरता (Contiouity)—वे उत्तेजनाएँ जिनमें निरन्तरता होती है, इकाई के रूप में प्रत्यक्षीकरण प्रदान करती हैं।

दिये हुए चित्र को यदि जैसा है, वैसा ही देखा जाय तो कुछ अर्थ समझ में नहीं आयेगा। परन्तु यदि ऊपर के आधे भाग को ढक दिया जाये तो LION शब्द स्पष्ट पढ़ लिया जायेगा। हम बिना ढके हुए चित्र से LION इस कारण नहीं पढ़ सकते कि हमारा प्रत्यक्षीकरण निरन्तरता के कारण एक इकाई के रूप में होता है। चित्र को विभिन्न भागों में नहीं तोड़ा जाता है, वरन् मिले हुए रूप में ही हमें यह दृष्टिगोचर होता है। परन्तु कुछ-कुछ इस प्रकार का संवेदन हमारी मनोवृत्ति पर निर्भर रहता है।

[चित्र—४०]

(४) आच्छादन (Inclusiveness of Closure)—हम जब कोई ऐसी आकृति देखते हैं, जिसका कोई अंग अपूर्ण है तो हम उस अपूर्णता की ओर ध्यान न देकर

आकृति को पूर्ण रूप में देखते हैं। यदि हमको ऐसे चित्र दिखाये जायें जिनमें कोई भाग टूटा हुआ है; जैसे नीचे दिया हुआ चित्र तो भी हमें वह पूर्ण ही दिखाई पड़ेगा।

[चित्र—४१]

अनेक बार उद्दीपक व्यवधान रिक्त स्थान (gaps) छोड़ देते हैं जिन्हें मस्तिष्क स्वयं पूरा कर लेता है। यह आच्छादन अंग के प्रभाव के कारण होता है। बहुधा प्रूफ-संशोधन करने में हम उन शब्दों में जिनसे हम अच्छी तरह परिचित हैं, यदि कोई अक्षर छूट गया है तो उसे बिना छूटा हुआ समझ जाते हैं। हमारा मस्तिष्क उस व्यवधान को पूर्ण कर देता है।
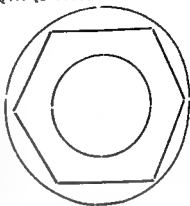
समूहीकरण के आन्तरिक तत्त्व (Internal Factors of Grouping)

(१) परिचय (Familiarity)—यदि एक नये संगठन को हमने सीख लिया है तो भविष्य में उसी संगठन का प्रत्यक्षीकरण सरल हो जाता है। ऐसा परिचय के कारण ही होता है। यदि हम उपर्युक्त चित्र में एक बार व्यवधान को देख लेते हैं और दूसरे समय जब यह चित्र हमारे सम्मुख आता है तो यह व्यवधान सरलता से हमें दिखाई पड़ जाता है। इस प्रकार यदि किसी जटिल चित्र के विभिन्न अंग हम पहिचान लेते हैं तो दूसरे समय उस चित्र को देखते ही उसके विभिन्न अंगों को सरलता से अलग कर लेते हैं। परन्तु कभी-कभी जब हम किसी तत्त्व से पूर्णतया परिचित होते हैं, तब भी हम उसका ठीक से प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाते। विशेष तौर से उस समय—जब दूसरे खण्ड जो उसे छिपाने वाले हैं, शक्तिशाली होते हैं। निरन्तरता के कारण हम LION शब्द से पूर्ण परिचित होने पर भी इसका प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाते हैं। परिचय के साथ मानसिक झुकाव भी अति आवश्यक है, अन्यथा हमारे प्रत्यक्षीकरण स्पष्ट नहीं होंगे।

(२) मानसिक झुकाव (Mental Set)—जैसा हमारा मानसिक झुकाव होता है, उसी के अनुरूप हमें किसी उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण होता है। हमारा मानसिक झुकाव उन प्रेरणाओं पर निर्भर रहता है जो उस समय हमारे ऊपर विशेष प्रभाव डालती हैं, जब हमें उत्तेजना मिल रही है। अनुप्रेरणाओं और अनुप्रेरकों के सम्बन्ध में हम अध्याय ७ में प्रकाश डाल चुके हैं।

(३) मनोवृत्ति (Attitude)—हमारी मनोवृत्ति भी हमारी किसी उत्तेजना के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करती है। यही कारण है कि उत्तेजना एक-सी होने पर भी इसका प्रत्यक्षीकरण विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार से होता है; जैसे—जब

एक बाग में कुछ व्यक्ति जाते हैं तो वहाँ के फूल-पौधों का अवलोकन अपनी मनोवृत्ति के अनुसार करते हैं। एक वनस्पति विज्ञानवेत्ता वहाँ के पेड़-पौधों को विज्ञान की दृष्टि के महत्व से देखेगा; एक माली उनके उगाने की विधि, खाद इत्यादि की दृष्टि से प्रत्यक्षीकरण करेगा; एक कवि उनकी सुन्दरता का अवलोकन करेगा; और एक बालक उन पर सुन्दर फूल का प्रत्यक्षीकरण करेगा। ऐसा उनकी रुचि एवं मनोवृत्ति के कारण ही होता है।

आकृति और पृष्ठभूमि (Figure & Back-ground)

प्रत्येक संगठित वस्तु हमको एक पृष्ठभूमि (back-ground) में रखी हुई प्रतीत होती है। यह वस्तु एक सीमा-रेखा को अपने चारों ओर बना लेती है जिसके अन्दर वह सीमित रहती है। इसी क्रिया को हम विश्लेषण (analysis) के नाम से पुकारते हैं। सीमान्त रेखाओं (boundary lines) का बनना प्रकाश की तीव्रता पर बहुत कुछ निर्भर है। सिनेमा के परदे पर डाली जाने वाली यदि प्रकाश की किरणें क्षीण हैं तो जिस वस्तु की छाया बन रही है, वह आकृति रहित और अव्यवस्थित होगी। परन्तु यदि प्रकाश तीव्र है तो आकृतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं और हम वस्तु की सीमान्त रेखाओं को स्पष्ट देखने लगते हैं।

सीमान्त रेखाओं के बनने के लिए एक आवश्यक दशा यह है कि पास-पास के रंगों के चमकीलेपन में शक्तिशाली विरोध हो। यदि दोनों रंगों का चमकीलापन एक-सा ही है तो सीमान्त रेखाएँ नहीं बनेंगी चाहे रंग छायाओं में विभिन्न ही हों। सीमान्त रेखाओं के बनने से ही हम आकृति और उसकी पृष्ठभूमि में अन्तर ज्ञात कर सकते हैं; और जब ये रेखाएँ नहीं बनतीं तो हम दोनों को अलग करना कठिन है। इस कारण पृष्ठभूमि और आकृति का उचित अवलोकन करने के लिए रंगों के चमकीलेपन में विरोध आवश्यक है। सफेद और काले रंग स्पष्ट रूप से आकृति और पृष्ठभूमि का अन्तर व्यक्त कर देते हैं। सफेद-काले में सफेद पृष्ठभूमि पर बनी काली आकृति, काली पृष्ठभूमि पर बनी सफेद आकृति से अधिक स्पष्ट दिखाई देगी।

पृष्ठभूमि और आकृति के गुण (Properties of Figure & Back-ground)—जैसा हमने ऊपर कहा, हमको प्रत्यक्षीकरण पृष्ठभूमि के आधार पर होते हैं। जो प्रत्यक्षीकरण हमें होते हैं वे एक इकाई या समाज (gestalt) रूप में होते हैं। गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक समाज को 'आकृति' (figure) कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण में आकृति एवं पृष्ठभूमि का बहुत महत्व है। इस सम्बन्ध में ई० रुबिन (E. Rubin) महोदय ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। यहाँ हम पृष्ठभूमि और आकृति के गुणों का वर्णन उनके द्वारा व्यक्त किये हुए विचारों के आधार पर करेंगे।

रुबिन महोदय ने एक चित्र (देखिए चित्र—संख्या ४३) लेकर यह दिखाया कि इस चित्र में या तो काला गोबलेट (goblet) आकृति बन सकती है या सफेद भाग जो गोबलेट के चारों ओर है। यदि एक व्यक्ति निश्चित रूप से इसे देखे तो पहला काला भाग (काला गोबलेट) पहले 'आकृति' प्रतीत होगा, और फिर दूसरा भाग।

आकृति को देखने में हमारा मानसिक झुकाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके कारण हम काले भाग को अधिक देर तक आकृति की तरह देख सकते हैं, या सफेद भाग को आकृति की तरह देख सकते हैं। जिस वस्तु को हम आकृति समझते हैं उसकी सीमान्त रेखाएँ स्पष्ट हो जाती हैं और आकृति को उसी प्रकार से घेरे प्रतीत होती हैं, जिस प्रकार हमारे शरीर को हमारी त्वचा घेरे रहती है। इसके अतिरिक्त आकृति का रंग कठोर प्रतीत होता है और उसे एक वस्तु का रूप दे देता है। भूमि का रंग मुलायम-सा प्रतीत होता है और उसे एक वस्तु का रूप न देकर एक पृष्ठभूमि का रूप देता है।
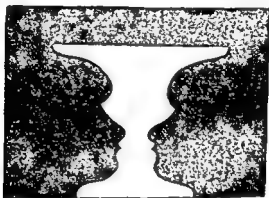
[चित्र—४२]

एक अन्य गुण जो आकृति और भूमि में दिखाई पड़ता है, वह यह है कि भूमि आकृति से पीछे की ओर हटती हुई प्रतीत होती है। वे वस्तुएँ जो भूमि में उभरी हुई दिखाई पड़ती हैं, पृष्ठभूमि में इस तरह मिल जाती हैं कि उनका उभरापन नहीं दिखाई पड़ता है। आकृति और पृष्ठभूमि के इसी गुण के कारण हम बहुधा वस्तुओं को देखने से वंचित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम खाने की मेज पर बैठे हैं तो कभी-कभी चम्मच या कुछ अन्य वस्तुएँ जो उस पर पड़ी हैं, नहीं देख पाते और खाना आरम्भ करने से पहले उसे माँगने लगते हैं।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि आकृति और पृष्ठभूमि दृष्टि के क्षेत्र में ही नहीं पाई जाती वरन् श्रवण एवं स्पर्श के क्षेत्र में भी होती हैं। हालांकि इनमें से इनकी सीमान्त रेखाएँ इतनी स्पष्ट नहीं होतीं जितनी की दृष्टि के क्षेत्र में। एक लय, ताल या स्वर का प्रत्यक्षीकरण आकृति तथा पृष्ठभूमि के अनुसार ही होता है।

प्रत्यक्षीकरण की असामान्य दशाएँ (Abnormal Conditions of Perception)

प्रत्यक्षीकरण की उत्पत्ति जिन असामान्य दशाओं में होती है उन्हें हम विपर्यय (illusion) तथा विभ्रम (hallucination) कहते हैं। यहाँ अब हम इन्हीं पर प्रकाश डालेंगे।

विपर्यय (Illusion)

विपर्यय—त्रुटिपूर्ण प्रत्यक्षीकरण है। ऊपर यह बताया गया कि प्रत्यक्षीकरण संवेगात्मक अनुभव को उचित अर्थ प्रदान करने की क्रिया है। जब हम अपनी संवेदनाओं को त्रुटिपूर्ण अर्थ प्रदान कर देते हैं तो हमें विपर्यय हो जाता है। कोई भी त्रुटि जो हम अपने प्रत्यक्षीकरण में करते हैं, विपर्यय के अन्तर्गत रखी जा सकती है। परन्तु आम-तौर से इस शब्द का प्रयोग हम तभी करते हैं जब हमारे निरीक्षण में कोई बहुत बड़ी एवं आश्चर्यजनक त्रुटि हो जाती है। जब हम किसी ऐसी वस्तु का अपनी संवेदनात्मक उत्तेजनाओं के आधार पर प्रत्यक्षीकरण करते हैं जो उपस्थित नहीं होती तो हमें विपर्यय होता है। यहाँ हम उत्तेजनाओं को त्रुटिपूर्ण अर्थ प्रदान करते हैं; जैसे—अँधेरी रात्रि में हम रस्सी को देखकर साँप समझने लगते हैं।

विपर्यय तथा प्रत्यक्षीकरण में अन्तर—यह है कि विपर्यय में अर्थ प्रदान करने की क्रिया त्रुटिपूर्ण होती है। कोई उत्तेजना मिलने पर संवेदना तो दोनों में होती है, परन्तु विपर्यय में इस संवेदना को गलत अर्थ प्रदान कर दिया जाता है। विपर्यय अधिकतर क्षणिक होते हैं, जैसे ही अर्थ ठीक से जोड़ दिया जाता है, विपर्यय समाप्त हो जाता है। इस प्रकार विपर्यय और प्रत्यक्षीकरण स्थायी होता है। कुछ मनोवैज्ञानिक विपर्यय एवं प्रत्यक्षीकरण में कोई अन्तर नहीं मानते, क्योंकि हमारा कोई भी विपर्यय प्रत्यक्षीकरण हो सकता है।

विपर्यय के प्रकार (Kinds of Illusion)—विपर्यय दो प्रकार के बताये जाते हैं—

(क) व्यक्तिगत विपर्यय (Individual Illusion), एवं

(ख) व्यापक विपर्यय (Universal Illusion)।

(क) व्यक्तिगत विपर्यय—व्यक्तिगत विपर्यय वे हैं जो कुछ ही व्यक्तियों को होते हैं, अन्य को नहीं। जैसे ही उत्तेजना को ठीक अर्थ प्रदान कर दिया जाता है, ये विपर्यय समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के विपर्यय के उदाहरण हैं—रस्सी को साँप समझ लेना, अँधेरी रात में पेड़ के तने को किसी मनुष्य की आकृति समझ लेना—आदि।

(ख) व्यापक विपर्यय—वे होते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को होते हैं। इसका उदाहरण है—दो पटरियों पर आमने-सामने जब दो रेलें खड़ी होती हैं और एक चलने लगती है तो दूसरी में बैठे हुए व्यक्तियों को लगता है कि उनकी रेल चल रही है। रेखागणित के सब विपर्यय इसी प्रकार के हैं। उदाहरण के लिए, नीचे दिये गये चित्र में नीचे वाली रेखा को ऊपर वाली से अधिक लम्बा समझा जायेगा, यद्यपि दोनों रेखाओं की लम्बाई बराबर ही है—

[चित्र=४१]
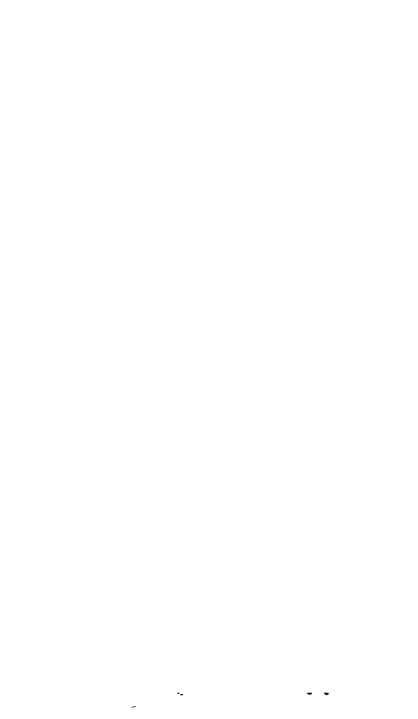
एवं विभ्रम में अन्तर है। विपर्यय में एक बाह्य उत्तेजक (external stimulus) होता है जिसको त्रुटिपूर्ण अर्थ प्रदान कर दिया जाता है, परन्तु विभ्रम में ऐसा कोई बाह्य उत्तेजक नहीं होता। विभ्रम में हम कुछ प्रत्यक्षीकरण करते हैं जबकि वहाँ कुछ नहीं होता। विपर्यय में किसी वस्तु का हम त्रुटिपूर्ण ढंग से प्रत्यक्षीकरण करते हैं।

विभ्रम एक स्मृति प्रतिमा (memory image) होती है जिसे हम संवेदना का रूप देते हैं। यह हमारे पूर्व-अनुभव पर बनी होती है और वर्तमान में यह सत्य प्रतीत होती है। अतएव विभ्रम वह अनुभव है जिनमें प्रतिमाओं को प्रत्यक्ष समझ लिया जाता है। मैं जब एक रस्सी को साँप समझता हूँ तो मुझे विपर्यय होता है, परन्तु जब कुछ भी नहीं है और मैं साँप देखता हूँ तो मुझे विभ्रम होता है।

विभ्रम हमारी किसी भी ज्ञानेन्द्रिय को हो सकते हैं, जैसे—आँख, नाक, कान, माँसपेशी इत्यादि। हमें श्रवण विभ्रम अधिक होते हैं।

एक सामान्य व्यक्ति को विभ्रम हो सकते हैं परन्तु वास्तव में यह एक मानसिक रोगी को ही अधिक मात्रा में होते हैं। कोई शक्तिशाली भय या आशा हमारे अन्दर विभ्रम उत्पन्न कर देती है; जैसे—कब्रिस्तान के रास्ते से आने में हमें भूत का विभ्रम हो जाता है। इसके अतिरिक्त विभ्रम किसी शक्तिशाली इच्छा के कारण भी हो सकते हैं। यह इच्छा अचेतन रूप से हम पर प्रभाव डाल सकती है और विभ्रम उत्पन्न कर सकती है। जब ज्ञानेन्द्रियों या मस्तिष्क में कुछ दोष हो जाते हैं, तब भी हमें विभ्रम हो जाता है। कुछ दवाइयाँ इत्यादि भी विभ्रम उत्पन्न कर देती हैं। एक शराबी को सरलता से विभ्रम हो जाते हैं।

सारांश

संवेदना एक उद्दीपक का प्रथम प्रत्युत्तर है और प्रत्यक्षीकरण द्वितीय प्रत्युत्तर। प्रत्यक्षीकरण वर्तमान वस्तु से प्राप्त संवेदना को अर्थ प्रदान करता है। अर्थ प्रदान करने में ये क्रियाएँ होती हैं—(१) विभेदीकरण, (२) समीकरण (Assimilation), (३) पुनः स्मरण, तथा (४) स्थान निरूपण। संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण में यह अन्तर है कि (१) संवेदना सरल मानसिक प्रक्रिया है जबकि प्रत्यक्षीकरण जटिल, (२) संवेदना केवल उपस्थितिकारी है, पर प्रत्यक्षीकरण उपस्थितिकारी एवं प्रतिनिधिक—दोनों है, (३) संवेदना किसी वस्तु की प्रथम अनुभूति है, तथा प्रत्यक्षीकरण उस वस्तु का स्पष्ट ज्ञान, (४) संवेदना प्रथम प्रत्युत्तर है और प्रत्यक्षीकरण दूसरा प्रत्युत्तर, (५) प्रत्यक्षीकरण संवेदना के वैसे ही रहने पर भी बदल सकता है, और (६) प्रत्यक्षीकरण संवेदना से अधिक सक्रिय है।

प्रत्यक्षीकरण को व्यवस्थित करने वाले तत्त्व—दो प्रकार के होते हैं—बाह्य एवं आन्तरिक।

बाह्य तत्त्व के अन्तर्गत यह तत्त्व आते हैं—(१) सहचारिता, (२) समानता, (३) निरन्तरता, (४) आच्छादन।

१२

अवधान[1]

हमारी ज्ञानेन्द्रियों का स्पष्ट उपयोग निरीक्षण (observation) में होता है। निरीक्षण से हमारा तात्पर्य यह है कि हम उन सब वस्तुओं का अवलोकन करते हैं जो वर्तमान में हमारे सम्मुख आती हैं। परन्तु यह हम सब जानते हैं कि जितनी भी वस्तुएँ हमारे सम्मुख होती हैं और जिनसे हमको उत्तेजना मिल रही होती है, उन सबका निरीक्षण हम एक समय में नहीं कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति को असंख्य उत्तेजनाएँ बाह्य संसार से तथा आन्तरिक रूप से मिलती हैं किन्तु वह उन सबका निरीक्षण नहीं कर पाता। उसकी निरीक्षण करने की शक्ति सीमित है और वह एक समय में एक ही वस्तु का निरीक्षण कर सकता है। किसी वस्तु के निरीक्षण को जो वह एक समय में करता है, हम वस्तु के ऊपर अवधान केन्द्रित करना कहते हैं। अब हम अवधान के सम्बन्ध में यहाँ विवेचन करेंगे।

अवधान का सामान्य स्वरूप (General Nature of Attention) व परिभाषा

अपनी सचेष्ट जिन्दगी के प्रत्येक क्षण में हम अनेक प्रकार के प्रत्यक्षीकरण, विचारों, प्रतिबिम्बों और आवेगों का अनुभव करते हैं, लेकिन उनमें से बहुत कम हमारे मस्तिष्क में स्थान बना पाते हैं। इन पंक्तियों को लिखते समय मेरी सजगता उन शब्दों की ओर है, जिन्हें मैं लिख रहा हूँ। परन्तु इसके अतिरिक्त मैं कागज, कलम, पंखा, मेज और कुर्सी, जिस पर कि मैं बैठा हूँ। इत्यादि के प्रति भी सजग हूँ। मुझे अपने लिखने के कार्य में प्रवृत्त बताया जायगा, जबकि इसी समय अन्य वस्तुएँ भी मेरी सजगता के अन्तर्गत हैं। मैं जिस कार्य को कर रहा हूँ, वह मेरी प्रमुख सजगता

---

1. Attention.

कही जायगी और दूसरी वस्तुएँ मेरी सजगता की सीमा के अन्तर्गत होंगी जिनके प्रति मैं अस्थिरता से सचेष्ट हूँ।

अवधान तथा चेतनता (Attention and Consciousness)

जेम्स चेतनता की तुलना एक सोते (stream) से करता है जो अनवरत गति से बहता है। हमारे सभी विचार, संवेदनाएँ, भाव तथा वे सभी वस्तुएँ जिनका हम मानसिक अनुभव करते हैं, इस सोते का निर्माण करती हैं। इनमें से कुछ, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हमारे ध्यान के केन्द्र में निहित होती हैं और अन्य सजगता की सीमा में। वे वस्तुएँ जो एक विशेष क्षण पर ध्यान के केन्द्र में आती हैं, एक विशिष्ट सजगता का निर्माण करती हैं। लेकिन जो सीमा के अन्दर होती हैं, वे चेतनता के ध्यान-केन्द्र में प्रवेश कर सकती हैं। उदाहरण के लिए, यदि मेरे कलम की स्याही समाप्त हो जाती है, तब यह कलम मेरी चेतनता के ध्यान-केन्द्र (focus) में होगा और मेरे लिखने का कार्य रुककर, चेतनता की सीमा के अन्तर्गत चला जा सकता है। हमारे मस्तिष्क में यह सामर्थ्य विद्यमान है कि वह वस्तुओं को ध्यान-केन्द्र से सीमा और सीमा से ध्यान-केन्द्र में नियमित कर सकता है। यह विभिन्न वस्तुओं का चुनाव करता है जो कि सीमा के अन्दर होती हैं, और फिर उनमें से कुछ ध्यान-केन्द्र में भेज देता है।

अवधान की परिभाषा (Definition of Attention)

मस्तिष्क की यह चुनाव प्रक्रिया ही अवधान कहलाती है। अतः अवधान की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि अवधान मानव चेतना की एक चरण प्रक्रिया है अथवा किसी विचार को मस्तिष्क में स्पष्ट रूप से अंकित करने की प्रक्रिया है। यह एक सतत क्रमबद्ध प्रक्रिया[1] है जो मस्तिष्क में स्थित नाना प्रकार की भिन्न वस्तुओं में से कभी एक और कभी दूसरी को चेतना के ध्यान-केन्द्र में लाकर उपस्थित करती है।

किसी वस्तु की ओर ध्यान देना—एक प्रकार की गतिवाही प्रतिक्रिया (motor response) है, जो वस्तु से प्राप्त उत्तेजना (stimulation) को यथेष्ट संभव रूप से ध्यान-केन्द्र में लाने की चेष्टा करती है। ध्यानपूर्ण स्थिति में विशेष रूप से मन की समस्त चित्तवृत्तियाँ एक वस्तु में केन्द्रित हो जाती हैं, मन स्थिर होता है। सभी विश्रामरहित (restless) कार्य रुक जाते हैं और सारा शरीर उत्तेजना के उद्गम की ओर झुक जाता है। किसी वक्ता के व्याख्यान को सुनने वाला एक प्रकार के तनाव की स्थिति में हो जाता है और उसके सब व्यर्थ के कार्य रुक जाते हैं। वक्ता के शब्दों के सिवाय वह और कुछ नहीं सुन पाता, केवल उसकी आँखें व्याख्यान-मंच की ओर सीधी लगी रहती हैं। धार्मिक रूप से सभी श्रोतागण अपनी कुर्सियों के किनारों

---

1. Continued activity.

पर बैठे रहते हैं। तनाव की स्थिति के अतिरिक्त ध्यान देने के समय ज्ञानेन्द्रियों में भी सक्रियता आ जाती है। यदि यह दृष्टि सम्बन्धी ध्यान है, तो आँखों को केन्द्रित रखकर द्रष्टव्य के अनुरूप चलाना पड़ता है; यदि यह स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी ध्यान है तो वस्तु को हाथ से स्पर्श किया जाता है, जिससे स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी संवेदनाओं को पूर्ण रूप से प्राप्त किया जा सके।

अवधान की विशेषतायें (Characteristics of Attention)

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम अवधान की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकते हैं। इसकी विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(१) अवधान : एक मानसिक प्रक्रिया है (Attention is a Mental Process)—जब हम किसी वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तो हमारा मस्तिष्क सक्रिय होकर क्रिया करता है।

(२) अवधान : हमारी चेतना का ध्यान-केन्द्र है (Attention is our focus of consciousness)—जिस वस्तु पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है वह चेतना के ध्यान-केन्द्र में रहती है। चेतना का ध्यान-केन्द्र वह स्थल है जहाँ वस्तु के सम्बन्ध में स्पष्ट सजगता रहती है।

(३) अवधान : एक चयनात्मक प्रक्रिया है (Attention is a Selective Process)—हमने ऊपर वर्णन किया है कि अवधान की क्रिया में चुनाव होता है। विभिन्न वस्तुओं में से जो चेतना की सीमा के अन्दर होती हैं, हमारा मस्तिष्क एक वस्तु का चुनाव करता है जो हमारी चेतना के ध्यान-केन्द्र में पहुँच जाती है और हमारा अवधान उस पर केन्द्रित हो जाता है।

(४) अवधान : स्वभावतः चंचल होता है (Attention is always Shifting)—हमारा अवधान सदा एक वस्तु से दूसरी की ओर बदलता रहता है। प्रति क्षण कोई वस्तु हमारी चेतना के ध्यान-केन्द्र से सीमा में चली जाती है और कोई और उसका स्थान लेने को चेतना के ध्यान-केन्द्र में आ जाती है। अवधान की चंचलता का अध्ययन हमारी आँखों की गति के आधार पर किया जा सकता है। हमारी आँखें किसी भी वस्तु की ओर अधिक देर तक स्थिर नहीं रह सकतीं। वह एक वस्तु से दूसरी की ओर गतिमान रहती हैं। यदि कुछ देर तक आँखें एक वस्तु की ओर लगी भी रहती हैं तो भी अवधान बदलता रहता है। आँखें किसी क्षण वस्तु के किसी अंग की ओर केन्द्रित होती हैं तो दूसरे ही क्षण किसी और अंग या गुण की ओर केन्द्रित हो जाती हैं। इस प्रकार आँखों के साथ-साथ अवधान भी बदलता रहता है। यह देखने के लिए कि कौन-से अंग आँखों को सबसे अधिक आकर्षित करते हैं और सबसे अधिक देर तक एकाग्र किये रहते हैं अथवा महत्तम अवधान के केन्द्र हैं, नेत्र संचालन (eye movement) कैमरे का उपयोग किया जाता है। एक प्रयोग में इस कैमरे का, एक पुरुष को देखते समय स्त्री की आँखों की स्थिति, ठहरने की अवधि और उनके अनुक्रम

का चित्र लेने के लिए, उपयोग किया गया। प्रयोग का परिणाम यह पाया गया कि स्त्री ने सबसे प्रथम पुरुष के वक्ष पर दृष्टि स्थिर की, फिर उसकी दृष्टि पुरुष के चेहरे पर केन्द्रित हुई और फिर बायीं आँख और कालर इत्यादि पर। इस प्रयोग से दो मुख्य बातों का पता लगा—(१) स्त्री के अवधान में सबसे प्रथम पुरुष का वक्ष और फिर उसका चेहरा इत्यादि केन्द्रित होता है, और (२) अवधान एक स्थान पर एक क्षण रहता है तो दूसरे क्षण उसका दूसरे स्थान पर केन्द्रीकरण हो जाता है।

(५) किसी भी क्षण ध्यान का विस्तार बहुत कम होता है (Attention has a Narrow Range)—हम एक समय में एक ही वस्तु की ओर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। एक वस्तु से क्या तात्पर्य है? यह हमने आगे अवधान के विस्तार (span of attention) के सम्बन्ध में वर्णन किया है।

(६) ध्यान देने से ज्ञानेन्द्रियों की सामर्थ्य बढ़ जाती है (Attention Increases the Capacity of our Sense Organs)—अवधान द्वारा हमारी संवेदनात्मक शक्ति और ग्रहण करने की शक्ति बढ़ जाती है। जिस ज्ञानेन्द्रिय की उत्तेजना पर हम ध्यान केन्द्रित करते हैं वह अधिक सामर्थ्यशील हो जाती है और दूसरी ज्ञानेन्द्रियों की सक्रियता कम हो जाती है; जैसे—जब हम किसी वस्तु को देखने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तो हमारी दृष्टि-सम्बन्धी संवेदना तो बढ़ जाती है परन्तु अन्य प्रकार की संवेदनाओं को ग्रहण करने के प्रति हम उदासीन हो जाते हैं; जैसे—जब हम एकाग्रचित्त होकर कोई चित्र देख रहे हैं तो हमें बहुत-सी साधारण ध्वनियाँ सुनाई भी नहीं पड़ती हैं।

(७) अवधान : उद्देश्यपूर्ण होता है (Attention is Purposive)—अवधान एक उद्देश्यपूर्ण क्रिया है। जब हम किसी वस्तु पर ध्यान देते हैं तो इस ध्यान देने में कोई-न-कोई हमारा उद्देश्य निहित रहता है। हमारा उद्देश्य—(क) बौद्धिक (intellectual) हो सकता है, जैसे—जब हम किसी अमूर्त विचार की ओर अपना अवधान केन्द्रित करते हैं; (ख) संवेदनात्मक (sensorial) हो सकता है, जैसे—जब हम किसी चित्र, गाने या सुगन्ध की ओर अवधान केन्द्रित करते हैं; या (ग) संवेदनात्मक तथा बौद्धिक—दोनों हो सकता है, जैसे—जब हम ब्रिज या शतरंज खेलते हैं।

(८) अवधान में शारीरिक अभियोजन (Bodily Adjustment in Attention)—ध्यान की क्रिया में न केवल मानसिक अभियोजन होता है वरन् शारीरिक अभियोजन भी होता है। इसी को हमने ऊपर शारीरिक तनाव की तो स्थिति के रूप में वर्णन किया है। शारीरिक अभियोजन के अन्तर्गत यहाँ हम ग्राहक अभियोजन (receptor adjustment), शरीर की मुद्रा (postures), तथा मांसपेशियों आदि के अभियोजन के सम्बन्ध में पढ़ेंगे।

(i) ग्राहक अभियोजन (Receptor Adjustment)—जब हम किसी उत्तेजना की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तो जो ज्ञानेन्द्रियाँ उस उत्तेजना से आ

होती हैं, उनका अभियोजन एक विशेष प्रकार से हो जाता है। जब हम किसी ओर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हैं तो हमारी आँख उस वस्तु की ओर जिसे हम देख रहे हैं, अपने आप को आयोजित कर लेती है ताकि वह वस्तु स्पष्ट रूप से दिखाई दे। हमारी आँख की 'सिलेरी मांसपेशियाँ' (ciliary muscles) तथा उपतारा की मांस-पेशियाँ कुशलतापूर्वक अभियोजन करने को तत्पर रहती हैं। इसी प्रकार हमारा मध्य कान अच्छे प्रकार से ध्वनि ग्रहण करने के लिए अपने को अभियोजित करने को
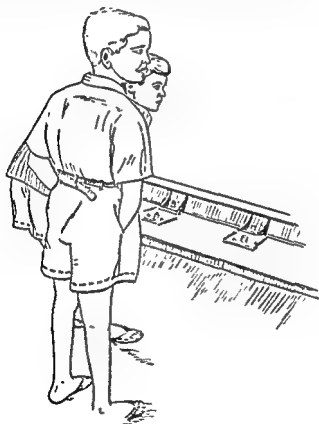
चित्र—४८
[अवधान केन्द्रित करने से आँख का अभियोजन एवं शरीर-मुद्रा का अभियोजन हो जाता है।]

तत्पर रहता है। कभी-कभी हम जिधर से ध्वनि आ रही है उस ओर अपने कानों को झुका लेते हैं। इसी प्रकार त्वचा के किसी बिन्दु पर ध्यान देने से त्वक् तापक्रम [illegible] बढ़ जाता है, क्योंकि अब रक्त-संचार अच्छे प्रकार से होने लगता है। अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ अवधान के प्रति अभियोजन मे इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं।

(ii) शरीर-मुद्रा अभियोजन (Postural Adjustment)—ध्यान के समय जिस ओर से उत्तेजना मिल रही है, उस ओर हम अपने शरीर को झुका लेते हैं। जब
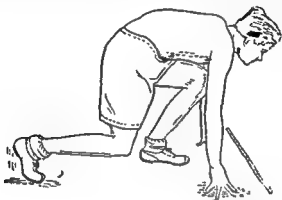
चित्र ४६—दौड़ की तैयारी
[देखिए, दौड़ने की तैयारी में मांसपेशियाँ इत्यादि कैसे तन जाती हैं और व्यक्ति का सारा शरीर क्रिया के लिए तैयार हो जाता है।]

श्रोतागण कोई व्याख्यान ध्यानपूर्वक सुन रहे होते हैं तो उनकी आँख व्याख्यानकर्ता पर केन्द्रित हो जाती है, गर्दन विशेष प्रकार से झुक जाती है और हाथ-पाँव एक विशेष मुद्रा ग्रहण कर लेते हैं। इस अवस्था में हिलना-डुलना बहुत कम हो जाता है, साँस की गति एवं रक्त-संचार में भी परिवर्तन आ जाता है। यदि व्यक्ति ध्यान देने मे तल्लीन है तो बहुधा उसकी साँस की गति कम हो जाती है।

चित्र ४६ मे दौड़ के समय की तैयारी पर जो शरीर की अवस्था होती है, उसका चित्रण किया गया है। यह दौड़ने वाले झंडी के गिरने या बन्दूक की आवाज की ओर ध्यान लगाये हैं। इनके शरीर की मुद्रा एक विशेष प्रकार की हो गयी है और माँसपेशियों मे तनाव आ गया है।

(iii) माँसपेशी-अभियोजन (Muscular Adjustment)—अवधान के समय माँसपेशियाँ तनाव की स्थिति में आ जाती हैं। पिछले पृष्ठ के चित्र को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। तनाव के कारण ही यह माँसपेशियाँ अधिक सक्रिय हो जाती हैं। माँसपेशियों का तनाव व्यक्ति के ध्यान का केन्द्रीकरण करने मे भी बहुत सहायता देता है। यह तनाव का ही कारण है कि व्यक्ति के शरीर का अंग-अंग दौड़ने के संकेत की ओर चैतन्य हो जाता है।

अवधान की दशाएँ (Conditions of Attention)

वे दशाएँ, जो कि एक वस्तु को दूसरे की अपेक्षा अधिक हमारे अवधान का केन्द्र बनाती हैं, दो मुख्य प्रकार की होती हैं—(१) वस्तुनिष्ठ दशाएँ हैं, जो कि वस्तु की प्रकृति पर अवलम्बित रहती हैं; और (२) व्यक्तिगत दशाएँ हैं, जो कि व्यक्ति की रुचियों, इच्छाओं और मानसिक स्थिति पर निर्भर रहती हैं। इन दशाओं का हम क्रमानुसार वर्णन करेंगे। यथा—

अवधान की वस्तुनिष्ठ दशाएँ (Objective Conditions of Attention)

वातावरण सम्बन्धी प्रधान दशाएँ—(i) तीव्रता, (ii) आकार, (iii) गति, (iv) दोहराना, (v) व्यवस्थित रूप, (vi) नवीनता, (vii) विरोध, (viii) परिवर्तन, (ix) अवधि, (x) पृथकत्व, तथा (xi) स्थिति।

(i) तीव्रता (Intensity)—तीव्र उद्दीपकता के लिए ध्यान की आवश्यकता है। एक अत्यन्त तेज प्रकाश, जोर की आवाज और बहुत अच्छी व्यवस्था, मद्धिम प्रकाश, धीमी आवाज और शिथिल व्यवस्था की अपेक्षा अधिक ध्यान आकर्षित करती हैं। बिजली का प्रकाश लालटेन के प्रकाश की तुलना में हमारा ध्यान शीघ्र आकर्षित कर लेगा।

(ii) आकार (Size)—एक बड़ी वस्तु की तरफ हमारा ध्यान छोटी वस्तु की अपेक्षा अधिक आकर्षित होता है। इसी कारण विज्ञापन में बड़े से बड़ा इश्तहार छपवाया जाता है और दूकानदार बड़े साइन बोर्ड लगाते हैं।

(iii) गति (Movement)—उद्दीपकता की गति में परिवर्तन हमें आकर्षित करता है, और उसके अन्दर ध्यान निहित रहता है। यही कारण है कि दूकान की खिड़की में गतिमान कोई वस्तु गतिहीन वस्तु की अपेक्षा हमारे ध्यान को अधिक आकर्षित करती है। विद्युत के प्रकाशक (neon sign) जो कि अपने रंग को बदलते या गतिमान रहते हैं, हमारे ध्यान को बड़ी जल्दी आकर्षित कर लेते हैं।

(iv) दोहराना (Repetition)—एक उद्दीपक जब बार-बार संगठित होने वाली पुनरावृत्ति से दुहराया जाता है तो उसकी तरफ हमारा ध्यान शीघ्र आकर्षित हो जाता है, और वह हमारे लिए अधिक परिचित बन जाता है। अनवरत रूप से उठने वाली आवाज, एकाध बार उठने वाली आवाज की अपेक्षा हमें अधिक आकर्षित करती है। इसी कारण 'रेडियो सीलोन' पर बार एक वस्तु का विज्ञापन बार-बार सुनते हैं।

(v) व्यवस्थित रूप (Systematic Form)—वे वस्तुएँ, जिनका निश्चित रूप और रेखाचित्र होता है, उन वस्तुओं की अपेक्षा—जो अनिश्चित और अस्पष्ट हैं, हमारे ध्यान को अधिक आकर्षित कर लेती हैं। जैसे ताजमहल हमें अपनी ओर शीघ्र आकर्षित कर लेता है क्योंकि वह व्यवस्थित रूप में हमारे सम्मुख है। एक रेखाचित्र की अव्यवस्थित आकृति की ओर हम शीघ्र अवधान केन्द्रित कर देते हैं।

(vi) नवीनता (Novelty)—हमारा ध्यान सदैव अपरिचित वस्तु या असाधारण रूप से प्रस्तुत की गयी परिचित वस्तु की ओर आकर्षित होता है। एक वर्दी पहने हुए सिपाही को तैरने के तालाब में देखकर हम इच्छा न होते हुए भी एक बार अवश्य देख लेंगे।

(vii) विरोध (Contrast)—आकार के साथ-साथ विरोध के कारण भी हमारा अवधान किसी वस्तु की ओर केन्द्रित होता है। जब हम एक बहुत लम्बे व्यक्ति की ओर ध्यानमग्न होते हैं तो हमारे मस्तिष्क में एक ठिगने व्यक्ति का भी विचार आ जाता है। विरोध के कारण हम साधारण कद के व्यक्तियों के बीच में एक बौने की ओर ध्यानमग्न हो जाते हैं या बहुत गोरी लड़कियों के बीच एक काली लड़की को देखकर उसकी ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर देते हैं।

(viii) परिवर्तन (Change)—हमारा ध्यान उद्दीपक के परिवर्तन के कारण भी आकर्षित हो जाता है। यदि हमारे लिखते समय एकदम तेज हवा चलने लगे तो हमारा ध्यान हवा की ओर आकर्षित हो जायेगा। हम घूमने जा रहे हैं और यकायक गर्म हवा चलने लगे तो हमारा ध्यान गर्म हवा की ओर चला जायगा।

(ix) अवधि (Duration)—जो उद्दीपक अधिक अवधि के लिए रहता है, उसकी ओर हमारा ध्यान शीघ्र केन्द्रित हो जाता है। यदि उद्दीपक बहुत कम काल के लिए है तो हम उसके सम्बन्ध में चैतन्य नहीं भी हो सकते हैं, पर जब कोई उद्दीपक कुछ अवधि तक सक्रिय रहता है तो वह हमारे ध्यान को आकर्षित किये बिना नहीं रह सकता।

(x) पृथकत्व (Isoaltion of Stimulus)—जब कोई उद्दीपक दूसरे से पृथक् होकर हमारे सम्मुख आता है तो हम उसकी ओर शीघ्र आकर्षित हो जाते हैं। जब किसी भरी सभा में—जिसमें सब ध्यानपूर्वक सभा की कार्यवाही में भाग ले रहे हैं, एक व्यक्ति उठकर खड़ा हो जाता है तो हमारा अवधान उस व्यक्ति की ओर केन्द्रित हो जाता है। इस व्यक्ति के खड़े होने से जो हमें उद्दीपक मिलता है, वह अन्य सब उद्दीपकों से भिन्न है और इसी कारण वह हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है।

अवधान का विभिन्न वस्तुओं की ओर केन्द्रीकरण

चित्र—१० (अ)
[बालक कौतूहलवश किसी वस्तु की ओर अवधान केन्द्रित किये है।]

चित्र—१० (ब)
[इस छोटे बालक को खाने में रुचि है, अतएव इसका ध्यान दूध के प्याले की ओर केन्द्रित है।]

चित्र—२० (स)

[यह स्त्री पुस्तक की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किये है।]

(xi) स्थिति (Position)—उत्तेजना की स्थिति हमारा ध्यान आकर्षित करने में एक महत्त्वपूर्ण दशा है। हम किसी विशेष स्थिति के कारण ही विवाह-मण्डप के नीचे बैठी वधू के कपड़ों इत्यादि की ओर दूसरों की अपेक्षा अधिक ध्यान देते हैं। अखबार में जिस स्थान पर अपने मतलब का समाचार हम पाते हैं, उसी की ओर सबसे प्रथम आकर्षित होते हैं।

अवधान की व्यक्तिगत दशाएँ (Subjective Conditions of Attention)

अवधान केवल वातावरण सम्बन्धी दशाओं पर ही निर्भर नहीं रहता है, वह व्यक्तिगत दशाओं पर भी अवलम्बित रहता है, जो ध्यान को प्रभावित करती हैं। इनका विवेचन नीचे किया जा रहा है। यथा—

(i) मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts)—अवधान की व्यक्तिगत दशाओं में से मूल प्रवृत्तियाँ भी एक दशा है। जिस वस्तु के कारण से हमें मूल प्रवृत्यात्मक उत्तेजना मिलती है, उस वस्तु की ओर हमारा ध्यान खिंच जाता है। विज्ञापक इस बात का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। एक या अधिक मूल प्रवृत्तियों का अवलम्बन न लेने वाले बहुत ही कम सफल विज्ञापन होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना मूल प्रवृत्तियों का सहारा लिए हुए, विज्ञापन का सफल होना प्रायः सम्भव नहीं। यह आत्म-गौरव, जिज्ञासा, भय या काम की मूल प्रवृत्ति हो सकती है। बहुत ही सुन्दर लड़कियों की तस्वीरें किसी असाधारण प्रकार की वस्तु का विज्ञापन करने के लिये अद्भुत ढंग की स्थिति में प्रयोग की जाती हैं। इस प्रकार ये तस्वीरें हमारे ध्यान को आकर्षित करती हैं और इनका वस्तु से कोई भी सम्बन्ध न होते हुए भी वह बिक जाती हैं।

(ii) संवेग (Emotion)—संवेग भी ध्यान के लिए एक आन्तरिक प्रेरणा है। यह संवेगों के सक्रिय होने के कारण ही है कि हम उन वस्तुओं की तरफ, जो कि

चित्र नं० २१
बताइये इस पुस्तक की ओर बालक का
अवधान क्यों केन्द्रित है ?

सामान्य जिन्दगी में पूर्ण-रूपेण हमारे ध्यान का केन्द्र बनती हैं, ध्यान लगाते हैं। उदाहरण के लिए-हम प्रसन्न होते हैं, हम दूसरों की त्रुटियों या अवगुणों पर दृष्टिपात नहीं करते हैं। लेकिन यही त्रुटियाँ जब हम क्रुद्ध होते हैं, तो हमारे सम्मुख बहुत बड़ी मात्रा में आ खड़ी होती हैं। बहुत-से संघर्षों का यही कारण है। क्रोध या भय में इन आवेगों का हमारे ऊपर पूर्ण अधिकार हो जाता है, और तब इन्हीं के आदेशानुसार हम कार्य करते हैं। हम अन्धेरे में भयभीत हो उठते हैं, अतः हमारे आस-पास की गयी अत्यन्त मद्धिम आवाज भी ध्यान को खींच लेती है।

(iii) रुचि (Interest)—साम्राज्य रूपी अवधान में रुचि रूपी एक दूसरा राजा है। कहने का तात्पर्य यह है कि ध्यान के अन्दर रुचि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह पूर्ण सिद्ध हुई बात है कि विभिन्न मनुष्य, एक ही दृश्य में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को देखते हैं। एक किसान, एक कलाकार और एक वनस्पति-विज्ञानवेत्ता एक पहाड़ी पर साथ-साथ खड़े हुए—जमीन के ऊपर भिन्न-भिन्न वस्तुओं को देखेंगे। इसका कारण यह है कि वे अपनी रुचि के अनुसार विषयों का अवलोकन करते हैं। इसलिए बच्चों की रुचियों को प्राप्त करना—जिससे वे कक्षा के अन्दर ध्यानपूर्वक पढ़ सकें, शिक्षा-मनोवैज्ञानिक के लिए बहुत महत्वपूर्ण बात है। इस व्यक्तिगत दशा का अध्ययन हम विस्तार से करेंगे। यथा—

रुचि का अभिप्राय (Meaning of Interest)—रुचि को एक प्रेरक शक्ति कहा जा सकता है, जो हमारे ध्यान को एक व्यक्ति, वस्तु या क्रिया की तरफ उन्मुख करती है, या इसे एक प्रभावपूर्ण अनुभव कहा जा सकता है, जो स्वयं अपनी ही सक्रियता से उत्तेजित होता है। दूसरे शब्दों में, रुचि—किसी सक्रिय या सक्रियता की सहकारिता के परिणाम का कारण हो सकती है, अतः हम कह सकते हैं कि हम उन्हीं विषयों की ओर उन्मुख होते हैं, जो हमारे अन्दर रुचि को उत्पन्न करते हैं।

लैटिन भाषा में 'रुचि' शब्द का तात्पर्य है : 'यह आवश्यक होती है' या 'यह सम्बन्धित होती है'।[1] अतएव एक वस्तु जो हमारे अन्दर रुचि पैदा करती है, वह वस्तु है—जो हमसे सम्बन्धित है या हमारे लिए आवश्यक है। परन्तु हम एक व्यक्ति के अनुभव का उल्लेख करने के लिए—जब वह कार्य में संलग्न है, 'रुचि' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। यहाँ पर 'रुचि' एक व्यक्ति के अनुभव की पुकार है, और उसका अभिप्राय—व्यक्तिगत अभिप्राय है। स्टाउट इस शब्द का प्रयोग अनुभव के भावात्मक-क्रियात्मक पहलुओं को प्रदर्शित करने के लिए एक व्यापक रूप को तरह करता है, जबकि ड्रेवर सभी अनुभवों के आवश्यक भावात्मक पहलू को प्रदर्शित करने के लिए एक संयुक्त शब्द 'मूल प्रवृत्यात्मक रुचि' (instinctive interest) का प्रयोग करता है।

1. It matters or it concerns.

वह इसकी चिरस्थायी स्थिति को देखता हुआ कहता है कि—"रुचि मानने में ही एक भावात्मक वृत्ति है।"[1]

इस प्रकार मानव-जाति की आवश्यक रुचियाँ, स्वयं मूल प्रवृत्तियाँ ही हैं। प्रारम्भिक स्तरों पर मनुष्य की रुचियाँ मूल प्रवृत्यात्मक होती हैं। मानसिक विकास के साथ उनका उपार्जन किया जाता है। वे अपनी सक्रियताओं को शक्ति प्रदान करते हैं। उपार्जित रुचियाँ, वस्तुओं और व्यक्तियों के लिए, स्थायी भावों के अनुसार होते हैं और अन्त में आत्म-गौरव के स्थायी भाव के अनुसार हो जाती हैं। इस प्रकार रुचि-ज्ञानात्मक न होकर क्रियात्मक है। इसके अन्दर सक्रियता निहित रहती है।

रुचि—प्रेरणाओं और संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं से दृढ़तापूर्वक सम्बन्धित रहती है। स्वादिष्ट खाना बनाने में रुचि अच्छे भोजन की इच्छा का लक्षण हो सकती है। उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक खोज, धर्मविज्ञान या पढ़ने में रुचि का अस्तित्व हमारी इन विषयों के सम्बन्ध में जिज्ञासा के कारण हो सकता है। ये कार्य इन क्रियाओं के विषय में हमारे कौतूहल को संतुष्ट करने की इच्छा द्वारा उत्तेजित होते हैं। युवा पुरुषों के बाह्य रूप, वेश-भूषा और क्रियाओं के प्रति रुचि विपरीत लिंग के सदस्यों को आकर्षित करने की एक चेतन इच्छा हो सकती है या प्रतिष्ठित व्यक्तियों से अनुमोदन का प्राप्त करना मात्र हो सकता है।

रुचि और अवधान (Interest and Attention)—रुचि और अवधान एक ही चीज को देखने के दो दृष्टिकोण होते हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सत्य तो यह है कि ये दोनों ही मानसिक ढाँचे में व्यवस्थित संस्कार हैं। किसी वस्तु में रुचि रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रति ध्यान दिया जाय, जबकि ध्यान के द्वारा किसी मानसिक आकार की क्रिया का पता चलता है।

मैक्डूगल कहता है—"रुचि गुप्त अवधान होता है, और अवधान रुचि का क्रियात्मक रूप है।"[2] यह रुचि ही है, जो इस बात की गणना करती है कि ध्यान द्वारा क्या संचालित किया गया है? यह ध्यान में प्रयोग करने के लिए पूर्व से ही विचारी हुई स्थिति है। किसी वस्तु के साथ ध्यान लगाने के कार्य में रुचि प्रवृत्ति के अन्दर निहित रहती है। दूसरी तरफ रुचि का संचरणशील पहलू ध्यान है। किसी विशेष वस्तु की ओर हमारा ध्यान, जैसे—किताब पढ़ने में, इस कारण से है कि उसमें हमारी रुचि है।

इस प्रकार किसी वस्तु में ध्यान लगाने तथा रुचि रखने में घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम अपनी प्रत्येक रुचि को इस रूप में देख सकते हैं कि यह हमें सदैव इस बात के लिए तत्पर कर देती है कि हम विशेष उद्दीपकों की ओर अपना अवधान केन्द्रित

---

1. "An interest is a disposition in its dynamic aspect."
2. "Interest is latent attention and attention is interest in action."

कर दें। यहाँ यह याद रखना भी महत्वपूर्ण है कि जब हम उन उद्दीपकों में से किसी एक को भी ध्यान में नहीं ला रहे हैं, तब भी हमारी रुचि अपना अस्तित्व रखती है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि प्रायः हमें उन विषयों की ओर भी उन्मुख होना पड़ता है जिनमें हम रुचि नहीं रखते। यह सत्य है, परन्तु यदि हम अपने व्यवहार की अधिक जानकारी रखते हैं, तो हमें पता चलता है कि किसी भी वस्तु की

चित्र—५२

[ये बालक रेत का टीला बनाने में तल्लीन हैं क्योंकि उनकी खेल में रुचि है]

ओर हमारा ध्यान लगाने की प्रेरणा रुचि ही है। हमें जिस विषय की ओर ध्यानशील होना पड़ता है उसमें हमारी रुचि का पता नहीं चल सकता परन्तु हमारी रुचि किसी दूसरे ऐसे विषय में होगी जो केवल उसी विषय की ओर ध्यान लगाने से ही सन्तुष्ट की जा सकती है, जबकि हम इस विषय की ओर ध्यान लगाते हैं तो हमारी रुचि और ध्यान की सम्पर्कता अप्रत्यक्ष है परन्तु यह कम वास्तविक नहीं, जैसे—हमें परीक्षा के विषयों की ओर मन मार कर भी ध्यान लगाना पड़ता है क्योंकि हम परीक्षा के परिणाम में रुचि रखते हैं। हमारी वास्तविक प्रत्यक्ष रुचि मूल प्रवृत्यात्मक रुचियाँ हैं, जैसे—जनता के मत का भय, आर्थिक कष्ट का भय, अपने साथियों को पराजित करने की रुचि, कठिनाइयों से संघर्ष करने की रुचि, इत्यादि। यह हमारी इस समस्या का समाधान करने वाला उत्तर है कि बच्चों को विद्यालय में उन विषयों के प्रति, जो पूर्ण रूप से या व्यक्तिगत रूप से सनातृ रुचिकर नहीं हैं, किस प्रकार ध्यान लगाने में सहायता प्रदान की जाय? इस प्रकार के विषयों को हमें इस प्रकार से व्यवस्थित रूप में रखना चाहिए जिससे कि बच्चों में मूल प्रवृत्यात्मक रुचि पैदा हो

जाय। इस प्रकार जो बच्चा मॉडल बनाने में रुचि रखता है, वह इससे सम्बन्धित गणित के प्रमेयों के प्रति रुचिपूर्ण ध्यान लगायेगा। इसी प्रकार उसकी संरचना की मूल प्रवृत्ति अंकगणित के प्रमेयों के साथ सम्बन्धित हो जाती है और वह उस समय की अपेक्षा अधिक तत्परता के साथ सीखने लगता है, जब उसे इन प्रमेयों को परम्परागत पाठ्य-पुस्तकों की विधि द्वारा सिखाया जाता है। परम्परागत विधि द्वारा सीखने में वह ऊब जाता है और सारी रुचि समाप्त हो जाती है, जिससे वह उनकी तरफ ध्यान लगाने में असफल रहता है।

स्वभाव, आदत और रुझान (Temperament, Habit and Aptitude)—अवधान की उपर्युक्त तीन महत्वपूर्ण व्यक्तिगत दशाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य भी व्यक्तिगत दशाएँ हैं जो अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं और इन्हीं तीनों पर ही अवलम्बित हैं, परन्तु फिर भी उनका पृथक् रूप से वर्णन किया जा सकता है। वे स्वभाव, आदत और रुझान हैं। विभिन्न प्रकृति वाले मनुष्यों का ध्यान विभिन्न वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है। उदाहरणार्थ—एक भक्त को मन्दिर के अन्दर स्थापित ईश्वर की वेशभूषा में कोई भी परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है, जबकि एक नास्तिक का इस ओर कभी ध्यान भी नहीं जायगा।

अपनी जिन्दगी के बहुत प्रारम्भ से ही हम किसी एक विशेष वस्तु के साथ कार्य करने के अभ्यस्त हो जाते हैं, जबकि दूसरी वस्तुओं के प्रति हम उपेक्षा रखते हैं। एक मनुष्य जो संगीत की योग्यता रखता है, उस व्यक्ति की अपेक्षा जो यह योग्यता नहीं रखता, अधिक योग्यतापूर्ण और उचित रीति से संगीत का सम्पादन कर सकता है।

इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि आप एक विशेष प्रकार की वस्तु के प्रति अवधान केन्द्रित करने की आदत और दूसरी वस्तुओं के प्रति उपेक्षा की आदत का निर्माण कर सकते हैं। वे आदतें रुचि, इच्छा इत्यादि तत्वों के आधार पर बनाई जा सकती हैं, परन्तु एक बार स्थापित हो जाने पर वे ध्यान का संचालन करने में अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध होती हैं। इस प्रकार एक वनस्पति-विज्ञानवेत्ता बाग के अन्दर प्रत्येक पौधे के प्रति ध्यान लगाने की आदत का विकास कर सकता है। एक संगीतज्ञ वाद्यों तथा सुर-माधुर्य की तालों की आदत बना सकता है।

अवधान के महत्वपूर्ण लक्षण (Important Features of Attention)

अवधान एक चलायमान प्रक्रिया है। किसी वस्तु की ओर एक लम्बी अवधि तक ध्यान लगाना असम्भव है। अधिकांश वस्तुएँ जटिल होती हैं, और ध्यान की तीव्र गतिशील अस्थिर प्रकृति समय के छोटे भाग के लिए ही उस वस्तु के एक गुण के प्रति ध्यान लगा पाती है, और तब ध्यान उसके दूसरे गुणों के प्रति लग जाता है। एक ही समय में एक ही विशेषता या वस्तु की ओर ध्यान दिया जा सकता है। एक ही समय में बहुत सी वस्तुओं को ध्यान में लाने के अधिकांश उदाहरण, ध्यान एवं वस्तु

से दूसरी वस्तु की ओर तेजी से होने वाली अस्थिरता पर, आधारित रहते हैं। ध्यान के विस्तार की एक सीमा होती है।

अवधान का विस्तार (Span of Attention)

इस प्रश्न का उत्तर कि—एक ही समय में चेतना के ध्यान-केन्द्र में कितनी वस्तुओं को सुरक्षित रखा जा सकता है, एक व्यक्ति के ध्यान के विस्तार को बताता है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि हम पृथक् वस्तुओं से क्या समझते हैं? उदाहरण के लिए, व्यवस्थित बिन्दुओं का निम्न रूप

स्थिर नक्षत्रों के समूह की भाँति, जो सप्तर्षि कहलाते हैं, प्रस्तुत करके बड़ी सुगमता से ध्यान में लाया जा सकता है। लेकिन वे इस प्रकार वास्तव में एक एकता का निर्माण करते हैं और एक वस्तु हो जाते हैं। यदि देखने वाला नक्षत्रों के इस समूह से परिचित नहीं है और ये बिन्दु (dotes) पर्दे पर केवल $\frac{1}{2}$ वें सैकिण्ड तक दिखाये जाते हैं, तो वह इन सभी बिन्दुओं को ध्यान में रखने में सफल नहीं हो सकता है क्योंकि उसे उसी क्षण उन पर अलग-अलग ध्यान लगाना पड़ेगा और बिन्दुओं में एकता न देखकर वह उन्हें अलग-अलग समझने की चेष्टा करेगा।

दृश्यमान अवधान के विस्तार का निरीक्षण टैकिसटॉसकोप (Tachistoscope) द्वारा किया जाता है। यह एक उपकरण है, जो थोड़े समय के लिए वस्तुओं का दिग्दर्शन करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। एक विषय के बिन्दुओं या अक्षरों के एक अव्यवस्थित समूह को $\frac{1}{2}$ सैकिण्ड से $\frac{1}{100}$ सैकिण्ड तक दिखाया जाता है और यह पूछा जाता है कि—उसने कितने बिन्दुओं या अक्षरों का निरीक्षण किया?

किये गये निरीक्षणों के परिणामों से यह सिद्ध होता है कि यदि एक समूह की इकाइयाँ अव्यवस्थित रखी हुई हैं, तो अवधान का सामान्य विस्तार प्रायः चार या पाँच होता है। इस संख्या के पश्चात् त्रुटियाँ बार-बार संघटित होने लगती हैं और सही प्रत्युत्तर मिलना अधिकांश रूप में संयोगवश हो जाता है। यदि किसी प्रकार इकाइयाँ व्यवस्थित होती हैं, यदि बिन्दियाँ एक आकार या एक अक्षर या एक शब्द अथवा मुहावरे का निर्माण करती हैं, तो एक बहुत अधिक लम्बी संख्या को भी सही रूप से ध्यान में रखा जा सकता है। उदाहरणार्थ लोग बड़ी आसानी से अपने ध्यान के विस्तार में नीचे दी गयी अनेक बिन्दियाँ रख सकते हैं, उन्हें इसमें कोई भी कठिनाई नहीं होती है—

लेकिन इस प्रकार के विषयों में अवधान विस्तार की वृद्धि नहीं कही जा सकती वस्तुओं का निरीक्षण समग्र तथा रूप से एक समूह की तरह किया जाता है। उपरोक्त उदाहरण में विषयी ने १२ पृथक् इकाइयों का भेद नहीं किया है, परन्तु गणना के द्वारा ४ जटिल इकाइयां, तथा १२ का योग प्राप्त हुआ है।

श्रवण से सम्बन्धित विषयों के लिए भी ध्यान के विस्तार की माप की जा सकती है। यदि विभिन्न प्रकार की ठोकने की आवाज को तेजी से गणना करने के लिए कहा जाय तो साधारण तौर पर पाँच या छः ध्वनि में सही रूप से अन्तर पहिचाना जा सकता है, यद्यपि यहाँ संख्या में वृद्धि हो सकती थी यदि ठोकने की ध्वनियाँ लयपूर्ण नमूने का निर्माण करें।

ध्यान के विस्तार में व्यक्तियों की विभिन्नताएँ भी महत्व रखती हैं। प्रोफेसर बिने ने टैकिसटॉसकोप के साथ अव्यवस्थित बिन्दुओं के रूप को दिखाकर, बच्चों के साथ अनेक प्रयोग किये और पता लगाया कि व्यक्तियों में महान् व्यक्तिगत भिन्नता होती है। एक बच्चा साधारण रूप से एक बार में ५ या ६ व्यवस्थित बिन्दुओं का, जबकि वे सामान्य समुदाय के रूप में होते हैं, निरीक्षण कर सकता है, लेकिन उसी समय दूसरा बच्चा एक दर्जन बिन्दुओं को, चाहे वे कितनी ही अव्यवस्थित रूप में रखे हों, ध्यान में रख सकता है।

अवधान का विभाजन (Division of Attention)

बहुत-से ऐसे लोग होते हैं, जो एक साथ ही दो या तीन कार्यों के करने में प्रवृत्त हो सकते हैं। इस प्रकार के विषयों में उठने वाला प्रश्न यह है कि—क्या वे अपनी चेतनता के ध्यान-केन्द्र में दो से अधिक वस्तुओं को रख सकते हैं या नहीं? नैपोलियन एक ही बार में बहुत-से पत्र लिखवाता था। प्रख्यात क्रान्तिकारी लाला हरदयाल कई कार्य, जैसे—पत्र लिखवाना, शतरंज के मोहरों की चाल बताना तथा ब्रिज के खेल में ताश के पत्तों की चाल बताना, एक ही समय में करते थे। अब प्रश्न यह है कि—क्या ये व्यक्ति सदैव अपनी चेतनता के ध्यान-केन्द्र में इन कार्यों का अस्तित्व रखते थे या नहीं?

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि हम एक समय में दो कार्य नहीं कर सकते हैं क्योंकि एक समय में एक ही तरफ ध्यान लगाया जा सकता है। एक ही समय दो कामों में ध्यान का विभाजन नहीं हो सकता। हम दो कार्य एक समय में कर सकते हैं, ऐसा निम्नलिखित तीन सम्भावनाओं के कारण हो सकता है—

(१) दो कार्यों को एक साथ ही पूरा करने में उन दो क्रियाओं में से एक के लिए किसी भी ध्यान की आवश्यकता नहीं होती। चतुर बुनने वाली स्त्रियाँ भी एक ही समय पर बुन एवं पढ़ सकती हैं, इस प्रकार बुनने को अभ्यास द्वारा सीखती हैं कि उसकी तरफ बिना कोई ध्यान लगाये हुए वे बुनती चली जाती हैं। अब बुनने की

ध्यान की आवश्यकता होती है, उदाहरणार्थ—यदि टाँका गलत लग जाता है तो पढ़ाई को अस्थायी रूप से रोक देना पड़ता है।

(२) दूसरी सम्भावना यह है कि ध्यान एक कार्य से दूसरे की ओर तेजी से परिवर्तित हो जाता है। कुछ मनुष्यों में ध्यान के परिवर्तित होने की यह शक्ति अत्यन्त त्वरित् होती है। जिस प्रकार नैपोलियन का ध्यान एक पत्र से दूसरे की ओर आदेश देने में तेजी से परिवर्तित हो जाता था, ठीक इसी तरह जब हम रेलगाड़ी में यात्रा करते हैं, तो हम दृश्यों के देखने के साथ-साथ अपने साथियों की बातों पर भी जो बिल्कुल ही भिन्न वस्तुओं के विषय में होती हैं, ध्यान देते रहते हैं।

ऐसे ध्यान की माप प्रयोग द्वारा की जा सकती है। दो कार्यों को एक व्यक्ति को, किसी निश्चित समय के अन्तर्गत पूरा करने के लिए दिया जाता है और फिर जितनी देर में वह उन्हें पूरा करता है, उसे लिख लिया जाता है। इसके पश्चात् दोनों कार्यों को एक साथ करने के लिए दिया जाता है और कार्य-अवधि को लिख लिया जाता है। एक साथ कार्य करने में परिणाम बुरा निकलता है। व्यक्तिगत परिणामों के भिन्न होने के बावजूद भी जो औसत प्राप्त हुआ है वह यह है कि इन कार्यों को एक साथ ही पूर्ण करने में प्रत्येक के अन्तर्गत लगभग ४० प्रतिशत कार्यक्षमता की हानि होती है।

(३) तीसरी सम्भावना जो दिखाई पड़ती है वह यह है कि हम विभिन्न वस्तुओं का संख्या के साथ नहीं वरन् एक साधारण संयुक्त वस्तु के साथ कार्य करते हुए प्रतीत होते हैं। कई वस्तुएँ या कई कार्य हमें कई के रूप में न प्रतीत होकर, एक इकाई के रूप में हमारे ध्यान को खींच लेते हैं। यदि तीन मोटरें एक साथ बराबर खड़ी हैं तो वे वास्तव में, एक मोटर के भागों की तरह, समान आकार से आपस में जुड़ी हुई नहीं हैं; परन्तु फिर भी वे एक संयुक्त वस्तु के रूप में ही हमारी चेतना के ध्यान-केन्द्र में एकत्र हो जाती हैं।

अवधान के प्रकार (Kinds of Attention)

अवधान को हम तीनों भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला अनियमित ध्यान (random attention) का रूप होता है। यह अनैच्छिक एवं सहज होता है, जिसमें किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है। ध्यान का यह प्रारम्भिक रूप होता है। इस प्रकार के ध्यान को हमें सीखने की आवश्यकता नहीं। बहुधा छोटे बालकों का ध्यान इसी प्रकार का होता है। इस प्रकार का ध्यान अधिक काल तक नहीं लग सकता है—क्योंकि जैसे ही किसी नवीन उद्दीपक का प्रादुर्भाव होता है वैसे ही ध्यान में परिवर्तन हो जाता है। इसमें किसी प्रकार का निश्चित उद्देश्य नहीं होता और न उसमें वस्तु के प्रति कोई वास्तविक रुचि ही होती है, जो हमें आकर्षित करती है।

अवधान का दूसरा प्रकार ऐच्छिक (Voluntary) अवधान है। इसमें व्यक्ति कुछ बाह्य प्रेरणाओं से बाध्य होकर किसी वस्तु इत्यादि की ओर अवधान लगा देता है। ये बाह्य प्रेरणाएं है, जैसे—पुरस्कार अथवा दण्ड। अवधान का यह प्रकार अस्वाभाविक, बाध्य तथा असन्तिकारक हुआ करता है। प्रायः उन स्कूलों के बालकों में पाया जाता है, जिनको रुचि तो स्कूल के काम में नहीं है परन्तु वे बालक अपने कार्य को अध्यापकों के भय के कारण करते हैं। यदि ऐच्छिक अवधान का काफी समय तक अभ्यास किया जाय तो वह आदतजन्य अवधान (habitual attention) का ■ ग्रहण कर लेता है। इस दशा में कुछ उत्तेजनाएं अवधान की प्रतिक्रिया से इतनी दृढ़ता से आबद्ध हो जाती हैं कि वह अनैच्छिक अवधान की उत्तेजनाओं की तरह कार्य करने लगती हैं। एक निरीक्षणकर्ता को आदतजन्य अवधान और अनैच्छिक अवधान में अन्तर ज्ञात करना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों में चेतन चेष्टा की आवश्यकता नहीं है। सब से साधारण रूप से इनको यह समझ कर अलग किया जा सकता है कि आदतजन्य अवधान पहले ऐच्छिक था और अब भी प्रेरणा की आन्तरिक दशाओं से तथा पूर्व सीखने से निर्धारित होता है।

अवधान का तीसरा प्रकार अनैच्छिक (Non-Voluntary) अवधान है। यह वस्तु में वास्तविक रुचि होने के कारण मनुष्य में विकसित होता है। मनुष्य में इसका विकास बिना किसी प्रयास के ही होता है। इस प्रकार का अवधान विद्यार्थी में उस समय परिलक्षित होता है जिस समय वह किसी कार्य को इसलिए करता है कि वह उसमें वास्तविक रुचि रखता है, न कि इस कारण करता है कि उस कार्य को न करने पर उसे समाज द्वारा बहिष्कृत होने अथवा दण्डित होने का भय है।

अवधान में विघ्न (Distraction of Attention)

ध्यान की विघ्नावस्था में कोई उद्दीपक विचारों के अथवा उस समय के उद्देश्यों के अनुकूल नहीं पड़ता। उस उद्दीपक में जो ध्यान को भ्रमात्मक अवस्था में ले जाता है, उनका होना परमावश्यक है कि जो मनुष्य के ध्यान को पलट कर दूसरी ओर आकर्षित करने में सशक्त हों।

बहुत से प्रयोगों से पता चलता है कि ध्यान की ये विघ्नपूर्ण परिस्थितियाँ हमें कार्य के करने में इतनी अधिक कठिनाई नहीं उत्पन्न करती, जितनी कि हम कल्पना करते हैं। कुछ ऐसे मनुष्य भी होते हैं जो विभिन्न मानसिक कार्यों को कर सकते हैं, चाहे भले ही घंटे की आवाज, हथौड़े की चोट आदि की आवाज क्यों न हो रही हो। लेकिन कुछ ऐसे व्यक्ति भी पाये जाते हैं जो किसी प्रकार की बाधा में कार्य सहज ढंग से नहीं कर सकते। थोड़ी-सी बाधा उन्हें क्रोधित बना डालती है। वे तनिक-सी आवाज पर नाराज हो जाते हैं, चाहे भले ही नाममात्र को उनके चारों ओर शोर हो रहा हो।

प्रायः यह भी देखा गया है कि कुछ व्यक्तियों की इस अवस्था में कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है। इसका शायद यही कारण है कि ये व्यक्ति अपने अन्दर काफी

मात्रा में शक्ति एकत्रित रखते हैं जिसका वह विघ्नपूर्ण परिस्थितियों में उपयोग करते हैं और इस प्रकार जो कार्य वे कर रहे हैं, उनमें संलग्न रहते हैं।

इन विघ्न डालने वाली अवस्थाओं पर कई प्रकार से विजय प्राप्त की जा सकती है। सबसे अच्छी और साधारण विधि यह है कि कार्य में अधिक शक्ति का प्रयोग किया जाय। यह शक्ति कार्य में तभी अधिक मात्रा में प्रयोग की जा सकती है जबकि उस कार्य को करने में रुचि उत्पन्न हो जाय। यदि यह सम्भव नहीं तब सबसे अच्छा यही होगा कि प्रेरणा को बढ़ाया जाय जो कृत्रिम साधनों की सहायता से किया जा सकता है, जैसे—इनाम, बोनस आदि। इसके अतिरिक्त दूसरा ढंग जिसके द्वारा इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है वह है इस प्रकार की आदतों का निर्माण जो बाधा डालने वाले उत्तेजकों की ओर ध्यान न देने से सम्बन्धित हों। ऐसी आदतें उन लोगों में बन जाती हैं जो रेलवे स्टेशन के पास रहते हैं अथवा घनी बस्ती में सड़क के किनारे, जहाँ पर सदैव ही शोर-गुल होता है। शोर या सीटी की आवाज इत्यादि उन लोगों की शान्ति को भंग नहीं कर सकती।

सारांश

अवधान—एक क्रमशील प्रक्रिया है जो मस्तिष्क के भण्डार में से कभी एक वस्तु को, कभी दूसरी को चेतनता के केन्द्र में ले आती है। अवधान की मुख्य विशेषताएँ यह हैं—(१) अवधान एक मानसिक प्रक्रिया है, (२) अवधान हमारी चेतना का ध्यान-केन्द्र है, (३) अवधान एक चयनात्मक मानसिक प्रक्रिया है, (४) अवधान स्वभावतः चंचल होता है, (५) किसी भी क्षण ध्यान का विस्तार बहुत कम होता है, (६) ध्यान देने में ज्ञानेन्द्रियों की सामर्थ्य बढ़ जाती है, (७) अवधान उद्देश्यपूर्ण होता है, एवं (८) अवधान में शारीरिक अभियोजन होता है। यह तीन प्रकार से होता है—(i) ग्राहक अभियोजन, (ii) शरीर मुद्रा सम्बन्धी अभियोजन, तथा (iii) मांसपेशीय अभियोजन। अवधान की दशाएँ दो मुख्य प्रकार की होती हैं :—पहली—वस्तुनिष्ठ दशाएँ जो वस्तु की प्रकृति पर अवलम्बित रहती हैं। दूसरी—व्यक्तिगत दशाएँ जो व्यक्ति की रुचियों, इच्छाओं और मानसिक स्थिति पर निर्भर रहती हैं। अवधान की वस्तुनिष्ठ दशाएँ—(१) तीव्रता, (२) आकार, (३) गति, (४) दोहराना, (५) व्यवस्थित रूप, (६) नवीनता, (७) विरोध, (८) परिवर्तन, (९) अवधि, (१०) पृथकत्व, तथा (११) स्थिति हैं। अवधान की व्यक्तिगत दशाएँ हैं—(१) मूल प्रवृत्तियाँ, (२) संवेग, (३) रुचि तथा स्वभाव, आदत और रुझान।

रुचि को एक प्रेरक शक्ति कहा जा सकता है जो हमारे ध्यान को एक व्यक्ति, वस्तु या क्रिया की तरफ उन्मुख करती है। प्रारम्भिक स्तरों पर मनुष्य की रुचियाँ मूल प्रवृत्यात्मक होती हैं। उपार्जित रुचियाँ, वस्तुओं और प्रत्ययों के लिए, स्थायीभावों के अनुसार होती हैं और [illegible] आत्म-गौरव के स्थायीभाव के अनुसार हो जाती हैं। रुचि गुप्त अवधान होता है और अवधान रुचि का क्रियात्मक रूप है। हम

अपनी प्रत्येक रुचि को इस रूप मे देख सकते हैं कि वह हमें सदैव इस बात के लिए तत्पर कर देती है कि हम विशेष उद्दीपकों की ओर अपना अवधान केन्द्रित करें।

एक समय मे चेतना के ध्यान-केन्द्र मे जितनी वस्तुओं को सुरक्षित रखा जा सकता है, वह *अवधान का विस्तार* कहलाता है। अवधान के विस्तार मे व्यक्तिगत विभिन्नता होती है परन्तु अवधान-विस्तार एक व्यक्ति में उस समय बढ़ जाता है जब वस्तुएँ व्यवस्थित रूप मे होती हैं।

अवधान का विभाजन संभव नही है। जब हमें अवधान का विभाजन होता हुआ प्रतीत होता है, उस समय वास्तव मे अवधान एक कार्य से दूसरे कार्य की ओर शीघ्रता से परिवर्तित हो जाता है, या दूसरी सम्भावना यह होती है कि जिन कार्यों में विभाजन प्रतीत होता है उनमें से एक के ऊपर कोई भी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती। तीसरी संभावना यह भी है कि हम विभिन्न कार्यों या वस्तुओं को एक संयुक्त रूप में समझ कर कार्य करते हैं।

अवधान के तीन प्रकार होते हैं, वह है—(१) *अनियमित अवधान*—यह छोटे बालकों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, (२) *ऐच्छिक अवधान*—बाह्य प्रेरणाओं से बाध्य होकर अवधान किसी वस्तु इत्यादि की ओर लगा दिया जाता है, और (३) *अनैच्छिक अवधान*—वास्तविक रुचि के कारण विकसित होता है।

कभी-कभी अवधान की क्रियात्मक अवस्था में ध्यान लगाने में बाधा उत्पन्न हो जाती है। ऐसा उन उद्दीपकों के कारण होता है जिनमें वे तत्त्व होते हैं जो ध्यान को उस कार्य से जो वह कर रहा है, पलट कर दूसरी ओर आकर्षित कर लेते हैं। इस अवस्था पर कार्य मे अधिक शक्ति लगाकर विजय प्राप्त की जा सकती है। *अच्छी आदतों के निर्माण द्वारा ध्यान को केन्द्रित करने मे भी व्यक्ति सफल हो सकता है।*

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. अवधान से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
२. अवधान की दशाएँ कितने प्रकार की हैं? प्रत्येक का पूर्ण विवरण दीजिए।
३. अवधान तथा रुचि में क्या सम्बन्ध है? रुचि हमारे अवधान को केन्द्रित करने के लिए किस प्रकार महत्त्वपूर्ण है? उदाहरण देकर समझाइए।
४. अवधान के केन्द्रीकरण से आप क्या समझते हैं? अवधान को विघ्नित करने वाले तत्त्वों पर प्रकाश डालिए।
५. *अवधान कितने प्रकार का होता है? प्रत्येक की व्याख्या उदाहरण सहित कीजिए।*
६. क्या अवधान का विभाजन संभव है? विभिन्न उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. ऑलपोर्ट, जी० डब्ल्यू० : एटीट्यूड्स एण्ड हैण्डबुक ऑफ सोशल साइकॉलॉजी, मास कर्लाङ यूनीवर्सिटी प्रेस, वोरसेसटर, १६३५।
२. को, एल० डी० एवं ऐलिस क्रो : एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अमरीकन बुक कं०, न्यूयार्क, १६५४।
३. फ्रेयर : मेजरमेन्ट्स ऑफ इन्टरेस्ट्स, हेनरी हाल्ट, न्यूयार्क, १६११।
४. थार्नडाइक, ई० एल० : एडल्ट इन्टरेस्ट्स, मेकमिलन कं०, न्यूयार्क, १६३५।
५. गिलफोर्ड, जे० पी० : जनरल साइकॉलॉजी, मेथ्यान, लन्दन, १६६६।
६. टण्डन, आर० : मनोविज्ञान के मूल आधार, मेहरास बुक डिपो, मुरादाबाद, १६६१।

१३

स्मृति[1]

प्राय: आपने व्यक्तियों को एक बालक या युवा के विषय में यह कहते हुए सुना होगा कि वह अच्छी स्मरण-शक्ति रखता है। इस बात के कहने का तात्पर्य क्या है, यह विचारने योग्य है। हम इस बात को सुनकर यह समझने लगते हैं कि वह बालक या तरुण बड़ी सुगमता से किसी वस्तु को सीख लेता है, या वह उसे लम्बी अवधि तक स्मरण रख सकता है अथवा जिस वस्तु को उसने सीखा है, उसको बड़ी आसानी से पुनस्मंरण कर सकता है। अतएव अच्छी स्मरण-शक्ति से हमारा अर्थ सीखना, याद करना अथवा पुनंस्मरण है।

स्मृति की प्रकृति
(Nature of Memory)

अब हम कुछ विस्तार से स्मृति की प्रकृति का अध्ययन करेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति इस बात को बड़ी आसानी से समझ सकता है कि स्मृति का तात्पर्य क्या है ? परन्तु बहुत से मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गयी इसकी विविध परिभाषाएँ एक-दूसरे से मेल नहीं खातीं। स्टाउट इसकी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह "एक आदर्श चेतना-प्राप्ति है। उसी प्रकार, जिस प्रकार कि एक आदर्श चेतना-प्राप्ति केवल प्रतिलिपि मात्र होती है, जिसमें भूत अनुभव की वस्तुओं को उनके मूल प्राप्ति के व्यवस्थित रूप और विधि में जहाँ तक सम्भव होता है, दुबारा स्थापित किया जाता है।"[2] वुडवर्थ का कथन है कि "स्मृति उस वस्तु को जिसे कि पहले

---

1. Memory.
2. "Memory is an ideal revival, so far as ideal revival is memory reproduction of what is revived in accordance with present conditions."

सीख गया है, स्मरण रखने से सम्बन्धित होती है।" वह स्मृति के अन्तर्गत सीखने, धारण करने की शक्ति, पुनर्स्मरण करने और पहिचानने की शक्ति को मानते हैं। प्रो० स्पीयरमैन (Spearman) अपना विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि—"ज्ञानात्मक अनुभूतिपूर्ण घटनाएं हस्तांतरण संस्कारों की स्थापना करती हैं जो उन घटनाओं को पुनः स्मरण करने में सरलता प्रदान करती हैं।"

हम स्मृति को कोई भी यथारीतिपूर्ण परिभाषा नहीं देना चाहते। फिर भी हम कह सकते हैं कि स्मृति यथावत् प्राप्त पूर्व-अनुभवों को उसी क्रम से पुनः याद करने से सम्बन्ध रखती है। यह एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें संस्कारों का स्थापित करना, उनका धारण करना और उन अनुभवों को पुनर्स्मरण करना होता है जो हस्तान्तरित हो चुके हैं। इस प्रकार स्मृति को समझने के लिए यह बड़ी आसान विधि है कि स्मृति के अन्तर्गत आये खण्डों को ध्यान में रख लिया जाय। अब हम उनका (खण्डों का) अध्ययन करेंगे।

स्मृति के खण्ड
(Factors of Memory)

उपर्युक्त परिभाषाओं द्वारा हम बड़ी आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि स्मृति के अन्तर्गत चार मुख्य खण्ड होते हैं। वे सीखना, धारणा, पुनर्स्मरण और पहचानना है। इन चारों में से प्रत्येक समान रूप से महत्वपूर्ण है। किसी भी घटना, अनुभव या क्रिया का पहले बोध होता है, फिर इसको मस्तिष्क में इसी या अन्य रूप में धारण किया जाता है। स्मृति का तृतीय खंड पुनर्स्मरण है, जिसके अन्तर्गत भविष्य में किसी भी अवसर, किसी घटना या अनुभव इत्यादि का तुरन्त स्मरण कर लिया जाता है। अन्तिम खंड उसी अनुभव इत्यादि को जिसे सीखा या धारण किया जाता है, पहिचान लेने से सम्बन्धित है। सीखने का सरल उदाहरण, किसी व्यक्ति के नाम द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। जब आप किसी व्यक्ति से रास्ते में मिलते हैं और पहिचानते हैं कि उसका नाम मोहन है, तब आपको स्मृति की चारों प्रवृत्तियों के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है। इस व्यक्ति का नाम आपके द्वारा सीखा जाता है और तब धारण किया जाता है। फिर उससे दुबारा मिलने के समय आप उसके नाम को स्मरण करते हैं और इस प्रकार स्मरण करने से आप पहिचान जाते हैं कि उस विशेष व्यक्ति का नाम जिससे आप मिल चुके हैं, यह है।

हम 'सीखने' के विषय में अगले अध्यायों में विवेचन करेंगे। यहाँ संक्षेप में अन्य तीन खण्डों के विषय में अध्ययन करेंगे।

धारणा (Retention)

'स्मृति' बहुत बड़ी मात्रा में धारण करने की शक्ति पर निर्भर रहती है। किसी चीज को सीखने के पश्चात्, इसे मस्तिष्क में धारण कर लिया जाता है। धारण करने की शक्ति विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न होती है। ऐसा कहा जाता है कि यह

११ वर्ष की उम्र तक बड़ी तेजी से विकसित होती रहती है, और बढ़ने की यह क्र १६ वर्ष तक अनवरत क्रम से रहती है, और इसके पश्चात् सबसे अधिक २२ की आयु पर पहुँचकर यह शिथिल पड़नी आरम्भ होने लगती है। इसके पश्च इसकी वृद्धि नहीं होती।

प्रायः यह प्रश्न उठता है कि—जो कुछ भी सीखा जाता है, उसे धारण कि प्रकार किया जाय? शरीरशास्त्र की दृष्टि से जब किसी पाठ या अन्य वस्तु को सी जाता है, तब मस्तिष्क की उस चेतनता के कुछ रण शेष रह जाते हैं और वे फी मस्तिष्क पर भी, सरचनात्मक रूपान्तर के रूप में, जो कि शरीर सम्बन्धी अवस कहलाती है, कुछ निशान छोड़ देते हैं। धारण करने की शक्ति अनवरत क्रिया न हो सकती, परन्तु मस्तिष्क की संरचना का रूपान्तर है (modification in th brain structure) जो कि स्मृति-चिह्न कहलाता है। इन स्मृति-चिह्नों की प्रकृति क पता नहीं लग पाया है, क्योंकि इनका कोई भी सीधा परीक्षण संभव नहीं। जब त ये चिह्न हमारे मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं, हम किसी वस्तु को स्मरण कर सकते हैं, पर जैसे ही ये लुप्त हो जाते हैं, हम उसे भूल जाते हैं। इस विचार से लगभग सभी मनोवैज्ञानिक सहमत हैं। परन्तु मनोविश्लेषणवादी इस विचार को नहीं मानते। वे कहते हैं कि किसी भी वस्तु को, जिसे कि सीखा गया है, पूर्णरूपेण कभी नहीं भुलाया जा सकता। स्मृति-चिह्न खो नहीं जाते, वरन् उनको अचेतन मस्तिष्क में फेंक दिया जाता है जहाँ से वे चेतन मस्तिष्क में कभी नहीं आ सकते। किसी वस्तु भूल जाने का यही कारण है, परन्तु सम्मोहन (hypnotism) की अवस्था में वे वहाँ से दुबारा बुलाये जा सकते हैं।

इस प्रकार धारण करने की शक्ति (क) मस्तिष्क (mind), (ख) स्वास्थ्य (health), (ग) रुचि (interest), और (घ) विचार तथा तर्क (thinking and reasoning) पर निर्भर रहती है।

(क) मस्तिष्क—विभिन्न प्रकार के मनुष्यों में धारण करने की शक्ति के विषय में व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती हैं। कुछ का मस्तिष्क स्मृति-चिह्नों को बड़ी आसानी से ग्रहण कर लेता है, परन्तु बहुत-से अन्य लोग ऐसा करने में असमर्थ रहते हैं। जो मनुष्य स्मृति-चिह्नों को बड़ी आसानी से प्राप्त कर लेते हैं, वे दूसरों की अपेक्षा बड़ी आसानी से उन्हें धारण भी कर लेते हैं।

(ख) स्वास्थ्य—यदि एक बालक का स्वास्थ्य खराब है तो उसकी धारण-शक्ति कम हो जाती है। एक बालक जिसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, किसी चीज को आसानी से धारण करने योग्य नहीं हो सकता। उस समय जबकि हम थकानरहित हैं, थके होने के समय की अपेक्षा किसी वस्तु को अधिक सीख सकते हैं। इसी कारण सुबह के समय याद किया हुआ पाठ शाम के समय याद किये हुए पाठ की अपेक्षा अधिक स्मरण रहेगा।

(ग) रुचि—जिस घटना या अनुभव में आप रुचि रखते हैं, उसे स्मरण रखते हैं लेकिन जिस पाठ मे आप अरुचि लेते हैं, उसे अच्छी तरह सीख नहीं सकते। इस प्रकार उचित धारण-शक्ति के लिए अध्यापक को बालक की रुचि के प्रति ध्यान रखना चाहिए।

(घ) विचार तथा तर्क—धारण-शक्ति के अन्तर्गत विचार का उतना ही महत्त्व है, जितना कि रुचि का। जब हम किसी समस्या पर विचार करते हैं, तो हम उसे अच्छी तरह सीख लेते हैं, और वह हमारे मस्तिष्क द्वारा अच्छी प्रकार धारण कर ली जाती है।

धारण-शक्ति के प्रमाण—धारण-शक्ति को तीन विधियों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है—(क) जब हम किसी परीक्षा को दे रहे हैं, तो हम पाठ के मुख्य तत्त्वों का स्मरण करते हैं। जब लेख (निबन्ध) के प्रकार की परीक्षा (essay type examination) मे कोई प्रश्न पूछा जाता है तो तुरन्त ही एक प्रकार का उत्तेजक बहुत जल्दी सीखे हुए उत्तर का स्मरण कराता है। लेकिन यह स्मरण करने की क्रिया उसी समय सम्भव है जब मस्तिष्क के अन्दर उस पाठ को धारण कर लिया गया हो। (ख) सत्य-मिथ्या (झूठ) की परीक्षा (true-false tests) में हमसे उन उत्तरों के सामने 'स' लिखने के लिए कहा जाता है, जो सही हैं और 'म' उनके सामने जो मिथ्या हैं। इसे करते हुए, हम सीखे हुए पाठ से लिये गये विवरण को पहिचानते हैं और उन विवरणों में से जो कि पाठ के अन्दर नहीं हैं, उनको अलग करते हैं। यह पहिचानने का कार्य तभी तक सम्भव है, जब तक कि सीखा गया पाठ मस्तिष्क के अन्दर धारण किया हुआ है। और अन्त मे (ग) किसी पुस्तक के अंश को, जिसे बिलकुल भुला दिया गया है, दुबारा सीखने मे हम समय को बचत करते हैं। समय की यह बचत केवल इसी आधार पर कि जो कुछ भी सीखा गया है, मस्तिष्क के अन्दर किसी-न-किसी रूप में धारण कर लिया गया है, व्यक्त की जा सकती है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि धारण-शक्ति मनुष्य के अन्दर अपने स्थान का निर्धारण करती है।

पुनर्स्मरण (Recall)

पुनर्स्मरण उन अनुभवों की मानसिक चेतना-प्राप्ति है, जिन्हें कि सीखा जा चुका है। यह धारण-शक्ति पर निर्भर रहता है। यह स्मृति-चिन्हों का याद करना होता है। यदि किसी वस्तु को अच्छी तरह सीखा गया है और उचित रूप से धारण कर लिया गया है, तो इसे बड़ी आसानी से स्मरण किया जा सकता है परन्तु प्रायः ऐसा भी होता है कि जिस विचार को पूर्णतः अच्छी प्रकार से धारण कर लिया गया है, किसी विशेष समय पर उसे स्मरण करना सम्भव नहीं होता। ऐसा कभी-कभी संवेगात्मक तनाव की वजह से होता है। उदाहरणार्थ—यदि एक बच्चा अध्यापक से डरता है, तो वह किसी भी प्रकार अपने पाठ को अच्छी तरह सीख तो लेता है लेकिन जब अध्यापक इस पाठ के विषय में कक्षा के अन्दर कोई प्रश्न पूछता है तो वह उसे पुनर्स्मरण करने मे असमर्थ रहता है। कभी-कभी परीक्षा के मध्य हम सम्पूर्ण उत्तर

को पुनस्मरण करने में असमर्थ रहते हैं, यद्यपि हमारा मस्तिष्क सदैव इस बात कहता रहता है कि हम इस उत्तर को जिसे कि हमने सीखा है, अच्छी तरह जा हैं। यह सब परीक्षा से आतंकित होने की वजह से है।

पुनस्मरण दो प्रकार का होता है—(i) स्वभावोत्पन्न (Spontaneous), और (ii) विमर्शपूर्ण (Deliberate)। स्वभावोत्पन्न पुनस्मरण, ख्याली पुलाव (reverie की स्थिति में, जब हम अपने विचारों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर देते हैं, देखा जा सकता है। सोने के समय या खाना खाने के पश्चात् हम ऐसे प्रत्ययों (ideas) और विचारों से भर जाते हैं जो भूतकाल के अनुभवों से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार ऐसा पुनस्मरण जिसके लिए हमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, स्वभावोत्पन्न कहलाता है। ऐसा पुनस्मरण, जिसके अन्तर्गत हमें अनुभव इत्यादि को याद रखने के लि चैतन्य होकर प्रयास करना पड़ता है, विमर्शपूर्ण पुनस्मरण कहलाता है। परीक्षा के समय जब हम किसी प्रश्न के उत्तर को स्मरण करने के लिए प्रयास करते हैं तो वह विमर्शपूर्ण पुनस्मरण होता है।

पुनस्मरण प्रत्ययों के सम्बन्ध (association of ideas) पर भी अवलम्बित रहता है। यहाँ हम इस बात पर विचार करेंगे कि उपरोक्त कथन से हमारा क्या तात्पर्य है।

प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध (Association of Ideas)

यह प्रत्ययों के परस्पर सम्बन्ध पर ही आधारित है कि हम इस बात को व्यक्त कर सकते हैं कि हमारा एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय को क्यों स्थान देता है और *वह दूसरा प्रत्यय किसी तीसरे को। जब हम तुलसीदास के नाम को स्मरण करते हैं,* तो हमें तुरन्त ही रामायण का स्मरण हो आता है या जब हम ताजमहल के विषय में चर्चा करते हैं तो हमें यह स्मरण हो आता है कि वह संगमरमर का बना हुआ है। यह इसी तथ्य की वजह से है कि ये प्रत्यय एक-दूसरे से दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध रहते हैं। जब हम ताज के विषय में बात करते हैं, तो उस संगमरमर की चर्चा भी चलाते हैं *जिसका यह बना हुआ है और जब कभी भी भविष्य में ताज का नाम हमारे* सम्मुख आता है, हमे तुरन्त ही संगमरमर का स्मरण हो आता है। इसी प्रकार वह विचार भी जो दूसरे के विरुद्ध है, स्मरण करने से हमारे मस्तिष्क में उभर आता है। उदाहरण के लिए, किसी बहुत लम्बे आदमी को देखकर हमें एक छोटे कद के आदमी का स्मरण हो आता है।

प्रत्ययों के सम्मेलन पर नियंत्रण रखने वाले बहुत-से नियम हैं। उन सब में (i) समानता का नियम (The Law of Similarity), (ii) विपरीतता का नियम (The Law of Contrast), (iii) सहचारिता का नियम (*The Law of Contiguity*) प्रमुख हैं।

(i) समानता का नियम—यह नियम इस बात की व्याख्या करता है कि किसी एक वस्तु को देखकर हमें उसी के अनुरूप दूसरी वस्तु का स्मरण क्यों हो आता

है ? उदाहरणार्थ—एक भाई का चेहरा देखकर, जो उसके दूसरे भाई के लगभग अनुरूप-सा है, उसे अपने मस्तिष्क में स्मरण कर लेने के पश्चात्, आप उससे पूछते हैं—"क्या आप अमुक व्यक्ति के भाई हैं ?" या "आपका भाई कहाँ है ?"

(ii) विपरीतता का नियम—जिस प्रकार समान वस्तुएँ हमें एक-दूसरे का ध्यान दिलाती हैं, उसी प्रकार वे वस्तुएँ भी जो एक-दूसरे के विपरीत हैं, हमें एक वस्तु का स्मरण कराती हैं, जबकि दूसरी हमारे सम्मुख है। उदाहरणार्थ—किसी सफेद वस्तु को देखकर हमें एक काली वस्तु का स्मरण हो आता है। एक सुन्दर चेहरे को देखकर हमें एक कुरूप चेहरे का स्मरण आ आता है।

(iii) सहचारिता का नियम—जब हम दो अनुभवों को एक साथ ही या एक दूसरे के अत्यन्त समीप प्राप्त करते हैं तो एक का ध्यान करने से हमें दूसरा स्मरण हो आता है। इसका कारण अनुभवों का सामीप्य है। यह 'प्राप्ति' समय या स्थान के अन्दर अनुभवों की समीपता के कारण होती है। उदाहरणार्थ जब कभी मैं ताज को जाता हूँ, मैं एक चपरासी विशेष दरवाजे पर खड़ा हुआ पाता हूँ। अतः जब-जब भी मुझे ताज का ध्यान दिलाया जायगा, मुझे वह चपरासी स्मरण हो जायगा। जब भी मैं ताज को जाता हूँ—मैं उसे देखता हूँ, और इस प्रकार ये दोनों वस्तुएँ एक साथ ही एक विशेष स्थान पर प्राप्त होने के कारण मेरे मस्तिष्क में सम्मिलित हो जाती हैं। यही कारण है कि एक वस्तु दूसरी का स्मरण कराती है।

आप इस बात का निरीक्षण करते हैं कि १० बजे मिस्टर एक्स रोज दफ्तर के लिए जाते हैं। जिस दिन १० बजे आप उन्हें जाता नहीं देखेंगे, आपको तुरन्त उनका ध्यान हो जायगा। यह सब इसी सम्पर्कता की वजह से है, जो मिस्टर एक्स और समय-विशेष के मध्य स्थापित हो गई है।

एक मनोवैज्ञानिक का कथन है कि समानता और समीपता के दो नियम ही आवश्यक हैं। विपरीतता का नियम तो समानता के नियम के अन्दर ही निहित रहता है। अतः इस प्रकार उसे अलग नियम नहीं समझना चाहिए। उपर्युक्त तीन महत्त्वपूर्ण नियमों के अतिरिक्त, अन्य भी बहुत से नियम हैं जो सम्मेलन की दृढ़ताओं को शक्ति प्रदान करने और परिणामतः स्मरण करने की क्रिया को विकसित करने के उत्तरदायी हैं। वे निम्नलिखित हैं—

नवीनता का नियम (The Law of Recency)—"एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय का, जिसके साथ वह अत्यन्त नवीन रूप से सम्बन्धित रहता है, स्मरण कराता है।" 'उपन्यास' शब्द हमें एक ऐसे विशेष उपन्यास का ध्यान दिलाता है, जिसे हमने अभी हाल में ही पढ़ा है।

आवृत्ति का नियम (The Law of Frequency)—"एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय को जिसके साथ वह भूतकाल में बहुधा बार-बार सम्बन्धित रहता है,

स्मरण कराता है।" दूध सफेद दिखाई पड़ता है, अतः जितनी बार भी हम दूध के विषय में ध्यान करते हैं, हमें इसके सफेदपन का स्मरण हो आता है।

प्राथमिकता का नियम (The Law of Primacy)—प्राथमिक प्रभाव तथा सम्मेलन लम्बी अवधि तक दृढ़ रहते हैं और उन्हें आसानी से स्मरण किया जा सकता है। हम विद्यालय या कॉलेज के पहले दिन को अच्छी तरह याद रखते हैं और उसे आसानी से स्मरण कर सकते हैं।

रुचि की तीव्रता या सजीवता का नियम (The Law of Vividness of The Intensity of Interest)—अधिक स्पष्ट प्रभाव या समा-संगम अपने महात्म्य को अधिक सजीव रखता है और अत्यन्त आसानी से इसे स्मरण किया जा सकता है। मुझे अब तक बहुत-से विद्यार्थियों के साथ महात्मा गांधी से हुई मुलाकात का, जबकि वे आगरा से होकर गुजर रहे थे, अच्छी तरह स्मरण है, यद्यपि इसे बहुत समय गुजर चुका है। इसका एकमात्र कारण प्रभाव की सजीवता और रुचि की तीव्रता है, जिसको हमने 'राष्ट्रपिता' के साथ हुई एक ही मुलाकात में अनुभव किया।

इन नियमों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसे किस समय-विशेष पर सक्रिय होते हैं। मानसिक प्रकृति जटिल है, इसलिये यह आसान कार्य नहीं कि हम एक विशेष निष्कर्ष का चुनाव कर लें जो यह बता सके कि इन परिस्थितियों में ये नियम लागू होते हैं। प्रायः एक समय में इनमें से बहुत-से सक्रिय हो सकते हैं।

पहिचानना (Recognition)

पहिचानना—उस वस्तु या उद्देश्य का जानना होता है जिसे कि पूर्व में ही धारण कर लिया गया है। पहिचानने में एक प्रकार की चेतनता होती है जिसके द्वारा जिस चीज को पहले जाना जा चुका है, उसे फिर जान लिया जाता है। पहिचानना सामान्य की अनिर्दिष्ट भावना के रूप में हो सकता है, किसी वस्तु को देखकर आपके मन में यह विचार उठता है कि आपने इस वस्तु को कहीं देखा है और इसे जाना है; या पहिचानना किसी वस्तु का पूर्व-निश्चित परिचय मात्र हो सकता है। आप किसी व्यक्ति से मिलते हैं और अपने एक गहरे दोस्त की तरह उसे पहिचानते हैं। मैकडूगल 'उपलक्षित' (implicit) तथा 'स्पष्ट' (explicit) पहिचानने में अन्तर बताता है। उपलक्षित मौलिक होता है क्योंकि यह निम्नवर्गीय प्राणियों की मानसिक क्रियाओं, दशाओं को विशिष्टता प्रदान करता है। स्पष्ट पहिचानना मानसिक उत्पत्ति की उच्च श्रेणी को प्रस्तुत करता है, क्योंकि यह उच्चवर्गीय प्राणियों की मानसिक क्रियाओं को विशिष्ट बनाता है।

पहिचानने और स्मरण करने की दोनों प्रवृत्तियों में भिन्नता है। पहिचानने के अन्तर्गत प्रस्तुत अनुभव के अन्त-बोध द्वारा उद्देश्य की सहायता मिलती है, पर स्मरण करने में नहीं। पहिचानना किसी वर्तमान वस्तु का स्मरण करना तथा जब उसे

पहले इस वस्तु को कहीं देखा है, पूरी तरह समझना होता है। खूब अच्छी तरह पहिचानना, पूर्व- बोधों की परिस्थितियों के स्मरण करने को, अन्तर्भूत करता है।

अनुरूपता की भावना पहिचानने की शक्ति का अवलम्बन है और पहिचानने के कार्य में एक आवश्यक भाग लेती है। लेकिन इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि अनुरूपता की इस भावना की अपेक्षा पहचानने का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि पहचानी हुई वस्तु को हमारे भूत-अनुभव के अन्दर स्थापित नहीं कर दिया जाता।

स्मृति के प्रकार
(Kind of Memory)

बर्गसन (Bergson) के अनुसार, स्मृति दो प्रकार की होती है : (१) वास्तविक स्मृति (true memory), और (२) आदतजन्य स्मृति (habit memory)। आदतजन्य स्मृति केवल रटी हुई वस्तुओं पर अवलम्बित होती है और वास्तविक स्मृति अनायास-स्मरणों पर निर्भर रहती है। इसके अन्तर्गत भूत-स्थितियों की मानसिक तस्वीरें या प्रतिबिम्ब आते हैं, जबकि आदतजन्य स्मृति में इनके लिये कोई स्थान नहीं होता। यह रटने के द्वारा किसी वस्तु को सीखना मात्र होती है, इसीलिये आदतजन्य स्मृति बहुत-से अवसरों पर रटने की स्मृति कहलाती है।

बर्गसन ने इस विभेद का निर्माण करने में यह विचार किया है कि आदतजन्य स्मृति शारीरिक तथा वास्तविक स्मृति मानसिक प्रवृत्ति होती है। आदतजन्य स्मृति यान्त्रिक होती है। यह वह स्मृति है जिसका विकास समान वस्तु को प्रत्येक बार दुहराने से होता है, और इस प्रकार यह वस्तु इतनी अच्छी तरह याद हो जाती है कि इसका पुनर्स्मरण बिना किसी प्रयास के किया जा सकता है। इस प्रकार की स्मृति बौद्धिक योजना से सम्बन्धित नहीं होती। सूझ और समझने के लिए इसके अन्तर्गत कोई स्थान नहीं होता। यांत्रिक पुनरावृत्ति बिना समझने के सक्रिय होती है। इस प्रकार की स्मृति के उदाहरण—अंकगणित के रूप की अनुक्रमणिका का सीखना, कविताओं का हार्दिक सीखना या गद्य की किताबों की पूर्ण रूप से पुनरावृत्ति मात्र, हैं। इस प्रकार की स्मृति पर प्राचीन समय में बहुत बल दिया जाता था। परन्तु आजकल यद्यपि इसकी कुछ उपयोगिताएँ 'सीखने' के अन्तर्गत हैं, फिर भी इसको कम महत्त्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ—वाद-विवाद या व्याख्यान में इस प्रकार की स्मृति बहुत सहायक होती है। एक बालक ने यदि पूर्णरूप से वाद-विवाद प्रतियोगिता के लिए निश्चित विषयों को याद कर लिया है, तो वह प्रतियोगिता के समय बड़ी आसानी से बिना किसी हिचकिचाहट के बोलता चला जायगा। इस प्रकार की स्मृति समय की बचत करती है क्योंकि कोई वस्तु, जिसे रटने के द्वारा पूर्णरूपेण सीख लिया गया है, बड़ी आसानी से पुनर्स्मरण की जा सकती है। परन्तु इसकी उपयोगिता

गोमित है । यह विशिष्ट होती है और मस्तिष्क के विकास में सहायक नहीं होती। इसका प्रयोग उस समय उपयोगी हो सकता है जबकि जिस वस्तु को सीखा गया है, उसको समझ कर रटा जाये ।

दूसरी ओर प्रतिमा-संयुक्त स्मृति, जो कि वास्तविक स्मृति कहलाती है, इस प्रकार की स्मृति है, जिसका महान् उपयोग है । यह यांत्रिक पुनरावृत्ति मात्र नहीं होती । इस प्रकार की स्मृति का विकास करने के लिए सम्मेलन के नियमों (Laws of Association) का उपयोग किया जाता है । मस्तिष्क में स्मृति-चिह्नों का निर्माण होता है और ये इसे स्थायी बना देते हैं । इस प्रकार की स्मृति में रुचि का अंश बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लेता है ।

इस प्रकार का विभाजन अधिकांश मनोवैज्ञानिकों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है । पर नॅन (Nunn) महोदय इसका विरोध करते हैं । वह कहते हैं कि बर्गसन का विभाजन शरीर और मन को पृथक् करता है । वह कहते हैं—"बर्गसन के दृष्टि-कोण के अनुसार यांत्रिक सम्मेलन शारीरिक है, यह विशेषतया नाड़ीमण्डल के प्रभाव के कारण है, जबकि वास्तविक स्मृति आत्मिक शक्तियों की क्रियाशीलता है जो कि इस यांत्रिकता को अपने उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाती है ।" इसका तात्पर्य है कि "यांत्रिक सम्मेलन 'मृतक शरीर' से सम्बन्धित होता है जबकि वास्तविक स्मृति 'मृतक-शरीर' में निहित प्रेत से संयुक्त होती है ।" उसके अनुसार यह स्थिति और मन को पृथक् करती है, और इस प्रकार इस दृष्टिकोण से वह सहमत नहीं है । इस दृष्टि-कोण के सम्बन्ध में रॉस महोदय निर्देश करते हैं कि इन दोनों प्रकार की स्मृति में भिन्नता उनकी स्थिति मात्र में है, न कि उनके प्रकार में । जब हम किसी वस्तु को रटने के द्वारा याद कर रहे हैं, तब भी हम वास्तविक सीखने को स्मरण रख सकते हैं और संभवतः ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी आदतजन्य स्मृति अपने प्रारम्भिक काल में प्रतिबिम्ब रहित नहीं होती ।

तात्कालिक तथा अधिक समय तक अनवरत रहने वाली स्मृति (Immediate and Prolonged Memory)

तात्कालिक स्मृति तथा अधिक समय तक स्थिर रहने वाली स्मृति (जो कभी-कभी स्थायी स्मृति भी कहलाती है) में स्मृति का एक दूसरा विभेद भी किया जा सकता है । तात्कालिक स्मृति के विषय में कहा जाता है कि यह उम्र के साथ विकसित होती है । मेनमर्न (Menmarn) ने पता लगाया कि किशोरावस्था के अन्तर्गत, जैसे अधिकांशतः १३ या १७ वर्ष के मध्य में तात्कालिक स्मृति का विकास बड़ी तेजी से होता है । एक व्यक्ति में २२ वर्ष की उम्र पर इस स्मृति का विकास पूर्ण हो जाता है । तत्कालिक स्मृति से तात्पर्य किसी वस्तु को सीखने के पश्चात् तुरन्त ही उसकी प्रतिलिपि बनाने से है और स्थायी स्मृति का तात्पर्य निश्चित समय के व्यतीत होने के पश्चात् पदार्थ की प्रतिलिपि बनाना है । तात्कालिक स्मृति का

परीक्षण उन शब्दों या आकृतियों की शृंखलाओं से किया जा सकता है, जो कि परीक्षण की बिने प्रकार (Binet Type) में प्रयोग किये जाते हैं, उदाहरणार्थ—

२ ६ ४
३ ८ २ ५
[illegible] ७ ४ ८ ६
१ ५ ७ ९ ३ ४
२ ८ ७ १ ९ ५ ३

ऐसा देखा गया है कि बालक को ४ संख्याओं की पढ़ाई हुई प्रतिलिपि ५ वर्ष की आयु वाले औसत शिष्यों के उत्तम परीक्षण की प्रमाण है। ५ संख्या वाली ९ वर्ष की आयु वालों तथा ७ संख्या वाली ११ तथा १२ वर्ष की आयु के बालकों के लिए उचित है।

इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि विभिन्न व्यक्तियों का कार्य-सम्पादन भिन्न-भिन्न होता है। एक बालक तात्कालिक स्मृति में अशक्त हो सकता है, परन्तु स्थायी स्मृति के दृष्टकोण से उसकी बुद्धि में सबलता हो सकती है। दूसरी तरफ एक बालक किसी सीखी हुई वस्तु को समय की अधिक अवधि तक स्मरण रखने में असफल हो सकता है जबकि तत्काल ही उस वस्तु की प्रतिलिपि वह बड़ी आसानी से बना सकता है। यही कारण है कि कुछ लड़के परीक्षा से ठीक पूर्व एक ही दिन व रात में पढ़कर परीक्षा अच्छी प्रकार देते हैं। दूसरी ओर बहुत से ऐसे लड़के हैं जो इस प्रकार पढ़ने से बड़ी बुरी तरह असफल होते हैं। उन्हें सीखने के लिए समय की लम्बी अवधि की आवश्यकता होती है।

अच्छी स्मृति के लक्षण (Marks of Good Memory)

अच्छी स्मृति के बहुत-से लक्षण हैं। उनमें से कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, जो निम्न हैं—

(१) अच्छी धारण-शक्ति—यदि एक बालक अपने पाठ को बहुत समय तक स्मरण रख सकता है तो वह उस बालक की अपेक्षा जिसकी धारण-शक्ति कम है, अधिक बुद्धिमान समझा जायगा। इसका तात्पर्य यह है कि बालक को अच्छी स्थायी स्मृति रखनी चाहिये। इस प्रकार का बालक परीक्षा में अच्छी तरह उत्तीर्ण होगा।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि धारण-शक्ति तथा तात्कालिक स्मृति में महान् व्यक्तिगत भिन्नतायें होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि हम एक प्रयोग को ९ वर्ष की आयु वाले एक सहस्र लड़कों के मध्य करें जिसमें कुछ अंकों को पढ़ा जाये तो बहुमत उनमें से ६ अंकों की प्रतिलिपि बनाने के योग्य होगा, कुछ बच्चे तो उनमें से केवल ३ अंकों की प्रतिलिपि बनाने के योग्य होंगे जबकि कुछ ९ अंकों की प्रतिलिपि बना लेंगे। विद्यार्थियों के एक समुदाय में यह पाया गया है कि निरर्थक शब्दों की एक शृंखला को एक तेज सीखने वाला ८ बार में याद कर सकता है जबकि मन्द सीखने तथा याद करने वाला इसको ३७ बार में याद करेगा।

(२) शीघ्र पुनर्स्मरण—अच्छी स्मृति का दूसरा लक्षण अति शीघ्र पुनर्स्मरण है। यदि आप एक वस्तु को बड़ी शीघ्र पुनर्स्मरण कर सकते हैं, तो आप एक घटना या अनुभव को भी बड़ी अच्छी प्रकार समझने के योग्य हो जायेंगे। एक अध्यापक जिसका पुनर्स्मरण अच्छा है, व्याख्यान देने में सदैव फलीभूत होगा।

(३) शीघ्र पहचानना—शीघ्र पुनर्स्मरण ही पर्याप्त नहीं, शीघ्र पहचानना भी उसके लिए आवश्यक है। जब तक आप उस विचार को, जिसका कि आपके मस्तिष्क मे पुनर्स्मरण कर लिया गया है, पहचान नहीं लेते, आप स्थिति की अच्छी तरह जानकारी प्राप्त नहीं करते तो उस कार्य के करने में असफल होंगे। उदाहरणार्थ—परीक्षा के समय एक प्रश्न का उत्तर देने के लिए आपके मस्तिष्क में बहुत से उत्तर आते हैं, जब तक आप इस बात को नहीं पहचान लेंगे कि कौन-सा विचार उचित है, आप ठीक उत्तर लिखने में असफल रहेंगे।

(४) स्पष्ट पहचानना—चौथा लक्षण तीसरे से सम्बन्धित-सा है। एक विचार का स्पष्ट पहचानना उतना ही आवश्यक है जितना कि उसका अति शीघ्र पहचानना। एक मनुष्य को उचित तथा आवश्यक वस्तुओं का स्मरण रखना चाहिए।

स्मरण करने के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ[1]

(१) रुचि—अच्छी प्रकार स्मरण करने के लिए वस्तु या लक्ष्य के प्रति रुचि का होना आवश्यक है। अतः बालकों को सावधानी से और विषय को रुचिकर बनाकर पढ़ाना चाहिए।

(२) प्रेरणा—सीखने मे प्रेरणा का होना भी आवश्यक है। प्रेरणा रुचि का जनन करती है। इस प्रकार स्मरण में प्रेरणा उचित स्थिति को उत्पन्न करती है।

(३) सम्बद्धता—सम्बद्धता के नियमो द्वारा स्मृति को बढ़ाना चाहिए। यदि सम्बद्धता पर उचित ध्यान दिया गया तो पुनर्स्मरण सुगमतर हो जायगा।

(४) सीखना—स्मृति को सुन्दर व शक्तिशाली बनाने के लिए सीखने की उपयुक्त विधियों को अपनाना चाहिए। इन विधियों में से कुछ का विवेचन हम बाद में करेंगे।

(५) मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य—अच्छी प्रकार सीखने के लिए अच्छे मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है—एक व्यक्ति जो थका हुआ तथा बीमार है, उस व्यक्ति की अपेक्षा कम स्मरण करेगा जिसका कि स्वास्थ्य अच्छा है।

(६) शान्तिपूर्ण वातावरण—अच्छी स्मृति के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण की भी आवश्यकता है। यदि वहाँ पर शोर तथा हलचल है तो स्मृति में बाधा पड़ जाती है। कार्य की अच्छी परिस्थितियाँ स्मरण करने में बहुत अधिक सहायक होती हैं।

[1] Favourable Conditions for Memorizing.

स्मरण करने की विधियाँ (Methods of Memorizing)

स्मरण करना एक मानसिक प्रवृत्ति है। यदि इसको उचित रूप से कार्यान्वित किया जाय तो समय और शक्ति—दोनों की बचत की जा सकती है। सीखने की निम्नलिखित विभिन्न विधियाँ हैं, जो कि स्मरण करने में लाघव और मितव्ययता के लिए उत्तरदायी हैं। यथा—

(१) समग्र तथा खंडशः सीखना (Whole & Part Method)—एक पाठ को या तो समग्र रूप से या खण्डों में याद किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि एक कविता को याद करना है, तो या तो उसे समग्र रूप से याद किया जा सकता है या तीन अथवा चार पंक्तियों को पहले याद करने के पश्चात् फिर आगे की तीन या चार पंक्तियाँ याद कर लें, और इसी प्रकार यह क्रम तब तक आगे बढ़ता है, जब तक कि कविता पूरी याद नहीं हो जाती। अब प्रश्न उठता है कि कौन-सी विधि उत्तम है ?

साधारणतया समग्र रूप से याद करने की विधि उत्तम समझी जाती है। इस दिशा में एवलिंग (Aveling) द्वारा किया गया प्रयोग ध्यान में रखने योग्य है। याद करने की दोनों विधियों द्वारा कविता की २४० पंक्तियों को याद कराने में एक तुलना की गयी। पहली विधि के अन्तर्गत प्रतिदिन एक ही बार में ३० पंक्तियों को याद किया जाता था। दूसरी विधि में एक दिन में तीन समयों पर २४० पंक्तियों का पढ़ना था। जब उन्हीं दो पद्य-खण्डों को भली-भाँति पढ़ा गया तो यह पाया गया है कि प्रथम विधि (खण्डशः सीखना) द्वारा याद करने के लिए १२ दिन (या ४३१ मिनट) लगते हैं, जबकि दूसरी विधि द्वारा केवल १० दिन (या ३४८ मिनट) याद करने के लिए अपेक्षित हैं। इस प्रकार सीखने का लगभग पाँचवाँ हिस्सा समग्र रूप से याद करने की विधि द्वारा बचत रूप में प्राप्त हो जाता है।

खण्डशः विधि के उपयुक्त न होने के बहुत-से कारण हैं—(क) क्योंकि खण्डशः विधि में कविता के भाव या गहराई याद करने तक पूर्ण स्पष्ट नहीं होते, जबकि समग्र-विधि में सभी भाव स्पष्ट होकर अर्थमय बन जाते हैं। (ख) क्योंकि खण्डशः विधि में खण्ड इकाइयों की तरह पृथक् से होते हैं और उन्हें एक साथ जोड़ने में कुछ कठिनाई हो सकती है। यही कारण है कि खण्डशः विधि में साधारणतः प्रत्येक खण्ड की कई बार पुनरावृत्ति करनी पड़ती है। इस प्रकार प्राप्त हुई सम्बद्धता प्रत्येक खण्ड के अन्त और उसी खण्ड के प्रारम्भ में होती है, जबकि यह वांछनीय है कि पहले खण्ड के अन्त तथा दूसरे खण्ड के प्रारम्भ में यह सम्बद्धता हो।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि समग्र विधि के अन्तर्गत त्रुटियों के लिए कोई स्थान नहीं होता। खण्डशः विधि कभी-कभी उस समय अत्यन्त लाभदायक होती है, जब याद करने वाला अनुभवहीन या आत्म विश्वासी न हो तथा याद किया जाने वाला विषय अनिपुण एवं कठिन हो। पिनर और स्निडर (Pyner & Synder)

द्वारा किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि समग्र रूप से याद करने वाली विधि २४० पंक्तियों वाली कविता के लिए अत्यन्त प्रभावकारी है। इससे लम्बी कविताओं को उचित लम्बाई की भागों में विभाजित कर उन-समग्र रूप या खण्डशः रूप से याद किया जा सकता है।

यह केवल पूर्ण रुचि के साथ याद करने में ही क्रियात्मक नहीं, वरन् यह सम्पूर्ण विधि लाभदायक है। पाठ्य-पुस्तक के अध्याय का अध्ययन करते हुए प्रायः यह अत्यन्त सुन्दर होता है, जबकि हम इसे बड़ी तेजी से पढ़ते हैं और विवरणों को पूर्ण ग्राह्य करने से पहले, मस्तिष्क के अन्दर साधारण रूप-रेखाओं का सृजन करते हैं। पूर्ण मन से याद करने में भी यही विचार कार्यान्वित होता है। तथ्यों को उस समय पूर्ण नियन्त्रित रखा जा सकता है, जब वे हमारे मस्तिष्क में पूर्व से ही अस्तित्व-पूर्ण कार्य रूपी साँचे की तरह ठीक हालत में हो जाते हैं।

(२) खण्ड-प्रगतिशील विधि या मध्यम विधि (Part-Progressive Method or Mediating Method)—याद करने की समग्र विधि विस्तृत एवं लम्बे विषयों में अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं होती, वरन् विषय के लम्बे होने तथा उसमें आने वाली विविध कठिनाइयों के कारण यह विधि अत्यन्त ही बोझिल और व्यर्थ-सी हो जाती है। यदि कुछ भाग जो दूसरों की अपेक्षा कठिन हैं, जैसे—जटिल अर्थ या असामान्य मुहावरे, तो पूरी कविता को याद करने के लिए उनकी बार-बार पुनरावृत्तियाँ करनी पड़ती हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए समग्र विधि में इस प्रकार से रूपान्तर लाना चाहिए कि कठिन शब्दों या मुहावरों को इनके प्रारम्भ करने के साथ ही हृदयंगम कर लिया जाये, और तब समग्र विधि का उपयोग किया जाये। यह विधि जिस प्रकार तर्कपूर्ण विषयों के लिए हितकारक है, उसी प्रकार विस्तृत शब्द-भण्डार वाले विषयों के लिए भी। यह पहले की तरह समग्र से खण्ड की ओर अग्रसर होती है, परन्तु अत्यन्त कठिन तथा उपस्थित खण्डों को अधिक ध्यान-पूर्वक पढ़ने पर बल देती है। वस्तुतः यह समग्र विधि ही है। अतएव याद करने वाले समग्र के प्रति खण्डों की सम्बद्धता रखना कभी नहीं भूलना चाहिए, और न उसे पूर्व से पश्चात् के निष्कर्ष की तरफ ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

समग्र विधि के अन्य दूसरे भी रूपान्तर हैं जो कभी-कभी निम्न नाम से पुकारे जाते हैं—

प्रगतिशील विधि (Progressive Method)—प्रगतिशील विधि के अन्तर्गत सम्पूर्ण कविता या पुस्तक के अंश को खण्डों की संख्या; जैसे—१, २, ३ ...इत्यादि, में विभाजित कर लिया जाता है। सर्वप्रथम पहले भाग को और फिर दूसरे को याद किया जाता है। इसके पश्चात् पहले तथा दूसरे, दोनों को एक साथ याद किया जाता है। फिर तीसरे भाग को याद करने के पश्चात्, तीनों को एक साथ याद किया जाता है।

लेकिन इस विधि के अन्तर्गत कुछ दोष भी हैं, वे हैं—(१) कुछ भागों की पुनरावृत्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक हो जाती है, (२) इससे समग्र विधि की अपेक्षा अधिक समय की आवश्यकता होती है। विंच (Winch) ने मालूम किया कि उन कविताओं के अतिरिक्त जिनमें विचारों की पूर्ण एकता है, समग्र विधि १२ वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए 'खण्ड सम्बन्धी विधि' से श्रेष्ठ नहीं है। उपर्युक्त आयु के बालकों व बालिकाओं के लिए प्रगतिशील विधि अत्यन्त लाभदायक है।

(३) पढ़कर सुनाने की विधि (Recitation Method)—अलापने की क्रिया मितव्ययय-स्मरण को सहायता प्रदान करती है। गेट्स ने १६ असंगत वार्तापूर्ण शब्दांशों और पाँच संक्षिप्त जीवनीयुक्त रेखाचित्रों, जिनमें लगभग १७० शब्द थे, के साथ एक प्रयोग किया। उसने दो साधारण विधियों का प्रयोग किया। पहली विधि में पुस्तक से बिना अपना सिर ऊपर उठाये हुए विषय को पढ़कर फिर दुबारा पढ़ना था। दूसरी विधि में बिना पुस्तक को देखे हुए उसका पुनर्स्मरण करना तथा उसे सुनाना था। इस प्रकार की प्रतिक्रिया उस विषय की तरह थी, जिसे याद किया गया है। गेट्स का कहना है कि—"शीघ्रातिशीघ्र उन प्रतिक्रियाओं का, जिनकी अन्तिम आवश्यकता होती है, अभ्यास करना मितव्ययता से याद करने के किसी भी स्वीकृत अन्य साधन से अच्छे परिणाम वाला होता है। इस प्रकार पढ़कर सुनाने की यह विधि पढ़ने या दुबारा पढ़ने की विधि की अपेक्षा अधिक उत्तम होती है।

इसके प्रमुख लाभ हैं—(अ) निर्बल सम्बन्धों को पहचान लेने के पश्चात् उन पर एकाग्रचित से सावधान केन्द्रित किया जाता है। (ब) पूर्ण करने की सामान्य भावना आगे के प्रयासों को तीव्रता प्रदान करती है। (स) गलत प्राथमिक प्रभावों की त्रुटियों को खोज लिया जाता है और उनकी स्थापना से पूर्व ही उन्हें हटा दिया जाता है। (द) चूँकि किसी भी विषय को याद करने का ध्येय—उसका उपयोग करना ही होता है, अतः प्रथम याद किया हुआ बाद में स्थानान्तरित अवश्य होना चाहिए।

प्रयोगात्मक परीक्षण बताता है कि अध्ययन के समय का $\frac{4}{5}$ भाग पढ़कर सुनाने के साथ लाभप्रद हो सकता है। इस बात को भी मालूम किया है कि अध्ययन को पढ़कर सुनाने की विधि—(क) तात्कालिक तथा विलम्बित पुनर्स्मरण; और (ख) तर्कयुक्त तथा असंगत वार्तापूर्ण—दोनों विषयों के लिए अति उत्तम है।

स्मरण करने की जो विधियाँ ऊपर बताई जा चुकी हैं, समयानुसार गद्य या पद्य के अंश को याद करने में प्रभावित करती हैं। इस प्रकार हम देख चुके हैं कि स्मरण करने की विधियाँ अपने को इस प्रश्न से मुक्त करने का प्रयास करती हैं कि किस प्रकार अध्ययन करें कि समय की मितव्ययता तथा (१) वस्तु के पूर्ण ज्ञान, और (२) जो कुछ भी सीखा गया है, उसको धारण कर लेने के प्रयास से किसी वस्तु को याद कर लिया जाय।

स्मृति में प्रगति (Improvement in Memory)

प्रायः मनोवैज्ञानिकों से इस प्रश्न को पूछा जाता है कि—क्या निर्बल स्मृति का विकास सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है। वह यह है कि इसके विकास की सम्भावनाएँ सीमित हैं। अतएव स्मृति उन विषयों के अतिरिक्त जहाँ पर सीखने या याद करने की त्रुटिपूर्ण विधियों का अनुकरण किया जाता है, प्राकृतिक खण्डों पर पूर्णतः अवलम्बित रहती है। "पुनस्मरण को आत्मसात् करने व चुनने का कार्य—दोनों ही उच्च कोटि की बुद्धिमत्ता से सम्बन्धित हैं, जबकि धारण-शक्ति केवल विश्लेषणात्मक स्थितियों पर अवलम्बित होती है, जिनको बदला नहीं जा सकता।" उपर्युक्त स्मरण करने की विधियों के अनुसार स्मृति का एक उच्च विस्तार के प्रति विकास सम्भव है।

यदि एक विद्यार्थी एकाग्रचित्त से अपना कार्य करता है तो स्मृति की प्रगति की जा सकती है। इस बात से कोई फायदा नहीं कि केवल किताब खोल ली और विचारों के इर्द-गिर्द पढ़ने बैठ गये। समय की कोई भी निश्चितता नहीं, कार्यक्रम का अनुसरण करते गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पढ़ने के लिये किसी-न-किसी योजना की आवश्यकता है, परन्तु ६ घण्टे बैठकर पढ़ने से—जबकि वास्तव में किसी प्रकार की एकाग्रचित्तता नहीं हो, ज्ञान की प्रगति में कोई लाभ नहीं होता। थोड़ी देर कार्य करना, परन्तु एकाग्रचित्त से सदैव उत्तम होता है।

स्मरण करने के लिये सीखने की क्रिया भी सक्रिय होनी चाहिए, निष्क्रिय नहीं। यह सदैव अच्छा होता है कि हम किसी निश्चित उद्देश्य के साथ अपने कार्य का प्रारम्भ करें। किसी निश्चित उद्देश्य के साथ हम उस समय की अपेक्षा जब हम निर्धारित समय के लिए कार्य करते हुए बैठे रहते हैं, अधिक स्मरण रखने के योग्य हो सकते हैं।

दूसरी वस्तु जो स्मृति के विकास के लिये आवश्यक है, उस सामग्री की अभिव्यक्ति है, जिसे हमें स्मरण करना है। अतएव विद्यार्थी को उस सामग्री को, जिसे कि वह पूर्णतः याद करना चाहता है, अच्छी तरह पढ़ना चाहिए और तब उसे उसके प्रमुख तथ्यों की प्रतिलिपि या लिखित सारांश को तैयार करना चाहिए, अथवा पूरी तरह याद करने के पश्चात् जो भी उसने पढ़ा है, उसके विषय में उसे स्वयं से प्रश्न पूछने चाहिये। ये सब वस्तुएँ एक व्यक्ति की स्मृति में वृद्धि नहीं कर सकतीं, परन्तु ये निश्चित रूप से उस व्यक्ति को इस योग्य बनायेंगी कि जो कुछ भी उसने सीखा है, उसका पूर्ण स्मरण कर सके।

स्मृति-विस्तार (Span of Memory)

किसी वस्तु को स्मरण करने के पश्चात् जितनी मात्रा में तुरन्त ही उसकी पुनरावृत्ति करने पर वह वस्तु पुनस्मरण की जा सकती है, वह एक व्यक्ति का स्मृति विस्तार कहलाता है। इस प्रकार की पुनरावृत्ति में सुनने का अंश उपस्थित रहे

होता। इसकी माप के लिए निरर्थक शब्दों की शृंखला का उपयोग किया जाता है, जिसे कर्त्ता को प्रदान करते हैं। एक बार पढने के ठीक पश्चात् कर्त्ता से कहा जाता है कि वह शृंखला की प्रतिलिपि बनाये। जितनी मात्रा में वह उसकी बिल्कुल सही प्रतिलिपि बना लेता है वही उस व्यक्ति का स्मृति-विस्तार होता है। यह स्थायी स्मृति से भिन्न, तात्कालिक स्मृति होती है, जिसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं।

विस्मृति : (*Forgetting*)

यह देखा जाता है कि हम किसी वस्तु को चाहे कितनी ही गहराई से क्यो न याद करें, उसे हम एक दिन अवश्य ही भूल जाते हैं। हम विस्मृति को जीवन का एक तथ्य मानते हैं। कोई भी इस बात से चिन्तित नही होता है कि वह अपनी जिन्दगी मे घटित हुई प्रत्येक घटना को याद नही रख पाता है। लेकिन मनोवैज्ञानिको के अनुसार विस्मृति की प्रकृति और उसके कारणों को जानना—सीखने की क्रिया के लिये परम आवश्यक है। इसलिये ही इस क्रिया के विस्तारों का पता लगाने के लिए अनेक अध्ययन व प्रयोग किये गये हैं। इनका प्रारम्भ इबिंघौस (Ebbinghaus) द्वारा १८५५ मे किया गया।

इबिंघौस का प्रयोग—इबिंघौस ने पता लगाया कि विस्मृति बहुत बड़े अंश मे याद करने की क्रिया के पूर्ण होने के ठीक पश्चात् ही प्रारम्भ हो जाती है। पहले आधे घण्टे मे याद की हुई वस्तु का आधा भाग, आठ घण्टो से लेकर एक दिन तक २/३ भाग लगभग ६ दिनों में ३/४ भाग, और एक महीने मे ४/५ भाग, विस्मरण हो जाता है। इसीलिये किसी पाठ को दोहराने का उचित समय याद करने के पश्चात् तुरन्त बाद ही है। परन्तु याद किये हुए पाठ का आदर्श दोहराना उस समय होता है जबकि वह प्रायः भूल जाने को है। इस प्रकार एक कविता के दोहराने का सबसे अच्छा समय आधे दिन के मध्यान्तर के पश्चात् फिर अगले दिन के पश्चात्, और फिर एक दिन के पश्चात् इसी क्रम मे बढ़ता हुआ है।

विस्मृति का रेखाचित्र
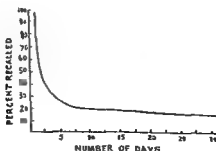
[चित्र—९३]

पीछे दिया गया विस्मृति का रेखाचित्र निरर्थक शब्दों के साथ याद करने के विषय में विस्मृति की दर को लगभग व्यक्त करता है। अर्थपूर्ण पदार्थों के साथ इसका रूप भिन्न होता है, एक कविता के याद करने में विस्मरण मन्द गति से होता है। परन्तु फिर भी इसकी तीव्रता याद करने के पश्चात् ही बहुत होती है। यह दूसरी बात है कि निरर्थक शब्दों की तुलना में यह तीव्रता कम होती है। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि रेखाचित्र पहले तेजी से नीचे गिरता है, फिर धीरे-धीरे गिरकर कम होने लगता है। यह कभी भी समय की रेखा को नहीं छू पाता। कुछ समय बाद यह समय की रेखा के समानान्तर चलने लगता है। रोडोसविजेविट्स (Rodossawjicwitch) ने पता लगाया कि ६ घण्टे बाद ४७% तथा पहले और दूसरे दिन पश्चात् क्रमशः ६८% तथा ६१% याद हुई वस्तु को ही याद रखा जाता है। बैलार्ड (Ballard) द्वारा एक परीक्षण में १९ विद्यार्थियों को 'लौस ऑफ रायल जार्ज' कविता याद करने को दी। याद करने के पश्चात् ही परीक्षा लेने पर तथा दो दिन का मध्यान्तर देने के बाद परीक्षा लेने पर यह देखा गया कि १५ परीक्षार्थियों ने दो दिन पश्चात् की परीक्षा में प्रगति दिखाई। इसका तात्पर्य यह है कि कुछ समय पश्चात् धारण-शक्ति उन्नतिशील हो जाती है। डॉ० बैलार्ड द्वारा बताया गया उसका कारण यह है कि स्मृति (Reminscene) और विस्मृति—दोनों ही एक-दूसरे के प्रभावों को निष्फल बनाते हुए आगे बढ़ती हैं। दो दिन पश्चात् की प्रगति वास्तविक रूप से याद रखने के पक्ष में है। डॉ० बैलार्ड ने यह भी किया कि दो दिन का मध्यान्तर एक दिन या तीन दिन की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील होता है। चार दिन के मध्यान्तर में किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं होती।

विस्मृति के कारण (Causes of Forgetting)

विस्मृति के बहुत से कारण हैं, जिनको हम निम्न श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) क्षीणता (fading), (२) रुकावट (blocking)।

(१) क्षीणता—यह हम पहले ही बता चुके हैं कि किसी वस्तु के स्मरण रखने में उसके स्मृति-चिह्न मस्तिष्क मे पैदा हो जाते हैं। विस्मृति का प्रमुख कारण स्मृति-चिह्नों का धीरे-धीरे मस्तिष्क मे से लुप्त हो जाना है। इसके विषय में वुडवर्थ कहता है कि यह सामान्य की ओर लौटने या क्षति की पूर्ति के लिए आरोग्य लाभ के समान है। एक स्मृति-चिह्न चाहे कितना ही पुनर्स्मरण को सक्रिय करने के लिये शिथिल हो, यह पहचानने की क्रिया के लिये पर्याप्त हो सकता है। परन्तु इसे सक्रिय न किया गया तो यह कुछ काल बाद इस प्रकार से लुप्त हो जायगा कि यह किसी भी प्रकार से सामान्य स्थिति में कोई भी चेतन अनुभव न दे पायेगा।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि कोई भी स्मृति-चिह्न पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हो पाता है। इस प्रकार का मत सिद्ध (प्रमाणित) नहीं किया जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि बहुत-से स्मृति-चिह्न, उस समय भी जब चेतन पुनर्स्मरण के योग्य न

भी है, मस्तिष्क से लुप्त नहीं हो जाते। इस बात की सत्यता किसी भूले हुए पाठ को दुबारा याद करने पर शीघ्र याद हो जाने के कारण निश्चित रूप से प्रमाणित की जा सकती है। हम एक कविता को पूर्ण रूप से याद कर लेते हैं। कुछ समय पश्चात् हम उसे बिल्कुल ही भूल जाते हैं। यदि हम इसी कविता को दुबारा याद करना चाहे तो हमें पता चलेगा कि इसे याद करने के लिये हमें उस कविता की अपेक्षा बहुत कम समय की आवश्यकता होगी, जिसको कि हमने कभी भी याद नहीं किया है।

(२) रुकावट—क्षीणता ही विस्मृति का मूल कारण नहीं होती वरन् विस्मृति का दूसरा कारण रुकावट भी है। उदाहरण के लिये, आपको रास्ते में कोई व्यक्ति मिलता है। आप उसका नाम याद करना चाहते हैं, जिसे आपने कुछ समय पहले ही याद किया था। परन्तु उस समय आप उसे याद नहीं कर पा रहे, क्योंकि आप उसे भूल चुके हैं। यह सब किसी प्रकार की रुकावट के कारण ही होता है, जो कि आपके स्मरण रखने की क्रिया मे उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार भूलने मे आपका स्मृति-चिह्न पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुआ है। कहने का मतलब यह है कि मस्तिष्क में स्मृति विद्यमान है, लेकिन कोई चीज ऐसी होती है कि जो बीच में ही आकर बाधा उपस्थित करती है और आप भूल जाते हैं। इस रुकावट के निम्नलिखित मुख्य कारण होते हैं—

(अ) अन्य समान स्मृतियों द्वारा बाधा उपस्थित करना—रुकावट वहीं पर होती है जहाँ एक प्रकार की दो स्मृतियाँ परस्पर टकराती हैं। उदाहरण के लिये, आप जिस नाम को याद करना चाहते हैं, वह 'व्रिजेश' है। लेकिन 'व्रिजेन्द्र' नाम आपके मस्तिष्क में आता रहेगा। परिणाम यह होगा कि आप सही नाम याद नहीं कर सकेंगे। आदतजन्य स्मृति मे भी इसी प्रकार की बात पायी जाती है। जैसे जब आप टेनिस के स्थान पर बैडमिण्टन खेलना आरम्भ करते हैं तो टेनिस खेलने की आपकी आदत बैड-मिण्टन खेलने में बाधा उत्पन्न कर देती है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब दो समान वस्तुएँ मस्तिष्क के अन्दर प्रविष्ट होती हैं तो उस वस्तु के अनुसार ही कार्य किया जाता है जो बराबर वर्तमान काल में दोहराई गयी है या पूर्वकाल मे उसका पूर्ण रुचि के साथ अभ्यास किया गया है।

जब स्मृतियों पर इस प्रकार के अवरोध होंगे तो याद करने की हमारी समस्त चेष्टाएँ व्यर्थ होंगी। उस समय हमें यह चाहिए कि हम याद करने की चेष्टा ही छोड़ दें और किसी दूसरे कार्य मे अपने आप को सलग्न कर लें। थोड़ी देर पश्चात् वह बात जो अवरोध के कारण अभी हम भूले हुए हैं, एकदम से हमें याद आ जायेगी। बहुधा यह ऐसे समय होता है जबकि हमें उसकी कोई आशा नहीं रहती।

(ब) प्रतिगामी निरोधन (Retro-active Inbibition)—रुकावट वैपरीत्य क्रिया-विरोध के कारण भी उपस्थित होती है। विस्मृति पर कई प्रयोग किये गये हैं, जिनसे पता चला कि विस्मृति उस समय सबसे कम होती है, जब सीखने के फौरन बाद मे एक ऐसा अवकाश दे दिया जाता है जिसमें मस्तिष्क क्रियाशील नहीं होता।

सीखने के फौरन बाद यदि कोई कार्य किया जाये तो स्मृति कम होगी। इसी कारण रात के समय दिन की अपेक्षा विस्मृति की मात्रा कम पायी जाती है। जब हम किसी बात को सीखने के बाद मस्तिष्क को दूसरे कार्य में लगा दें, जिससे कि वह क्रियाशील रहे, तब निश्चय है कि हमारे सीखने में अवश्य ही बाधा उपस्थित होगी। यह बाधा अधिक मात्रा में होगी, यदि दोनों के कार्यों में समानता है। यही सिद्धान्त प्रतिगामी निरोधन कहलाता है। यदि दो प्रतिज्ञाएँ एक के बाद एक की जाती हैं, तब पूर्व की प्रतिज्ञा बाद की प्रतिज्ञा का विरोध करती है। इस प्रकार यदि गद्य का एक भाग एक घण्टे में तथा दूसरा भाग दूसरे घण्टे में पढ़ाया जाता है, तब विस्मृति की अवस्था हो जाती है और दूसरे घण्टे में पढ़ाये हुए गद्य के दूसरे भाग को सीखना कठिन हो जाता है।

वैपरीत्य क्रिया-विरोध का कारण यह बताया जाता है कि मस्तिष्क में स्मृति-चिह्न धीरे-धीरे बनते हैं और जिस प्रकार पिघले हुए मोम के तल पर यदि कोई चिह्न बना दिया जाय और फिर किसी प्रकार की बाधा न पहुँचाई जाय, उसे मिटाये जाने का प्रयत्न किया जाय तो वह स्थायी हो जाता है—उसी प्रकार मस्तिष्क में स्मृति-चिह्न बिना बाधा के स्थायी हो जाते हैं। परन्तु यदि मोम के तल पर बने चिह्न पर मोम के जमने से पहले ही कोई अन्य चिह्न अंकित कर दिया जायेगा तो दोनों का रूप बिगड़ जायेगा। इसी प्रकार दो स्मृति-चिह्न एक-दूसरे को दूषित कर देंगे, यदि वे शीघ्रता से एक-दूसरे पर थोप दिये जायें। यद्यपि यह कारण काल्पनिक कहा जा सकता है लेकिन फिर भी कई प्रकार की चोट लगने पर स्मृति पर किये गये अध्ययन इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हमारा यह विचार सत्य है। उदाहरण के लिए, वुडवर्थ (Woodworth) एक नवयुवक का वर्णन करता है जिसके सिर में पेड़ से गिर जाने के कारण जोर की चोट लग जाती है और वो गिरने के कारण अचेत हो जाता है। यह व्यक्ति कुछ काल बाद इस दशा में आ जाता है कि वह घर पहुँचने लायक हो जाता है। परन्तु अर्द्ध-बेहोशी की दशा में वह घर पहुँचता है। जब वह पूर्ण रूप से ठीक हो जाता है तब उसे न तो चोट का ही ध्यान रहता है और न घर तक आने का, और गिरने से १५ मिनट पहले की घटनाओं का भी उसे ध्यान नहीं रहता। इसी प्रकार कई अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(ख) रुकावट के संवेगात्मक कारण (Emotional Causes of Blocking)—रुकावट के कारण प्रायः संवेगात्मक ही हुआ करते हैं, ज्ञानात्मक नहीं। भय, व्याकुलता अथवा उत्तेजना—स्मृति में बाधक होती हैं (हम इसके विषय में संवेगों के अध्याय में विस्तृत रूप से विचार कर चुके हैं)। बहुत-कुछ रुकावट निरोध-क्रिया (repression) के कारण होती है। निरोध-क्रिया के कारण ही हम एक बहुत अच्छी तरह जानी हुई बात को पुनः याद नहीं कर पाते। हमारा अचेतन मन शायद इस बात को पुनर्स्मरण नहीं करना चाहता है।

(द) साक्षी (Evidence)—यद्यपि हम इसे स्मृति के रुकावट के कारणों के अन्दर नहीं गिन सकते, तब भी हम इसे रुकावट के निकट-सम्बन्धी वस्तु के रूप में मानते हैं। हमने प्रायः अदालतों के अन्दर देखा है कि गवाह अपना सबूत पेश करता है—जो कि उसे पूर्ण विश्वसनीय दिखाई देता है। लेकिन निर्णयकर्ता के सामने यह प्रश्न होता है कि— क्या गवाह को सब कुछ घटना के सम्बन्ध में याद है, या वह कुछ भूल गया है जिसका जानना मुकदमे के सच्चे निर्णय के लिए आवश्यक है? गवाहों को यदि ईमानदार भी मान लिया जाय; फिर भी यह पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि वह सही बात ही कह रहे हैं या गवाह द्वारा दिये गये सबूत बिल्कुल सत्य हैं, क्योंकि गवाह का अचेतन मन बहुधा ऐसे तथ्यों को जोड़ या घटा देता है जो उसकी रुचि या आकांक्षा के अनुसार होते हैं। अतएव बहुधा वह अपने सबूत में ऐसे तत्व रख देता है जो सत्य नहीं होते। वे उसकी अपनी रुचि के कारण जोड़ दिये जाते हैं। इस प्रकार बहुत सा झूठा सबूत निर्णयकर्ता के समक्ष पहुँच जाता है, जिससे उसे निर्णय करने में बहुत कठिनाई होती है। पर इन सबका वास्तविक कारण यह होता है कि हम बहुत-कुछ वह भूल जाते हैं जो हमारी रुचि के अनुसार नहीं होता है, और वह सब याद रखते हैं जो हमारी रुचि, आकांक्षा इत्यादि के अनुसार होता है।

स्मृति-प्रतिमा (Memory Image)

जब कोई पूर्व-अनुभव इस प्रकार से पुनः स्मरण किया जाता है कि वह वास्तविक अनुभव के समान ही प्रतीत हो तो उसे स्मृति प्रतिमा कहते हैं, जैसे—कुछ दिनों पहले हम ताजमहल देखने गये और इस समय यदि स्पष्ट रूप से ताजमहल का चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाये और हम यह अनुभव करने लगें कि हम वास्तविक ताजमहल देख रहे हैं तो यह 'स्मृति-प्रतिमा' का ही उदाहरण होगा।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि स्मृति-प्रतिमा व्यक्तिगत भिन्नताएँ लिये होती है। कुछ व्यक्ति दृष्टि-सम्बन्धी प्रतिमा ही प्राप्त कर सकते हैं, कुछ ध्वनि-सम्बन्धी, और कुछ श्रवण-सम्बन्धी प्रतिमा ही प्राप्त कर पाते हैं। परन्तु अधिकतर व्यक्ति मिश्रित प्रकार के होते हैं जो कई प्रकार की प्रतिमाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

स्मृति-प्रतिमा के सम्बन्ध में एक बात और याद रखनी चाहिए, वह यह कि चाहे कितनी ही स्पष्ट स्मृति-प्रतिमा हो, वह सदैव वास्तविक अनुभव से निम्न प्रकार की होगी। हम इस प्रतिमा द्वारा किसी ऐसे प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते जिसकी ओर वास्तविक अनुभव के समय हमने ध्यान नहीं दिया है। यदि ताज की प्रतिमा प्राप्त होने पर हम यह प्रश्न करें कि—ताज के बीच में संगमरमर के चबूतरे पर चढ़ने के लिए कितनी सीढ़ी हैं? तो हम इस प्रश्न का उत्तर उस समय तक नहीं दे सकते, जब तक कि वास्तविक अनुभव के समय हमने उन्हें गिना न हो।

एक स्मृति-प्रतिमा वास्तविक अनुभव के काफी समय बाद पुनः स्मरण की जा सकती है, परन्तु एक प्राथमिक स्मृति-प्रतिमा (primary memory image) अनुभव के तुरन्त बाद हमारे सम्मुख आती है। परन्तु यह अनुसंवेदना (after-image) की

तरह नहीं होती—क्योंकि इसे हम अपने अवधान द्वारा मस्तिष्क में केन्द्रित रख सकते हैं, जबकि अनुसंवेदना को हम मस्तिष्क मे रोके नहीं रख सकते।

ईडेटिक प्रतिमा (Eidetic Image)—बहुत से बालक जो १४ वर्ष से छोटे हैं, किसी वस्तु को आधे मिनट देखने के पश्चात् जब वे अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं तो उस समय भी वे उस वस्तु को इस प्रकार देखते हैं जैसे वह उनके सम्मुख ही है। वे उस वस्तु के सम्बन्ध मे उन प्रश्नों का उत्तर भी दे सकते हैं जिनके सम्बन्ध में वास्तविक वस्तु को देखते समय उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया है। यह प्रतिमा फोटोग्राफ की तरह नहीं होती वरन् लचीली होती है जिसे बालक अपनी रुचि के अनुसार रूपान्तरित कर लेते हैं। इस प्रकार की प्रतिमाएँ जो स्पष्ट एवं विस्तारपूर्ण प्राथमिक प्रतिमाएँ हैं, 'ईडेटिक प्रतिमाएँ' कहलाती हैं। प्रौढ़ व्यक्ति ऐसी प्रतिमाएँ अनुभव नहीं करते हैं।

स्मृति की असामान्यताएँ (Abnormalities of Memory)

स्मृति की असामान्यताएँ तीन प्रकार की होती हैं। वे हैं—(१) स्मृति-ह्रास (amnesia), (२) तीव्र-स्मृति (hypermnesia), तथा (३) मिथ्या-स्मृति (paramnesia)।

(१) स्मृति-ह्रास (Amnesia)—उस व्यक्ति को हम स्मृति-ह्रास से पीड़ित कहेंगे जिसकी सम्पूर्ण स्मृति समाप्त हो जाती है। स्मृति-ह्रास पूर्णरूपेण या आंशिक हो सकता है। पूर्णरूपेण स्मृति-ह्रास में व्यक्ति पूर्ण रूप से अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं, विचार एवं प्रत्ययों को भूल जाता है। आंशिक स्मृति-ह्रास में केवल कुछ विशिष्ट क्रियाओं एवं विचारों को ही भूलता है, अन्य को नहीं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि व्यक्ति किन्हीं कारणों से अपने सम्बन्ध मे सब-कुछ भूल जाता है। वह विक्षिप्त दशा में हो जाता है। उसे याद नहीं रहता कि वह कौन है, उसके सम्बन्धी कौन हैं, वह कहाँ का रहने वाला है, इत्यादि। अनेक कहानियों एवं चल-चित्रों में इस प्रकार के पात्रों का उल्लेख मिलता है।

स्मृति-ह्रास के अनेक कारण होते हैं। साधारण रूप से सभी मनुष्यों में स्मृति-ह्रास होता है परन्तु यह असामान्य उस समय हो जाता है जब इसकी मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। साधारणतया स्मृति-ह्रास ध्यान, प्रत्यक्षीकरण, सोचने या समझने के अभाव के कारण होता है। परन्तु असामान्य स्मृति-ह्रास के मुख्यतः दो कारण हैं। एक तो यह कि व्यक्ति के मस्तिष्क को कोई दुर्घटना के कारण क्षति पहुँचे और उसमें दोष आ जायें, दूसरे यह कि व्यक्ति मानसिक संघर्ष (mental conflict) से पीड़ित हो। ऐसी दशा में व्यक्ति चेतन रूप से बहुत-सी स्मृतियों को भुला देता है और वह अचेतन रूप से उस पर प्रभाव डालती हैं। कभी-कभी मानसिक रोगों के कारण भी स्मृति-ह्रास हो जाता है।

(२) तीव्र-स्मृति (Hypermnesia)—यह वह स्थिति होती है, जब स्मृति

के साथ स्मरण हो आती हैं। व्यक्ति के साथ ऐसा उस समय होता है जब या तो वह उत्साह या विषाद या प्रफुल्लता को अति तीव्रता से अनुभव करता है। तेज ज्वर या किसी संवेगात्मक परिस्थिति के फलस्वरूप भी इस प्रकार की स्मृति होने लगती है। हम सम्मोहन के समय भी बहुत-कुछ उन बातों का स्मरण करने लगते हैं, जिन्हें हम बिल्कुल भूल चुके हैं।

(३) मिथ्या स्मृति (Paramnesia)—इस प्रकार की स्मृति में उन क्रियाओं को भी याद कर लिया जाता है, जिनको पहले याद न किया गया हो। यह स्मृति पूर्णतया मिथ्या हो—ऐसा नहीं है, बरन् यह इस कारण होती है कि अनुभव के समय किसी उत्तेजनावश परिस्थिति का ठीक से अवलोकन न कर पा सकने पर अपनी रुचि के अनुसार कुछ जोड़कर यह विश्वास कर लिया जाता है कि ऐसा अवश्य उस समय हुआ होगा। इस सम्बन्ध में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं।

सारांश

स्मृति प्राप्त पूर्व अनुभवों को उसी यथावत् रूप में पुनः याद करने से सम्बन्ध रखती है। स्मृति के अन्तर्गत चार मुख्य खण्ड हैं। वे हैं—सीखना, धारण, पुनर्स्मरण और पहचानना। ये चारों खण्ड समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। जब किसी वस्तु को सीख लिया जाता है तो वह मस्तिष्क में धारण कर ली जाती है। शरीरशास्त्र के दृष्टिकोण से धारण होने का कारण है—मस्तिष्क में स्मृति-चिह्न का बनना। धारण करने की शक्ति (अ) मस्तिष्क, (ब) स्वास्थ्य, (स) रुचि, और (द) विचार तथा तर्क पर निर्भर होती है। धारण-शक्ति के प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। जब हम परीक्षा में बैठते हैं तो याद किये हुए उत्तर हमें पुनः स्मरण हो आते हैं; और यदि परीक्षा वस्तुगत्मक प्रकार की है तो हम सत्य और मिथ्या, पढ़े हुए पाठ के आधार पर, छाँटने में सफल होते हैं। इसके अतिरिक्त एक भूला हुआ पाठ हम कम समय में दुबारा याद कर लेते हैं।

पुनर्स्मरण उन अनुभवों को मानसिक चेतना-प्राप्ति है, जिन्हें सीखा जा चुका है। यह दो प्रकार का होता है—स्वभावोत्पन्न तथा विमर्शपूर्ण। ऐसा पुनर्स्मरण जिसके लिए हमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, स्वभावोत्पन्न कहलाता है। ऐसा पुनर्स्मरण जिसके अन्तर्गत हमें अनुभव इत्यादि को याद रखने के लिए चैतन्य होकर प्रयास करना पड़ता है, विमर्शपूर्ण पुनर्स्मरण कहलाता है।

पुनर्स्मरण प्रत्ययों की सम्बद्धता पर नियन्त्रण रखने वाले प्रमुख नियम हैं—(१) समानता का नियम, (२) विपरीतता का नियम, और (३) सहचारिता का नियम। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नियम हैं—नवीनता का नियम, आवृत्ति का नियम प्राथमिकता का नियम, तथा रुचि की तीव्रता या सजीवता का नियम।

पहचानने में एक प्रकार की चेतनता होती है, जिसके द्वारा जिस चीज को पहले जाना जा चुका है, उसे फिर जान लिया जाता है। अनुरूपता की भावना पहचानने के कार्य में एक आवश्यक भाग लेती है।

बर्गसन के अनुसार स्मृति दो प्रकार की होती है : (१) वास्तविक स्मृति, और (२) आदतजन्य स्मृति। आदतजन्य स्मृति केवल रटी हुई वस्तुओं पर अवलम्बित होती है, और वास्तविक स्मृति अनाश्रित स्मरणों पर निर्भर रहती है। इसके अतिरिक्त स्मृति का विभेद एक दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। वह है—तात्कालिक स्मृति तथा स्थायी स्मृति। तात्कालिक स्मृति से तात्पर्य—किसी वस्तु को सीखने के पश्चात् तुरन्त ही उसकी प्रतिलिपि बनाने से है, और स्थायी स्मृति का तात्पर्य—निश्चित समय के व्यतीत होने के पश्चात् पदार्थ की प्रतिलिपि बनाना है।

अच्छी स्मृति के लक्षण हैं—(१) अच्छी धारण-शक्ति, (२) शीघ्र पुनर्स्मरण, (३) शीघ्र पहचानना, और (४) स्पष्ट पहचानना। स्मरण करने में श्रम समय सरलता होती है, जबकि निम्न बातों पर ध्यान दिया जाता है—(१) रुचि, (२) प्रेरणा, (३) सम्बद्धता, (४) सीखना, (५) मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य, और (६) शान्तिपूर्ण वातावरण।

सीखने की ये विधियाँ स्मरण करने में साधन मितव्ययता के लिए उत्तरदायी हैं। ये श्रम और समय—दोनों की बचत करती हैं। ये विधियाँ हैं—(१) समय तथा संबद्धतः सीखना, (२) क्रमशः प्रगतिशील विधि, (३) पढ़कर सुनाने की विधि।

स्मृति की प्रगति उस सीमा तक ही सम्भव है, जहाँ तक सीखने की त्रुटिपूर्ण विधियों को दूर किया जा सकता है। यदि एकाग्रचित्त से काम किया जाय तो स्मृति में प्रगति सम्भव है।

स्मृति-विस्तार ज्ञात करने के लिए परीक्षण किये जा सकते हैं। स्मृति-विस्तार से तात्पर्य है—वह मात्रा जो किसी वस्तु को स्मरण करने के पश्चात् तुरन्त ही पुनर्स्मरण की जा सकती है।

सीखने के तुरन्त पश्चात् विस्मृति बहुत अधिक मात्रा में होती है। इसके कारण दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) सीखना, तथा (२) रुकावट। रुकावट के मुख्य कारण ये हैं—(अ) वैसी ही अन्य स्मृतियों द्वारा बना उपस्थित करना, (ब) मैसरीय क्रिया-विशेष, (स) रुकावट के संवेगात्मक कारण, तथा (द) थकान।

जब कोई पूर्व-अनुभव इस प्रकार से पुनः स्मरण किया जाता है कि वह वास्तविक अनुभव के समान ही प्रतीत हो तो उसे 'स्मृति-प्रतिमा' कहते हैं। स्मृति प्रतिमा वास्तविक स्मृति प्रकार की ही सकती है। ऐडेटिक स्मृति-प्रतिमा और अन्य [illegible] पायी जाती है। स्मृति की तीन असामान्यताएँ हैं—(१) स्मृति-ह्रास, (२) [illegible]

अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. स्मृति क्या है ? इसके विभिन्न तत्त्व कौन-से हैं ? प्रत्येक का वर्णन विस्तार-पूर्वक कीजिए।
२. प्रत्यय सम्बन्धी नियम क्या हैं ? ये पुनः स्मरण में किस प्रकार सहयोग देते हैं ?
३. आप धारण शक्ति को किस प्रकार बढ़ा सकते हैं ? धारण-शक्ति के सम्बन्ध में पूर्ण विवेचन कीजिए।
४. अच्छी स्मृति के कौन-कौनसे लक्षण हैं ? क्या आप स्मरण-शक्ति को बढ़ा सकते हैं ? यदि हाँ तो किस प्रकार ? विस्तृत विवेचन कीजिए।
५. भूलने के मुख्य कारणों का वर्णन कीजिए। वैपरीत्य क्रिया-विरोध किस प्रकार हमें भूलने को बाध्य करते हैं ?
६. स्मृति की असामान्यताओं पर प्रकाश डालिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. जेड, सी० एम० : एजूकेशनल साइकॉलॉजी, हाउटन मिफ्लिन कं०, बोस्टन, १९३९।
२. स्किनर, सी० ई० (एड) : एजूकेशनल साइकॉलॉजी, प्रेन्टिस-हॉल, न्यूयार्क १९५१।
३. वेलण्टाइन, डब्ल्यू० एल० : रीडिंग्स इन ऐक्सपेरीमेन्टल साइकॉलॉजी, १९३१।
४. मन, नॉरमन एल० : मनोविज्ञान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; १९६१।
५. भाटिया, हंसराज : सामान्य मनोविज्ञान, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०।

१४

सीखना[1]

प्रत्येक मानव एवं अनेक पशु अपने पूर्व-अनुभवों से लाभ उठाते हैं। पूर्व-अनुभवों से लाभ उठाने की क्रिया को ही हम 'सीखना' कहते हैं। इसी के सम्बन्ध में इस अध्याय में वर्णन किया जायगा। हम यहाँ देखेंगे कि मानव तथा उच्च कोटि के पशुओं में सीखना किन दशाओं में होता है और उनके सीखने के नियम क्या हैं।

सीखने का स्वरूप एवं उसके प्रकार
(Nature & Type of Learning)

व्यक्ति अपने जीवन के आरम्भ से ही सीखना प्रारम्भ कर देता है और जीवन-पर्यन्त सीखता ही रहता है। बालक शैशवावस्था के प्रारम्भ में बिल्कुल असहाय होता है, उसका जीवन दूसरों पर निर्भर रहता है, किन्तु वह धीरे-धीरे अपने को वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। उसके सीखने की प्रक्रिया में दो मुख्य तत्त्व निहित होते हैं जो उसे वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित करने में सहायता पहुँचाते हैं। प्रथम—परिपक्वता; तथा दूसरा—अनुभूति से लाभ उठाने की योग्यता।

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि प्रत्येक प्राणी कुछ ऐसी जन्मजात योग्यताओं को लेकर जन्म लेता है जो उसकी प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओं की दिशा निर्धारित करती हैं। प्राणी इन्हीं प्रतिक्रियाओं के आधार पर अपने को उस सरल वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित करता है जो उसे जन्म के समय चारों तरफ मिलता है। किन्तु मानव तो जटिल परिस्थितियों में रहता है, अतः उसके व्यवहार को दिशा देने वाली ये जन्मजात वृत्तियाँ अपूर्ण सिद्ध होती हैं। उसे अपनी प्रतिक्रियाओं एवं व्यवहार को अधिक व्यापक और वातावरण के उपयुक्त बनाने के लिए जीवन के अनुभव से लाभ

---

1. Learning.

उठाना पड़ता है। उसे कुछ सीखना पड़ता है। इस अर्थ में हम सीखने की परिभाषा इस प्रकार दे सकते है कि—"पर्यावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया को अपनाने की प्रक्रिया ही 'सीखना' है।"[1]

सीखने से तात्पर्य है संचयी उन्नति। सीखने की प्रक्रिया जब विकास की अवस्था मे होती है उस समय कुछ परिवर्तन आ जाते हैं जिससे उन्नति के स्वरूप का भलीभाँति आकलन किया जा सकता है। जीवन के प्रारम्भ मे बालक मे सीखने की प्रक्रिया का स्वरूप अपरिष्कृत, रुक्ष एवं समन्वेषी होता है। उस समय बालक के कार्य-व्यापारों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता तथा उसकी प्रतिक्रियाएँ प्रायः विभ्रम मे डालने वाली होती हैं। बालक के स्वभाव में अस्थिरता होती है। उचित शिक्षा के द्वारा वह सीखने मे कम त्रुटियाँ करता है, वह अपने कार्यों मे एकरूपता लाता है और मस्तिष्क की अस्थिरता की दशा को निश्चय में बदल देता है। बालक के लिए शिक्षा का प्रकार, सीखने की दिशा एवं तत्सम्बन्धी पाठ्यक्रम, उसकी अभिवृद्धि और विकास की अवस्थाओं पर निर्भर होता है। जैसे ही उसकी उम्र मे विकास होता है, उसके विचारों में अनिश्चितता और अस्थिरता कम होती जाती है। वह अपने उन कार्यों को सरलतापूर्वक करने लगता है जिनको वह प्रथम अवस्था मे अत्यन्त कठिनाई एवं घबराहट के साथ करता था।

व्यक्ति की उन्नति से हमारा तात्पर्य अनुभव के द्वारा लाभान्वित होना है। किन्तु सीखने का अर्थ एक निर्धारित विधि से अभ्यास के द्वारा तथ्यों एवं निपुणता को प्राप्त करना मात्र नहीं है वरन् सीखने मे जिज्ञासु को साधन वस्तुओं का नियोजन और मूल्यांकन भी करना पड़ता है तथा उनके कई होने वाले अर्थों की व्याख्या भी करनी पड़ती है; और इस प्रकार वह अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए आतुर रहता है। अतः अब हमें सीखने की परिभाषा पर पूर्ण रूप से ही विचार कर लेना चाहिए।

सीखने की परिभाषा
(Definition of Learning)

बर्नहर्ट के अनुसार, "सीखना व्यक्ति के कार्यों में एक स्थायी रूपान्तर लाना है जो निश्चित परिस्थितियों में किसी इष्ट को प्राप्त करने अथवा किसी समस्या को सुलझाने के प्रयास में अभ्यास द्वारा किया जाता है।"[2] सीखना एक क्रियाशील प्रक्रिया है जो व्यक्ति के अपने कार्यों के ऊपर निर्भर रहती है, जबकि मानसिक अभिवृद्धि अथवा प्रौढ़ता विकास की प्रक्रियाएँ हैं जिनसे व्यक्ति का थोड़ा ही सम्बन्ध होता है।

---

1. "Learning is the process of acquiring the appropriate response."
2. "Learning is defined as the more or less permanent modification of an individual's activity in a given situation, due to practice in attempts to acheive some goal or solve some problem." —Bernhardt : *Practical Psychology*, p. 259.

गेट्स के अनुसार, 'अनुभव द्वारा व्यवहार में रूपान्तर लाना ही सीखना है।'[1] व्यक्ति को क्या सीखना है ? इसका निश्चय उसके शारीरिक स्वास्थ्य एवं परिस्थितियों की माँग पर आधारित होता है। मनुष्य पर परिस्थितियों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। वह अपने चारों तरफ की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। वह स्वभाव से ही अनुकरण प्रवृत्ति वाला होता है। उसकी प्रतिक्रिया की कुछ निश्चित वंशागत विधियाँ होती हैं। "उसकी रुचि, सम्मान, निपुणता, योग्यता एवं इलाघा-शक्ति—सभी सीखने की क्रिया की ही उपज हैं।"

सीखना और प्रौढ़ता
(Learning & Maturity)

हम यह पहले बता चुके हैं कि 'प्रौढ़ता' और 'सीखना' दोनों मिलकर व्यक्ति के विकास में सहायता पहुँचाते हैं। वे एक-दूसरे से इतने अधिक सम्बन्धित और मिले-जुले होते हैं कि उन्हें अलग-अलग करके देखना अत्यन्त कठिन है। किन्तु फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से उनका मूल्यांकन करने के लिए हमें उनका अलग-अलग अध्ययन करना चाहिए।

प्रौढ़ता—व्यक्ति की वह स्वाभाविक अभिवृद्धि है जो बिना किन्हीं विशिष्ट परिस्थियों, जैसे शिक्षा एवं अभ्यास आदि, के ही अनवरत रूप से चलती रहती है। उदाहरण के लिए, सभी बालक एक निश्चित उम्र पर पैरों चलना, बोलना तथा अन्य ऐसे ही कार्य करना सीखते हैं। विभिन्न बालकों का वातावरण एवं परिस्थितियाँ चाहे बिल्कुल भिन्न हों फिर भी उनमें यह अभिवृद्धि थोड़ी कम या अधिक मात्रा में बराबर ही होती है। सीखने की क्रिया ठीक इसके विरुद्ध होती है। निश्चित परिस्थितियों में विशिष्ट उत्तेजना मिलने पर व्यक्ति के व्यवहार में जो परिवर्तन होता है वही सीखना कहलाता है। बालक अपने अनुभवों के आधार पर एवं अपनी परिस्थितियों के अनुसार ही सीखता है, इसमें अभ्यास और शिक्षा—दोनों ही सम्मिलित रहते हैं।

मैकग्रो (McGraw) एवं उनके साथियों ने जुड़वाँ बालकों के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया कि "बालक में शारीरिक विकास के लिए जिन कार्यों की आवश्यकता होती है—उन पर बार-बार जोर देना, उनका अभ्यास कराना अधिक उपयोगी नहीं होता।" स्ट्रेयर (Strayer) ने दो समान जुड़वाँ बालकों T और C के पूर्वभाषी एवं स्थगित शब्द-भण्डार की शिक्षा की आपेक्षिक योग्यता का अध्ययन किया। कम आयु में C जुड़वाँ बालक ने उतने शब्द-भण्डार को सीख लिया जितना T 35 दिनों में सीख सका। परीक्षणात्मक अवधि के अन्त में T जुड़वाँ बालक जिसकी शिक्षा C से पाँच सप्ताह पहले आरम्भ हुई थी, का शब्द-भण्डार, उच्चारण और वाक्य-योजना दूसरे से श्रेष्ठ थी किन्तु तीन माह के उपरान्त उसकी यह श्रेष्ठता समाप्त हो

1. "Learning is modification of behaviour through experience."
—Gates and Others : *Educational Psychology.*

परिवर्तित हो गयी।" यह सीखने की प्रक्रिया अन्य कार्यों, जैसे—खिसकना, चलना आदि में इसी प्रकार होती है।

विशिष्ट प्रशिक्षण और अभ्यास उन कार्यों में बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध होता है जिनका सम्बन्ध मनुष्य के सामान्य विकास और अभिवृद्धि से नहीं होता, जैसे—तैरना, पहाड़ों पर चढ़ना, घुड़सवारी, स्केटिंग आदि। मैकग्रो महोदय ने जिन दो समान यमजों का अध्ययन किया उनमें से एक को, जबकि वह ३५० दिन का था, रोलर स्केट्स की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। यह प्रशिक्षण लगभग उसकी २ वर्ष की आयु तक चलता रहा। जब वह ६६४ दिन का था तो उसमें शारीरिक गठन में उसी प्रकार के प्रारम्भिक लक्षण पाये गये, जो एक व्यवसायी 'स्केटर' में होते हैं। इन परिणामों से यह सिद्ध हुआ कि किसी भी कार्य में विशिष्ट कौशल प्राप्त करने के लिए या तो तद्विषयक प्रशिक्षण अत्यन्त प्रारम्भ में देना चाहिए अथवा बहुत समय उपरान्त इन्हीं दिशाओं में वह व्यक्ति उस कार्य में प्रवीणता प्राप्त कर सकेगा। सीखने की प्रक्रिया तारुण्य के ऊपर निर्भर नहीं रहती, उसका आधार तो अभिवृद्धि के स्तर पर ही होता है। अभ्यास जब प्रौढ़ावस्था के साथ उचित रूप से अपनाया जाता है तो बहुत लाभदायक होता है।

सीखने को निबद्ध करने वाले तत्त्व[1]

सीखने की क्रिया में तीन तत्त्व संयुक्त होते हैं जिन्हें हम इस प्रकार कह सकते हैं—(१) मनोवैज्ञानिक तत्त्व, (२) शारीरिक तत्त्व, (३) वातावरण सम्बन्धी तत्त्व।[2] मनोवैज्ञानिक तत्त्व को हम सीखने में अनुप्रेरणा (motivation) कहते हैं। सीखना प्राणी की वह क्रिया होती है, जिसमें वह अपने पर्यावरण में प्रतिक्रिया करता है। सीखने वाले के अन्दर क्रिया को हम प्रेरणा के द्वारा ही उत्पन्न करते हैं।

हमारा शारीरिक प्रत्युत्तर अथवा प्रतिक्रिया हमारे ज्ञान ग्राह्य तन्तुओं (श्रवण, दृष्टि आदि), प्रभावकों (effectors) की दशा और शरीर की सामान्य दशा पर निर्भर होता है; दोषपूर्ण दृष्टि, दोषपूर्ण श्रवण इन्द्रियों की शिथिलता, स्पष्ट रूप से सीखने पर प्रभाव डालती है। आयु, परिपक्वता, थकान तथा नशीली वस्तुओं का भी सीखने पर प्रभाव पड़ता है। तापमान, वायु का कमरे में संचालन इत्यादि भी निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से शरीर के ऊपर इनका प्रभाव पड़ता है। यह एक ऐसे संगठन को क्रियान्वित करता है जो शरीर को क्रियाशील बनाता है। इन्हें हम सुन्दर रूप से 'आन्तरिक दशाओं' में गिन सकते हैं। यह हैं सीखने में शारीरिक तत्त्व।

सीखने में पर्यावरण के तत्त्व हमारे सम्मुख सम्पूर्ण वातावरण की व्यवस्था

1. Factors that Condition Learning.
2. (i) Psychological factor, (ii) Physiological factor, (iii) Environmental factor.

को प्रकट करते हैं जो सम्पूर्ण सीखने की क्रिया में अत्यन्त सहायक होते हैं। यहाँ हम अनुप्रेरणा के सम्बन्ध में कुछ और प्रकाश डालेंगे।

मनोवैज्ञानिक तत्व : अनुप्रेरणा (Motivation)

उत्तेजना, रुचि, उद्देश्य इत्यादि अनुप्रेरणा के विभिन्न रूपों पर बल देते हैं। प्रेरणा ही सीखने की क्रिया का मूल तत्व है। अनुप्रेरणा ही बालक को क्रियाशील बनाती है। प्रतिक्रिया, रुचि, प्रयत्न आदि वे परिणाम हैं—जिन्हें शिक्षक पसन्द करता है और विद्यार्थियों के लिए भी लाभदायक होते हैं। ये सब अनुप्रेरणा से ही जन्म लेते हैं।

शिक्षा में अनुप्रेरणा वह कला है जो बालक के अन्दर रुचि उत्पन्न करती है। जब भी बालक किसी कार्य या वस्तु में रुचि अनुभव नहीं करता, अनुप्रेरणा द्वारा उसकी रुचि को उसमें जाग्रत किया जा सकता है। स्वीकृत व्यवहार को जाग्रत करना, बनाये रखना, तथा निर्देश देना—विद्यालय की शिक्षा में प्रेरणा का ही कार्य है।

चित्र—२४

[ये खिलाड़ी अच्छी हॉकी खेलना सीख रहे हैं क्योंकि इनको हॉकी खेलने की अनुप्रेरणा प्राप्त है। इनको देश की ओर से ओलम्पिक खेलों में खेलना है।]

व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया जो किसी लक्ष्य को प्राप्त करना चाहती है, अनुप्रेरणात्मक होती है। चूँकि सभी प्रकार का सीखना एक विशेष लक्ष्य रखता है इसलिए ... का सीखना एक अनुप्रेरित क्रिया होती है। उत्तेजना की तीव्रता, लक्ष्यों की

देखने की विविधता आदि सीखने की क्रिया के प्रभावोत्पादन में अन्तर उत्पन्न करते हैं। अध्यापक का कर्तव्य है कि वह बालकों को अनुप्रेरणा द्वारा सीखने को प्रोत्साहित करे। सीखने की क्रिया के अन्तर्गत अनुप्रेरकों और लक्ष्यों का बुद्धिसंगत योग होता है जो अनुकूल और अनुपातिक वातावरण का निर्माण करता है, संवेगात्मक रुचि उत्पन्न करता है और बालकों के अन्दर सन्तोष की भावना उत्पन्न करता है।

प्रेरणा के प्रकार (Kinds of Motives)

मानव को दिये जाने वाले अनुप्रेरक इतने अधिक होते हैं कि इनकी सूची बनाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु विस्तृत आधार पर उन्हें दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। यह वर्गीकरण अनुप्रेरकों के आन्तरिक और बाह्य स्वभाव के अनुसार हो सकता है। अनुप्रेरणा के दो प्रकार—आन्तरिक अनुप्रेरणा और बाह्य अनुप्रेरणा—होते हैं। अब हम इन पर क्रमशः विचार करते हैं :—

(1) आन्तरिक अनुप्रेरणा (Internal Motivation)—व्यक्तियों के अन्दर आन्तरिक प्रवृत्तियाँ—आवश्यकताएँ, रुचि तथा मूल्य—होती हैं। यही जन्मजात अनुप्रेरणाएँ होती हैं।

व्यक्ति के अन्दर खाने की, पीने की, आराम करने की, सोने की, परिवर्तन की या काम की अभिलाषा होती है। मानव जीवन का अधिकांश भाग इन्हीं अभिलाषाओं की प्रेरणा के ऊपर व्यय किया जाता है, अथवा इन्हीं के द्वारा अनुप्रेरित होता है। हमारी प्रसन्नता, सन्तोष और मानसिक स्वास्थ्य का आधार मुख्य रूप से हमारी सुरक्षा की भावनाओं पर है जो हमारी प्रारम्भिक शारीरिक आवश्यकताओं के रूप में होती हैं। जब कभी व्यक्ति की सुरक्षा पर आपत्ति आती है तो व्यक्ति को कई रूपों में प्रेरणा मिलती है। वह कठोर परिश्रम कर सकता है, विचारों में पूर्णता ला सकता है, दूसरों के ऊपर दोषारोपण कर सकता है, अथवा इन कई बातों में से एक को अपना सकता है, और वह उनके अनुभव या शिक्षा पर निर्भर होता है।

चित्र—२१

[इन बालकों को पानी में रहने से प्रसन्नता प्राप्त होती है, अतएव ये शीघ्र तैरना सीख लेते हैं।]

(ii) बाह्य अनुप्रेरणा (External Motivation)—यह प्रेरणा पुरस्कार, दण्ड एवं प्रशंसा और आरोप के रूप में होती है।

सीखने की क्रिया में अनुप्रेरकों के तीन कार्य (Three Functions of Motives in Learning Process)—गेट्स के मतानुसार अनुप्रेरक सीखने की क्रिया में तीन कार्य करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अनुप्रेरक हमारे व्यवहार को शक्तिशाली बनाते हैं (Motives Energize Behaviour)—अनुप्रेरक शक्ति का वर्द्धन करते हैं, जिससे हमारे अन्दर क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। इस प्रकार भूख तथा प्यास की हमारे अन्दर मांसपेशिक तथा ग्रंथिक (Muscular and Glandular) प्रतिक्रिया होती है। प्रशंसा, आरोप, पुरस्कार, दण्ड आदि शक्तिशाली उत्तेजक हैं—जो हमारे बहुत-से कार्यों को प्रभावित करते हैं। ये हमें किसी विशेष दिशा की ओर कार्य करने को बाध्य करते हैं और सीखने की क्रिया में सहायक होते हैं।

(२) अनुप्रेरक हमारे व्यवहार को चुनने वाले होते हैं (Motives are Selectors of Behaviour)—प्रेरक व्यक्ति को किसी उत्तेजना-विशेष के प्रति प्रतिक्रिया करने के लिए उत्तेजित करते हैं और दूसरी वस्तुओं की प्रति अवहेलना। वे यह भी बताते हैं कि किसी अवस्था-विशेष में व्यक्ति किस प्रकार की क्रिया करेगा। यदि एक समाचार-पत्र विभिन्न व्यक्तियों को दे दिया जाये तो हर व्यक्ति उसी खण्ड को पढ़ेगा, जिसके लिए उसे अनुप्रेरणा प्राप्त है। उदाहरण के लिए, बेरोजगार व्यक्ति आवश्यकता-सम्बन्धी खण्ड को ध्यान से देखेगा और बहुत-सी आवश्यकताओं को याद कर लेगा। इसके विपरीत, एक खिलाड़ी खेल के समाचार की ओर अधिक आकृष्ट होगा।

(३) अनुप्रेरक हमारे व्यवहार का संचालन करते हैं (Motives Direct our Behaviour)—अनुप्रेरक केवल व्यवहार को चुनते ही नहीं वरन् उनका संचालन भी करते हैं। वे व्यवहार का संचालन इस प्रकार करते हैं कि हमारे अन्दर सन्तुष्टि की भावना जाग्रत हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने सीखने में उन्नति करने के लिए कार्यशीलता को अपनाये, अपनी सम्पूर्ण शक्ति को आदर्श-ग्रहणीय लक्ष्यों की ओर प्रवाहित करे और उन्हीं में अपनी शक्ति का प्रयोग करे।

सीखने के सिद्धान्त
(Theories of Learning)

सीखने के सम्बन्ध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) थॉर्नडाइक का 'प्रयास एवं त्रुटि का सिद्धान्त' (Trial and Error Theory by Thorndike), (२) सम्बद्ध प्रतिक्रिया सिद्धान्त (Learning by Conditioning), एवं (३) अन्तर्दृष्टि या सूझ द्वारा सीखने का सिद्धान्त (Learning by

Insight) । परन्तु इन सिद्धान्तों का वर्णन करने से पहले हम एक सीखने की विधि (Method of Learning)—'अनुकरण' द्वारा सीखने का वर्णन करेंगे।

अनुकरण द्वारा सीखना (Learning by Imitation)

अनुकरण में दूसरे व्यक्तियों के द्वारा किये गये कार्यों की पुनरावृत्ति की जाती है। सदैव ही उस व्यक्ति के कार्यों का अनुकरण किया जाता है जो अनुकरणकर्ता से अधिक श्रेष्ठ होता है। अनुकरण प्रायः जान-बूझकर और कभी-कभी अनजान में भी होता है। हम बिना जाने ही अज्ञात रूप से दूसरों का अनुकरण करते हैं। शिक्षा में हम ज्ञात रूप से प्रयासपूर्वक अनुकरण करते हैं, जैसे—किसी कौशल को प्राप्त करने में, लिखने में तथा चित्र बनाना सीखने आदि - सभी में ज्ञात अनुकरण किया जाता है। प्रारम्भिक पाठशालाओं में भाषा की अशुद्धियों को ठीक करना, उच्चारण शुद्ध करना—अनुकरण के ही उदाहरण हैं। जहाँ पर मॉडल अथवा नमूने के द्वारा सिखाया जाता है, वहाँ सीखने में अनुकरण का महत्वपूर्ण योग रहता है। अनुकरण नकल करना अथवा प्रतिकृति बनाना मात्र नहीं हैं, इसमें मौलिकता एवं संक्रमण की क्षमता सदैव योग देती है। वस्तुतः अनुकरण एक उद्दीपक के समान होना चाहिए, जिससे व्यक्ति की सूत्रपात करने की शक्ति जाग्रत होकर क्रियाशील हो उठे। ज्ञात एवं अज्ञात अनुकरण के द्वारा ही परम्परागत व्यवहार, समाज के नैतिक सिद्धान्त एवं विचारधारा बालक के चरित्र के निर्माण-तत्व बनते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'अनुकरण' शिक्षा के क्षेत्र में एवं सम्पूर्ण जीवन में महत्वपूर्ण नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक अभिकर्त्ता है।

प्रयास एवं त्रुटि से सीखना (Learning by Trial and Error)

बहुत-से मनोवैज्ञानिक प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधि को 'सफल प्रतिक्रियाओं के चुनाव द्वारा सीखना'[1] भी कहते हैं। वे इस नाम को ही अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त एवं समीचीन समझते हैं। इस नियम की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें साधन और साध्य का सम्बन्ध स्पष्ट न होकर अत्यन्त ही प्रच्छन्न एवं नहीं के बराबर होता है। यह प्रवृत्ति प्रायः पशुओं में अधिक पायी जाती है। वे विविध प्रतिक्रियाओं को दोहराते हैं और उनमें चुनाव द्वारा जो सफल एवं लाभदायक होती हैं उन्हें ही ग्रहण करते हैं, शेष को छोड़ देते हैं। किसी भी बात को एकदम सीखना सम्भव नहीं। सीखने की क्रिया धीरे-धीरे एवं क्रमशः होती है। गलत प्रतिक्रियाओं को प्राणी धीरे-धीरे छोड़ता जाता है और ठीक एवं सफल प्रतिक्रियाओं को चुनकर उन्हें ही सुसंगठित करता जाता है और अपनाता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक उसे तुष्टि नहीं मिलती। यही प्रयास एवं सफलता से सीखना या सफल प्रतिक्रियाओं के चुनाव द्वारा सीखना कहलाता है।

---

1. Learning by selection of the successful variation.

पशुओं द्वारा सीखने की प्रक्रिया में निरीक्षण (observation) का कार्य सम्मिलित रहता है, यद्यपि पशुओं में यह निरीक्षण बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में होता है और मानवों मे अधिक विकसित। उच्च कोटि के प्राणियों मे निरीक्षण की शक्ति अधिकाधिक होती जाती है और प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की आवश्यकता उन्हें निम्न-कोटि के प्राणियों से कम होती है। किन्तु जब तक वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्रारम्भ में ही न हो, प्रयास एव त्रुटि के नियम की आवश्यकता पड़ती ही है, चाहे उसकी मात्रा कुछ भी हो। इस दृष्टि से प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखना सोद्देश्य होता है। यह गन्तव्य की ओर प्रत्यक्ष रूप से सीधे-सीधे सीखने की कला है जिसके आगे का प्रत्येक पग, चाहे वह सफलता का हो अथवा असफलता का, सुनियोजित होता है। प्रयास एवं सफलता द्वारा सीखना ऐसे कार्य को करना नहीं कहा जा सकता जिसके सीखने मे सफलता का पहले से ही निश्चय हो अथवा जिसमे प्रारम्भ से ही सफलता संयोगवश मिल गयी हो।

प्रयास और त्रुटि द्वारा सीखने में वे प्रतिक्रियाएँ जो सीखने वाले को सफल प्रतीत होती हैं, उसे कार्य के लिए उत्तेजना देने वाली होती हैं एवं दोहरायी जाती हैं तथा जो प्रतिक्रियाएँ असफल अथवा बाधा उपस्थित करने वाली होती हैं, समाप्त कर दी जाती हैं। जब एक प्रावस्था व्यक्ति को 'तुष्टि' देती है तब सीखने वाला उन प्रतिक्रियाओं से बचना नहीं चाहता। इसके विपरीत जब कोई प्रतिक्रिया सीखने वाले को कष्ट पहुँचाती है तो वह उसे दोहराना नहीं चाहता, उसका संग्रह नहीं करना चाहता। प्रायः ऐसे काम अथवा प्रतिक्रियाओं की वह परिसमाप्ति ही कर देता है।

प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखने मे व्यक्ति जब यह समझ लेता है कि सीखने की क्या आवश्यकता है तो वह अपने गन्तव्य के बारे में भली-भाँति समझ जाता है, किन्तु उसे कैसे प्राप्त किया जाय ? इसे वह नहीं जानता। इसलिए समस्या को सुलझाने के लिए तथा परिस्थिति सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह प्रयास करता है। जब वह प्रयासों मे सफल अथवा असफल होता है तो कार्य-प्रणाली की एक दिशा निश्चित हो जाती है और असफल प्रयासों को छोड़कर सफल की पुनरावृत्ति कर समस्या के हल को प्राप्त कर लेने की चेष्टा की जाती है। बाह्यदर्शक की दृष्टि से सीखने वाले के प्रयास भले ही क्रमहीन एव असम्बद्ध हों, वस्तुतः प्रयासों की पुनरावृत्ति सीखने वाले के द्वारा अवश्य ही सोच-विचार कर समस्या की परिस्थितियों के अनुरूप एवं उसके हल करने के प्रयोजन से की जाती है, इसलिए उन प्रयासों की आवृत्ति के प्रकार मे परिवर्तन होता रहता है जो प्रयासों की सफलता और असफलता पर निर्भर रहता है।

सम्बन्धवाद (Connectionism)—थॉर्नडाइक एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक हैं जिन्होंने यह विचार सामने रखा कि सब मानसिक क्रियाएँ उत्तेजकों के प्रति प्रतिक्रियाएँ हैं। किसी भी कार्य की इकाई में एक उत्तेजक (S) होता है, जो व्यक्ति पर प्रभाव डालता है और वह प्रतिक्रिया (R) करता है। एक विशिष्ट उत्तेजक (S) अपनी प्रतिक्रिया (R)

से सम्बन्धित हो जाता है और एक S-R कड़ी बन जाती है जिसके कारण भविष्य में जब भी उत्तेजक (S) प्रदान किया जाता है, प्रतिक्रिया (R) हो जाती है। इस S-R के सम्बन्ध के कारण ही इस सिद्धान्त को सम्बन्धवाद कहा गया। S-R सम्बन्धी कड़ी सीखने की क्रिया द्वारा बनायी, संगठित तथा मजबूत की जाती है। प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखने की व्याख्या सम्बन्धवाद के सिद्धान्त के अनुसार ही की जाती है।

प्रयास एवं त्रुटि के सिद्धान्त पर कुछ प्रयोग—अब यहाँ पर हम कुछ प्रयोगों का वर्णन करेंगे जिनको सर्वप्रथम थॉर्नडाइक महोदय ने किया था।

थॉर्नडाइक का बिल्ली पर प्रयोग (Thorodike's Experiment on Cat)—थॉर्नडाइक ने एक बिल्ली को २४ घण्टे तक भूखा रखकर अपना प्रयोग किया। उन्होंने भूखी बिल्ली को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया। इस पिंजड़े से बाहर निकलने का एक ही दरवाजा था। दरवाजे के साथ एक लीवर (lever) लगा था जिसको दबाने ही से दरवाजा खुल सकता था (चित्र ५६) थॉर्नडाइक ने पिंजड़े के बाहर एक तश्तरी में बिल्ली का प्रिय भोजन मछली रख दिया। बिल्ली ने सभी प्रकार से उस भोजन को प्राप्त करने की कोशिश की। उसने पिंजड़े की छड़ों से बाहर निकलना चाहा, पंजों से छड़ों को नष्ट करना चाहा, और भी अनेक प्रयत्न किये। अन्त में अकस्मात् उसका पाँव लीवर पर पड़ गया और दरवाजा खुल गया। बिल्ली बाहर निकल आई और मछली खा गयी। इस प्रकार उसने अपनी भूख को शान्त किया।
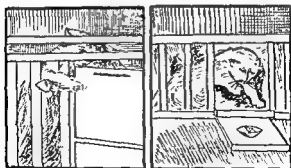
[चित्र—५६]
[बिल्ली द्वारा पिंजड़ा खोलकर भोजन प्राप्त करना]

यह जानने के लिए कि बिल्ली ने बाहर निकलने का तरीका सीख लिया अथवा नहीं, उसे दुबारा पिंजड़े में बन्द कर दिया। अब की बार वह पहले से शीघ्र बाहर निकल आयी। कई बार उसे पिंजड़े में बन्द किया गया और हर बार उसने बाहर निकलने में शीघ्रता दिखायी, अन्त में बिल्ली यहाँ तक सीख गई कि जैसे ही उसे बन्द किया गया, उसने लीवर दबाया और वह बाहर निकल आयी।

इस प्रयोग में यह देखा गया कि उन क्रियाओं को जिनसे बिल्ली को संतुष्टि प्राप्ति हुई, दोहराया गया और उन क्रियाओं को जिनसे बिल्ली को असंतुष्टि प्राप्त हुई, छोड़ दिया गया। बिल्ली को लीवर दबाने से संतुष्टि मिली इस कारण वह लीवर दबाकर दरवाजा खोलना सीख गयी, परन्तु उछल-कूद करने या बाहर निकलने के अन्य प्रयास करने से उसे असंतुष्टि प्राप्त हुई, इस कारण वह उन्हें छोड़ती गयी।

भूल-भुलैया द्वारा सीखने में चूहों पर प्रयोग (Maze Learning Experiments on Rats)—इस प्रयोग में थॉर्नडाइक ने विलायती चूहों को लिया। उसने एक चूहे को भूखा रखा और उसे एक भूल-भुलैया के आरम्भ में रख दिया। भूल-भुलैया के अन्त में उसने कुछ खाद्य पदार्थ रख दिया। अब चूहे को खाने तक पहुँचने के लिए भूल-भुलैया में से रास्ता ढूँढना था। उपयुक्त रास्ता केवल एक था, अनुपयुक्त रास्ते जो अँधेरी गली में समाप्त हो जाते थे, अनेक थे। ऐसा किया गया कि जब चूहा भूल-भुलैया में गलत रास्ते पर जाता था तो उसे बिजली का धक्का लगता था। परन्तु सही रास्ते पर धक्का नहीं लगता था और उसको खाना भी मिल जाता था। पहली बार चूहे ने बहुत गलती की और वह बार-बार रास्ते में भटकता रहा। सहसा उसे ठीक रास्ता मिल गया और उसमें से आकर उसने खाना पा लिया। दुबारा जब चूहे को उसी भूल-भुलैया में रखा गया तो उसने कम गलतियाँ प्रदर्शित कीं। कई बार ऐसा करने से उसने दोषपूर्ण रास्तों को बिलकुल छोड़ दिया और वह सही रास्ते से जाना सीख गया।

इस प्रकार ये प्रयोग सीखने में त्रुटि एवं प्रयास विधि के महत्व पर प्रकाश डालते हैं। इन प्रयोगों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखने में प्रेरणा का बहुत महत्त्व है। यदि बिल्ली या चूहा भूखा न हो तो वह रास्ता ढूँढने का प्रयास नहीं करेगा। वह जिस स्थान पर है, वहीं रुक जायगा और सीखने की ओर से उदासीन हो जायगा। परन्तु यदि वह भूखा है तो वह सक्रिय होकर सही रास्ते की तलाश में सक्रिय हो जायगा।

थॉर्नडाइक के सीखने के नियम (Thorndike's Laws of Learning)—अपने प्रयोगों के आधार पर थॉर्नडाइक महोदय ने कुछ सीखने के नियमों का प्रतिपादन किया। यहाँ अब हम उन्हीं के सम्बन्ध में वर्णन करेंगे :—

थॉर्नडाइक ने नियमों की रचना प्रयोगात्मक विधि द्वारा पशु-मनोविज्ञान से की। ये नियम तीन थे—(१) तत्परता का नियम (The Law of Readiness),

(२) अभ्यास का नियम (The Law of Exercise), (३) प्रभाव का नियम (The Law of Effect)। किन्तु बाद में मानव पर प्रयोग तथा नियमों की आलोचना के कारण थॉर्नडाइक ने एक मनोवैज्ञानिक तत्व इसी सम्बन्ध में और बढ़ाने का प्रयत्न किया।

(१) तत्परता का नियम (The Law of Readiness)—इस नियम का तात्पर्य यह है कि—जब कोई बन्धन किसी कार्य को करने के लिए होता है, तो वह प्रक्रिया आनन्द देती है; और जब सीखने की इच्छा नहीं होती या वह सीखने को तैयार नहीं होता और उसे बाध्य किया जाता है, तब क्षोभ उत्पन्न होता है।[1] एक बालक जो किसी कार्य को करने का इच्छुक है, यदि उसे करने से मना किया जाता है तो वह क्रोधित हो उठता है। यदि उसे वह कार्य करने दिया जाता है तो वह प्रसन्न हो जाता है, और जब उसे कार्य करने को बाध्य कर दिया जाता है तो उसे असन्तोष मिलता है।

सामान्यतया सीखने के तत्परता के नियम को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि जब एक व्यक्ति अपने को किसी कार्य या सीखने के लिए तैयार समझता है तो वह बहुत शीघ्र कार्य करता है या सीख लेता है और उसे अधिक मात्रा में सन्तोष भी मिलता है, उस हालत की अपेक्षा जबकि वह सीखने को तैयार नहीं। तत्परता का पर्यायवाची (synonymous) शब्द 'मानसिक मेल' (mental set) है। एक बालक उस समय मानसिक तत्परता रखता है जब उसकी प्रवृत्ति किसी कार्य को करने की होती है।

तत्परता या मानसिक मेल किसी समस्या के सम्बन्ध में उसको हल करने की इच्छा के समान है। अध्यापक का प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने बालकों में पाठ याद करने की तत्परता का विकास करे।

(२) अभ्यास का नियम या उपयोग-अनुपयोग का नियम (The Law of Exercise or the Law of Use-Disuse)—उपयोग का नियम—"जब किसी स्थिति और प्रतिक्रिया में परिवर्तनात्मक सम्बन्ध बना दिया जाय और यदि अन्य वस्तुओं को समान रूप से वैसा ही रखा जाय तो इस सम्बन्ध की शक्ति बढ़ जाती है।"[2]

अनुपयोग का नियम—"जब स्थिति और प्रतिक्रिया में एक लम्बी अवधि तक

1. "When a bond is ready to act, to act gives satisfaction and not to act gives annoyance. When a bond which is not ready to act is made to act, annoyance is caused."

2. "When a modifiable connection is made between a situation and a response that connections strength, other things being equal is increased."

परिवर्तनात्मक सम्बन्ध नहीं बनाया जाता है तो इस सम्बन्ध की शक्ति क्षीण हो जाती है।"[1]

संक्षेप में, हम दोनों नियमों को इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि शेष बात वैसे ही रहती हैं तो अभ्यास के द्वारा शक्ति बढ़ जाती है और अभ्यास की कमी, स्थिति और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध को कमजोर बना देती है। हमारी बहुत-सी प्रतिक्रियाओं में यह दोनों नियम साथ ही साथ कार्य करते हैं। हम स्वतन्त्रता से उन्हीं बातों को दोहराते हैं जिनसे हमें आनन्द मिलता है, और उनको नहीं दोहराते जिनसे हमें दुःख होता है।

जब हम अपने पाठ को पढ़ते हैं तो उसे कई बार दोहराते हैं जिससे हम उसे याद कर सकें। यह अभ्यास भी इस सिद्धान्त पर आधारित है कि दोहराना उन तथ्यों को जिन्हें हमें याद करना है, हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। अभ्यास की कमी याद किये हुए विषय को कमजोर बना देती है, और साधारण रूप से अनभ्यास का समय जितना अधिक होगा, उतनी ही अधिक हानि होगी। मानवीय मस्तिष्क उन वस्तुओं को धारण कर लेता है जिन्हें वह बराबर प्रयोग करता है। वे शब्द जिन्हें हम बहुधा लिखते हैं, बहुत ही कम अवस्थाओं में गलत होते हैं, और हम उन शब्दों के अर्थ को भूलते भी नहीं जिन्हें हम अपने लिखने और वार्तालाप में प्रयोग करते हैं। हम उपयोग से सीखते हैं और धारण करते हैं तथा अनुपयोग से भूल जाते हैं।

उपयोग और अनुपयोग, जो सीखने के सिद्धान्त के दो भाग हैं, का मनोविज्ञान सीखने तथा भूलने में समानान्तर रूप से प्रभाव डालता है। हम उपयोग अथवा अभ्यास से सीखते हैं और धारण करते हैं तथा अनुपयोग या अनभ्यास से भूलते हैं। जिसका हम अभ्यास नहीं करते, वह बिना सीखा हुआ ही रहता है। साधारणतया सीखना अभ्यास की मात्रा के आनुपातिक योग में नहीं होता। कुछ दृष्टान्तों में, जैसे— खाने के अभ्यास में या कविता को याद करने में, कम अभ्यास अधिक रुचि के साथ सीखने में अधिक सहायक होता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि दोहराना ही केवल सीखने में कुशलता नहीं उत्पन्न करता, दूसरे तत्व भी, मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक तत्व, सीखने पर बहुत प्रभाव डालते हैं। अतः अभ्यास का नियम मात्रा के रूप या अथवा यान्त्रिक रूप (quantitatively or mechanically) में लागू नहीं किया जा सकता।

जब दोहराने के साथ रुचि और प्रयोजन सम्बन्धित होते हैं, तब यह अधिक

---

1. "When a modifiable connection ■ not made between situation and a response over a length of time, that connection's strength is decreased."

प्रभावोत्पादक होता है। "दोहराने के साथ रुचि, उत्तेजक और अर्थ-सहितता होनी चाहिए जिससे तत्वों तथा विचारों को बढ़ाया जा सके।"[1]

इस नियम में दोष यह है कि हम बिना सूझ के केवल अभ्यास द्वारा किसी क्रिया को सरलतापूर्वक नहीं सीख पाते। यदि हम कोई कठिन विषय पढ़ रहे हैं तो चाहे कितनी बार ही उसे पढ़ जायें, हमें वह याद नहीं होगा। उसे याद करने के लिए हमें अपनी सूझ द्वारा उसे समझना होगा। यह नियम ऐसी परिस्थितियों में भी जहाँ विपरीत अभियोजन (negative adaptation) हो जाता है, लागू नहीं हो सकता। जब हम पढ़ रहे हैं और कोई रेडियो इत्यादि बज रहा है तो पहले तो हम बाधा का अनुभव करते हैं परन्तु कई दिन तक यदि वह हमारे पढ़ते समय बजता रहे तो हम उसकी ओर ध्यान देना बन्द कर देते हैं और अपने कार्य में लगे रहते हैं।

(३) प्रभाव का नियम (The Law of Effect)—यह नियम यह बताता है कि जब सुखात्मक या सन्तुष्टात्मक[2] परिणाम किसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होते हैं तो हम वह प्रतिक्रिया दोहराते हैं। जब इसी प्रकार कोई क्रोध उत्पन्न करने वाला या कष्टदायी परिणाम होता है, तब हम उसे नहीं दोहराते। 'सन्तोषजनक परिणाम शक्तिशाली होते हैं और कष्टकारक स्थिति तथा प्रतिक्रिया के सम्बन्ध को निर्बल बना देते हैं।'[3] थॉर्नडाइक के अनुसार यह नियम सीखने और शिक्षण का आधारभूत (fundamental) नियम है।

इस सिद्धान्त में संवेगात्मक भावना या संवेगात्मक स्थिति सीखने के अनुभव में सम्मिलित रहती है। जब बालक अभ्यास करते हुए किसी प्रश्न को हल कर लेता है, तब वह प्रसन्न होता है और परिणामतः स्थिति और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध शक्तिवर्द्धित हो जाते हैं। यदि उत्तर त्रुटिपूर्ण होता है तो इससे सम्बन्धित क्रोध की भावना जाग्रत हो जाती है और यह प्रतिक्रिया छोड़ दी जाती है, जब तक कि वास्तव में यह अनुभव इतना कष्टदायी या पीड़ात्मक न हो कि यह घटना तथा त्रुटि हमारी स्मृति में स्थायी हो जाय। सन्तोष की भावना ही एक प्रतिक्रिया को निश्चित करती है, जबकि असन्तोष की भावना इसे नष्ट कर देती है।

सफलता और विफलता—एक व्यक्ति को विस्तृत सीमा तक नियन्त्रित करती हैं। किसी भी कार्य की सफलता पाठक के सीखने को नियमित तथा नियन्त्रित करती है किन्तु विफलता संवेगात्मक स्थिति को उत्पन्न करती है। यह शिक्षक का कर्त्तव्य है कि प्रत्येक बालक के लिए ऐसी सीखने की स्थिति उत्पन्न करे कि उसे सफलता मिले।

---

1. "With repetition there must be interest, motive and meaningfulness to enhance the acquisition of facts and ideas."
2. Pleasant or satisfying.
3. "Satisfying results strengthen and discomfort weakens the bond between situation and response."

यदि बालक अपनी शिक्षा में बराबर विफलता की भावना प्राप्त करेगा तो वह एक विस्तृत सीमा में क्रोध की भावना ■ प्रभावित होगा, जिससे सीखने की प्रगति रुक जायेगी।

तत्परता का नियम, अभ्यास का नियम और प्रभाव का नियम—अलग-अलग नहीं हैं वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं, एक-दूसरे पर आधारित हैं और एक-दूसरे से आन्तरिक रूप में सम्बन्धित भी हैं। तत्परता और संवेगात्मक प्रभाव अभ्यास पर प्रभाव डालते हैं, परिणामतः अभ्यास के संवेगात्मक प्रभाव बालक की तत्परता को निश्चित करते हैं, जबकि वह दूसरी स्थिति में होता है।

थॉर्नडाइक का सीखने का सिद्धान्त और आलोचना (Thorndike's Theory of Learning and its Criticism)—इस सिद्धान्त के अनुसार सीखना स्थिति और तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया के सम्बन्ध की रचना से होता है। इसका अभिप्राय यह है कि सीखने के द्वारा स्थिति (S's) और प्रतिक्रिया (R's) में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सीखना एक असंयोगात्मक (haphazard) क्रिया नहीं है। ■ और R (स्थिति और प्रतिक्रिया) सन्तोष के द्वारा शक्तिवर्धित होते हैं और क्रोध द्वारा उनमें शक्तिहीनता आती है।

थॉर्नडाइक द्वारा प्रतिपादित नियम 'शारीरिक सिद्धान्त' (Physiological Theory) पर आधारित हैं। यह विचार किया जाता है कि सीखना व्यक्ति की नाड़ियों में व्यवहार (neural conduction) परिवर्तन की क्रिया है। सीखना वह क्रिया है जिसमें प्रतिक्रिया तथा स्थिति (S and R) में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

आलोचना—इन नियमों के प्रतिपादन के तुरन्त बाद से ही इनकी आलोचना की जाने लगी। मुख्य रूप से यह आलोचना अभ्यास तथा प्रभाव के नियम के सम्बन्ध में की गयी है। व्यवहारवादी (Behaviourists) तथा अवयवीवाद (Gestaltions) दोनों ने ही थॉर्नडाइक के सिद्धान्तों की आलोचना की है यहाँ पर पहले हम उनकी आलोचना के आधार और बाद में उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

व्यवहारवादी प्रभाव के नियम को ही नहीं मानते, जो कि थॉर्नडाइक के मतानुसार मूल नियम है। वे यह कहते हैं कि अभ्यास ही त्रुटि एवं प्रयास विधि के द्वारा सीखने में ~~चुनाव का मुख्य~~ सिद्धान्त है, और प्रत्येक प्रकार के सीखने में सबसे अधिक प्रभावशाली तत्त्व है। थॉर्नडाइक यह कहता है कि 'अभ्यास' सीखने के लिए पूर्ण तत्त्व नहीं है। वह यह मानते हैं कि यह सीखने में कुछ भाग लेता है, किन्तु कभी-कभी इसके द्वारा कोई भी अच्छा परिणाम नहीं निकल पाता।

अवयवीवाद (Gestalt School of Psychology) थॉर्नडाइक के नियमों की आलोचना करता है और वह उस समस्या के निर्माण में जो थॉर्नडाइक के अनुसार सीखने के तीनों नियमों में है, शंका उत्पन्न करता है। थॉर्नडाइक ■ अनुसार सीखने की क्रिया यह बताती है कि 'स्थिति' तथा 'प्रतिक्रिया' (S और R) में सम्बन्ध किस प्रकार उत्पन्न होता है, या इस सम्बन्ध को हम किस प्रकार अपने सरल बना

सकते हैं। इस प्रकार सीखने को व्यवहार के एक अलग संगठन के रूप में विचार किया जाता है और सम्पूर्ण सीखना मनोवैज्ञानिक रीति से होने वाला बताया जाता है। अवयवीवाद इसके विपरीत यह विश्वास करता है कि इस प्रकार की कोई क्रिया S और R से जन्म नहीं लेती जिसकी व्याख्या या जिसे सरल किया जा सकता है। अनुभव में स्वयं सम्बन्ध निहित रहते हैं जिन्हें हम सम्पूर्ण रूप में देखते हैं।

हम आगे व्यवहारवादियों द्वारा प्रतिपादित सीखने के सिद्धान्त पर विचार करेंगे जिसे 'सम्बद्ध प्रतिक्रिया का सिद्धान्त' (Conditioned Reflex Theory) कहते हैं।

सम्बद्ध प्रतिक्रिया का सिद्धान्त (Conditioned Reflex Theory)

सम्बद्ध प्रतिक्रिया का सिद्धान्त—शरीर-विज्ञान का सिद्धान्त (Physiological Theory) है। मनोवैज्ञानिक, मुख्य रूप से व्यवहारवादी, यह विश्वास करते हैं कि यह सिद्धान्त मानवीय सीखने की क्रिया को व्यक्त करता है। इस सिद्धान्त का मुख्य विचार यह है कि—उत्तेजना और प्रतिक्रिया का सम्बद्ध होना ही सीखना है।[1] एक प्राणी को जब कोई उचित उत्तेजक प्राप्त होता है तो प्रतिक्रिया होती है। उदाहरण के लिए, एक भूखे कुत्ते की लार बहना (salivation) एक प्राकृतिक प्रतिक्रिया है, जबकि भोजन उसके सम्मुख है। बालकों में भय और उससे बचना प्राकृतिक प्रतिक्रियाएं हैं जबकि वे एक जोर की आवाज को सुनते हों। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं को हम सीखते नहीं, वे प्राकृतिक (natural) होती हैं। यदि कोई कृत्रिम उत्तेजक (artificial stimulus) उत्पन्न कर दिया जाता है और प्राकृतिक उत्तेजक के बाद शीघ्र ही यदि इस उत्तेजक को कई बार दोहराया जाता है तो केवल कृत्रिम उत्तेजक की उपस्थिति ही प्राकृतिक प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार प्राकृतिक-उत्तेजक को हम कृत्रिम उत्तेजक से प्रतिस्थापित (transferred) कर देते हैं।

सम्बद्ध क्रिया को स्पष्टतया समझने के लिए पवलव (Povlov) का कुत्ते के साथ किये गये प्रयोग का वर्णन हम यहाँ करेंगे। भोजन के सामने लार बहने की प्राकृतिक प्रतिक्रिया को पवलव ने घंटी के बजने के कृत्रिम उत्तेजक (artificial stimulus) से सम्बन्धित कर दिया। उसने कुत्ते को खाना देने से पहले कई दिन तक घंटी बजाई और फिर खाना दिया। इसके बाद उसने केवल घंटी बजाई और भोजन नहीं दिया और प्रतिक्रिया को देखा गया। यह देखा गया कि अब भी लार बहने की प्रतिक्रिया हुई। तात्पर्य यह निकला कि घंटी के कृत्रिम उत्तेजक ने लार बहने की प्राकृतिक क्रिया को उसी प्रकार—जिस प्रकार एक प्राकृतिक उत्तेजक ने किया था, नियन्त्रित कर दिया। सम्पूर्ण सीखने को हम इसी प्रकार की एक कृत्रिम प्रतिक्रिया कह सकते हैं जो प्राकृतिक उत्तेजकों के प्रति होती है।

---

1. Learning consists of bond formation.
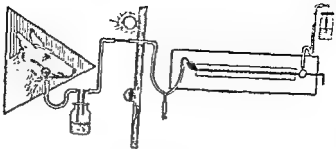
चित्र—५७
[पवलव का कुत्ते पर प्रयोग]

इसी प्रकार से एक दूसरा प्रयोग जो रेनर तथा वाट्सन द्वारा किया गया, उसमें वाट्सन (Watson) ने एक ११ माह का बालक परीक्षा के हेतु लिया। यह बालक अपनी शैशवावस्था में बालों वाले (furry) जानवरों से नहीं डरता था और खरगोश के साथ खेलने में बड़ा प्रसन्न होता था। एक बार जब बच्चा खरगोश के साथ खेल रहा था, एक भयानक ध्वनि की गयी। इस प्रकार बालक डर गया। इस क्रिया को कई बार दोहराया गया। यह आवाज उसी समय की जाती थी, जब बालक जानवरों के साथ खेलता था। इसका परिणाम यह हुआ कि बालक बालों वाले जानवर से उस समय भी डरने लगा जबकि यह आवाज पैदा नहीं की जाती थी। इससे यह प्रकट होता है कि ध्वनि का प्राकृतिक उत्तेजक, जिससे कि भय की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती थी, बालों वाले जानवर के साथ सम्बन्धित कर दिया गया। इसको हम निम्न प्रकार से प्रदर्शित कर सकते हैं—

उत्तेजक	प्रतिक्रिया
अचानक भयानक ध्वनि (प्राकृतिक उत्तेजक) (S)	भय (R)
जानवर (प्राकृतिक) (S A)	प्रसन्नता (R)
जानवर + भयानक ध्वनि (कृत्रिम) (प्राकृतिक) (S A) + (S)	भय R
जानवर (केवल कृत्रिम) S A	भय R

उपर्युक्त विवरण से विद्यार्थियों को यह स्पष्ट हो सकता है कि सम्बद्धता एक साधारण क्रिया है जो एक उत्तेजक का यान्त्रिक स्थानापन्न है (mechanical substitution)। उदाहरण के लिए, उपर्युक्त विवरण में SA द्वारा S का स्थानापन्न हो जाना एक सरल क्रिया प्रतीत होता है। लेकिन यह एक त्रुटिपूर्ण विचार है। सम्बद्ध क्रिया इतनी सरल नहीं है और न इतनी यान्त्रिक ही है, जैसा कि प्रतीत होता है। निम्न वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है।

पवलव के प्रयोग में कुत्ते की लार, घंटी के बजने से निकल आयी, उस समय भी जब उसे भोजन नहीं दिया गया था। लेकिन जब लगातार घंटी बजायी गयी और कुत्ते को भोजन नहीं दिया गया तो कुत्ते ने भोजन का चिह्न घंटी को नहीं माना। इसी को हम सीखने की प्रयोगात्मक विलय[1] कहते हैं। साथ ही साथ यह भी देखा गया कि कुत्ते ने, जब ऐसा प्रतीत होता था कि S-R (उत्तेजना प्रतिक्रिया) के सम्बन्ध को जो घंटी और लार बहने से था, तोड़ दिया है तब फिर घंटी बजने के बाद जब खाना देना शुरू कर दिया गया तो केवल घंटी की आवाज पर लार का बहाना आरम्भ कर दिया। इसे हम 'स्वाभाविक प्राप्ति' (spontaneous recovery) कहते हैं। यह तथ्य हमें कुत्ते के सीखने के बारे में निष्कर्ष निकालने में एक अनिश्चित अवस्था में छोड़ देते हैं। हमारे सामने दो मुख्य विचार उपरोक्त प्रयोग द्वारा प्राप्त परिणामों की व्याख्या करने के हेतु आते हैं। यह हैं—(i) सीखने की प्रतिक्रिया पूर्णतः नष्ट नहीं हुई, (ii) कुत्ते को जब घंटी बजाकर और भोजन न देकर कुछ बताया गया वह सतर्क हो गया। उसने अपनी प्रतिक्रिया को रोक लिया। अब यह कठिन है कि इनमें से कौन-सा मत हम उचित मानें और कौन-सा अनुचित ? यही कारण है कि हम यह कहने को बाध्य हैं कि कृत्रिम उत्तेजक के द्वारा नियन्त्रित सीखना इतना सरल नहीं या इतना यान्त्रिक नहीं, जैसा कि सोचा जाता है।

ऊपर दिया हुआ पवलव के प्रयोग का एक साधारण विवरण है। इस प्रयोग के अनेक परिवर्तन (variation) हो चुके हैं जो गूढ़ हैं, और यह प्रयोग वस्तु-मनोविज्ञान (Objective Psychology) का मुख्याधार हो गया है। सम्बद्ध प्रतिक्रिया-सिद्धान्त बहुत विकसित हो गया है। यह हमारी भय, घृणा और अन्य प्रतिक्रियाओं की भी—जो व्यक्ति, जगह और वस्तुओं आदि के सम्बन्ध में होती हैं, व्याख्या करने में उपयोग किया जाता है। भय इत्यादि से सम्बद्धता बालकपन में हो जाती है, और बड़े हो जाने पर चाहे हमारे भय इत्यादि के कारण हमें अज्ञात ही रहें परन्तु उनका प्रभाव शेष रह जाता है। अतएव यह कहा जाता है कि कुछ भय, उदाहरण के लिए, बालक का अंधेरे या किसी जानवर का भय इत्यादि, प्राकृतिक नहीं होते, वह भय सम्बद्ध होते हैं। यह सिद्धान्त यह भी बताता है कि मानवीय व्यवहार

1. Experimental Extinction.

इतना अतार्किक (non-rational) क्यों होता है। यह हमारे अन्धविश्वासों के कारणों पर भी प्रकाश डालता है। ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं—जो यदि बिल्ली उनका रास्ता काट जाती है तो उस रास्ते से कदापि नहीं जायेंगे। वे यह विश्वास करते हैं और आशा करते हैं कि यदि वे उस रास्ते से चले जायेंगे तो कोई-न-कोई संकट आ पड़ेगा। उनके अन्दर यह भावना सम्बद्धता के द्वारा ही बनी है। बिल्ली का रास्ता काट जाना और दुर्भाग्य का पड़ जाना किसी घटना के कारण सम्बन्धित हो सकता है और व्यक्ति उसी सम्बद्धता के आधार पर अन्धविश्वास बना लेता है या इस अन्धविश्वास की सम्बद्धता दूसरे व्यक्तियों द्वारा भय के प्रदर्शन के कारण हो सकती है। इस प्रकार त्रुटिपूर्ण सम्बद्धता से ही अन्धविश्वास विकसित होते हैं।

सम्बद्धता से सीखने में निहित भय (Danger involved in the learning by conditioning)—सम्बद्धता से सीखना खतरनाक भी हो सकता है जिसके निम्न कारण हैं—

(१) उत्पन्न होते ही बालक इच्छित और अनिच्छित (Intentional and Unintentional) सम्बद्धता से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। उसकी भूख, आराम और प्रेम की इच्छा उसे नियन्त्रित करने के लिए प्रयोग की जाती है जिससे वह उन सब की आशा के प्रति प्रतिक्रिया कर सके जो उसके चारों ओर हैं। अविकसित बुद्धि (unskilful) वाले बालक के हाथ में कोई भी वस्तु किसी का मुखक बनायी जा सकती है। मनुष्यों, शब्दों और परिस्थितियों से प्यार करना, घृणा करना या भय करना, जो चाहें सो बालक को सिखा दो। वह डरपोक या बहादुर, नटखट या नम्र, सुन्दर या झोंट्री, प्रसन्न या चिन्तित बनाया जा सकता है।

(२) बिना ऐच्छिक (deliberate) शिक्षण के भी बालक ऐसे अनुभव प्राप्त कर लेता है जो जोड़े में या समूह में उसे एक साथ मिलते हैं। जब बालक को उसकी दादी प्यार करती है, यदि उस समय छत से कुछ गिरकर कोई दुर्घटना हो जाती है तो परिणामतः वह दादी से डरता है। बालक बिजली की कड़क से डरने लगता है क्योंकि जब बिजली चमकती है तो उसकी माता भय प्रदर्शित करती है फलतः [illegible] वह बिजली से डरता रहता है। एक असफल प्रेमी में उस शहर के प्रति जिसमें उसका प्रेम असफल हुआ हो, घृणा की भावना पैदा हो जाती है।

इस सम्बद्धता में अधिक बाधा डालने वाला तत्व वह 'उत्तेजक' है जिससे हम परिचित नहीं हैं, अर्थात् जो हमारी चेतना में नहीं है लेकिन वह किसी भी प्रकार हमारे मन से सम्बन्धित हो गया है और प्रतिक्रिया के रूप में हमारा कोई व्यवहार प्रदर्शित हो जाता है जो पूर्णतया किसी भी प्रकार उससे सम्बन्धित नहीं है।

एक प्रयोग में यह पाया गया है कि [illegible]

र सुना जा सके (S_1) विषयी (subject) का पलकों का सिमटना (contraction) र सुनी जाने वाली ध्वनि से सम्बन्धित कर दिया गया।[1]

S_1 (उत्तेजक)—श्रवण से नीचे की आवाज, जो न सुनी जा सके ......

S_2 (उत्तेजक)—नेत्रों पर चमकदार रोशनी→R_2 (प्रतिक्रिया) परोक्ष का पलकों का सिमटना।

$S_1 + S_2 \cdots R_2$

अन्त में $S_1 \cdots R_2$ से स्पष्ट होता है कि न सुनी जाने वाली आवाज भी उचित नियन्त्रण या सम्बन्ध के कारण परोक्ष में आँख के पलकों को सिमटन उत्पन्न कर सकती है।

इस प्रयोग के अनुसार यह समझना कठिन नहीं है कि किस प्रकार एक निरर्थक स्थिति को भी तीव्र उत्तेजक के कारण प्रभावशाली बनाया जा सकता है। बहुत-सी स्थितियों में अन्तर्ज्ञान कुछ विशेष प्रकार के भाव या कार्य को जन्म दे देता है। यह भाव या कार्य जो प्रतिक्रिया के रूप में होते हैं, ऐसे उत्तेजकों पर निर्भर रहते हैं जो इतने शक्तिहीन होते हैं कि उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता।

(३) यह भी सत्य है कि भावनाएँ, शब्द, कार्य और मांसपेशियों का सिमटना एक गुच्छे (cluster) के रूप में साथ-साथ हो सकते हैं और एक-दूसरे से इतने मिले हुए हो सकते हैं कि किसी एक का प्रकट होना—किसी दूसरे को उत्पन्न कर सकता है या सभी उत्पन्न हो सकते हैं।

उदाहरण के लिए, एक बालक जिसके पिता कठोर हैं और उसे हमेशा मूर्ख और मन्द-बुद्धि पुकारते हैं तथा शारीरिक दण्ड देते हैं, के अन्दर एक ऐसी प्रवृत्ति विकसित हो जायगी कि जैसे ही उसकी आलोचना की जायगी, उसे इससे वास्तविक दण्ड के कष्ट का अनुभव होगा। इस प्रकार आलोचना उसके अन्दर भय और घृणा उत्पन्न कर देगी और उसके हृदय, फेफड़े, जिगर और ग्रन्थियों आदि में भी परिवर्तन हो जायगा। कुछ समय बाद पिता के लिए यह आवश्यक नहीं होगा कि उसको दण्ड दे क्योंकि बालक के लिए आलोचना ही पर्याप्त होगी। अब किशोरावस्था या बाद के जीवन में जब वह किसी व्यक्ति के द्वारा आलोचित किया जायगा तो उसके अन्दर भय और घृणा उसी प्रकार से जाग्रत हो जायगी जैसी कि तब जाग्रत होती थी जब उसके पिता उसकी आलोचना करते थे, मुख्य रूप से उस समय जब वह आलोचक उसके पिता से मिलता-जुलता हो।

सम्बद्धता द्वारा सीखने की उपयोगिता (Usefulness of the Learning by Conditioning)—ऊपर हमने सम्बद्धता द्वारा सीखने के कुछ भयानक परिणामों

---

1. "The pupillary response conditioned to subliminal auditary stimuli."—*L. F. Baker.*

का वर्णन किया है, किन्तु उनके कारण इसकी उपयोगिता कम नहीं होती। लगभग हमारी सभी आदतें, जिनमें भाषा भी सम्मिलित है, हमारी सम्बद्धता के ही परिणाम हैं, हमारा संवेगात्मक जीवन भी सम्बद्धता के द्वारा निर्मित किया जाता है।

जब सम्बद्धता की क्रिया सफल हो जाती है तब कोई मुख्य प्रतिक्रिया किसी मुख्य ओर संकेत करती है, व्यवहार स्वचालित होता है और तब हम यह कह सकते हैं कि पाठक को एक विशेष आदत बन गई, जिससे वह एक विशेष प्रकार से प्रतिक्रिया करता है। स्पष्ट रूप से कुछ पाठशालाओं में विषय; जैसे—पढ़ना, लिखना भाषा की उक्तियाँ आदि; एक विशेष प्रकार की आदत बना [illegible] हैं जो प्राथमिक रूप में महत्त्वपूर्ण होती हैं।

सीखने में सम्बद्ध सहज-क्रिया सिद्धान्त की सफलता—*सीखने में सम्बद्ध-सहज क्रिया की सफलता शरीर की दशा के अतिरिक्त बहुत-से तथ्यों पर निर्भर होती* है। वे इस प्रकार हैं—

(१) *सन्तोषजनक उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया होनी चाहिए। प्रतिक्रिया के* बाद उत्तेजक और बिना प्रतिक्रिया के उत्तेजक का कोई महत्त्व नहीं होता। भोजन को लाने का कार्य घण्टी बजने के बाद होना चाहिए। यदि घंटी को उस समय बजाया जाता, जब कुत्ता भोजन समाप्त कर चुका है तो कुत्ते के लार नहीं निकलती है क्योंकि कुत्ता भोजन समाप्त करने के बाद घंटी की ध्वनि को उत्प्रेरित (anticipate) करता है। इसके अतिरिक्त यदि भोजन को उपस्थित करने और घंटी के बजने में *अधिक समय का अन्तर होता तो यह प्रतिक्रिया सम्बन्धित नहीं हो सकती है क्योंकि कृत्रिम उत्तेजक का प्रभाव इस समय के अन्तर से नष्ट हो जाता है।*

(२) *दूसरा उत्तेजक पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ होना चाहिए।* यदि पहला उत्तेजक दृढ़ है तो दूसरे के प्रति कोई ध्यान आकृष्ट नहीं किया जायेगा। यदि भोजन को घण्टी के बजने के पहले दे दिया जाता है तो कुत्ता घंटी को महत्त्वपूर्ण नहीं समझता है।

(३) *दूसरे उत्तेजक को पहले के बाद ही शीघ्र लगातार उस समय तक देना चाहिए जब तक कि उनमें सम्बद्धता स्थापित न हो जाय।* घंटी को भोजन के पहले कई बार बजाना चाहिए।

(४) *एक और तत्त्व जो सम्बद्धता की सफलता के लिए आवश्यक है, अनुकूल वातावरण का तत्त्व है। जैसा कि उत्तेजक को नियंत्रित करना आवश्यक है,* उसी प्रकार वातावरण के बारे में भी संतुष्ट होना कि यह इच्छित प्रतिक्रिया के अनुकूल है, आवश्यक है। क्योंकि बालक जो कुछ सीखता है, वह पूर्व पर आधारित होता है और उस पर पर्यावरण का उतना ही या उससे भी अधिक प्रभाव पड़ता है जितना कि उत्तेजक का। उदाहरण के लिए, वह कुत्ता जिसकी प्रतिक्रिया को घण्टी से सम्बद्ध कर दिया गया, जिससे कि घंटी के बजने से उसके लार *निकले, वह यह*

प्रतिक्रिया कभी न करता यदि घंटी किसी बिल्कुल नये वातावरण या परिस्थिति में बजायी जाती, जैसे उस समय जब कि कुत्ता गली को पार कर रहा होता। इसी प्रकार भाषा-शिक्षण में बहुधा कक्षा में इस प्रकार का वातावरण हो जाता है जो उस भाषा को सुगमता से सीखने वाले वातावरण से कहीं दूर होता है। एक व्यक्ति भाषा को बहुत शीघ्र सीखता है यदि उसे उन्हीं लोगों के बीच में रखा जाये जो उस भाषा को बोलते हों। कारण यह है कि ऐसी परिस्थितियों में सम्बद्धता के लिए उपयुक्त दशाएँ सरलता से मिल जाती हैं। यही कारण है कि वे बालक जो भारत में अंग्रेजी पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करते हैं, अंग्रेजी के बोलने तथा समझने में कठिनाई अनुभव नहीं करते।

सम्बद्ध-क्रिया-सिद्धान्त की आलोचना—बहुत से मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस सिद्धान्त की आलोचना की गयी है क्योंकि यह सिद्धान्त यह बताने में असफल हो जाता है कि उच्च विचार तथा तर्क और ऐच्छिक क्रियाएँ आदि हम किस प्रकार करते हैं। यह केवल यह बताता है कि कुछ विशेष प्रकार के सीखने के लिए विशेष प्रकार की सम्बद्धता होनी चाहिए। किन्तु इस सिद्धान्त की आलोचना तब की जाती है जब हम गूढ़ विचार के बारे में इसके द्वारा कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं पाते।

सूझ द्वारा सीखना (Learning by Insight)

कोहलर (Kohler) तथा कोफ्का (Koffka) का कथन है कि हमारा सीखना सूझ के द्वारा होता है। उन्होंने अपने प्रयोगात्मक परिणामों के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि प्राणी अपनी सूझ के द्वारा ही सीख पाता है। यदि प्राणी में सूझ न हो, तो वह सीखने में असफल रहेगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार यह विचार किया जाता है कि लगभग सभी सीखने की क्रियाओं में सूझ की आवश्यकता पड़ती है। विशेष रूप से सूझ की आवश्यकता उस समय पड़ती है, जबकि समस्या के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझने में बाधा उत्पन्न होती है। सूझ व्यक्ति की उस समय सहायता देती है, जब गन्तव्य तक पहुँचने में विविध बाधाएँ आती हैं। बिना सूझ के यदि प्रयास एवं त्रुटि विधि से ही बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया जाय तो व्यक्ति कुछ भी नहीं सीख पाता।

निम्न स्तर के प्राणियों में सूझ बहुत ही कम मात्रा में पायी जाती है। उच्च-स्तर के प्राणियों में सूझ पाये जाने के कारण ही वह जटिल कार्य करने के समर्थ बन जाते हैं। हम जैसे-जैसे उद्विकास की श्रेणी (stages of evolution) में ऊपर की ओर बढ़ते हैं, सूझ की मात्रा में वृद्धि पाते हैं। एक कुत्ते, बिल्ली अथवा वनमानुष से मनुष्य में अधिक सूझ होती है। इसी कारण मनुष्य ऐसे जटिल मानसिक कार्य कर सकता है जो अन्य कोई भी प्राणी नहीं कर सकता।

कोहलर ने सूझ द्वारा सीखने के सम्बन्ध में बहुत से प्रयोग किये हैं। यहाँ हम संक्षेप में कुछ प्रयोगों का वर्णन करेंगे।

कोहलर महोदय ने एक प्रयोग में पिंजड़े की छत में एक केला इस प्रकार टाँग दिया कि वह उस चिम्पांजी को, जिस पर प्रयोग किया जा रहा था, पहुँच से बाहर रहे। चिम्पांजी ने प्रयोग के समय उस केले तक पहुँचने की बहुत चेष्टा की। उसने उछल-उछल कर केले तक पहुँचना चाहा परन्तु वह इसमें असफल रहा। फिर चिम्पांजी ने एक बक्स जो पिंजड़े में रखा था, केले के नीचे रख लिया और उस पर चढ़कर केला पाने की चेष्टा की, पर केला अब भी ऊँचाई पर था। कुछ देर बाद चिम्पांजी ने दूसरा बक्स पहले पर रखा और फिर केला पाने की चेष्टा की परन्तु फिर असफल रहा। यकायक उसे तीसरा बक्स भी पिंजड़े में दिखाई पड़ा। अब उसने इसे भी पहले दोनों बक्सों के ऊपर रख दिया और इस पर चढ़कर केला पा लिया।

दूसरे दिन इस प्रयोग को करने पर चिम्पांजी ने बिना अधिक समय नष्ट किये हुए बक्से एक-दूसरे के ऊपर रख दिये और केले तक पहुँच गया।

कोहलर के एक दूसरे प्रयोग में केले को पिंजड़े से बाहर इतनी दूरी पर रख दिया गया कि चिम्पांजी का पंजा वहाँ तक नहीं पहुँच सकता था। दो छड़ें भी पिंजड़े के अन्दर रख दी गयी, जो अलग-अलग केले तक नहीं पहुँच सकती थीं। चिम्पांजी पहले बक्स पर जो पिंजड़े में रखा था, बैठा रहा। फिर वह उठा और दोनों छड़ों को उठा लिया, बक्स पर फिर बैठ गया और उनसे असावधानीपूर्वक खेलता रहा। ऐसा करने में एक समय उसने दोनों छड़ों को एक-एक हाथ में लिया और इस प्रकार मिलाया कि वह एक सरल रेखा में हो गयीं। उसने पतली छड़ को थोड़ा-सा मोटी छड़ के छिद्र में धक्का दिया। उसके पश्चात् वह कूदा और पिंजड़े की छड़ों के पास पहुँचकर दोनों मिली छड़ों के द्वारा केला खींचने लगा। कोहलर का कहना है कि यह उसकी आन्तरिक सूझ ही थी जिसके कारण वह उस केले को प्राप्त कर सका।

कोहलर के प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि चिम्पांजी जब अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाता तो चुपचाप बैठ जाता है परन्तु बैठे-बैठे यकायक उसे एक नया रास्ता दिखाई पड़ता है जिसे हम सूझ का फूट पड़ना कहेंगे; और वह उत्साहित होकर अपनी समस्या सुलझाने में लग जाता है। इस प्रकार चिम्पांजी को जो अनुभव होता है और जो सूझ के आगमन का परिचायक व्यवहार है। उसे कोहलर 'आहा अनुभव' (Aha Experience) की संज्ञा देता है।

हमारे सीखने में भी इस प्रकार सूझ का तत्त्व मुख्य होता है। कोई प्रश्न हमारे सम्मुख है, हम उसे हल नहीं कर पा रहे हैं और चुप बैठे हैं। यकायक हमें उसका हल समझ में आ जाता है और हम सफल हो जाते हैं। यह यकायक हल का समझ में आ जाना—सूझ द्वारा ही होता है।

परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सूझ द्वारा सीखने और प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखने में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखने में

चित्र १८ : बन्दरो द्वारा सीखना
देखिये बन्दरों को किस प्रकार सिखा पढ़ाकर उन्हे अनेक कार्य करने के योग्य बना दिया जाता है परन्तु क्या उनके सीखने और मानव के सीखने में कोई भेद नहीं है।

प्राणी परिस्थिति को नहीं समझ पाता परन्तु सूझ द्वारा सीखने में वह उसे पूर्व समझता है। किन्तु यह अन्तर होते हुए भी दोनों प्रकार के सीखने में एक-दूसरे का कुछ-न-कुछ अंश निहित रहता है। जब प्रयास एवं त्रुटि द्वारा कोई समस्या हल की जा रही है तो कुछ-न-कुछ मात्रा में सूझ आवश्यक रूप से उसमें निहित रहती है। जैसे बिल्ली जब प्रयास एवं त्रुटि विधि द्वारा लीवर दबाना सीखती है तो उस समय जब वह खाने की समस्या का हल चाहती है, अपनी सूझ का उपयोग अवश्य करती है। वह आरम्भ में कुछ नहीं समझती परन्तु धीरे-धीरे उसको समझ में उपयुक्त मार्ग, जो उसके समस्या-समाधान में सहायक होगा, आने लगता है और जब वह सफल होती है तो उसकी समझ पूरी हो जाती है। इसी प्रकार सूझ द्वारा सीखने के किसी भी उदाहरण में प्रयास एवं त्रुटि का अंश पाया जाता है; जैसे—जब चिम्पांजी छड़ियों से खेलता है तो वह प्रयास एवं त्रुटि विधि को ही अपना रहा होता है।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि प्रत्येक सिद्धान्त सीखने के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। हम प्रत्येक सिद्धान्त की आलोचना कर सकते हैं परन्तु यह भी साथ-साथ देख सकते हैं कि उसमें कुछ सत्यता भी है। वह हमारे कुछ विशेष प्रकार के सीखने का वर्णन अच्छे प्रकार से करते हैं जबकि दूसरे प्रकार से सीखने का वर्णन इतने अच्छे ढंग से नहीं कर पाते। इस प्रकार हम किसी भी सिद्धान्त को पूर्णतया गलत नहीं मान सकते।

सीखने सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त बाद में विकसित हुए हैं। अब हम संक्षेप में इनका वर्णन करेंगे।

हल का 'पुष्टिकरण' का सिद्धान्त
(Hull's Reinforcement Theory)

हल महोदय का सिद्धान्त प्रभाव के नियम और सम्बद्धता के नियमों की मिलावट से बना है। इन नियमों को मिलाकर हल ने पुष्टिकरण के विचार का प्रतिपादन किया।

मानव तथा पशु अपने को सदा ऐसी दशा में पाते हैं, जहाँ उनको दो बातों की आवश्यकता होती है :—

(१) जो S—R कड़ी है उसे मजबूत करना; तथा (२) नवीन S—R कड़ियाँ बनाना। S—R कड़ी मजबूत प्रभाव के नियम के अनुसार होती है, और नवीन S—R कड़ियाँ सम्बद्धता के द्वारा बनती हैं। सम्बद्ध प्रतिक्रिया उसी समय होती है जब प्राणी को कुछ आवश्यकता होती है। पवलव का कुत्ता भूख की आवश्यकता के कारण ही सम्बद्धता द्वारा सीख गया। और जब सफल प्रतिक्रिया हो जाती है तब प्रभाव के नियम के अनुसार आवश्यकता कम हो जाती है या सन्तुष्ट हो जाती है। हल (Hull) का पुष्टिकरण का सिद्धान्त आवश्यकता, सम्बद्धता और प्रभाव की मिलावट स्पष्ट करता है।

हल महोदय के अनुसार जब आवश्यकता कम हो जाती है तो S—R सम्बन्ध जो आवश्यकता कम होने के समय प्रस्तुत होते हैं, दृढ़ हो जाते हैं (reduction of a need reinforces any S—R connections which exist at the time of the reduction)। आवश्यकता कम होने से तात्पर्य ही यह है कि सफल प्रतिक्रिया हुई है, और सफल प्रतिक्रिया S—R कड़ी को मजबूत ही करती है (सम्बद्धवाद के अनुसार)। अतएव हल के सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि—"जब भी एक प्रतिक्रिया (R) शीघ्रता से एक उत्तेजक (S) के कारण होती है और यह S—R का सम्बन्ध आवश्यकता की कमी से बहुत कम समय के अन्दर ही सम्बन्धित हो जाता है, तब उस S—R सम्बन्ध को दोबारा होने की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ जाती हैं।"[1]

हल का पुष्टिकरण का सिद्धान्त यह स्पष्ट कर देता है कि आवश्यकता की सन्तुष्टि और S—R कड़ी में सम्बन्ध तुरन्त अथवा बहुत कम समय में होना आवश्यक है। यदि यह समय बढ़ जाता है तो पुष्टिकरण में कमी आ जाती है। इसका उदाहरण है—एक तेज बालक जब अपनी कापी कक्षा में जँचवाने लाता है तो तुरन्त प्रशंसा चाहता है। यदि यह प्रशंसा उसे नहीं मिलती है तो कापी जँचवाने की ओर से वह उदासीन होने लगता है।

टोलमान का 'चिह्न-सीखना' सिद्धान्त
(Tolman's Theory of Sign Learning)

टोलमान महोदय का सिद्धान्त समस्या हल में 'प्रयोजन' (purpose) के महत्त्व पर केन्द्रित है। टोलमान ने चूहों के सीखने के व्यवहार का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर आया कि चूहे की प्रतिक्रियायें बहुत कम अर्थहीन होती हैं। चूहा समस्या की ओर एक संगठित ढंग से अग्रसर होता है। सीखना ज्ञानात्मक नक्शे (cognitive-maps) बनाना है। चूहा अपना रास्ता जानता है। वह एक निश्चित व्यवहार का क्रम पुष्टिकरण के द्वारा नहीं सीखता। पुरस्कार, दण्ड तथा सम्बद्धता—ऐसे चिह्न हैं जो उसे बताते हैं कि उसे इस मार्ग पर जाना है।

टोलमान यह मानते हैं कि सीखने वाला चिह्नों का अनुसरण करके एक उद्देश्य पर पहुँचने की चेष्टा कर रहा होता है। वह अर्थ सीखता है, न कि गति करना। हल के सिद्धान्त के अनुसार वह केवल एक प्रतिक्रिया करने वाली आदत सीख लेता है। यही इन दोनों सिद्धान्तों का अन्तर है।

मनुष्य तथा पशु की सीखने की क्रियाओं में अन्तर—मनुष्य तथा पशु की सीखने की क्रियाओं में काफी अन्तर है। इस अन्तर का मुख्य कारण यही है कि

---

1. "Whenever a response (R) follows quickly upon a stimulus (S) and this conjunction of S and R is closely associated in time with the diminution of a need, there will be an increased tendency for that S—R to recur on later occasions."

मनुष्य का स्नायुमण्डल काफी विकसित होता है जबकि पशुओं का स्नायुमण्डल निम्न स्तर पर है। हम मनुष्य और पशुओं के सीखने की क्रिया के अन्तर को निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

(१) मनुष्य पशु की अपेक्षा अच्छे ढंग से निरीक्षण कर सकता है। मनुष्य में बुद्धि अधिक होती है, इस कारण वह एक अच्छा निरीक्षणकर्ता होता है। सीखने की बहुत-कुछ सफलता अच्छे निरीक्षण पर निर्भर होती है क्योंकि जब वस्तुओं को अच्छी प्रकार देख लिया जाता है तो उनके सम्बन्ध में सीखना सरल हो जाता है।

(२) जिस समय मनुष्य के सीखने में बाधाएँ आती हैं, वह उन्हें दूर करने की चेष्टा करता है। एक पशु भी बाधाओं को दूर करने में सक्रिय रहता है। परन्तु मनुष्य धैर्य एवं दृढ़ संकल्प-शक्ति से बाधाओं को दूर करने में जुटा रहता है, जबकि पशु शीघ्र हताश हो जाता है। अतएव इच्छा-शक्ति, धैर्य एवं उद्देश्य-प्राप्ति के लिए लगन आदि गुण मनुष्य के सीखने में बहुत सहायक होते हैं।

(३) मनुष्य तथा पशु के सीखने में एक और अन्तर यह है कि मनुष्य भाषा का उपयोग अपने सीखने में कर सकता है जबकि पशु के लिये यह सम्भव नहीं है।

(४) मनुष्य में तर्क, विचार करने तथा कल्पना करने की शक्ति पायी जाती है, जिनका प्रयोग वह सीखने में करता है। पशु में इन सबका अभाव पाया जाता है।

(५) मनुष्य तथा पशुओं के समस्या-समाधान की विधि में भी अन्तर है। मनुष्य तर्क, सूझ इत्यादि के द्वारा समस्या समाधान (problem solving) करता है, जबकि पशु केवल बिना सीखे आदतजन्य व्यवहार (unlearned and habitual problem solving behaviour) से, और प्रयास एवं त्रुटि विधि द्वारा ही समस्या समाधान कर सकता है। कुछ उच्च स्तर के पशु सूझ द्वारा भी समस्या-समाधान कर सकते हैं परन्तु निम्न स्तर के पशु इस विधि को नहीं अपना सकते।

सारांश

प्रत्येक व्यक्ति जन्म के आरम्भ में ही सीखना प्रारम्भ करता है और जीवन-पर्यन्त सीखता ही रहता है। जन्म के समय और उसके कुछ समय बाद तक शिशु बिल्कुल असहाय होता है किन्तु वह क्रमशः अपने को वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित करना सीखता है। वातावरण के अनुकूल व्यवस्थापन में दो मुख्य तत्त्व कार्य करते हैं: (१) परिपक्वता, (२) अनुभव से लाभ उठाना। वस्तुतः अनुभवों को बढ़ाना और प्रतिक्रियाओं को उपयुक्त बनाना ही 'सीखना' है।

सीखने की परिभाषाएँ विविध विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से दी हैं। बर्नहर्ट के अनुसार, "किसी समस्या को सुलझाने अथवा किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अभ्यास के द्वारा किन्हीं निश्चित परिस्थितियों में व्यक्ति के कार्यकलापों में जो स्थायी

रूपान्तर होता है उसे ही 'सीखना' कहते हैं।" गेट्स के मत से "अनुभव द्वारा व्यवहार में रूपान्तर लाना ही 'सीखना' है।"

प्रौढ़ता और सीखने की प्रक्रिया का घना सम्बन्ध होता है। व्यक्ति जैसे-जैसे प्रौढ़ होता जाता है, उसके सीखने की शक्ति बढ़ती जाती है। व्यक्ति के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में व्यक्ति विभिन्न प्रकार से सीखता है। कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जब सभी व्यक्ति एक ही प्रकार की बातें सीखते हैं, जैसे—शैशव एवं बाल्यकाल। इनमें सभी बालक प्रथम चलना, बोलना, दौड़ना और खेलना सीखते हैं।

सीखना—एक सरल क्रिया नहीं है। सीखने को निबद्ध करने वाले बहुत से तत्त्व होते हैं। इनको मुख्य रूप से हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं:—(१) मनोवैज्ञानिक तत्त्व, (२) शारीरिक तत्त्व, तथा (३) पर्यावरण-सम्बन्धी तत्त्व। मनोवैज्ञानिक तत्त्व को हम सीखने में अनुप्रेरणा कहते हैं। शिक्षा में अनुप्रेरणा वह तत्त्व है जो बालक के अन्दर रुचि उत्पन्न करती है। अध्यापक उचित शिक्षा तभी प्रदान कर सकता है जब वह बालकों को सीखने के लिए अनुप्रेरणा प्रदान करे। अनुप्रेरणा को मुख्यतः दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—(१) आन्तरिक अनुप्रेरणा, तथा (२) बाह्य अनुप्रेरणा।

आन्तरिक अनुप्रेरणा—भूख, मूल प्रवृत्तियाँ, आवश्यकताएँ, रुचि इत्यादि होती हैं।

बाह्य अनुप्रेरणा को हम बाह्य अनुप्रेरक इस कारण कहते हैं क्योंकि यह स्वतः सीखने की क्रिया में प्रवेश करते हैं। मुख्य बाह्य अनुप्रेरणाएँ हैं—(१) प्रशंसा तथा भर्त्सना, (२) प्रतिद्वन्द्विता, (३) पुरस्कार तथा दण्ड, (४) उन्नति का ज्ञान, (५) श्रव्य-दृश्य सामग्री। सीखने की क्रिया में अनुप्रेरकों के तीन कार्य होते हैं—(१) प्रेरक हमारे कार्य को शक्तिवान बनाते हैं, (२) प्रेरक हमारे व्यवहार को चुनने वाले होते हैं, (३) प्रेरक हमारे व्यवहार का संचालन करते हैं।

सीखने के सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—(१) प्रयास एवं त्रुटि का सिद्धान्त, (२) सूझ का सिद्धान्त, तथा (३) सम्बद्ध प्रतिक्रिया का सिद्धान्त।

प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखने में व्यक्ति पहले किसी उद्देश्य का ज्ञान करने का प्रयत्न करता है। किन्तु उसे उस उद्देश्य-प्राप्ति का साधन ज्ञात नहीं रहता नहीं मालूम होता, अतः वह प्रयास का प्रथम कदम रखता है। यदि वह कदम उसे सफल सहायक सिद्ध होता है तो उसकी पुनरावृत्ति होती है, और जो कदम सहायक नहीं होता है, वह त्रुटिपूर्ण होता है, उसे छोड़ दिया जाता है। अतः प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखने में व्यक्ति उन अनुभवों को दोहराता जाता है जिनसे लाभ प्राप्त होता है जो सफलता के रूप में सहायक होते हैं, और उन अनुभवों को छोड़ देता है जो व्यर्थ सिद्ध होते हैं।

थॉर्नडाइक के तीन प्रमुख नियम हैं—(१) तत्परता का नियम, (२) अभ्यास का नियम, तथा (३) प्रभाव का नियम। थॉर्नडाइक के अनुसार सीखना एक क्रिया है

जिसमें उत्तेजक और प्रतिक्रिया को सम्बन्धित कर दिया जाता है। थॉर्नडाइक के सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना व्यवहारवाद और अवयवीवाद—दोनों के अनुयायियों द्वारा की गयी है।

व्यवहारवादी सम्यक् प्रतिक्रिया के सिद्धान्त में आस्था रखते हैं। इनके अनुसार सम्पूर्ण सीखने की क्रिया—कृत्रिम प्रतिक्रिया को प्राकृतिक प्रतिक्रिया के साथ सम्बद्ध करना है। इस प्रकार से सीखने की उपयोगिताएँ भी बहुत-सी हैं। लगभग सभी हमारी स्थापित की हुई आदतें हमारी भाषा सहित सम्बद्धता के ही कारण विकसित होती हैं। संवेगात्मक जीवन पर भी सम्बद्धता का प्रभाव पड़ता है। सीखने में सम्बद्धित प्रतिक्रिया का बनना—प्राणी की दशा तथा कुछ विशेष परिस्थितियों पर निर्भर होता है। बहुत-से मनोवैज्ञानिक सम्बद्ध प्रतिक्रिया के सिद्धान्त की आलोचना इस कारण करते हैं कि यह उच्च मानसिक क्रियाओं की व्याख्या उचित ढंग से नहीं कर पाता।

अवयवीवाद के सिद्धान्त द्वारा सीखना सूझ द्वारा होता है। प्राणी सीखने की स्थिति का अध्ययन एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में करता है और इसी रूप में इसे समझता है। इसी प्रकार के अध्ययन के कारण सीखने की स्थिति में समस्या का पूर्ण हल निकल आता है। कोहलर इत्यादि के प्रयोगों ने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में सहायता दी है।

मनुष्य तथा पशुओं के सीखने में अन्तर है। मनुष्य में बुद्धि, निरीक्षण करने की शक्ति, धैर्य, संकल्प-शक्ति, भाषा का ज्ञान—पशुओं की अपेक्षा अधिक होता है जिसके कारण उसका सीखना पशुओं से उच्च कोटि का होता है।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. सीखने से आप क्या तात्पर्य समझते हैं? इसकी विभिन्न परिभाषाओं पर प्रकाश डालिए।

२. सीखने में अनुप्रेरणा का क्या महत्त्व है? विभिन्न प्रकार के अनुप्रेरकों का वर्णन कीजिए जो सीखने की क्रिया को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण हैं।

३. प्रयास एवं त्रुटि विधि से आप क्या समझते हैं? सीखने में इसका क्या महत्त्व है?

४. 'सीखना केवल सम्बद्ध प्रतिक्रिया द्वारा ही सम्भव है।' आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं? अपने मत की पुष्टि उदाहरण सहित कीजिए।

५. सूझ द्वारा सीखने के सम्बन्ध में कोहलर द्वारा किये गये प्रयोगों का वर्णन कीजिए। इन प्रयोगों के परिणामों की व्याख्या कीजिए।

६. पशु के सीखने और मानव के सीखने में क्या अन्तर है? स्पष्ट रूप से समझाइए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. बोरिंग, ई० जी० : ए हिस्ट्री ऑफ एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलोजी, एप्लिटन सेन्चुरी, क्राफ्ट, न्यूयार्क, १९५० ।

२. गैरेट, एच० ई० : साइकॉलॉजी, अमेरिकन बुक, न्यूयार्क, १९५१ ।

३. हिलगार्ड, ई० आर : थ्योरीज ऑफ लर्निंग, एप्लिटन सेन्चुरी, क्राफ्ट, न्यूयार्क, १९४८ ।

४. किंग्सले, एच० एल० : नेचर एण्ड कण्डीशंस ऑफ लर्निंग, प्रेण्टिस-हाल, न्यूयार्क, १९४६ ।

५. मैकगॉक, जे० ए० : दि साइकॉलोजी ऑफ ह्यूमन लर्निंग, लॉगमेन्स, न्यूयार्क, १९५२ ।

६. यंग, पी० टी० : मोटीवेशन ऑफ बिहेवियर, जोन विले एण्ड सन्स, न्यूयार्क, १९३६ ।

१५.

चिन्तन, तर्क एवं समस्या-समाधान[1]

मानव को पशु से विकास के उच्च स्तर पर बहुत-कुछ इस कारण माना जाता है कि उसमें चिन्तन तथा तर्क करने की क्षमता पशु से कहीं अधिक पायी जाती है। पशु किसी वस्तु को देखकर केवल उसका प्रत्यक्षीकरण कर सकता है। किन्तु मानव उस समय भी जब वस्तु उपस्थित नहीं है, उसके सम्बन्ध में चिन्तन कर सकता है। वह वस्तु का प्रत्यक्षीकरण और वस्तु का चिन्तन—दोनों ही वस्तु के अभाव में भी कर सकता है। हमने 'प्रत्यक्षीकरण' के सम्बन्ध में अध्याय ११ में वर्णन किया है। यहाँ हम 'चिन्तन' के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे।

चिन्तन क्या है ?
(What is Thinking)

'चिन्तन' प्रत्यक्षीकरण और कल्पना की भाँति ही एक ज्ञानात्मक क्रिया है। परन्तु यह प्रत्यक्षीकरण और स्मृति—दोनों पर ही निर्भर रहती है। किसी वस्तु के चिन्तन से हमारा तात्पर्य यह है कि उस वस्तु को हमने पहले कभी देखा है और उसकी स्मृति मात्र ही अब हमारे मस्तिष्क में रह गयी है। उदाहरण के लिए, जिस समय आप शब्द-वर्ग (cross-word puzzle) या पहेली का हल निकालने का प्रयत्न करते हैं, तो कई प्रकार के हल आपके मस्तिष्क में आते हैं। जब आप हल के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो इस क्रिया में वे शब्द ही जिनका प्रत्यक्षीकरण आप पहले से कर चुके हैं, आपके मस्तिष्क में आते हैं। अतएव प्रत्यक्षीकरण और कल्पना—दोनों का ही इस क्रिया में मिश्रण होता है, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि चिन्तन उस घटना अथवा अनुभव के सम्बन्ध में भी हो सकता है, जो न कभी घटी हो और न जिसके

---

1. Thinking, Reasoning and Problem Solving.

घटने की सम्भावना ही हो। परियों, भूत-प्रेतों, नायकों आदि के विचार इसके उदाहरण हैं। साधारण तौर पर चिन्तन निरीक्षण के क्षेत्र में वृद्धि करता है, और व्यवस्थापन उन क्रियाओं के करने मे सहायक होता है, जिनका होना यदि चिन्तन प्रत्यक्षीकरण की वास्तविक परिधि से आगे न बढ़े तो असम्भव हो जाय।

चिन्तन के भेद (Kinds of Thinking)

चिन्तन कई प्रकार का होता है, जैसे—मानसिक कल्पना, नियमित विचार, तर्क, प्रत्यात्मक विचार, कल्पना, दिवा-स्वप्न, रात्रि स्वप्न, सृजनात्मक विचार आदि। यह विविध प्रकार के चिन्तन आपस में एकदम भिन्न और विरोधी नहीं, परन्तु परस्पर मिले-जुले होते हैं। सभी प्रकार के चिन्तनों में एक ही प्रकार की भाव-सामग्री होती है। अतएव यह सम्भव नही कि चिन्तन की वस्तुओं की भिन्नता के आधार पर प्रकारों में भेद मालूम किया जा सके। यह सम्भव हो सकता है कि विभिन्न चिन्तन की क्रियाओं मे उस विधि के आधार पर, जिसमें चिन्त्य वस्तु का उपयोग किया गया है, भेद स्पष्ट किया जा सके। अतएव चिन्तन [illegible] दो ढंगों से भिन्नता पायी जाती है :—

१. चिन्तन करने वाले मनुष्य के विचारों पर नियन्त्रण रखने की मात्रा तथा प्रकार में।
२. पूर्व-अनुभव तथा विचार द्वारा अनुभव में समानता की मात्रा में।

हमे सर्वप्रथम नियन्त्रण की मात्रा को लेना चाहिए और उसमें विभिन्न प्रकार के चिन्तन के उदाहरणों को लेकर देखना चाहिए कि—नियन्त्रण की मात्रा के पैमाने पर कौन चिन्तन किस स्थान पर आता है ? दिवा-स्वप्न, रात्रि के स्वप्न, मानसिक कल्पना आदि, ऐसे चिन्तन के उदाहरण हैं जिनमें बहुत कम नियन्त्रण की मात्रा पायी जाती है। इसके विपरीत, दूसरे सिरे पर उच्च ढंग से नियन्त्रित चिन्तन के प्रकार, जैसे—तर्क, सृजनात्मक कल्पना आदि, आते हैं। इनके मध्य में अन्य प्रकार के विचार भी आते हैं जो न तो इतने अधिक नियन्त्रित होते हैं और न इतने कम।

भिन्नता प्रकट करने वाला दूसरा साधन वह स्तर है जिस तक विचार एवं अनुभव का पुनर्स्मरण होता है, या वह स्तर है जिस तक विचार और पूर्वानुभव के मध्य में समानता है। जैसा कि हमने प्रथम अनियमित राशि के साथ देखा है कि चिन्तन के विभिन्न ढंग नियन्त्रण के पैमाने पर विभिन्न बिन्दुओं तक पहुँचते हैं। इसी प्रकार हम अनियमित राशि में भी हमें ऐसे विचार मिल जायेंगे, जो किसी भी अतिशयता (extreme) पर हों, या इन दोनों के मध्य कहीं। विचार पूर्वानुभवों को साकार करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं। स्मृति या पूर्वानुभवों की याद, पूर्णतः एवं अनुभवों के पुनर्स्मरण से हो सकती है परन्तु कभी-कभी इसमें भी त्रुटियाँ निकल आती हैं और हम कुछ-न-कुछ भूल जाते हैं। नाम, टेलीफोन नम्बर, तिथि, ... में हमारी स्मृति पूर्णरूपेण पूर्व-अनुभव का पुनर्स्मरण [illegible] सकती है। इस

अनियमित राशि के पैमाने पर यह विचार अतिशयता है। दूसरी अतिशयता भी है, जिसे हम बहुधा कल्पनात्मक पुनस्मरण कहेंगे। यह सत्य है कि कल्पना में जो विचार पुनस्मरण कर लिये जाते हैं, वे पूर्व-अनुभव के ही द्वारा होते हैं, परन्तु उनमें समय तथा स्थान का प्रबन्ध वास्तविक अनुभव से बहुत परे होता है।

हम इस अध्याय के अन्तर्गत उच्च विचार को प्रकार-तर्क तथा समस्या हल के सम्बंध में अध्ययन करेंगे। इससे आगे के अध्याय में कल्पना, दिवा-स्वप्न एवं स्वप्न के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे।

विचार के साधन (Tools of Thought)

गहरे चिन्तन के लिए यह आवश्यक है कि हमारे मस्तिष्क के अन्दर उन वस्तुओं के सम्बन्ध में, जिनके विषय में हम चिन्तन कर रहे हैं, स्पष्ट प्रत्यय हों; प्रत्यक्ष विचारधारायें हों और हमें मुख्य बातों की परिभाषा ज्ञात हो।

अब हम दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण चिन्तन के साधनों की विवेचना, इससे प्रथम कि हम तर्क तथा समस्या-हल पर आते हैं, करेंगे। वे संकल्पना (concepts) तथा भाषा (language) हैं। पूर्ण और सही संकल्पना के बिना चिन्तन संभव नहीं तथा बिना भाषा की सहायता के चिन्तन नहीं हो सकता।

यथार्थ संकल्पना का निर्माण (Formation of Correct Concepts)

संकल्पना—चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह एक सामान्य प्रत्यय (general idea) होता है। यह किसी विशेष वस्तु का विचार या प्रतिमा नहीं होता वरन् वह एक सामान्य वस्तु, जैसे—चिड़िया, कुत्ता, पेड़ इत्यादि, का प्रत्यय होता है। कोई भी शब्द जो किसी विशिष्ट वस्तु के लिए प्रयुक्त नहीं किया गया वरन् वस्तुओं के किसी वर्ग का संकेत देता है या बहुत-सी वस्तुओं के किसी सामान्य गुण के लिए प्रयोग किया गया है, संकल्पना का ही प्रतीक होता है। संकल्पना के उदाहरण हैं—मनुष्य, स्कूल, कुत्ता, फूल इत्यादि; तथा कठोरता, मोटापन, नवीन, नरम इत्यादि।

संकल्पना या सामान्य प्रत्यय के बनने में दो क्रियायें महत्त्वपूर्ण हैं। वे हैं—(१) पृथक्करण (differentiation), एवं (२) सामान्यीकरण (generalisation)।

(१) पृथक्करण (Differentiation)—पृथक्करण से तात्पर्य है किन्हीं वस्तुओं इत्यादि में से विशिष्ट गुणों को पृथक् कर लेना। यह विश्लेषणात्मक क्रिया (analytical process) होती है। एक संकल्प के निर्माण में वस्तुओं में से सामान्य गुणों को पृथक् कर लेना चाहिए और चेतन अथवा अचेतन रूप से उनको पहचान कर लेनी चाहिए, तथा उन सब गुणों पर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए जो एक वस्तु से दूसरी में भिन्न हैं। निम्न स्तर पर तथा सबसे प्राथमिक अवस्था में एक संकल्प का अर्थ केवल यह है कि प्राणी समान उत्तेजना (similar stimuli) के प्रति समान प्रकार से प्रतिक्रिया करता है (reacts in a similar manner)। इससे तात्पर्य यह है कि कुछ

वस्तुओं में इतनी समता होती है और उनके बहुत-से गुण इतने एक समान होते हैं तथा पृथक गुणों से इतने अधिक संख्या में होते हैं कि प्राणी उन वस्तुओं में विभेद नहीं कर पाता, और उस प्रकार की वस्तुओं के प्रति उसकी प्रतिक्रिया एक समान हो होती है।

सबसे उच्च स्तर पर मानवीय संकल्प होते हैं जो भाषा के किसी शब्द द्वारा व्यक्त होते हैं। इस प्रकार के संकल्प के निर्माण में हम वर्ग या जाति या नमूना (pettern) इत्यादि को पहचान लेते हैं तथा उसे एक तार्किक परिभाषा (logical definition) भी दे देते हैं।

पृथक्करण की क्रिया किस प्रकार होती है ? यह निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायगा। नीचे दिए हुए चित्र (अ) में हमने चार चित्र एक चौकोर आकृति के दिये हैं और तीन एक त्रिकोण आकृति के। हमने पहले चार को 'चौक' नाम दिया है और दूसरे चार को 'त्रुक'। एक निरीक्षणकर्त्ता चार भुजाओं वाले चित्र तथा तीन भुजाओं वाले चित्र के सामान्य गुणों को पृथक् कर लेगा। वह समझ जायगा कि चाहे जैसे भी बना हो, चार भुजाओं वाला चित्र 'चौक' है और तीन वाला त्रुक। अतएव वह चौकोर आकृति को चाहे वर्ग हो, चाहे समानान्तर चतुर्भुज, चाहे कुछ और प्रकार
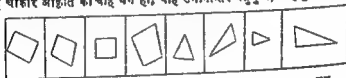
[चित्र—२१ (अ)]

से बनी हो, चित्र (ब) में 'चौक' के नाम से सम्बोधित करेगा और तीन भुजाओं वाली आकृति को 'त्रुक' से। इस प्रकार व्यक्ति चौकोर आकृति और त्रुक आकृति में सामान्य पाये जाने वाले गुणों का पृथक्करण कर लेगा।

चौक त्रुक
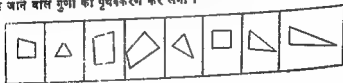
[चित्र—२१ (ब)]

(२) सामान्यीकरण (Generalisation)—जब वस्तुओं में से समान गुणों का पृथक्करण कर लिया जाता है तो फिर दूसरा स्तर संकल्पना के निर्माण का आरम्भ हो जाता है। जिस गुण का पृथक्करण कर लिया जाता है उसे फिर वस्तु या वर्ग के सब सदस्यों पर लागू कर दिया जाता है। हम यह आशा करने लगते हैं कि यह गुण सब इस प्रकार की वस्तुओं में विद्यमान होगा। जैसे, जब हम कोई भी चौकोर वस्तु देखेंगे तो हम आशा करेंगे कि वस्तु 'चौक' ही है। इस प्रकार पृथक् गुणों का

सामान्यीकरण हो जायेगा। हम विभिन्न गुणों के समान गुणों का पृथक्करण करते हैं और फिर उन सब गुणों का सामान्यीकरण करके एक कुत्ते का संकल्प (concept) निर्माण करते हैं। यहाँ सामान्यीकरण से यही तात्पर्य है कि सब कुत्तों में ये गुण जिनका पृथक्करण किया गया है, अवश्य पाये जायेंगे।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि संकल्पना निर्माण की क्रिया में यह नहीं होता है कि पहले पृथक्करण हो और फिर सामान्यीकरण, वरन् ये दो क्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। कभी सामान्यीकरण पहले हो जाता है। बालक को 'कुत्ता' शब्द सिखा दिया जाता है और फिर वह विभिन्न कुत्तों में समान गुणों का पृथक्करण कर लेता है। परन्तु यह पता लगाना कि किसी प्रत्यय या संकल्प के निर्माण में कहाँ पृथक्करण की क्रिया समाप्त हुई और कहाँ सामान्यीकरण की आरम्भ हुई, अत्यन्त कठिन है।

संकल्पना और चिन्तन का संयोग (Combination of Concept & Thinking)

चिन्तन की क्रिया, केवल अलग-अलग संकल्पना के द्वारा ही सहायता एवं संरक्षण प्राप्त नहीं करती, वरन् बहुत प्रकारों से सम्बन्धित संकल्पों द्वारा भी इसका संचालन होता है, उदाहरणार्थ—आपने ज्यामिति में पढ़ा है कि दो आसन्नकट (adjacent) कोणों का योग जब दो समकोणों के बराबर होता है, तब सीधी रेखा का निर्माण होता है। आपने सीधी रेखा के प्रत्यय को समकोणों के प्रत्यय के साथ पाया है, और यह सम्बन्ध आपके लिए उस हल (solution) का निर्माण करता है, जो अन्य बहुत-सी ज्यामिति प्रमेयों में आपके लिए सहायक सिद्ध होता है। गणित, सड़क तथा खेल के नियम प्रत्ययों के संयोग हैं जो कार्यों तथा विचारों का भी संचालन करते हैं। इन नियमों को सिद्धान्त कहा जा सकता है। एक सिद्धान्त के विश्लेषण में, विशेष सम्बन्धों में, दो या अधिक संकल्पनाओं का संयोग पाया जाता है।

प्रत्यय और सिद्धान्त हमारे चिन्तन का संचालन करते हैं। लेकिन यह कोई आवश्यक नहीं कि वे सदैव उचित ढंग से ही उनका संचालन करते हों। प्रत्ययों या व्यक्तिगत भावनाओं का गलत प्रबन्ध हमारे विचारों को झूठा तथा निष्कर्ष को त्रुटिपूर्ण बना सकता है।

भाषा तथा चिन्तन (Language & Thinking)

भाषा के बिना संकल्पना (concept) की रचना होना कठिन है। यह चिन्तन का प्रमुख साधन है। भाषा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विचारों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाना होता है। विस्तृत रूप में एक देश का चित्र आदि भाषा के ही ज्वलन्त उदाहरण हैं। विचार-विमर्श के लिए, विशेष वस्तु के लिए खास शब्द अथवा चिह्न का प्रयोग किया जाता है।

शब्द ही भाषा के आधार होते हैं। उन्हीं के द्वारा विचारों को प्रकट किया जाता है। असभ्य व्यक्ति को किसी वस्तु व उसका नाम जानने में बड़ी कठिनाई होती

है। बालक अजनबी को प्रायः नाम बताने में संकोच करते हैं। हमें यह प्रतीत-सा होता है कि यदि व्यक्ति हमारा नाम जान लेते हैं तो किसी-न-किसी रूप में वे हम पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

संकल्पना-चिन्तन के लिए भाषा का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। जब हम किसी संकल्पना का निर्माण अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के विश्लेषण के आधार पर करते हैं तब शब्दों की सहायता से ही उसको व्यक्त कर सकते हैं। हम उनके महत्त्व को बढ़ाने के लिए भाषा का ही प्रयोग करते हैं। बिना भाषा के हम स्वतन्त्रता, न्याय, अच्छाई आदि का अर्थ स्पष्ट नहीं कर सकते। इस प्रकार भाषा केवल हमारे चिन्तन के परिणाम को ही नहीं बताती वरन् उसे विस्तृत भी बनाती है। यही एक साधन है जिसके द्वारा चिन्तन में विस्तार किया जा सकता है।

भाषा विचारों को प्रकट करने का प्रमुख साधन है, लेकिन कभी-कभी यही भाषा हमें कठिनाई में डालने का कारण भी बनती है। कभी-कभी शब्द-जाल के चक्कर में पड़कर हम वास्तविक बात को भुला बैठते हैं अथवा अपने विचारों को ठीक प्रकार से व्यक्त नहीं कर पाते। यदि हमारा शब्द-भण्डार कम है तो शब्दों की कमी के कारण हम अपने विचार को प्रकट नहीं कर सकते। हम बहुत-से रंगों के विषय में जानते हैं परन्तु उनको व्यक्त करने के शब्द न होने के कारण उनके नाम नहीं जानते। इसलिए हम कह सकते हैं कि संकल्पना का भाषा से गहरा सम्बन्ध होता है। जिस वस्तु के लिए विशिष्ट चिह्न अथवा शब्द हम जानते हैं उसे हम आसानी से समझ और व्यक्त कर सकते हैं।

यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि थोड़ा चिन्तन भाषा के बिना भी हो सकता है। चिन्तन और शब्दों का उदय मस्तिष्क में एक साथ नहीं होता। कभी-कभी हम किसी विचार को व्यक्त करने के लिए सही शब्द नहीं ढूँढ़ पाते, चाहे भले ही वह हमारे मस्तिष्क में विद्यमान क्यों न हों; और हम उस विचार के लिए अनुचित शब्द का प्रयोग करते हैं, जबकि उसका अर्थ भिन्न होता है।

यदि हम भाषा का बालक द्वारा सीखने की ओर ध्यान दें तो पता चलेगा कि वाणी बालक के व्यवहार पर उसकी आयु के प्रारम्भ के वर्षों में ही नियन्त्रण रखने लगती है। प्रारम्भ के वर्षों में बालक की अपनी वाणी के स्थान पर दूसरे व्यक्तियों की वाणी नियन्त्रण रखती है। धीरे-धीरे उसकी अपनी वाणी एक ऐसा अस्त्र बन जाती है जो कि उसके व्यवहार पर नियन्त्रण रखने लगती है।

बालक की प्रारम्भ की क्रियाओं पर माता का शारीरिक नियन्त्रण रहता है। कुछ समय पश्चात् माता वाणी द्वारा बालक की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखने लगती है। फिर बालक अपने व्यवहार पर अपने आप से बातचीत करके, यह कहकर कि उसे क्या करना चाहिए, नियन्त्रण रखने लगता है। बाद में उसकी वाणी आन्तरिक

तथा संक्षिप्त होती जाती है, यहाँ तक कि वह अपने व्यवहार पर अपने चिन्तन द्वारा नियन्त्रण रखने लगता है।

जब भाषा का विकास रुक जाता है तब बालक में किसी न किसी प्रकार की मानसिक अथवा बौद्धिक कमी प्रकट हो जाती है। ल्यूरिया (Luria) महोदय ने एक यमजों के जोड़े में जो युवाओं से अलग रखकर पाले गये, एक ऐसी वाणी की रूपरेखा पायी जिसमें शब्द केवल संकेत की भाँति कार्य करते थे। इस आदि प्रकार (primitive) की वाणी के कारण उनका मानसिक विकास बहुत निम्न स्तर पर था। यह विकास बहुत शीघ्रता से उच्च स्तर पर हो गया, जब कि उनकी वाणी साधारण हो गई।

बर्नस्टेन (Bernstein) महोदय ने यह पाया कि मजदूर बालकों के बौद्धिक प्राप्तांक क्रियात्मक (Non-verbal) परीक्षण पर मौखिक (Verbal) परीक्षण से अधिक थे, जबकि विद्यालय में पढ़ने वाले बालकों के प्राप्तांक दोनों परीक्षणों पर समान थे। उनका कहना है कि यह अन्तर मजदूर बालकों के कम भाषा-ज्ञान के कारण था।

अतएव भाषा के निम्नलिखित कार्य हैं—

(१) दूसरों तक विचार पहुँचाने का यह प्रमुख साधन है।

(२) यह संकल्पना की रचना में सहायता पहुँचाती है।

(३) यह शुद्ध सम्पूर्ण विचार-वस्तु इत्यादि के विश्लेषण में भी सहायक होती है। उदाहरण के लिए, यदि एक बालक को मेज, तख्ता अथवा लकड़ी के टुकड़ों द्वारा वर्ग समझा दिया जाता है, तब वह उसकी शक्ल के विषय में विचार करता है और अन्य विचारों से उसका अन्तर स्पष्ट कर पाता है।

(४) यह उन विचारों की ओर ध्यान केन्द्रित करने में सहायक होती है, जो इसके बिना बड़ी कठिनाई से मस्तिष्क में रह सकते हैं।

(५) यह व्यवहार पर नियंत्रण रखती है। यह नियंत्रण युवा पुरुषों में आन्तरिक वाणी अथवा चिन्तन द्वारा होता है।

(६) मानसिक विकास में महत्वपूर्ण है।

तर्क तथा समस्या-समाधान
(Reasoning and Problem Solving)

तर्क—चिन्तन का वह रूप है जो उस समय होता है जब व्यक्ति को किसी समस्या का हल ढूँढ़ना पड़ता है या जिसका हल उसे निकालना पड़ता है। समस्या उस परिस्थिति को कहते हैं जिसके लिए मनुष्य के पास पहले से तैयार कोई प्रक्रिया नहीं होती, उसे तुरन्त ही उस परिस्थिति का सामना करने के लिए साधन जुटाने पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति बहुत-सी बातें करने की सोचता है। वह भ्रम में पड़ जाने के कारण यही सोचता रहता है कि यह समस्या नहीं है, और कुछ भी नहीं करता। कभी वह समस्या के विषय में कुछ भी नहीं समझ पाता और उसे हल

करने के लिए पर्याप्त समय तक एक के बाद एक हल के विषय में सोचता है। वह उस समय तक अपना मन उसी वस्तु में लगाये रहता है, जब तक कि कुछ-न-कुछ उस समस्या का हल नहीं निकाल लेता। जहाँ पर स्पष्ट समस्या सामने होती है, और उसका हल ढूँढना पड़ता है, वहाँ पर तर्क प्रभावित चिन्तन (reflective thinking) का रूप ग्रहण कर लेता है।

कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का ढंग या समस्याओं का, जो आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पहुँचाती हैं, हल ही समस्या का समाधान कहलाता है। समस्या के समाधान की विधि में समस्या की कठिनाई के अनुसार परिवर्तन आ जाता है। इसके अतिरिक्त समस्या के हलकर्त्ता की योग्यतानुसार भी समस्या-समाधान के तरीके में परिवर्तन आ जाता है।

तर्क-शक्ति की योग्यता में व्यक्तिगत भिन्नताएँ (Individual Differences in Reasoning Ability)

सभी व्यक्तियों में तर्क-शक्ति विद्यमान रहती है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसी में कम, किसी में अधिक। तर्क-शक्ति की मात्रा ही में भिन्नता पायी जाती है। कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा कठिन समस्याओं को हल कर लेते हैं, कुछ व्यक्ति दिये हुए समय में ही कई समस्याओं को हल कर लेते हैं। ऐसे व्यक्ति भी देखने में मिलते हैं जो किसी विशेष क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली समस्याओं को अन्य क्षेत्र वाली समस्याओं की अपेक्षा बहुत अच्छी तरह हल कर लिया करते हैं। इसका कारण यही है कि उनमें ऐसी समस्याओं को सुलझाने के लिए विशेष योग्यता हुआ करती है। कुछ व्यक्ति किसी समस्या को अच्छे ढंग के प्रयोग द्वारा आसानी से हल कर लेते हैं।

मनुष्य के अतिरिक्त जानवरों को भी कभी-कभी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वे भी उनको हल करते हैं; परन्तु उनका हल करने का ढंग 'प्रयास एवं त्रुटि' (trial and error problem solving) का ही होता है।

पशुओं द्वारा समस्या का समाधान (Problem Solving in Animal Level)

(१) बिना सीखे एवं स्वभाव से ही समस्या का समाधान[1]—कुछ निम्न कोटि के पशु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति यान्त्रिक विधि (mechanical ways) द्वारा करते हैं। उनकी पूर्ति करने का ढंग वातावरण की दशा पर आधारित न होकर उनमें स्वयं की जन्मगत प्रवृत्तियों पर ही निर्भर होता है। पशु किसी स्थिति में बिना सीखे निश्चित ढंग से ही कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ मधु-मक्खियों के भोजन की आवश्यकता फूलों की सुगन्धि की प्राकृतिक प्रतिक्रिया द्वारा ही पूरी होती है। उनकी खतरों से बचाव की आवश्यकता की पूर्ति एक निश्चित ढंग से हो जाती है। पशु को

1. Unlearned and habitual problem-solving behaviour.

डंक मारकर, जिसमें कभी-कभी उनकी मृत्यु तक हो जाया करती है, वे अपनी रक्षा करती हैं। ये मूल प्रवृत्त्यात्मक प्रतिक्रियाएँ कठिनाइयों का सामना करने में तभी तक सफल होती हैं जब तक कि कठिनाइयाँ साधारण हुआ करती हैं, लेकिन जब वे जटिल हो जाती हैं तब ये प्रतिक्रियाएँ विफल हो जाती हैं। कुछ जानवरों में आदतजन्य व्यवहार पाया जाता है। इसी प्रकार के व्यवहार पर इन जानवरों की समस्या का समाधान होना या न होना निर्भर रहता है। लेकिन चूँकि जानवरों की आदतें किसी हद तक निश्चित-सी होती हैं, इसलिए उनकी समस्या के हल के लिए उपयोगिता भी सीमित होती है। कुछ भी हो, आदतजन्य बिना सीखे समस्या का हल निकलने का उपयोग आगे चलकर कुछ समयोपरान्त जाति के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है, यद्यपि प्राणी-विशेष के लिए उसकी कुछ भी उपयोगिता न हो।

(२) त्रुटि एवं प्रयास विधि द्वारा समस्या का हल[1]—थॉर्नडाइक के प्रयोग इस बात को दृढ़ करते हैं कि बिल्ली व अन्य जानवर त्रुटि एवं प्रयास विधि से ही समस्या का हल खोजते हैं।

मनुष्य भी जानवरों की भाँति ही कई स्थानों पर इस प्रकार के समस्या-समाधान के तरीके प्रयोग में लाता है। जब कोई व्यक्ति यांत्रिक समस्या को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है तब वह कभी इस ढंग से, कभी उस ढंग से, और अन्त में बहुत समय बाद, वह उस समस्या को सुलझा पाता है।

(३) सूझ द्वारा समस्या का हल (Problem Solving by Insight)—दूसरा तरीका जिसे समस्या के हल के समय प्रयोग में लाते हैं, सूझ कहलाता है। कोहलर के प्रयोग इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि पशु आन्तरिक सूझ द्वारा समस्या को सुलझाते हैं। सूझ द्वारा समस्याओं का हल मानव भी करता है। इस सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं।

तर्क और मानवीय स्तर पर समस्या का हल (Reasoning and Problem-Solving on the Human Level)

तर्क भी 'प्रयास और त्रुटि' विधि की भाँति होता है। लेकिन इसमें गतिवाही अन्वेषण के स्थान पर मस्तिष्क की सहायता से अन्वेषण किया जाता है। अतएव तर्क द्वारा मेहनत तथा समय की बचत होती है। इसलिए तर्क, युक्तिसंगत तथा नियमित चिन्तन का रूप है जिसकी सामग्री भूतकालीन पुनर्स्मरण किये हुए अनुभव हैं। तर्क और सोचने में परस्पर गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों ही समस्या के सुलझाने के साधन हैं।

तर्क-शक्ति धीरे-धीरे ही बढ़ती है, उसका विकास शनैः-शनैः ही होता है, अचानक ही इसका प्रादुर्भाव नहीं होता। बालक स्कूल के जाने से पहली ही अवस्था में समस्याओं को सुलझा सकते हैं। परन्तु उनके समस्या सुलझाने तथा तर्क

---

1. Trial and error problem solving behaviour.

समस्या सुलझाने में अन्तर है। वयस्क कहीं उनसे अधिक शीघ्रता से उसी समस्या को सुलझा सकते हैं और नियमित रूप से निर्धारित अनुमान द्वारा सरलता से उसको सुलझा सकते हैं। इसलिए बालक और वयस्क में समस्या-समाधान में केवल मात्रा का अन्तर पाया जाता है, न कि ढंग का।

समस्या-हल के विभिन्न स्तर (Steps involved in Problem Solving)

डीवी (Dewey) ने पूर्ण चिन्तन का तर्कपूर्ण विश्लेषण किया। उसके अनुसार एक तर्कपूर्ण चिन्तन के निम्नलिखित स्तर होते हैं —

१. कठिनाई का अनुभव करना[1]—समस्या से परिचित होना।
२. कठिनाई की व्यवस्था करना तथा उसका निर्धारण करना[2]—समस्या को समझना।
३. सूचना को ढूँढ़ना व व्यवस्थित करना तथा उसका मूल्य निर्धारित करना एवं प्रदत्त सामग्री का वर्गीकरण करना[3] —सम्बन्धों की खोज करना—अनुमान को व्यवस्थित करना।
४. अनुमान का मूल्य निर्धारित करना[4]—अनुमान को स्वीकार करना अथवा अस्वीकार करना।
५. हल को प्रयोग में लाना[5]—निर्णय को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना।

यद्यपि ये स्तर जिनके विषय में ऊपर बताया गया है, एक पूर्ण चिन्तन में भी प्रयोग में आते हैं, फिर भी वे निश्चित रूप से समस्या-समाधान के ही स्तर हैं।

अब हम इन विभिन्न स्तरों की विवेचना करेंगे। यथा—

(१) समस्या से परिचित होना—तर्क के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि कोई न कोई समस्या हो। व्यक्ति उसे समझता हो। जब तक कठिनाई के विषय में ही न समझेगा तब तक समस्या का प्रश्न उसके सामने ही न आयेगा। जब मनुष्य कठिनाई अनुभव करता है तभी समस्या का जन्म होता है।

समस्या कई प्रकार की हो सकती है। वह व्यावहारिक भी हो सकती है; जैसे—एक नये शहर में रास्ते की खोज करना, एक नाव के निर्माण की समस्या और कमरे में कहीं 'पर्स' रखकर भूल जाने पर खोजने की समस्या, आदि। दूसरे प्रकार की समस्यायें जो तर्क उत्पादक होती हैं, वे मनुष्य में अपने कार्यों को उचित ठहराने की हैं। मुझे एक कार्य करना है; परन्तु एक अच्छा सिनेमा आया हुआ है, जिसे देखने मैं जाना चाहता हूँ। यह एक सरल कार्य है कि मैं जिन कारणों से सिनेमा जाना चाहता हूँ, उनको अधिक महत्त्व दे दूँ और अपने इस व्यवहार का मानसारोपण कर दूँ। इस प्रकार अपने मन को संतुष्ट कर समस्या का हल प्रस्तुत कर दूँ।

---

1. A felt difficulty. 2. Locate and define difficulty. 3. Locate, evaluate and organize information-classifying data. 4. Evaluating hypothesis. 5. Apply the solution.

(२) **समस्या को समझना**—समस्या से परिचित हो जाने पर, प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसे भली-भाँति समझ भी ले। उसको अन्य समस्याओं से अलग कर सके, उसकी व्याख्या कर सके, और उसे भली-भाँति समझ सके। इसके लिए (१)—भूतकालीन सम्बन्धित अनुभवों को पुनः स्मरण करने की योग्यता, एवं (२) बाधाओं पर विजय प्राप्त करने का स्वभाव बनाना आवश्यक होता है। यदि व्यक्ति समस्या को समझ लेता है तो यह स्वाभाविक ही है कि वह अपनी पूर्ण योग्यता से उस समस्या को हल करने में जुट जाय। जैसे-जैसे वह व्यक्ति उस समस्या को समझता चला जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक लाभदायक उपायों का प्रयोग उस समस्या के हल के लिए करता है।

यदि किसी व्यक्ति को केवल समस्या का त्रुटिपूर्ण ज्ञान ही है, वह केवल यही जानता है कि कुछ परिस्थिति है, तब उसके विचार समस्या-हल के लिए लाभदायक नहीं हो सकते। दूसरी ओर यदि वह समस्या की पूर्ण जाँच करना चाहता है, वह यह जानना चाहता है कि क्या पूछा गया है और क्या दिया गया है, तब यह निश्चित है कि वह समस्या हल करने में सफल होगा।

किसी समस्या के विषय में पूर्ण रूप से समझने की योग्यता अच्छे चिन्तन की जन्मदात्री होती है। समस्या के महत्वपूर्ण अवयवों के विषय में जानकारी रखना सफल चिन्तन की कुञ्जी है। समस्या को भली-भाँति समझने से समस्या के सुलझाने [illegible] उपायों को शक्ति मिलती है।

समस्या-हल की प्रकृति सदैव ही चुनी हुई होती है। जितनी अच्छी तरह व पूर्णता से समस्या की व्याख्या की जाती है, उतना ही अच्छा दृष्टिकोण उस कर्ता (समस्या को सुलझाने वाला) का हो जाता है, जिसे समस्या को उचित ढंग से सुलझाना पड़ता है। उसी के आधार पर वह विचारों की स्थापना करता है।

(३) **सूचना को ढूँढ़ना, व्यवस्थित करना तथा उसका मूल्य निर्धारित करना**—अनुमान को नियमित करने या समस्या का अस्थायी हल निकालने के लिए आधार प्रदान करने के लिए, कभी-कभी यह आवश्यक होता है कि मनुष्य के पास पर्याप्त मात्रा में सूचना हो। कठिनाइयों को हल करने के लिए नये प्रयत्नों की आवश्यकताएँ होती हैं। इसलिए यदि व्यक्ति के पास पर्याप्त मात्रा में प्रदत्त जानकारी नहीं है तब उसे चाहिए कि वह उस समय तक अपनी खोज जारी रखे जब तक कि आवश्यक तथ्यों की खोज न कर ले। इन तथ्यों का मूल्य निर्धारण व श्रेणीबद्ध होना भी आवश्यक होता है। निर्णय का ठीक या गलत होना [illegible] या तरीकों पर ही आधारित होता है। चिन्तन में [illegible] होती है। प्रदत्तों के पर्याप्त मा[illegible] है और निर्णय विभिन्न [illegible] पर्याप्त [illegible] इसका

कारण केवल यही है कि हमें यह विश्वास है कि वह समस्या से सम्बन्धित प्रदत्तों से पूर्ण परिचित है और उसके निर्णय ठीक सूचना पर आधारित हैं।

सम्बन्धों की खोज तथा अनुमानों का निर्माण—समस्या का ज्ञान और प्रदत्त का निर्धारण अस्थायी अनुमान को जन्म देता है। यह प्रकल्प प्रदत्तों के प्रत्यक्ष पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। प्रभावोत्पादक चिन्तन प्रणाली में समस्या की परिभाषा पूर्ण नहीं होती और संकलन समाप्त नहीं होता, जब तक समस्या-हल सम्बन्धी कोई प्रकल्प नहीं बना लिये जाते। ये दोनों ही कार्य—प्रदत्त संकलन तथा प्रकल्प बनाना, साथ-साथ चलते हैं।

प्रकल्पों की रचना करना आसान नहीं है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण अभी तक अच्छी तरह मालूम नहीं हो पाया है। तथ्यों व सिद्धान्तों का चाहे किसी भी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध हो, वह निष्कर्ष तक पहुँचाने में सहायक नहीं हो सकता। इसके लिए तो विशेष प्रकार के सम्बन्ध की, जो लाभदायक होते हैं और सदैव ही समस्या की प्रकृति द्वारा अथवा उस प्रश्न द्वारा जिसका हल निकालना है, निश्चित किये जाते हैं, आवश्यकता पड़ती है। लेकिन ये सम्बन्ध किस प्रकार ज्ञात किये जाते हैं? यह अभी तक रहस्य ही बना हुआ है। कुछ भी हो, पर्याप्त एवं सही सूचना ही ठीक निष्कर्ष के लिए आधार होती है। मस्तिष्क को पूर्ण रूप से समस्या के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराना ही उत्तम व ठीक प्रकल्प के लिए आवश्यक होता है। चिन्तनकर्ता (विचारक) यदि कार्य करने में दृढ़ता और तथ्यों की खोज में उत्साह का प्रदर्शन करता है तो इससे यह पता चलता है कि ठीक प्रकल्प तक पहुँच जायगा। वह पढ़ेगा और उस समस्या के सम्बन्ध में विचार करेगा, फिर उसके बाद जब तक उचित प्रकल्प को प्राप्त नहीं कर लेगा, तब तक प्रयत्न करता ही रहेगा। बहुत-सी मिथ्या क्रियाएँ, अनुरूप प्रदत्त के सावधानीपूर्ण विचार द्वारा दूर की जा सकती हैं।

कभी-कभी किसी कठिन समस्या पर कुछ समय तक काम कर लेने के पश्चात् उसे छोड़कर कुछ अन्य कार्य करना फलदायक होता है। दूसरे कार्य को करने के पश्चात् यह सम्भव हो जाता है कि फिर जब हम उस समस्या पर विचार करते हैं तो उन उपयोगी बातों पर ध्यान देते हैं जिन्हें हमने पहले छोड़ दिया है। कुछ लेखक यह विश्वास करते हैं कि जटिल समस्या के बाद कुछ समय तक कार्य न करने की आवश्यकता होती है जिससे कि नये सम्बन्ध समक्ष में आ सकें। इससे केवल यही नहीं कि समस्या की ओर नया दृष्टिकोण बने, वरन् उस समय अचेतन मन समस्या के ऊपर कार्य करता रहता है।

(४) प्रकल्प का मूल्य-निर्धारण करना (Evaluating Hypothesis)—गेट्स (Gates) तथा अन्य मनोवैज्ञानिक मूल्य-निर्धारण करने वाले प्रकल्पों में तीन बातों का निर्देश करते हैं : पहली—यह कि किसी व्यक्ति को इस बात की गणना करनी चाहिए कि क्या निष्कर्ष द्वारा समस्या का हल पूर्ण रूप से हो जाता है; दूसरी—एक व्यक्ति को

पता लगाना चाहिये कि क्या यह हल दूसरे तथ्यों या सिद्धान्तों से, जो अच्छी तरह स्थापित किये जा चुके हैं, उनके अनुकूल है; तीसरी—एक व्यक्ति को उन निष्क्रिय उदाहरणों की पूर्ण जानकारी करनी चाहिए जो निष्कर्ष को संदेहपूर्ण बना सकते हैं। ये कार्य-प्रणालियाँ केवल प्रदत्त को कार्यकारी रूप से स्थापित करने व संगठित करने की योग्यता द्वारा ही प्रोत्साहित नहीं होती, अपितु अधूरे निर्णय और आलोचनापूर्ण मूल्य-निर्धारण की प्रवृत्तियाँ भी इसमें सहायक होती हैं।

हमारा चिन्तन हमें स्थापित वस्तुओं के अनुकरण की ओर उन्मुख करता है। अतएव हमें उस प्रवृत्ति के विरुद्ध रक्षा की आवश्यकता होती है, जो चिन्तन को उन आदतों की ओर तीव्रता से आकर्षित होती है जो व्यक्तिगत रुचि और पक्षपात से सम्बन्धित होती हैं। एक आलोचनापूर्ण चिन्तन करने वाला इस बात को समझता है कि एक हल के सभी सम्भव पहलुओं पर विचार करना चाहिए। यद्यपि एक व्यक्ति मानसिक रूप से एक प्रकल्प को स्वीकार करने की ओर तत्पर हो, पर उसे फिर भी अन्य सम्भव निर्देशों या प्रकल्पों की योग्यता का ध्यानपूर्वक निरीक्षण एवं तुलना करनी चाहिए। प्रत्येक अनुमान इत्यादि का क्रम से विचार किया जाना चाहिए। जो उपयुक्त दिखाई नहीं देते, उन्हें छोड़ देना चाहिए।

(५) प्रयोग (Application)—'विचार के पूर्ण कार्य' में अन्तिम बात, हल (solution) का प्रयोग है। यदि समस्या एक प्रयोगात्मक प्रकार की है, जैसे—रेडियो की संरचना या पंखे की मरम्मत, तो साधारणतः हल को कार्य रूप में परिणत कर दिया जाता है। लेकिन शुद्ध मानसिक समस्या का निष्कर्ष प्रायः इतने निश्चित रूप से प्रयोग में परिणित नहीं किया जा सकता है। शुद्ध रूप से मानसिक समस्याओं से सम्बन्धित निष्कर्षों को विशिष्ट स्थितियों में प्रयुक्त करना चाहिए, जिसमें हल ही में निर्मित प्रत्ययों की सत्यता का अवलोकन हो जाय।

एक विशेष स्थिति में एक सामान्य सिद्धान्त को प्रयुक्त करने की योग्यता जिस प्रकार स्वयं सिद्धान्त की परीक्षा है उसी प्रकार व्यक्ति के लिए सिद्धान्त की योग्यता की भी परीक्षा है। भावपूर्ण चिन्तन के उत्पादनीय अंशों की उपयोगिता तब होती है जबकि वे प्रवृत्तियों, आदतों पर जो पूर्व ही निर्मित हो चुकी हैं, उचित प्रभाव डालें।

समस्या-हल की विधियाँ (Methods of Problem Solving)

हम कह सकते हैं कि समस्या-हल उन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की एक क्रिया है, जो उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक प्रतीत होती हैं।

समस्या-हल की विभिन्न विधियाँ (जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है) साधारण तौर पर वर्गांकित वर्ग-स्तर (graded) श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं :—

(१) अनसीखा और आदतजन्य व्यवहार,[1] (२) अन्ध त्रुटि एवं प्रयास व्यवहार,[2] (३) सूझ का व्यवहार,[3] (४) शारीरिक व्यवहार,[4] (५) वह व्यवहार, जो 'वैज्ञानिक विधि' के नाम द्वारा जाना जाता है।[5]

समस्याओं के हल में जहाँ मानव जाति पाँचों विधियों का प्रयोग करती है, वहाँ पशु-जगत में तीन विधियों का ही प्रयोग होता है। साधारणतः जिस समस्या को हल करना है, उसकी कठिनाई इस बात को बताती है कि समस्या-हल की कौन-सी विधि प्रयोग करनी चाहिए। अत्यन्त कठिन समस्याएँ केवल 'वैज्ञानिक विधि' द्वारा ही हल की जा सकती हैं।

चिन्तन, वाणी तथा भाषा
(Thinking, Speech & Language)

क्या चिन्तन और आन्तरिक वाणी अभिन्न है (Is thinking identical with inner speech) ?—व्यवहारवादी सम्प्रदाय के अनुयायी (behaviourists) यह कहते हैं कि चिन्तन न केवल भाषा पर निर्भर है वरन् यह स्वयं आन्तरिक वाणी है। वाट्सन (Watson) महोदय का कहना है कि सब प्रकार का चिन्तन वाणी के अंग अथवा अन्य मांसपेशियों की गति पर अवलम्बित रहता है। यह आन्तरिक संभाषण (inner speech) है। जब हम बोलते हैं तो हमारे स्वर-यन्त्र (larynx) की नाड़ियाँ गतिशील हो जाती हैं, इसके साथ-साथ, मुँह, जीभ इत्यादि में भी गति होती है। वाट्सन महोदय का कहना है कि ऐसी ही गति चिन्तन के समय भी होती है। अतएव चिन्तन एवं आन्तरिक वाणी अभिन्न हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि चिन्तन तथा भाषा में बहुत गहरा सम्बन्ध है और यह भी सत्य है कि बहुधा चिन्तन में आन्तरिक संभाषण होता है। बालक, असभ्य व्यक्ति इत्यादि अपने चिन्तन के समय जोर से बोलते हैं और अपने चिन्तन को वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि चिन्तन और आन्तरिक वाणी अभिन्न हैं।

चिन्तन तथा आन्तरिक वाणी की अभिन्नता ज्ञात करने के लिए अनेक प्रयोग किये गये। आरम्भ के प्रयोग तो यह बात स्पष्ट करते हैं कि चिन्तन मांसपेशियों के तनाव में वास्तविक परिवर्तन ले आता है और इस प्रकार यह वाणी से अभिन्न है, परन्तु बाद के प्रयोग इन दोनों की अभिन्नता के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न कर देते हैं। एक विषयी से कहा गया कि वह "ball" शब्द कहे और उसकी जीभ की गति को एक काले ड्रम (smoked drum) पर अंकित किया गया। अंकित किये हुए चिह्नों में

---

1. Unlearned and habitual behaviour, 2. Blind trial and error behaviour, 3. Insight behaviour, 4. Vicarious behaviour, 5. Behaviour designated as the Scientific Method.

एक विशिष्ट प्रकार का नमूना उस शब्द से सम्बन्धित बनाया। फिर विषयी से कहा गया कि वह इस शब्द का चिन्तन करे, फलतः जो नमूना बना वह इसी प्रकार का था जैसा कि वाणी के समय बना था, हालाँकि उसकी लम्बता (amplitude) कम थी। परन्तु जब इस प्रयोग को आगे बढ़ाया गया और बहुत-से व्यक्तियों पर किया गया तो यह पता चला कि चिन्तन में जिह्वा अंकित चिह्न, उसी प्रकार के जैसे वाणी में थे, केवल पाँच प्रतिशत में ही पाये गये। कुछ में ये चिह्न बिल्कुल नहीं पाये गये जिनको पाने की आशा थी; और कुछ के द्वारा ऐसे नमूने अंकित हुए जो दूसरे शब्दों के साथ होने चाहिए थे। यह प्रयोग चिन्तन तथा आंतरिक वाणी की अभिन्नता सिद्ध करने में असफल रहा। इस प्रयोग में केवल जिह्वा की ही गति अंकित की गयी। स्वर-यंत्र (larynx) तथा मांसपेशियों पर, जो वाणी में महत्वपूर्ण हैं, कोई ध्यान नहीं दिया गया। कुछ अन्य प्रयोग स्वर-यंत्र (larynx) आदि पर भी हुए हैं। ये सब प्रयोग इस ओर तो अवश्य संकेत करते हैं कि चिन्तन तथा वाणी में सम्बन्ध है, किन्तु इनकी अभिन्नता को सिद्ध नहीं कर पाते हैं।

अन्त में, हम कुछ कारणों का वर्णन करेंगे जिनके आधार पर चिन्तन तथा वाणी को अभिन्न नहीं माना जा सकता। ये निम्नलिखित हैं—

(१) तर्क बिना भाषा के हो सकता है। पशुओं पर प्रयोग करके देखा गया कि उनमें तर्क-शक्ति होती है, हालाँकि वह बहुत ही निम्न स्तर पर होती है।

(२) हम ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में भी चिन्तन कर सकते हैं जिनके नाम हम नहीं जानते।

(३) कभी-कभी स्पष्ट चिन्तन के लिए भाषा एक बाधा के रूप में प्रस्तुत होती है। हम इसी कारण चिन्तन को स्पष्ट करने के लिए नक्शे, चित्र, मॉडल इत्यादि का उपयोग करते हैं।

(४) यह तो ठीक है कि अधिकांश समय हमारे चिन्तन के साथ आन्तरिक वाणी सम्मिलित रहती है। परन्तु कभी-कभी जब हमारा चिन्तन बहुत शीघ्रता से होता है तो हमारी वाणी पीछे ही रह जाती है। जब हम कोई भाषण करते हैं तो बोल तो कुछ रहे होते हैं परन्तु हमारे विचार आगे की ओर कुछ और चिन्तन कर रहे होते हैं।

मोह (Delusion)

'मोह' विचार की असामान्यता है। यह विचार का विकृत रूप है। जब कोई व्यक्ति गलत दिशा में विचार करता है जो वास्तविकता तथा यथार्थता के विपरीत होता है तो हम कहते हैं कि उस व्यक्ति को मोह हो गया है। मोह में व्यक्ति दूसरों पर झूठा सन्देह करने लगता है। वह यह समझने लगता है कि वह सब उसके विरुद्ध कुछ षड्यन्त्र रच रहे हैं। इसके अतिरिक्त मोह के अन्य उदाहरण भी हैं, जैसे—अपने आप को बहुत महान् या तुच्छ समझना, दूसरों को चोर मानना इत्यादि।

मोह सामान्य (normal) तथा असामान्य (abnormal) दोनों प्रकार के होते हैं। सामान्य मोह बहुधा व्यक्तियों की अज्ञानता के कारण उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति की भावना तथा आवश्यकता के द्वारा भी मोह उत्पन्न हो जाते हैं।

एक विद्यार्थी जो परीक्षा में असफल हो जाता है, अपनी असफलता का कारण अपने शत्रुओं को मानता है। एक स्त्री जिसका पति नाराज हो जाता है, अपने रहने के मकान को इसका कारण मानती है। वह कहती है, यह मकान ही ऐसा है कि मेरे पति मुझसे नाराज रहते हैं।

असामान्य मोह ऐसे व्यक्तियों में पाये जाते हैं जिन्हें किसी बात की झक हो जाती है। ऐसे व्यक्ति लाभदायक एवं उपयोगी को इतना महत्व न देकर व्यर्थ की बातों पर ध्यान देते हैं। जैसे जब एक व्यक्ति को यह मोह हो जाता है कि उसकी पत्नी कुलटा है तो वह उसकी साधारण से भी साधारण बात को उसके दूषित चरित्र का प्रतीक समझने लगता है। यदि स्त्री हँसती है तो वह उस पर शक करता है, यदि रोती है तो भी वह समझता है कि अपने प्रेमी की याद में रो रही है। यदि वह अच्छे वस्त्र पहनती है तो वह समझता है कि अपने प्रेमी को रिझाने के लिए ऐसा कर रही है, बुरे वस्त्र पहनती है तो वह समझता है कि मेरे प्रति द्वेष के कारण ऐसा करती है।

मोह की बहुलता मानसिक रोग का प्रतीक होती है। मानसिक रोगियों में मुख्यतः मोह दो प्रकार के पाये जाते हैं। वह हैं दण्ड के मोह (delusions of persecution) एवं महानता के मोह (delusions of grandeur)। दण्ड के मोह में रोगी यह समझने लगता है कि सारा संसार उसके विरुद्ध है और उसे दण्ड देने को प्रयत्नशील है। अभी हाल में लेखक के सम्मुख इस प्रकार का एक मानसिक रोगी आया। यह व्यक्ति यह समझने लगा था कि उसके दुश्मन षड्यंत्र रच कर उसे मार डालना चाहते हैं जिससे उसका पैसा हड़प लें। इस षड्यंत्र में वह अपने माता-पिता, पत्नी इत्यादि सबको शामिल मानता था। वह यह कहता था कि उसके पीछे पुलिस लगी है और उस पर झूठा गबन का मुकदमा उसके घर वालों ने लगा दिया है। इसके साथ उसे यह भी मोह था कि दुश्मन के आदमी उसके पीछे हैं जो उसे जहर देना चाहते हैं। इस मोह के कारण वह अपना घर छोड़ आया था और जगह-जगह फिर रहा था। जब वह खाने बैठता था तो इस भय से कि इसमें जहर मिला है, खा नहीं पाता था। जहाँ कहीं जाता था, सोचता था कि दुश्मन उसका पीछा कर रहे हैं, पुलिस भी उसके पीछे है और वह जीवित नहीं बचेगा।

दूसरे प्रकार के मोह ऐसे व्यक्तियों में पाये जाते हैं जो अपने को महान समझने लगते हैं। वह दोसमीयर या टैगोर से भी अपने को उच्च मानने लगते हैं। ऐसा एक रोगी इस प्रकार का था जो यह समझता था कि उसने अणु (atom) सम्बन्धी सब से महान खोज की है और वह इस समय संसार का सब से बड़ा ... है।

मोह, विपर्यय एवं विभ्रम में अन्तर है। मोह उस समय होता है जब विचार में दोष आ जाते हैं, विपर्यय प्रत्यक्षीकरण के दोषों के कारण होता है, और विभ्रम उस समय होता है जब कोई संवेग बहुत प्रबलता के साथ होता है। हम विभ्रम और विपर्यय का वर्णन पीछे कर चुके हैं।

सारांश

चिन्तन एक ज्ञानात्मक क्रिया है जो प्रत्यक्षीकरण और स्मृति दोनों—पर ही निर्भर रहती है। चिन्तन में दो ढंगों से भिन्नता पायी जाती है—(१) चिन्तन करने वाले मनुष्य के विचारों पर नियन्त्रण रखने की मात्रा तथा प्रकार में, (२) पूर्व अनुभव तथा विचार द्वारा अनुभव में समानता की मात्रा में।

चिन्तन के दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं—संकल्पना तथा भाषा। संकल्पना में मस्तिष्क वस्तुओं का विश्लेषण करता है और उनमें जो सामान्य है उसको मिलाता है, जो विशेष है उसे छोड़ देता है। संकल्पना की रचना में सामान्यीकरण और पृथक्करण का महत्त्व होता है।

भाषा चिन्तन का मुख्य साधन। भाषा द्वारा हमारा चिन्तन विस्तृत भी बनता है। भाषा—(१) दूसरों तक विचार पहुँचाने का प्रमुख साधन है, (२) संकल्पना की रचना में सहायता पहुँचाती है, (३) गूढ़ सम्पूर्ण विचार, वस्तु इत्यादि के विश्लेषण में सहायता देती है, तथा (४) उन विचारों की ओर ध्यान को केन्द्रित करने में सहायक होती है जो इसके बिना कठिनाई से मस्तिष्क में रह सकते हैं।

कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का ढंग या समस्याओं का, जो आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पहुँचाती हैं, हल ही समस्या का समाधान कहलाता है। पशु समस्याओं का समाधान त्रुटि एवं प्रयास की विधि द्वारा निकालते हैं या बिना सीखे आदतजन्य ढंग से समस्या का समाधान करते हैं। विकास की उच्च श्रेणी पर पाये जाने वाले पशु समस्या-समाधान सूझ द्वारा भी करते हैं। इस स्तर पर मानवीय समस्या के हल में तर्क का उच्च स्थान है। डीवी के अनुसार इस स्तर पर समस्या-हल के विभिन्न स्तर हैं—(१) कठिनाई का महसूस करना, (२) कठिनाई की व्याख्या करना तथा उसका निर्धारण करना, (३) सूचना को ढूँढ़ना व व्यवस्थित करना और उसका मूल्य निर्धारित करना, (४) अनुमान का मूल्य निर्धारित करना, तथा (५) हल को प्रयोग में लाना।

चिन्तन तथा आन्तरिक वाणी अभिन्न नहीं हैं, परन्तु इनका आपस में गहरा सम्बन्ध है।

मोह विचार के दोषों के कारण उत्पन्न होता है। यह सामान्य तथा असामान्य दोनों प्रकार का होता है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. आप चिन्तन से क्या समझते हैं ? विभिन्न प्रकार के चिन्तन के उदाहरण दीजिए।
२. संकल्पना का निर्माण कैसे होता है ? चिन्तन के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ?
३. भाषा का चिन्तन में क्या महत्व है ? क्या चिन्तन और आन्तरिक वाणी अभिन्न हैं ? अपने मत की पुष्टि कीजिए।
४. पशु तथा मनुष्य की समस्या-समाधान विधि में क्या अन्तर है ? तर्क द्वारा किसी समस्या के समाधान का उदाहरण दीजिए।
५. मोह से क्या तात्पर्य है ? मोह, विपर्यय तथा विभ्रम के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। प्रत्येक के दो-दो उदाहरण भी दीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. डीवी, जे० : हाउ वी थिंक, डी० सी० हीथ, बोस्टन, १९३३।
२. हम्फ्रिस्तन, ई० डी० : हाउ टु थिंक क्रियेटिवली, ऐब्गडन कोकेसबरी प्रेस, १९४९।
३. रूक, एफ० एल० : साइकोलॉजी एण्ड लाइफ, स्टाक फारसमान एण्ड कम्पनी, शिकागो, १९५३।
४. वुडवर्थ, आर० एस० : एक्सपेरीमेण्टल साइकोलॉजी, हेनरी होल्ट, १९३८।
५. मन, नारमन एल० : मनोविज्ञान; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६१।

१६

चेतना के स्तर[1]

हमने पिछले अध्यायों में, विशेष रूप से अवधान के वर्णन के साथ 'चेतना (consciousness) शब्द का प्रयोग किया है। वहीं यह भी वर्णन किया है कि कोई भी विचार जो हमारे मन में है, या तो चेतना के केन्द्र (focus of consciousness) में या चेतना के सीमावर्ती क्षेत्र (margin of consciousness) में होता है; और यदि उस विचार को उस समय भुला दिया जाता है तो वह नष्ट न होकर अचेतन (unconscious) मस्तिष्क में चला जाता है जहाँ से वह चेतना के केन्द्र में लाया जा सकता है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हमारी चेतना के तीन स्तर होते हैं— (१) चेतन (conscious), (२) अवचेतन (sub-conscious), तथा (३) अचेतन (unconscious)। इस अध्याय में हमारा उद्देश्य चेतना के इन तीनों स्तरों पर प्रकाश डालना है।

चेतना की परिभाषा (Definition of Consciousness)

चेतना की परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। एक अन्तिम तत्त्व होने के कारण हम केवल इसका वर्णन कर सकते हैं। चेतना का वर्णन हम इसके तत्त्वों के आधार पर कर सकते हैं, जो ये हैं—ज्ञानात्मक (knowing), भावात्मक (feeling), एवं चेष्टात्मक (willing)। जेम्स (James) के अनुसार चेतना में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं :—

(१) चेतना व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित रहती है[2]—चेतना सदैव किसी प्राणी को होती है, चाहे वह पशु हो अथवा मानव। मैक्डूगल (McDougall)

---

1. Levels of Consciousness.
2. Every (conscious) state tends to be a part of a personal consciousness.

महोदय का कहना है—"जो कुछ भी अनुभव या चिन्तन होता है वह किसी विषय, व्यक्ति या प्राणी के सम्बन्ध में होना चाहिए।"[1] इससे तात्पर्य यह है कि मानसिक क्रियाएँ किसी व्यक्ति-विशेष के ही हो सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति का मन अपने विचारों को अपने पास ही रखता है। प्रत्येक मन की अपनी सत्ता है। किसी व्यक्ति के मन के विचार किसी दूसरे के मन में नहीं उत्पन्न हो सकते। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उसके विचार उसकी निजी सम्पत्ति है और जो विचार उसके मन में आ रहे हैं वे उसके अपने हैं।

(२) चेतना निरन्तर परिवर्तित होती रहती है (Consciousness is always changing)—चेतना निरन्तर बदलती रहती है। हम एक क्षण एक वस्तु, घटना अथवा विचार के सम्बन्ध में चेतन होते हैं तो दूसरे ही क्षण यह बदल जाता है। जैसा कि हमने अवधान के अध्याय में वर्णन किया है, जेम्स (James) चेतना को एक नदी के समान मानता है। नदी का पानी जैसे प्रतिपल, प्रतिक्षण बदलता रहता है इसी प्रकार चेतना भी बदलती रहती है, परिवर्तित होती रहती है।

(३) प्रत्येक व्यक्तिगत चेतना के अन्तर्गत अपूर्ण ढंग से विचार निरन्तर रहता है (Within each personal consciousness, thought is sensibly continuous)—हमारी मानसिक क्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। उन क्रियाओं में किसी भी प्रकार से अन्तर नहीं आता है, न यह कहीं टूटती ही हैं। चेतना हमें इस प्रकार नहीं होती कि अभी इस विचार, वस्तु इत्यादि के सम्बन्ध में थी, फिर उसके सम्बन्ध में समाप्त हो गयी और इसके बीच में अन्तर आ गया जिसके पश्चात् फिर एक नई वस्तु के सम्बन्ध में होने लगी, वरन् यह एक वस्तु से दूसरी की ओर खिसकती रहती है। बीच में कहीं रुकाव नहीं, कहीं ठहराव नहीं, कहीं भी खाली स्थान नहीं होता। जहाँ हमें यह प्रतीत होता है कि चेतना टूट गयी वहाँ भी यह टूटती नहीं है, वरन् नदी के पानी के समान बहता हुआ दूसरा विचार पहले का स्थान ले लेता है। इन विचारों में सम्बन्ध होता है, चाहे हमें यह प्रतीत हो या न हो। जो विचार इस समय हैं और जो हमारी चेतना का क्षेत्र बना रहे हैं, उनके स्थान पर अगले क्षण नया क्षेत्र बनाने वाले विचार नहीं आ जाते, वरन् जो क्षेत्र इस समय है उसी में आंशिक परिवर्तन (partial change) हो जाता है और दूसरे विचार हमारी चेतना में आ जाते हैं।

हमारी चेतना में निरन्तरता सदैव बनी रहती है। चाहे हम गहरी नींद में सो जायें, चाहे बेहोश हो जायें, निरन्तरता के ही कारण हम वस्तुओं, परिस्थितियों, व्यक्तियों, घटनाओं आदि की पहचान कर सकते हैं। जब हम सो कर उठते हैं तो

1. "All experiencing or thinking must be thinking of some o[bject by] some subject, some person, some organism."
—McDougall : *Outlines of Psycholo[gy]*

याद होता है कि हम यहीं सोये थे और अपने पलंग, तकिया अन्य वस्तुओं इत्यादि को शीघ्र पहचान लेते हैं।

(४) चेतना चयनात्मक होती है (Consciousness is Selective)—इस सम्बन्ध में भी हमने अवधान के अध्याय में वर्णन किया है। हमने कहा है कि अवधान प्रत्येक वस्तु पर जो एक क्षण उसके सम्मुख हैं, केन्द्रित नहीं हो जाता वरन् यह उपस्थित वस्तुओं में चयन करता है और एक समय में एक वस्तु पर ही केन्द्रित होता है। हमारी चेतना में इस प्रकार चयन किये हुए ही विचार इत्यादि आते हैं। चेतना का चयन, जैसा कि हमने अवधान के अध्याय में कहा है—हमारी रुचि, मनोवृत्ति, मूल आवश्यकताओं इत्यादि पर निर्भर रहता है।

चेतना के स्तर
(Levels of Consciousness)

जैसा कि हमने पहले बताया, चेतना के तीन स्तर होते हैं—चेतन, अवचेतन तथा अचेतन। अब हम तीनों स्तरों पर प्रकाश डालेंगे। यथा—

१. चेतन स्तर (Conscious Level)

चेतना का वह स्तर जो सबसे स्पष्ट होता है, चेतन स्तर कहलाता है। इसी स्तर को हम अवधान का केन्द्र (focus of attention) या चेतना का केन्द्र (focus of consciousness) भी कहते हैं। इस केन्द्र में जो विचार आते हैं उन्हें हम स्पष्ट रूप से समझ जाते हैं। इस सम्बन्ध में भी हम अवधान के अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं।

२. अवचेतन स्तर (Sub-conscious Level)

चेतना के केन्द्र के साथ ही चेतना का दूसरा स्तर होता है जिसे हम अवचेतन स्तर कहते हैं। इस स्तर को हम जेम्स (James) के अनुसार चेतना-सीमान्त (fringe of consciousness) भी कह सकते हैं। यह स्तर अस्पष्ट जानकारी (vague-awareness) का स्तर है। अवधान के सम्बन्ध में हमने कहा है कि चेतन स्तर के सीमावर्ती क्षेत्र में अनेक विचार, वस्तुओं इत्यादि का ज्ञान रहता है जिनके सम्बन्ध में हम बहुत ही मन्द रूप से चेतन रहते हैं। हम उन वस्तुओं के सम्बन्ध में स्पष्टतया कुछ नहीं जानते जो हमारे अचेतन में हैं। परन्तु इस स्तर पर वह सरलता से चेतन स्तर में से आयी जाती हैं और तब वह स्पष्ट हो जाती हैं, जैसे—मेरे लिखते समय मेरे कमरे की सब वस्तुएं मेरे अवचेतन मस्तिष्क में हैं। मैं जो लिख रहा हूँ वह मेरे चेतन मस्तिष्क में है। जैसे ही मेरा ध्यान उनमें से किसी वस्तु की ओर चला जाता है वह चेतन स्तर पर आ जाती है और मेरा लिखना अचेतन में पहुँच जाता है।

स्टाउट (Stout) महोदय ने अवचेतन की निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया है—

(१) चेतना-सीमान्त के संस्कार (Impressions) हमारी चेतना के केन्द्र में नहीं होते हैं। चेतना सीमांत के जो संस्कार हैं वे हमारी चेतना के केन्द्र से परे होते हैं। हम उन पर अवधान केन्द्रित नहीं करते हैं। वे तो उस स्तर पर होते हैं जहाँ से वह अवधान के केन्द्र में लाये जा सकते हैं।

(२) अवचेतन के विषय विश्वास एवं निर्णय से परे रहते हैं। क्योंकि अवचेतन के विषय पर हम ध्यान नहीं देते, इस कारण उनके सम्बन्ध में हम कोई विचार नहीं कर पाते। विचार न करने के ही कारण न तो हम उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय ले सकते हैं, न कोई विश्वास बना सकते हैं। मैं जब अपने मित्र से बात करता हूँ तो बातचीत तो मेरे चेतन मन में है परन्तु मित्र का चरित्र, उसके प्रति मेरी धारणा इत्यादि मेरे अवचेतन मन में हैं। मैं इन विषयों के सम्बन्ध में न कोई निर्णय ले सकता हूँ, न विश्वास बना सकता हूँ, जब तक वह मेरे अवचेतन मन में ही हैं। परन्तु जैसे ही वह चेतन मन में प्रवेश पा जाते हैं, मैं उन पर निर्णय इत्यादि ले सकता हूँ।

(३) अवचेतना को चेतना में सरलता से लाया जा सकता है।

(४) अवचेतना के संस्कार सदैव चेतना में आने की चेष्टा करते रहते हैं—अवचेतना के संस्कार सक्रिय रहते हैं, वे सदैव इस चेष्टा में रहते हैं कि चेतना में प्रवेश पा जायें।

३. अचेतन स्तर (Unconscious Level)

चेतन तथा अवचेतन से नीचे का स्तर अचेतन है। यह मन का सबसे गहरा स्तर है। जो भी विचार चेतन तथा अवचेतन मन से धकेल दिया जाता है वह यहाँ पहुँच जाता है। यह एक भंडारघर के समान है जहाँ सब प्रकार का सामान जिसकी समय-विशेष पर कोई आवश्यकता नहीं रहती, इकट्ठा रहता है। जो विचार, इच्छा, कामना इत्यादि दमित (repressed) कर दिये जाते हैं वे सब अचेतन मन में पहुँच जाते हैं और वहाँ अस्त-व्यस्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं। ये सब चेतन मस्तिष्क में तो नहीं आ पाते हैं परन्तु वहीं से व्यक्ति के व्यवहारों पर प्रभाव डालते रहते हैं। व्यक्ति की अनेक क्रियाओं, संवेगों इत्यादि का संचालन अचेतन मन करता है। हमारे अचेतन मन का स्तर बहुत सक्रिय स्तर है। हमारे व्यवहार इत्यादि पर जितना इस स्तर का प्रभाव पड़ता है, उतना किसी और स्तर का प्रभाव नहीं पड़ता है।

फ्रॉयड के अनुसार अचेतन मन पहाड़ की ऊँची चोटियों के बीच के नीचे निचले भाग की तरह है। जो चोटी ऊँची है वहाँ सूर्य का प्रकाश दिन भर रहता है, यह चेतन स्तर की तरह है। जो भाग उससे निचला है वहाँ सूर्य का प्रकाश कि ... भी वहाँ पहुँचता और अँधेरा रहता है, यह अचेतन स्तर की तरह है, जो अन्धकार ... है और जहाँ पहुँचना अत्यन्त दुर्लभ है।

चेतना को एक आइसबर्ग (ice berg) के समान भी समझा जाता है जिसका $\frac{1}{10}$ भाग पानी के ऊपर रहता है और $\frac{9}{10}$ पानी के नीचे। जो भाग पानी के ऊपर है वह चेतन स्तर है और जो भाग पानी के नीचे है वह अचेतन स्तर है। जिस प्रकार आइसबर्ग का अधिकांश भाग पानी के नीचे रहता है इसी प्रकार चेतना का अधिकांश भाग अचेतन के रूप में छिपा रहता है।

अचेतन मन की विशेषताएँ (Characteristics of Unconscious)

(१) अचेतन परिवर्तनशील होता है (Unconscious is dynamic in nature)। अचेतन निष्क्रिय नहीं होता वरन् वह सक्रिय होता है। यह व्यक्ति के विचारों एवं मानसिक क्रियाओं पर बहुत प्रभाव डालता है। व्यक्ति को व्यवहार करने की प्रेरणा देना और क्रियाशील होने की क्षमता प्रदान करना, बहुत-कुछ इसी पर निर्भर होता है।

(२) अचेतन मन व्यक्ति के व्यवहार का सम्पादन एवं नियन्त्रण करता है। अचेतन मन में जो विचार, कामनाएँ, इच्छाएँ इत्यादि पहुँच जाती हैं—वही व्यक्ति के व्यवहार को संचालित एवं नियन्त्रित करती हैं। अचेतन मन से व्यक्ति को बहुत-कुछ प्रेरणा मिलती है जो उसके व्यवहारों को सम्पादित करती है। इसी कारण बिना अचेतन मन को समझे, व्यक्ति का व्यवहार समझना संभव नहीं।

(३) अचेतन मन में शब्द नहीं पाये जाते हैं। अचेतन के विचारों की अभिव्यक्ति क्रिया द्वारा होती है। शब्द न होने से भाषा द्वारा इनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। हाव-भाव या मौन अभिनय द्वारा ही यह अभिव्यक्ति होती है, जैसा कि हम स्वप्नावस्था में देखते हैं।

(४) अचेतन मन में विरोध (Contradiction) नहीं पाया जाता। यहाँ पर सभी प्रकार की इच्छाएँ गृहीत की जाती हैं। कोई भी इच्छा या कामना ऐसी नहीं है जिसे अचेतन मन ठुकरा दे। वह तो जो कुछ भी उसके सम्मुख आता है, सबको स्वीकार किये जाता है। यहाँ इच्छाओं इत्यादि में कोई संघर्ष नहीं होता।

(५) अचेतन मन की क्रियाओं की अभिव्यक्ति स्वप्न, सम्मोहन तथा मानसिक रोगों में होती है। इन क्रियाओं का अध्ययन प्रत्यक्ष रूप से करना सम्भव नहीं है। अनुमान द्वारा ही हम अचेतन की क्रियाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(६) अचेतन मन में न तो नैतिकता का ज्ञान होता है, न तर्क का वहाँ कोई स्थान होता है। अचेतन मन आनन्द एवं दुःख (pleasure and pain principle) के आधार पर कार्य करता है। यह अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक की ओर कोई ध्यान नहीं देता और न यह अपनी क्रियाओं को तर्क पर आधारित ही करता है।

(७) अचेतन मन की क्रियाओं पर समय का प्रभाव नहीं पड़ता। अचेतन की क्रियाएँ किसी समय, किसी पल कहीं भी हो सकती हैं। ये क्रियाएँ समय के अनुसार न होकर चाहे कभी भी हो सकती हैं।

(८) अचेतन मन के सभी विचार जागरूक होते हैं। जो कुछ विचार अचेतन में रहते हैं उनको भूलने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, जो विचार अचेतन में पहुँच जाते हैं वह अपने पूर्व रूप में ही बने रहते हैं।

(९) अचेतन मन, जिसकी आधारशिला शैशव (infancy) काल में रखी जाती है, जीवन भर शैशव-स्वरूप (infantile in nature) रहता है। शैशव काल में बालक में केवल अपने प्रति भावना जाग्रत होती है। वह अपने हित के लिए सब कुछ करता है। उसे इस बात की कदापि चिन्ता नहीं रहती कि उसके कार्य से दूसरे को क्या हानि पहुँचेगी। वह तो अन्धा होकर अपनी मूल प्रवृत्यात्मक सन्तुष्टि की ओर ही प्रयत्नशील रहता है। दूसरे व्यक्ति उसके लिए उसी सीमा तक महत्त्वपूर्ण हैं जहाँ तक कि वह उसके हित पर ध्यान देते हैं। शैशव काल की यह विशेषता, अचेतन मन की विशेषता है जो जीवन भर ऐसी ही बनी रहती है।

बालक द्वारा जो उद्देश्य प्राप्त करने की इच्छा की जाती है वह प्रौढ़ व्यक्ति में अचेतन के उद्देश्य से कुछ भिन्न हो सकती है, परन्तु यह भिन्नता बहुत अधिक नहीं है। बालक चाहता है कि उसे खाना-पीना मिले, उसे शारीरिक आराम मिले और प्रौढ़ व्यक्तियों की सद्भावना मिले। प्रौढ़ का अचेतन चाहता है कि उसकी काम सम्बन्धी, अहम् सम्बन्धी (self-assertive) प्रवृत्तियों को संतुष्टि मिले जो प्रौढ़ अवस्था में कठोरता से दमन कर दी गयी हैं। परन्तु प्रौढ़ का अचेतन बिल्कुल उसी कठोरता से इन उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है जिस तरह कि बालक अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए चेष्टा करता है। यह न तो नैतिकता की परवाह करता है, न दूसरे के हित की; और न यही विचार इसके सम्मुख होता है कि भविष्य में इसका फल क्या निकलेगा। यह तो अपने उद्देश्य की पूर्ति उसी समय चाहता है, चाहे उससे उसे हानि पहुँचे, या दूसरों को।

अचेतन के अस्तित्व के प्रमाण (Proofs for the Existence of Unconscious)

अचेतन के अस्तित्व के निम्नलिखित प्रमाण हैं—

(१) स्मृति (*Memory*)—हमने स्मृति के अध्याय में इस बात का वर्णन किया है कि स्मृति के समय स्मृति-चिह्न (*memory traces*) बन जाते हैं जो अचेतन मस्तिष्क में रहते हैं। हमारा पूर्व-अनुभव स्मृति-चिह्नों के रूप में ही संचित रहता है। जब हम पुनः स्मरण करते हैं तो यह संचित चिह्न ही हमें पूर्व-अनुभव का ज्ञान कराते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अचेतन मन का अस्तित्व है। यहाँ पर स्मृति-चिह्न इकट्ठे रहते हैं। जब हम पुनः स्मरण करते समय पहचान लेते हैं कि यह विचार पहले की ही तरह है तो यह सिद्ध हो जाता है कि यह विचार कहीं हमारे मन में संचित थे, जो इस बात का प्रमाण है कि हमारे मन का एक स्तर अचेतन है।

(२) पुनः स्मरण करते समय हम कभी-कभी उस विचार को स्मरण ही नहीं कर पाते जिसे हम करना चाहते हैं। जैसे मैंने कल चाबी का गुच्छा कहीं रख दिया

। आज मैं याद करना चाहता हूँ कि उसे कहाँ रखा था, परन्तु मुझे उसकी याद हो हीं आती। मैं थोड़ी देर के लिए किसी और तरफ ध्यान लगाता हूँ और एकाएक झे याद आ जाता है कि मैंने चाबी का गुच्छा कहाँ रखा था। यह तथ्य भी अचेतन अस्तित्व का प्रमाण है। जब मैं किसी ओर ध्यान लगाता हूँ तो भी मेरा अचेतन क्रिय रहता है और वह कुछ काल बाद मुझे मेरी समस्या का हल प्रदान कर देता । यहाँ चेतन मन का कार्य अचेतन मन से हो जाता है।

(३) निद्रावस्था में समस्याओं का हल (Solutions of problems during eep)—कई बार ऐसा देखने में आता है कि जिन समस्याओं को हम सोते समय चारते हैं और बिना हल किये सो जाते हैं तो जब सोकर उठते हैं, उन्हें हल किया या पाते हैं। बहुत-सी हमारी कठिन समस्याएँ इस प्रकार से हल हो जाती हैं।

निद्रावस्था में समस्याओं के हल के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण मिल सकते । बहुत से कवि, लेखक, वैज्ञानिक इत्यादि ने अपनी जटिल समस्याओं को इसी पति में सुलझा लिया। कॉलरिज (Coleridge) महोदय ने कुबलाखाँ (Kubla-uan) नामक कविता निद्रावस्था में ही लिखी थी। भारतीय गणितज्ञ रामानुजम् ने णित की कठिन समस्याओं का हल निद्रावस्था में निकाला था।

निद्रावस्था में हल निकालना स्पष्ट रूप से अचेतन मन एवं अचेतन क्रियाओं अस्तित्व को सिद्ध करता है।

(४) एक निश्चित समय पर जागना (Waking up at a fixed hour)—ब हमें एक निश्चित समय पर सोते से जागना होता है तो हम उसी समय जाग ते हैं। ऐसा तब होता है जब हम सोते समय उस समय जागने के लिए दृढ़ निश्चय र लें। हमारा अचेतन मन जो निद्रावस्था में भी सक्रिय रहता है, हमारे दृढ़ निश्चय ग्रहण कर लेता है और जिस समय हम जागना चाहते हैं, जगा देता है।

(५) निद्रावस्था में भी अवधान का चुनाव (Selective attention even ring sleep)—निद्रावस्था में भी बहुधा हम अवधान का चुनाव करते हैं। हम जानते हैं कि एक माता चाहे जितनी ही गहरी नींद में सो रही है, यदि उसका लक धीमे से भी रो देता है तो वह जाग जाती है। वह दूसरी आवाजों के प्रति बर रहेगी और उनसे नहीं जागेगी। एक पत्नी जो अपने पति की प्रतीक्षा करती सो जाती है, पति के आने की हल्की आहट से भी जाग जाती है। यह प्रमाण अचेतन मन के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

(६) स्वप्न (Dreams)—हमें स्वप्न भी अचेतन मन के कारण ही आते हैं। धा स्वप्न में हमारी अतृप्त अभिलाषाओं, इच्छाओं और कामनाओं की तृप्ति की टा की जाती है। ये सब अभिलाषाएँ हमारे अचेतन मन में ही संचित रहती हैं। एव स्वप्न का होना भी अचेतन मन के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

(७) सम्मोहन (Hypnotism)—सम्मोहन के द्वारा ही सर्वप्रथम अचेतन नसिक क्रियाओं के अस्तित्व का पता चला। सम्मोहन एक ऐसी विधि है जिसके

द्वारा विषयी (subject) से जो भी कहा जाता है उसे करने को वह तत्पर रहता है। उसकी निर्देशिता (suggestibility) अत्यधिक बढ़ जाती है। इसको सबसे प्रथम फ्रांस के मनोवैज्ञानिक जेनट (Janet) और चारकोट (Charcot) ने क्रियान्वित किया था।

इस अवस्था में विषयी अपने बालपन की बहुत-सी घटनाओं को तथा उन घटनाओं को जिनको वह भूल चुका है, पुनः स्मरण कर लेता है। किन्तु इन घटनाओं इत्यादि के सम्बन्ध में वह सामान्य अवस्था में आने पर कुछ भी याद नहीं कर पाता। उसे यह याद नहीं रहता कि सम्मोहन की अवस्था में उससे क्या कहा गया और उसने क्या किया। यह अचेतन मन के अस्तित्व के कारण ही होता है।

(८) सम्मोहन के उपरान्त के निर्देश (Post-hypnotic suggestions)—यह भी अचेतन मन के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। सम्मोहन की दशा में सम्मोहित कर्ता विषयी को कुछ निर्देश देता है कि वह जागने के इतने समय बाद यह कार्य करेगा, जैसे—जागने के आध घण्टे बाद वह आलमारी के पास जाकर खड़ा होगा और जो घड़ी उस पर रखी है उसे उठायेगा। विषयी जागने के पश्चात् ठीक समय पर इस निर्देश के अनुसार कार्य करता है परन्तु यदि उससे पूछा जाये कि उसने ऐसा क्यों किया तो वह कोई जवाब नहीं दे पाता है। उसे यह याद नहीं रहेगा कि किसी ने उसे ऐसा करने का आदेश दिया। विषयी का ऐसा व्यवहार यह सिद्ध करता है कि सम्मोहन की दशा में उसका अचेतन मन सक्रिय था, जिसने सब निर्देश ग्रहण कर लिये और जाग्रत अवस्था में विषयी को उन्हीं के अनुसार कार्य करने को बाध्य किया।

(९) दैनिक मनोविकृतियाँ (Psycho-pathology of every-day life)—आपने दैनिक जीवन में बहुधा देखा होगा कि किसी समय आप कुछ बोलना चाहते हैं और कुछ बोल जाते हैं। लिखना प्रेम-पत्र चाहते हैं पर लिख जाते हैं ऐसे शब्द जो द्वेष की भावना को व्यक्त करते हैं। साफ लिखना चाहते हैं परन्तु कागज पर बार-बार स्याही का धब्बा गिरा देते हैं। यह सब दैनिक जीवन की मनोविकृतियाँ अचेतन में दमन की हुई अतृप्त कामनाओं, इच्छाओं, अभिलाषाओं इत्यादि के ही कारण होती हैं।

(१०) स्वप्नचारिता (Somnambulism)—कुछ व्यक्ति निद्रावस्था में उठकर कुछ कार्य करके सो जाते हैं। सुबह जब उनसे पूछा जाता है कि उन्होंने कोई ऐसा कार्य रात्रि को किया था तो उन्हें कुछ भी याद नहीं रहता। लेखक के सम्पर्क में एक इस प्रकार का विद्यार्थी आया है जो रात को उठकर अपने कपड़े धोता था, उन पर स्त्री (iron) करता था और जूतों पर पालिश करके सो जाता था। सुबह जागकर उसे स्वयं आश्चर्य होता था कि उसका यह काम कैसे हो गया। अचेतन मन के द्वारा ही ऐसी क्रियाएँ संचालित होती हैं, इसमें संदेह नहीं है।

(११) सांकेतिक क्रियाओं का प्रकाशन (Symbolic actions)—बहुत से व्यक्ति इस प्रकार का व्यवहार करते हैं; जैसे—बैठे-बैठे टाँगों को हिलाना, उँगलियों को मोड़ना, हाथ को नचाना, गरदन को हिलाना इत्यादि। परन्तु उन्हें यह चेतना नहीं होती कि

वे ऐसा कर रहे हैं। यह व्यवहार भी उनके अचेतन मन के कारण ही होता है। वे अपनी अतृप्त इच्छाओं को इस प्रकार के व्यवहार द्वारा तृप्त करना चाहते हैं।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर हमें कोई सन्देह नहीं रहता कि अचेतन मन हमारे मन का एक महत्वपूर्ण स्तर है जो मन की गहराइयों में स्थित है।

फ्रॉयड का अहम् (Ego), नैतिक मन (Super Ego) एवं इदम् (Id) का सिद्धान्त

फ्रॉयड महोदय को ही अचेतन मन की स्पष्ट व्याख्या करने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने आरम्भ में मन के केवल दो ही स्तरों का वर्णन किया—चेतन, एवं अचेतन। उन्होंने दमन करने वाली शक्ति को जिसे उन्होंने सेन्सर (censor) कहा, चेतन मस्तिष्क का ही एक भाग माना। परन्तु जैसे-जैसे उन्होंने और मानसिक रोगियों का विश्लेषण किया, उन्होंने देखा कि उनका इस सम्बन्ध में पूर्व-विचार त्रुटिपूर्ण था; क्योंकि यदि दमन करने वाली शक्तियाँ चेतन मस्तिष्क का भाग होती हैं तो उन पर चेतन रूप से नियंत्रण रखा जा सकता है, और एक व्यक्ति जो दमन के कुप्रभाव से परिचित हो जाता है, उसे दमन करना बन्द कर देना चाहिए और दमन किये हुए विचारों को चेतना में ले आना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव व्यक्ति की दमन करने की शक्ति चेतन का अंग नहीं है।

इसके अतिरिक्त सेन्सर (censor) चेतना का अंग इस कारण भी नहीं है कि इसकी नैतिकता शैशव स्तर (infantile morality) पर होती है। चेतन स्तर पर नैतिकता अधिक प्रकाशमय (enlightened) होती है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर फ्रॉयड महोदय ने दो के स्थान पर मन के तीन स्तरों का प्रतिपादन किया। इन तीन स्तरों को उन्होंने अहम् (ego), नैतिक मन (super ego), एवं इदम् (Id) के नाम से सम्बोधित किया। उन्होंने अहम् (ego) को चेतन मस्तिष्क माना, इदम् (Id) को अनैतिक, अतार्किक तथा शैशवस्वरूप स्तर माना जो पूर्णतः अचेतन है। नैतिक मन (super ego) एक नया स्तर है जिसको फ्रॉयड ने बाद में सम्मिलित किया। उसके अनुसार नैतिक मन भी इदम् की तरह अचेतन है, परन्तु यह नैतिकता से पूर्ण है और अत्यन्त ही कट्टर (fanatic) और असहिष्णु (intolerant) है। जो स्थान सेन्सर को फ्रॉयड ने अपने पहले प्रतिपादित किये हुए सिद्धान्तों में दिया वह अब उसने नैतिक मन को दिया। इस प्रकार नैतिक मन ही दमन के लिए उत्तरदायी है परन्तु नैतिक मन द्वारा दमन बहुधा शैशव की नैतिकता के आधार पर होता है। यह नैतिकता अतार्किक एवं अपरिष्कृत (crude) होती है।

युंग का मत (Jung's View)

युंग ने अचेतन मन को जन्मजात या वंश-परम्परागत माना। उसके अनुसार अचेतन मन वह संस्कार है जो अनेक परम्पराओं से प्राप्त होता है। युंग अचेतन मन को दो भागों में बाँटते हैं—(१) निजी या वैयक्तिक अचेतन मन (personal or

individual unconscious); एवं (२) सामूहिक या जातिगत अचेतन मन (collective or racial unconscious)।

(१) वैयक्तिक अचेतन मन—जो इच्छाएँ, कामनाएँ इत्यादि व्यक्ति दमन कर देता है वह उसके वैयक्तिक अचेतन मन में पहुँच जाती हैं। यहीं से ये व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव डालती हैं। व्यक्ति की इच्छाओं इत्यादि का दमन सामाजिक तथा नैतिक बन्धनों के कारण होता है।

(२) सामूहिक अचेतन मन—यह अचेतन मन जाति के संस्कारों से पूर्ण समझा जाता है। वंश-परम्परागत प्राप्त समस्त गुण, योग्यताएँ इत्यादि इसी मन में एकत्र रहती हैं। जो जाति सम्बन्धी विशेषताएँ इस मन में रहती हैं, वे भाव-चित्रों के रूप में होती हैं। इन्हें युंग 'आर्केटाइप' (Archetype) के नाम से पुकारता है।

सारांश

चेतना की परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं—(१) चेतना व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित रहती है, (२) चेतना निरन्तर परिवर्तित होती रहती है, (३) प्रत्येक व्यक्तिगत चेतना के अन्तर्गत विचार अर्थपूर्ण ढंग से निरन्तर रहता है, (४) चेतना चयनात्मक होती है। चेतना के तीन स्तर होते हैं—(१) चेतन स्तर, (२) अवचेतन स्तर, तथा (३) अचेतन स्तर।

चेतना का सबसे स्पष्ट स्तर चेतन स्तर कहलाता है। अवचेतन स्तर मध्यस्थ जानकारी का स्तर है। इसकी विशेषताएँ ये हैं : (१) चेतना-सीमान्त के संस्कार हमारी चेतना के केन्द्र में नहीं होते हैं, (२) अवचेतना के विषय विश्वास एवं निर्णय से परे रहते हैं, (३) अवचेतना को चेतना में सरलता से लाया जा सकता है, (४) अवचेतना के संस्कार सदैव चेतना में आने की चेष्टा करते रहते हैं।

अचेतन स्तर—मन का सबसे गहरा स्तर है। इसकी विशेषताएँ ये हैं—(१) अचेतन परिवर्तनशील होता है, (२) अचेतन मन व्यक्ति के व्यवहार का संचालन एवं नियन्त्रण करता है, (३) अचेतन में शब्द नहीं पाये जाते, (४) अचेतन मन में विरोध नहीं पाया जाता है, (५) अचेतन मन की क्रियाओं की अभिव्यक्ति स्वप्न, सम्मोहन तथा मानसिक रोगों में होती है, (६) अचेतन में न तो नैतिकता का भाव होता है, न तर्क का ही यहाँ कोई स्थान होता है, (७) अचेतन की क्रियाओं पर समय का प्रभाव नहीं पड़ता, (८) अचेतन के सभी विचार आनन्द होते हैं, (९) अचेतन ईश्वरस्वरूप होता है।

अचेतन के अस्तित्व के निम्नलिखित प्रमाण हैं—

(१) स्मृति चिह्न अचेतन में रहते हैं, (२) दैनिक जीवन में जब कोई विचार याद नहीं आ रहा तो कुछ समय बाद जब हम उस पर ध्यान नहीं दे रहे हैं तब वह स्वयं आ जाता है, (३) कभी-कभी निद्रावस्था में हम समस्याओं का हल ढूँढ लेते हैं, (४) हम एक निश्चित समय पर जाग जाते हैं, (५) निद्रावस्था में

भी हमारे अवधान का चुनाव होता है, (६) हमें स्वप्न आते हैं, (७) सम्मोहन की दशा के निर्देश एवं कार्य हमें याद नहीं रहते हालांकि हम उन्हें करते हैं, (८) दैनिक मनोविकृतियाँ अचेतन के कारण ही होती हैं, (९) स्वप्नचारिता की दशा में किये हुए कार्य हमें याद नहीं रहते, और (१०) सांकेतिक क्रियाओं का प्रकाशन अचेतन के ही कारण होता है।

फ्रॉयड महोदय ने अपने बाद के सिद्धान्त में तीन स्तरों का वर्णन किया है। वे हैं—अहम्, नैतिक मन और इदम्। जो अनैतिक तथा अतार्किक शैशव-स्वरूप अचेतन स्तर है वह इदम् है, अहम् चेतन स्तर है, और नैतिक मन वह जो नैतिकता से पूर्ण है, परन्तु यह नैतिकता शैशव-स्वरूप नैतिकता है।

युंग महोदय अचेतन मन को दो भागों में बाँटते हैं—(१) वैयक्तिक अचेतन-मन, तथा (२) सामूहिक अचेतन मन।

अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. चेतना से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
२. अवचेतन मन से विचार चेतन में किस प्रकार आ जाते हैं? अवचेतन मन की क्या विशेषताएँ हैं? विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
३. अचेतन मन के अस्तित्व के प्रमाण दीजिए तथा फ्रॉयड का मत इस सम्बन्ध में बताइए।
४. इदम् (Id), अहम् (ego), तथा नैतिक मन (super ego) से आप क्या समझते हैं? प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. आइसेंक, एच० जे० : सेंस एण्ड नॉनसेंस इन साइकॉलॉजी, पेनगुइन बुक्स, १९६०।
२. रेक्स एण्ड नाइट : ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, यूनीवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रेस, लन्दन, १९५९।

१७

प्रतिमा और कल्पना[1]

प्रतिमा क्या है ?
(What is Image)

हम उन वस्तुओं की संवेदना और प्रत्यक्षीकरण करते हैं जो हमारे सामने हैं और हमको अनुपस्थित वस्तुओं और पूर्व घटनाओं की मानसिक प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। हमें ऐसी वस्तुओं की भी प्रतिमाएँ मिल जाती हैं जिनका कोई अस्तित्व नहीं है। ये मानसिक प्रतिमाएँ तत्क्षण बाह्य उत्तेजना की अपेक्षा मस्तिष्क की क्रियाओं पर आश्रित रहती हैं।

कुत्ता, बिल्ली या कुम या शाखा आदि वस्तुओं, और उन वस्तुओं जिनको कि हम अनेक बार देख चुके हैं, की प्रतिमाएँ आसानी से बन सकती हैं। अधिकतर हमारी प्रतिमाएँ एक अनुभव पर आधारित नहीं होतीं, किन्तु समय-समय पर किये गये अनेक अनुभवों पर आधारित होती हैं। मैं ग्रीष्म, शीत, वर्षा ऋतु में गाँव जाता हूँ। मेरी गाँव की प्रतिमा इन अनुभवों की समष्टि होगी। मेरे कुत्ते की प्रतिमा, *कुत्ते के साथ किये गये अनेक अनुभवों की समष्टि होगी, किन्तु जब यह कुत्ते की* प्रतिमा साधारणतया पुकारी जायेगी, तब या तो एक विशेष कुत्ते की प्रतिमा होगी या उसका चित्र होगा।

प्रतिमा के प्रकार (Kinds of Image)

प्रतिमाओं को दो प्रकार से विभाजित कर सकते हैं। प्रथम प्रकार में रचनात्मक प्रतिमा (constructive image) और स्मरण प्रतिमाएँ (memory image) आती हैं। दूसरे में भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों (senses) से प्राप्त भिन्न-भिन्न प्रतिमाएँ आती हैं। अब हम इन दोनों भेदों पर विचार करेंगे। *यथा—*

---

1. Imagery and Imagination.

(१) स्मरण प्रतिमा और रचनात्मक प्रतिमा—जब हम अपने मित्र की आकृति की कल्पना करते हैं अथवा बच्चे या मित्र की आवाज की या अन्य पास के सम्बन्धों का हम अनुभव करते हैं, तब इस प्रकार की प्रतिमा ही 'स्मरण प्रतिमा' होती है। रचनात्मक प्रतिमा—वह प्रतिमा है जिसमे हम किसी वस्तु की कल्पना करते हैं, जिसको हमने देखा नहीं है किन्तु अनेक प्रकार के प्रत्यक्षीकरण और अनुभवों ने जिसको अपूर्व आकृति बना दी है। उदाहरण के लिए, जब आप पंख उगने और वायु में उड़ने की कल्पना करते हैं तो इस प्रकार की जो प्रतिमा होती है वह 'रचनात्मक-प्रतिमा' कहलाती है।

इस प्रकार स्मरण प्रतिमाएँ वे प्रतिमाएँ हैं जो पूर्व में अनुभव की गई वस्तु से मिलती हैं। किन्तु रचनात्मक प्रतिमाएँ वे प्रतिमाएँ हैं जिनमें अनेक प्रकार के तत्व सम्मिलित हैं और जो पूर्व-अनुभव की गयी वस्तु की प्रतिरूप हैं। हमने मानव को पंख लगाकर उड़ते नहीं देखा है किन्तु हमने 'पंख' और 'उड़ान' देखे हैं और इन दोनों ने मिलकर मनुष्य के पंख और उड़ान की रचना की है। स्मरण प्रतिमा पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। इस अध्याय के अन्तिम भाग में जब हम कल्पना पर विचार करेंगे उसी समय रचनात्मक प्रतिमा के महत्व पर भी विचार करेंगे।

(२) भिन्न ज्ञानेन्द्रियों और प्रतिमाओं का साहचर्य (Images associated with different senses)—भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं और भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिमाओं में साहचर्य है। इस प्रकार श्रव्य, दृश्य, घ्राणेन्द्रिय स्पर्श और सौन्दर्य सम्बन्धी प्रतिमाएँ हमें प्राप्त होती हैं। इनमें से बहुत से मनुष्यों के लिए अन्य प्रकार की प्रतिमाओं की अपेक्षा दृश्य प्रतिमाएँ स्पष्ट और बार-बार आती हैं। इनके पश्चात् श्रव्य प्रतिमाएँ आती हैं और सबसे बाद में दर्द और गन्ध की प्रतिमाएँ आती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिमा-शक्ति में अन्तर होता है। यद्यपि कुछ व्यक्ति अन्य कल्पनाओं की अपेक्षा दृश्य कल्पना में उच्च रहते हैं किन्तु कुछ व्यक्तियों के लिए यह प्रतिमा अन्य प्रतिमाओं, जैसे—श्रव्य प्रतिमा आदि, से कम महत्व की होती है।

शाब्दिक प्रतिमाएँ (Verbal Images)—अपने चिन्तन में विशेष रूप से, जब यह अमूर्त होता है, उस समय हम वस्तु अथवा घटनाओं की प्रतिमा की अपेक्षा शब्द प्रतिमाओं को अधिक स्थान देते हैं। इस प्रकार की प्रतिमा को 'शाब्दिक प्रतिमा' कहते हैं। शाब्दिक प्रतिमा का अर्थ, साधारण तौर पर, शब्द की प्रतिमा होती है। यह प्रतिमा छपी हुई या लिखी हुई दृश्य प्रतिमा हो सकती है या ध्वनि की श्रव्य प्रतिमा हो सकती है या भाषण और लिखी हुई व्याख्या में लिप्त गति की प्रतिमा हो सकती है।

प्रत्यक्ष, प्रतिमा और संवेदना (Percept, Image and Sensation)—कुछ इस प्रकार के लक्षण हैं जो कि प्रत्यक्ष, प्रतिमा और संवेदना में अन्तर स्पष्ट करते हैं। वे अग्रलिखित प्रकार से हैं—

(१) संवेदना के लिए ज्ञानेन्द्रिय अंग के उद्दीपक की आवश्यकता है, जबकि प्रतिमा के लिए यह आवश्यक नहीं है। दृश्य प्रतिमा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कमरा प्रकाशित हो। हम इस प्रकार की प्रतिमा को अँधेरे में देख सकते हैं या श्रव्य प्रतिमा को ध्वनिरुद्ध कमरे में भी देख सकते हैं। ध्वनि और किरण हमको ध्वनि और दृश्य प्रतिमा से अलग नहीं कर सकती हैं।

(२) संवेदना जो ज्ञानेन्द्रिय अंग के उद्दीपक पर निर्भर रहती है, उद्दीपक के समाप्त होने या बदल जाने पर समाप्त हो जाती है। किन्तु यह प्रतिमा हमारे ज्ञानेन्द्रिय अंग की क्रिया से स्वतन्त्र रहती है। जो वस्तु आपके सामने प्रस्तुत है, अगर अलग कर दी जाय तो संवेदना समाप्त हो जायगी। किन्तु उस वस्तु की प्रतिमा आपके मस्तिष्क में अवश्य रहेगी।

(३) संवेदना अपने चेतना के केन्द्र में ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है जबकि प्रतिमा हमारे संकल्प पर आधारित है। अगर हम उनको ध्यानपूर्वक प्रयास से मस्तिष्क में न लावें तो वे शीघ्र ही अदृश्य हो जाती है। जैसा कि ह्यूम ने कहा है कि प्रतिमाएँ मस्तिष्क में बनती हैं और संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण की अपेक्षा कम आग्रहपूर्ण होती हैं, या जैसा स्टाउट ने लिखा है कि प्रत्यक्षीकरण और संवेदना में "उद्दीपक जो हमारे लिए करते हैं, वही हमको प्रतिमा के लिए स्वयं करना पड़ता है।"

(४) प्रत्यक्षीकरण के लिए विषय 'वस्तु' होती है जो कि उसके उपयुक्त होती है। मेज पर पड़ी हुई पुस्तक, आकाश में सूर्य की चमक, या गुलाब के पुष्प से आती हुई गंध—यह वास्तव में, वे वस्तु नहीं हैं जिनको हम प्रत्यक्षीकरण के क्षण ही देख सकें, सुन सकें या सूँघ सकें, किन्तु हमारा प्रत्यक्षीकरण ही उनके उपयुक्त हो जाता है। वह वातावरण में स्थित रहती हैं और जब तक हम उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं करते, हम उनसे अनभिज्ञ रहते हैं। किन्तु प्रतिमा इस प्रकार का कोई कार्य नहीं करती है। किसी भी प्रकार के प्रत्यक्षीकरण जिनको हम अनुभव करते हैं, प्रतिमा भिन्न हो सकते हैं और प्रतिमा सम्पूर्ण स्थिति में उपयुक्त नहीं भी हो सकती है। यद्यपि किसी समय इसका अपवाद भी हो सकता है। उदाहरणार्थ—हम ध्रुवतारे के सम्बन्ध में सोच रहे हैं, हमारे मस्तिष्क में ध्रुवतारे का चित्र आ सकता है किन्तु यह प्रतिमा निश्चयपूर्वक हमारे प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बन्धित है।

(५) प्रतिमाएँ जो विभ्रम नहीं हैं अथवा अपवाद (exceptions) स्वरूप हैं, पूर्णरूपेण बहुत कम स्थिर होती हैं, संवेदना की अपेक्षा कम विशद और कम पृथक् होती हैं। एक सड़क या सूर्य की चमक या पुष्प की गंध की हमारी दृश्य प्रतिमा संवेदना की अपेक्षा कहीं अस्पष्ट (hazy) एवं अनिश्चित होगी।

कल्पना

(Imagination)

कल्पना हमको वैयक्तिक अनुभव (personal experience) के परे ले जाती है। यह सत्य है कि कल्पना की सामग्री अन्य चिन्तन की भाँति अनुभव का पुनस्मरण चाहती है। किन्तु कल्पना को पृथक् करने वाला लक्षण नया संसर्ग है, जिसमे पुनस्मृ'त तत्वों को स्थान प्राप्त होता है। कल्पना पूर्व-अनुभव से प्राप्त किये गये तत्व की रचना को भी सम्मिलित करती है।

स्मृति एवं कल्पना (Memory and Imagination)—स्मृति और कल्पना के बीच में कोई बहुत बड़ा भेद नहीं है। पूर्व घटनाओं और अनुभवों के पुनस्मरण मे ऐसे तत्त्व भी प्राप्त होते हैं जिनका मौलिक घटना से कोई सम्बन्ध नही होता। इस प्रकार कुछ वस्तुओं को जोड़ भी दिया जाता है। यह पुनस्मरण अनुभव ही स्मृति कहलाते हैं जो कि वास्तव मे कल्पना होते हैं, क्योंकि पुनस्मरण यथार्थ घटनाओं के उचित व बिलकुल वही प्रतिरूप नहीं होते हैं। यह बात एक छोटे बच्चे के सम्बन्ध मे स्पष्टतया देखी जा सकती है। वह पूर्व-अनुभव और स्मृति तथा कल्पना मे कोई सूक्ष्म अन्तर नही बताता है। बचपन के झूठ, पुनस्मृ'ति के पूर्व-अनुभवों पर स्पष्ट रूप से आधारित नही होने के कारण होते हैं।

सभी कल्पनाएँ व्यक्तिगत अनुभवों पर निर्भर होती हैं। कल्पना के सभी तत्त्व वास्तविक अनुभवों के होने चाहिए। कल्पना की समृद्धि यथार्थता और अनुभवों द्वारा इकट्ठे किये गये प्रदत्तों पर निर्भर रहती है।

चिन्तन और कल्पना (Thinking and Imagination)—चिन्तन और कल्पना अति निकट से सम्बन्धित हैं। हम वास्तव में इनको अलग करने के लिए कोई नियम नहीं बना सकते। क्रिया—जिसे हम चिन्तन कहते हैं, कल्पना के द्वारा स्पष्ट कर दी जाती है और क्रिया जिसे हम कल्पना कहते हैं वह विचारों से सहायता प्राप्त करती है। चिन्तन की अत्यधिक रचनात्मक अवस्था कल्पना को सम्मिलित करती है तथा कल्पना चिन्तन को सम्मिलित करती है। किसी समस्या के पूर्ण समाधान के लिए दोनो की आवश्यकता पड़ती है। एक की अनुपस्थिति मे दूसरा पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता है। चिन्तन और कल्पना में अन्तर, सम्भवतया स्वयं क्रिया की अपेक्षा क्रिया के उद्देश्य मे निहित रहता है। जब हम सोचते हैं तो हमारा उद्देश्य किसी ऐसे उपसंहार पर पहुँचने का होता है जिसे हम सत्य समझें तथा जिस पर काम करने में हम अपने को सुरक्षित समझें। जब हम कल्पना करते हैं तो हमारा उद्देश्य एक कलात्मक रचना पर पहुँचने का होता है। हम साहित्य अथवा संगीत में उच्च-स्तर की सामग्री को कल्पना द्वारा ही पाते हैं परन्तु चिन्तन की सामग्री जो उच्च-स्तर पर होती है, अच्छा तर्कपूर्ण विवाद (logical argument) है।

कल्पना के प्रकार (Kinds of Imagination)

कल्पना को सर्वप्रथम हम दो महत्त्वपूर्ण प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—(१) आदानात्मक अथवा ग्रहणात्मक कल्पना[1], और (२) सृजनात्मक कल्पना[2]। सृजनात्मक कल्पना को दो उप-भागों में विभाजित किया जा सकता है—कार्यसाधक कल्पना[3], और रसात्मक कल्पना[4]। रसात्मक कल्पना के और भी उपभेद किये जा सकते हैं। वे हैं—तारंगिक कल्पना[5] और कलात्मक कल्पनाएँ[6]। कार्यसाधक कल्पना को भी दो उपभेदों में बाँटा जा सकता है—*सैद्धान्तिक कल्पना*[7] और *व्यावहारिक कल्पना*[8]। इस प्रकार कल्पना के प्रकारों को हम निम्न प्रकार से प्रकट कर सकते हैं—
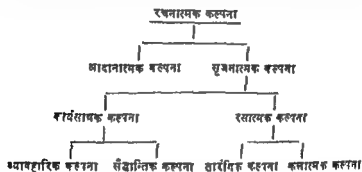
अब हम इन प्रकारों पर विचार करेंगे। यथा—

(१) *आदानात्मक या अनुकरणात्मक कल्पना (Imitative or Receptive Imagination)*—जब हम किसी उपन्यास को पढ़ते हैं या किसी दृश्य के वर्णन में नायक के अद्भुत कार्यों को पढ़ते हैं तो हमको नायक के चरित्र अथवा दृश्य की प्रतिमा प्राप्त होती है। इस प्रकार की कल्पना को जिसमें हम एक दी हुई प्रतिमा की कल्पना करते हैं, आदानात्मक या अनुकरणात्मक कल्पना कहते हैं।

(२) सृजनात्मक कल्पना (Creative Imagination)—ड्रेवर के अनुसार रचनात्मक कल्पना ग्रहणात्मक कल्पना से उच्च स्तर की होती है। यह एक इस प्रकार की कल्पना है, जिसमें नये प्रकार के विचारों को स्थान दिया जाता है जो मानव जाति की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। रचनात्मक चिन्तन—तथ्यों, विचारों, निरीक्षणों को पुनः जोड़ने का इस प्रकार का क्रम है जिसके द्वारा जो परिणाम निकलता है वह पूर्व-ज्ञान का प्रतिरूप मात्र न होकर उससे अधिक कुछ बड़ा

1. Imitative or Receptive Imagination, 2. Creative Imagination, 3. Pragmatic Imagination, 4. Aesthetic Imagination, 5. Fantastic Imagination, 6. Artistic Imagination, 7. Theoretical Imagination, 8. Practical Imagination.

हुआ होता है। अन्वेषण और रचनात्मक चिन्तन पुराने अनुभवों के आधार पर ही निर्मित होते हैं।

समस्याएँ विचार करने के नये प्रकारों को जन्म देती हैं। वस्तुओं के प्रति कार्य करने और वस्तुओं के प्रति चिन्तन करने की वर्तमान असंतुष्टि नवीन अन्वेषण तथा नवीन विचारों को प्रेरणा देती है। उस व्यक्ति को जो पूर्णतया व्यवस्थित है, जो अपने वर्तमान कार्य और विचार करने के ढंग से पूर्ण सन्तुष्ट है, नवीन के सीखने की कोई लालसा नहीं होती। वह व्यक्ति जो प्रत्येक वस्तु में समस्या पाता है और नवीन भिन्न वस्तु सीखने के लिए प्रोत्साहित रहता है या कोई नये ढंग से विचार करता अथवा कोई श्रेष्ठ अन्वेषण करता है, मानवीय समृद्धि के लिए सहायता प्रदान करता है। रचनात्मक कल्पना का आरम्भ तर्क तथा सीखने की तरह 'समस्या के परिचय' से होता है।

सृजनात्मक चिन्तन में उसी प्रकार की अन्य मानसिक क्रियाएँ मिलती हैं जो अन्य प्रकार के चिन्तन में प्रयोग की जाती हैं, जैसे—अनुभव, साहचर्य या स्पष्टीकरण में मानसिक क्रियाएँ प्राप्त, पुनर्स्मृति, इत्यादि पर होती हैं। रचनात्मक चिन्तन के स्तर हैं—प्रस्तावना, आश्रय (Incubation) तथा अन्तर्दृष्टि (Insight)।

रचनात्मक चिन्तन की प्रारम्भिक क्रिया के लिए एक लम्बा समय आवश्यक होता है। इस अवधि में सामग्री-संग्रह और विषय के विभिन्न अंगों पर खोज की जाती है। इस तैयारी की प्रारम्भिक अवस्था के बाद एक अवधि तक संभावित अस्पष्ट रचनात्मक कथन आकर स्थान ग्रहण करते रहते हैं। यह अवस्था आश्रय की अवस्था होती है और इसके तुरन्त पश्चात् आलोकित (Illumination) अवस्था आती है। यह अवस्था अन्तर्दृष्टि की अवस्था होती है जो अचानक आ सकती है। बहुधा संवेगात्मक प्रतिक्रिया भी अचानक अन्तर्दृष्टि के साथ गुँथी रहती है।

सृजनात्मक कल्पना के प्रकार (Kinds of Creative Imagination)

(१) कार्यसाधक कल्पना (Pragmatic Imagination)—यह कल्पना एक वैज्ञानिक और अन्वेषक की कल्पना है। रेलवे, टेलीफोन, टेलीविजन, आदि इसी प्रकार की कल्पना से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार की कल्पना के निम्न लक्षण हैं—

(अ) यह बाह्य नियन्त्रण द्वारा शासित होती है। तात्पर्य यह है कि एक इंजीनियर को जो एक नदी पर पुल बनाने की कल्पना कर रहा है, उपलब्ध सामग्री के आधार पर अपनी कल्पना को सीमित करना पड़ेगा, और इस बात पर भी कि पुल रेलवे या किसी अन्य परिवहन के लिए उपयोग में लाया जाना है। इस प्रकार बाह्य नियन्त्रण के साथ उसको अपनी कल्पना को सीमित करना पड़ेगा और सीमाओं के अन्तर्गत अपनी कल्पना का प्रयोग करना पड़ेगा।

(ब) इस प्रकार की कल्पना में कार्य के बाद आनन्द प्राप्त होता है। जब पुल बन जायगा उस समय इंजीनियर आनन्द का अनुभव करेगा। जब आप एक गणित

की समस्या को हल कर लेते हैं उस समय आपको अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। जब आप उसको हल करने में लगे होते हैं उस समय आपका आनन्द सीमाबद्ध हो होता है।

यह कल्पना एक अन्वेषक, विचारक और एक वैज्ञानिक की होती है और समस्या-समाधान के समय स्पष्टतः परिलक्षित होती है जबकि उचित तथा विश्वासी प्रदत्तों से अनुमान (hypothesis) निर्धारित किये जाते हैं और उनका परीक्षण तथा प्रयोग किया जाता है।

यह कल्पना सैद्धान्तिक या व्यावहारिक भी हो सकती है। सैद्धान्तिक कल्पना सैद्धान्तिक वैज्ञानिक की होती है और गणितज्ञ अथवा समस्या साधक जो कि सैद्धान्तिक-पक्ष से ही सम्बन्धित है, से सम्बन्धित होती है, न कि प्रयोगात्मक पक्ष से। व्यावहारिक कल्पना प्रक्रियात्मक वैज्ञानिक की होती है, जैसे कि इंजीनियर की जो कि मकान, इमारत तथा नहर का निर्माण करते हैं।

(२) रसात्मक कल्पना (Aesthetic Imagination)—कार्यसाधक कल्पना की भाँति रसात्मक कल्पना में बाह्य नियन्त्रण नहीं होते। इस प्रकार की कल्पना कवि और उपन्यासकार की होती है। इस कल्पना में व्यक्ति को काम करते समय ही आनन्द की प्राप्ति होती है। कवि को कविता लिखते समय आनन्द का अनुभव होता है और उसी समय उसे वास्तव में प्रेरणाएँ मिलती हैं।

रसात्मक कल्पना के दो उप-प्रकार होते हैं—कलात्मक कल्पना (artistic imagintion), और तारंगिक कल्पना (fantastic imagination)।

कलात्मक कल्पना में व्यक्ति द्वारा स्वयं कुछ नियन्त्रण स्वीकार किये जाते हैं। उपन्यासकार जो उपन्यास लिख रहा है, उसमें प्रत्येक वस्तु को समाहित नहीं कर सकता है। उसको अपने चिन्तन पर नियन्त्रण करना पड़ेगा। उसको विचारना पड़ेगा कि जो कुछ वह लिख चुका है, एक अच्छी कहानी है। उसके चरित्रों में, और जो कुछ लिख चुका है उसमें एक कड़ी है, और उनमें वे लक्षण दिखायेगा जिनको वह दिखाना चाहता है।

इस प्रकार नियन्त्रण उसकी कल्पना के ऊपर ही होते हैं किन्तु वे उसको सदैव कलात्मक कार्य करने के लिए प्रभावित करते हैं।

तारंगिक कल्पना में किसी प्रकार का कोई भी नियन्त्रण नहीं होता। इस प्रकार की कल्पना दिवा-स्वप्न में स्पष्ट परिलक्षित होती है। व्यक्ति अपने विचारों को स्वतंत्र रखता है। वे बिना किसी नियंत्रण के इधर-उधर विचरण करते हैं। हवा में महल बनाना इस प्रकार की कल्पना का उदाहरण है। आप दिवा-स्वप्न (day-dream) में कल्पना करते हैं कि मेरे पास एक लाख रुपया है और आप विचार करते

जायेंगे कि मैं इनका क्या उपयोग करूंगा। इस प्रकार का उदाहरण इस कल्पना का श्रेष्ठ उदाहरण है।

दिवा-स्वप्न (Day Dreams)—समय-समय पर बहुत-से सामान्य व्यक्ति अपनी समस्याओं का समाधान करते-करते कल्पना की बहुलता में पड़ जाते हैं। ऐसी अवस्था में दिवा-स्वप्न निश्चित हो जाते हैं। यह व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डालते हैं। जिस व्यक्ति को लगातार असफलता प्राप्त होती है वह काल्पनिक जगत में ही अपने वास्तविक सन्तोष का दर्शन करता है। यदि व्यक्ति को अपने इस प्रकार के व्यवहार से सन्तोष मिल जाता है तो वह दिवा-स्वप्न द्वारा ही अपना व्यवस्थापन करने का प्रयत्न करता है। अतएव उसके सब विचार तथा कार्य वास्तविक संसार से परे हो जाते हैं।

दिवा-स्वप्नों में हम समस्याओं को कल्पना में पूरा करते हैं और वास्तविकता से दूर रहते हैं। वास्तविक जगत की समस्याओं को वास्तविकता के रूप में सुलझाना पड़ता है और यह कठिन कार्य है। किन्तु काल्पनिक जगत तथा उसमें सफलता प्राप्त करना—दोनों ही सरल होते हैं।

दिवा-स्वप्नों के प्रकार (Kinds of Day Dreams)—कुछ अवस्थाओं में व्यक्ति के दिवा-स्वप्न बड़े ही अव्यवस्थित ढंग में होते हैं और ऐसे विषय से भी सम्बन्धित हो सकते हैं जो क्षण भर के लिए उसकी रुचि के अनुसार हों। कुछ व्यक्तियों में दिवा-स्वप्नों को लगातार देखने की आदत पड़ जाती है। पहले तो यह कभी-कभी ही होते हैं किन्तु बाद में व्यवस्थित ढंग से होने लगते हैं। इस प्रकार एक बालक जो खेलने के लिए काल्पनिक साथी रखता है, सभी साहसपूर्ण कार्यों को करता है और महीनों तक ऐसे अभ्यास के फलस्वरूप यह काल्पनिक सहयोग बालक को एक निश्चित प्रकार का व्यक्तित्व प्रदान कर सकता है।

बालकों के दिवा-स्वप्न (Day Dreams of Children)—बालकों के अन्दर साधारणतया तीन प्रकार के दिवा-स्वप्न पाये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) एक विजयी बहादुर (conquering hero-type), (२) दुखी बहादुर (suffering hero), (३) धात्रेय बालक (foster child)।

विजयी बहादुर के प्रकार में बालक अपने को एक बहादुर के रूप में देखता है जो कि युद्ध में सबसे आगे रहता है। वह एक महान् गाने वाला, महान् वक्ता, अच्छा घुड़-सवार, हवाई-जहाज चालक, महान् साहसी इत्यादि, जिनने अपने जीवन सम्बन्धी संघर्ष के सभी प्रतिस्पर्द्धियों को जीत लिया है, के रूप में अपने को देखता है।

दुःखी बहादुर के रूप में बालक अपने को बहुत कष्टपूर्ण और दुःखदायी वातावरण में देखता है। वह जीतने की अपेक्षा हारने में अधिक आनन्द लेता है। बालक अपने को एक शहीद की तरह अनुभव करता है।

धात्रेय बालक दिवा-स्वप्न में अपने माँ-बाप के प्रति क्रोध के कारण यह कहता

है कि वह उनका पुत्र या पुत्री नहीं है। वह यह कल्पना करता है कि उसके वास्तविक माता-पिता बहुत धनवान हैं और सुविख्यात हैं, उसको बचपन में गोद ले लिया गया है। यह कल्पना केवल उसके आत्मगौरव के भाव को बढ़ाती है और उन माँ-बाप के लिए जिन्होंने कि उसे पाला है, एक समस्या बन जाती है।

दिवा-स्वप्नों का मूल्य (Value of Day Dreams)—दिवा-स्वप्न एक मानसिक प्रक्रिया है और स्वस्थ बालक या किशोरों के लिए हानिकारक भी नहीं है। मानसिक रूप में इधर-उधर विचरना हानिकारक नहीं है, परन्तु जीवन की समस्याओं के सामने होते हुए भी जब कल्पना की बहुलता होती है तब यह हानिकारक है क्योंकि हम उनका व्यावहारिक ढंग से समाधान करने में असफल रहते हैं।

सारांश

मानसिक प्रतिमाएँ तत्काल बाह्य उत्तेजना की अपेक्षा मस्तिष्क की क्रियाओं पर आश्रित रहती हैं। प्रतिमाओं को दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है :—प्रथम—रचनात्मक और स्मरण प्रतिमाओं में अन्तर होता है। द्वितीय—भिन्न-भिन्न प्रतिमाओं में अन्तर होता है। प्रत्यक्ष, प्रतिमा तथा संवेदना में कई प्रकार के अन्तर स्पष्ट किये जा सकते हैं, परन्तु संवेदना और प्रतिमा के उपर्युक्त अन्तरों के बाद भी हम कभी-कभी प्रतिमा को संवेदना के लिए, और संवेदना को प्रतिमा के लिए अनुचित रूप से प्रयोग करते हैं।

कल्पना में अनुभव का पुनर्स्मरण किया जाता है परन्तु उसको एक नये संसर्ग में रख दिया जाता है। कल्पना की समृद्धि यथार्थता और अनुभव से इकट्ठा किये गये प्रदत्तों पर निर्भर रहती है। चिन्तन और कल्पना, तथा स्मृति और कल्पना में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

कल्पना को दो प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—आदानात्मक और सृजनात्मक। सृजनात्मक कल्पना के दो उपभाग हैं—रचनात्मक कल्पना तथा कार्यसाधक कल्पना। रचनात्मक कल्पना के भी दो उपभेद किये जा सकते हैं। वे हैं—सार्थिक कल्पना तथा कलात्मक कल्पना। इसी प्रकार कार्यसाधक कल्पना के भी दो उपभेद हैं—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक।

दिवा-स्वप्न में हम समस्याओं को कल्पना द्वारा पूरा करते हैं और वास्तविकता से [illegible] रहते हैं। ये बालकों में तीन प्रकार के होते हैं—(१) विजयी बहादुर, (२) दुखी बहादुर, तथा (३) पानेय बालक।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्रतिमा से आप क्या समझते हैं? प्रतिमा तथा प्रत्यक्षीकरण में क्या अन्तर है?
२. कल्पना और प्रतिमा में क्या अन्तर है? क्या कल्पना बिना प्रतिमा के संभव है? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण दीजिए।

३. कल्पना के प्रकार क्या-क्या हैं ? प्रत्येक का विवरण दीजिए।

४. दिवा-स्वप्न कितने प्रकार के होते हैं ? इनसे क्या लाभ एवं हानियाँ हैं ?

सहायक पुस्तकों की सूची

१. मैक्डूगल : एन आउटलाइन ऑफ साइकॉलॉजी।

२. डीवी, जे० : हाउ वी थिंक, डी० सी० हीथ, बोस्टन, १९११।

३. रूक, एफ० एल० : साइकॉलॉजी ऑफ लाइफ, स्कॉट फोरसमान, शिकागो, १९५३।

४. माथुर, एस० एस० : शिक्षा-मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९६२।

स्वप्न की विशेषताएँ

स्वप्न की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) वे वस्तुएँ जो हमारे स्वप्न मे आती हैं, बहुधा हमारे दैनिक जीवन मे अनुभव की जाने वाली वस्तुएँ ही होती हैं; जैसे—घोड़े, रेलगाड़ी या व्यक्ति। इसी प्रकार वे स्थान जो स्वप्न में देखे जाते हैं, आमतौर से परिचित ही होते हैं; जैसे—स्वप्नद्रष्टा का मकान या क्लब या उसका पास-पड़ोस।

(२) स्वप्न मे स्थान तथा वस्तुओं इत्यादि के परिचित होने के बाद भी जो घटनाएँ होती हैं, वे व्यक्ति के दैनिक जीवन से नितान्त भिन्न होती हैं। व्यक्ति अपना स्वरूप बदल लेते हैं और कभी-कभी वे जानवरों जैसे प्रतीत होने लगते हैं। स्वप्न में समय तथा स्थान की सीमा नहीं होती। हमें प्रतीत होता है कि हम हजारों साल पहले की घटनाएँ देख रहे हैं। कभी तो ऐसा लगता है कि दूर देशों का भ्रमण कर रहे हैं।

(३) स्वप्न के साथ-साथ बहुधा शक्तिशाली संवेदनात्मक अनुभव (emotional experience) भी सम्बन्धित रहते हैं। यह बात हमें भयानक स्वप्न (night mair) मे स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त, हमारे साधारण स्वप्न में भी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता का समावेश रहता है। संवेदनात्मक अनुभव होने से व्यक्ति स्वप्न में अधिक रुचि लेने लगते हैं और वे स्वप्नों को महत्वपूर्ण समझने लगते हैं।

(४) अधिकतर स्वप्नों मे एक निश्चित प्रकार की-सी पृष्ठभूमि (setting) होती है। केवल ५ प्रतिशत स्वप्न ऐसे होते हैं जिनमें व्यक्ति पृष्ठभूमि से अवगत नहीं होता। १६ प्रतिशत स्वप्नों में व्यक्ति किसी मोटर या रेल में, या हवाई जहाज या किसी नाव आदि मे यात्रा कर रहा होता है। लगभग १० प्रतिशत स्वप्नों में पृष्ठभूमि कुछ मनोरंजक स्थानों की होती है; जैसे—पार्क या खेल का मैदान, या समुद्र का किनारा इत्यादि। सबसे अधिक, लगभग २५ प्रतिशत स्वप्नो मे पृष्ठभूमि व्यक्ति का घर या घर के कमरे इत्यादि होते हैं। दूसरे १० प्रतिशत स्वप्न ग्रामीण स्थानों या घर के बाहर के स्थानों की पृष्ठभूमि लिये होते हैं। पुरुष के स्वप्न अधिकतर घर से बाहर की पृष्ठभूमि लिये होते हैं, जबकि स्त्री के स्वप्न घर के अन्दर की। १० प्रतिशत ऐसे भी स्वप्न होते हैं जो यह संकेत करते हैं कि व्यक्ति सड़क के किनारे चल रहा है। शेष स्वप्नों का वर्गीकरण पृष्ठभूमि के अनुसार करना कठिन है।

(५) पृष्ठभूमि के साथ-साथ स्वप्नों मे कुछ पात्र (cast) भी होने चाहिए। लगभग १५ प्रतिशत स्वप्नों में द्रष्टा स्वयं पात्र होता है। बाकी ८५ प्रतिशत स्वप्नों मे साधारणतया दूसरे दो पात्र और सम्मिलित हो जाते हैं। ये अतिरिक्त पात्र अधिकतर व्यक्ति के सम्बन्धी इत्यादि होते हैं, परन्तु हमारे स्वप्न के ४० प्रतिशत चरित्र अजनबी होते हैं। महत्वपूर्ण व्यक्ति स्वप्न मे बहुत कम दिखाई देते हैं, क्योंकि स्वप्न हमारे अपने संवेदनात्मक अनुभवों से सम्बन्धित होते हैं।

(६) स्वप्न में स्वप्न-द्रष्टा कुछ करते हुए दिखाई पड़ता है। ३१ प्रतिशत स्वप्नों में वह किसी प्रकार की गति (movment) करता पाया जाता है; जैसे—चलना, दौड़ना, सीढ़ी चढ़ना या मोटर चलाना आदि। दूसरे २५ प्रतिशत स्वप्नों में वह निष्क्रिय क्रियाएँ (passive activities) करता है; जैसे—खड़ा रहना, दूसरों का निरीक्षण करना, या बातचीत करना इत्यादि। स्त्रियों में बहुत कम गतिशील स्वप्न होते हैं।

(७) अनेक प्रकार के संवेग, स्वप्न के निर्माण में सहयोग देने वाले व्यक्ति, क्रियाओं एवं पृष्ठभूमि के साथ-साथ अनुभव किये जाते हैं। सामान्य रूप से दुख देने वाले स्वप्न सुख देने वालों की अपेक्षा अधिक होते हैं, और जैसे-जैसे व्यक्ति की आयु बढ़ती जाती है, दुख देने वाले स्वप्नों की मात्रा में भी वृद्धि होती जाती है।

(८) कभी-कभी हमें रंगीन स्वप्न भी आते हैं। तीन स्वप्नों में एक स्वप्न रंगीन होता है।

(९) स्वप्न सार्थक होते हैं। जो स्वप्न हमे आते हैं, वे हमारे अनुभवों तथा जीवन की समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं। स्वप्नों का अर्थ बहुत-कुछ हमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण विधि से प्राप्त होता है।

(१०) स्वप्न द्वारा हम अपनी इच्छापूर्ति का प्रयास करते हैं। हमारी जो इच्छाएँ, कामनाएँ, प्रेरणाएँ आदि दमन कर दी जाती हैं, वे स्वप्न के रूप में प्रकट होने की चेष्टा करती हैं।

स्वप्न के प्रकार

स्वप्न का वर्गीकरण करना सरल नहीं है। हमको अनेक प्रकार के स्वप्न आते हैं। यहाँ पर केवल कुछ मुख्य प्रकार के स्वप्नों का वर्णन किया जायगा—

(१) इच्छापूर्ति स्वप्न (Wish Fulfilment Dreams)—कुछ स्वप्न इस प्रकार के होते हैं, जिनके द्वारा हम अपनी दमन की हुई इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं। यह इच्छापूर्ति का ढंग बहुधा सांकेतिक (symbolic) भाषा में होता है। इस सम्बन्ध में हम आगे विस्तृत वर्णन करेंगे।

(२) चिन्ता स्वप्न (Anxiety Dreams)—हमें कभी-कभी ऐसे स्वप्न आते हैं जिनमे हम बहुत चिन्तित स्थिति मे प्रतीत होते हैं। हम ऐसे स्वप्न देखकर बहुधा डर जाते हैं और बेचैनी में हमारी नींद टूट जाती है। स्वप्न समाप्त होने पर भी हमारे हृदय की धड़कन तेज रहती है और हमारा शरीर पसीने से तर-बतर हो जाता है।

(३) भविष्यसूचक स्वप्न—कुछ स्वप्न ऐसे भी होते हैं जो हमें भविष्य की सूचना देते हैं, जैसे—हम यह स्वप्न में देखते हैं कि हमारे घर कोई विशेष मेहमान आया है, प्रातःकाल सोकर उठते हैं तो वही मेहमान घर के दरवाजे पर खड़ा मिलता है।

(४) गति स्वप्न (Kinesthetic Dreams)—कुछ स्वप्न हमें गति के

सम्बन्ध मे भी होते हैं; जैसे—हम कभी अपने को तैरते हुए, उछलते हुए, उड़ते हुए या सीढ़ी पर चढ़ते हुए देखते हैं।

(५) दण्ड स्वप्न—कुछ स्वप्नों में व्यक्ति घोर कष्ट पाता प्रतीत होता है। ऐसे स्वप्न 'दण्ड स्वप्न' कहलाते हैं। ये हमारे अचेतन में दण्ड भोगने की इच्छा के कारण होते हैं।

(६) पुनरावर्त्तक स्वप्न (Re-current Dreams)—कुछ ऐसे स्वप्न हैं जो बार-बार हमें दिखाई पड़ते हैं; जैसे—एक विद्यार्थी परीक्षाफल आने से पहले बार-बार यह देखता है कि उसका परीक्षाफल निकल गया और वह अखबार में उसे देख रहा है।

(७) मृत्यु के स्वप्न (Dreams of the Dead)—कभी-कभी स्वप्नों में हम परिचित व्यक्तियों को मरा हुआ देखते हैं या जो व्यक्ति मर चुके हैं, उन्हें जीवित देखते हैं। ऐसे स्वप्न भी हमारी दबी हुई इच्छाओं का प्रदर्शन करते हैं।

(८) प्रतिरोध स्वप्न (Protest Dreams)—ऐसे स्वप्न समाज के नियमों के विरुद्ध प्रतिरोधस्वरूप होते हैं; जैसे—एक व्यक्ति स्वप्न में अपने सारे कपड़े उतार कर नंगा हो जाता है, तो वह ऐसा समाज के नियमों के प्रति प्रतिरोध की भावना के कारण ही करता है। यह मत विटर महोदय का है। परन्तु फ्रॉयड महोदय का कहना है कि व्यक्ति नंगा इसलिए हो जाता है कि वह अपने गुप्तांगों का प्रदर्शन करना चाहता है और इस प्रकार अपनी हीन भावनाओं की संतुष्टि चाहता है।

(९) सामूहिक स्वप्न (Collective Dreams)—अनेक बार ऐसा भी देखने में आता है कि कई व्यक्तियों को एक-से स्वप्न आते हैं। ये स्वप्न सामूहिक स्वप्न कहलाते हैं।

(१०) लकवे के स्वप्न (Paralytic Dreams)—इन स्वप्नों में दिखाई पड़ता है कि हमारे शरीर का कोई अंग शून्य पड़ गया है। ऐसे स्वप्नों में हमारा हिलना-डुलना बिल्कुल बन्द हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि हम उठना चाह कर भी नहीं उठ पा रहे हैं। ऐसे स्वप्न हृदय पर हाथ रखने के कारण होते हैं।

स्वप्न सम्बन्धी सिद्धान्त

स्वप्न के सम्बन्ध में पुरातन सिद्धान्त, जो अब भी कुछ पिछड़ी जातियों में पाया जाता है, यह था कि जब व्यक्ति सो जाता है तो उसकी आत्मा शरीर छोड़कर ब्रह्मांड में विचरण करती है। क्योंकि जो कुछ स्वप्न में देखता है वह उसका वास्तविक अनुभव ही है, जो आत्मा ने ब्रह्मांड में विचरण करते समय किया है। इस सम्बन्ध में एक रोचक घटना का वर्णन आइसेंक (Eysenck) महोदय करते हैं—"एक पिछड़ी जाति के मुखिया ने जिसने सुना कि उसकी प्रजा में से एक व्यक्ति ने स्वप्न में उसकी पुत्री के साथ यौन-समागम किया, उस व्यक्ति से वधू-धन (bride's money) माँगा, क्योंकि उसका विचार था कि व्यक्ति की आत्मा ने वहीं सन्तुष्टि प्राप्त की जो

कि उसे विधिवत् उसकी पुत्री से विवाह के बदले में धन देकर प्राप्त होती।" स्वप्न का यह सिद्धान्त इस प्रकार की अतार्किक बातों के कारण हमें मान्य नहीं है। इस समय जो मुख्य सिद्धान्त प्रचलित हैं, हम उनका वर्णन नीचे करेंगे। यथा—

१. भविष्यवाचक सिद्धान्त (Prophetic Theory of Dreams)

इस सिद्धान्त के अनुसार स्वप्न भविष्यवाचक होते हैं (prophetic in nature)। ये हमको उन खतरों की चेतावनी देते हैं जिनका सामना हम भविष्य में करेंगे। इस प्रकार के सिद्धान्त में मानव जाति बहुत समय से विश्वास करती चली आयी है। यदि हम इस सिद्धान्त में विश्वास करें तो स्वप्न-विश्लेषण हमारे लिए अत्यधिक महत्त्व का हो जाय। हमें स्वप्न के विश्लेषण द्वारा ही पता चल जाय कि कहीं की लाटरी कौन जीतेगा या अगले चुनाव में प्रधान मंत्री कौन बनेगा। बहुत कम ही मनोवैज्ञानिक हैं जो इस प्रकार के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। फिर भी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, जे० डब्ल्यू० ड्यून (J. W. Dunne), ने इस ओर प्रयास किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक "एन एक्सपेरीमेण्ट विद टाइम" *(An Experiment With Time)* में अपने कुछ स्वप्नों का विश्लेषण करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि स्वप्न भविष्यवाचक होते हैं। उनके एक स्वप्न का हम यहाँ उल्लेख करेंगे :—

'उन्होंने एक रात को स्वप्न देखा कि वह दो खेतों के बीच में एक पतले रास्ते से चल रहे हैं जो ऊँची मोटी की बाड़ों से दोनों खेतों से अलग किया हुआ है। यकायक उनका ध्यान एक घोड़े की ओर जाता है जो उनके बायें ओर के खेत में है और जो पागल-सा प्रतीत होता है, तथा बहुत ही उत्तेजनापूर्ण ढंग से तोड़-फोड़ कर रहा है। चिन्तायुक्त होकर उन्होंने मोटी की बाड़ों की ओर देखा कि क्या घोड़ा उसे तोड़कर खेत से बाहर भाग सकता है। यह देखकर कि घोड़ा नहीं निकल सकता, वह आगे रास्ते चलते रहे, परन्तु वह देखते हैं कि घोड़ा किसी प्रकार खेत से बाहर निकलने में सफल हो गया है और उनका पीछा करने लगा है। वह एक खरगोश की तरह तेजी से दौड़े जिससे कि वह कुछ लकड़ी की सीढ़ियों पर चढ़ जायें जो उन्हें रास्ते में बनी हुई दिखाई पड़ीं।" इस स्वप्न के पश्चात् दूसरे दिन जब वह अपने भाई के साथ मछली का शिकार कर रहे थे तो उनका ध्यान एक घोड़े की [illegible] की ओर खिंचा। उस स्थान पर दो खेत थे, जो दोनों ओर [illegible] से घिरे थे और उनके बीच में एक रास्ता था। घोड़ा वैसी ही हरकतें कर रहा था जैसा कि उन्होंने स्वप्न में देखा था। रास्ते के अन्त में लकड़ी की सीढ़ियाँ भी बनी थीं। [illegible] अपने भाई को स्वप्न के सम्बन्ध में बताया [illegible]; उन्हें यह भी चिन्ता हुई [illegible] कहीं घोड़ा [illegible] तोड़कर बाहर न निकल आये, पर [illegible] के [illegible] न होने के कारण उन्होंने कहा कि घोड़ा बाहर नहीं निकल [illegible] और मछली का शिकार करते रहे। यकायक उनके भाई ने कहा और उन्होंने देखा कि घोड़ा बिल्कुल स्वप्न की भाँति [illegible] बाहर निकल आया है और उनकी ओर

सीढ़ियों को ओर दौड़ रहा है। वह सीढ़ियों से गुज़र गया और नदी में होकर सीधे ड्यून महोदय की ओर आने लगा। परन्तु जब घोड़ा पानी से बाहर निकला तो उसने केवल इन लोगों की ओर देखा और सड़क के नीचे की ओर दौड़ता चला गया। इस प्रकार स्वप्न में और भविष्य में होने वाली घटनाओं में बहुत अधिक समानता है। परन्तु कुछ असमानताएँ भी हैं; जैसे—स्वप्न में ड्यून महोदय अकेले थे परन्तु वास्तविक घटना के समय वह अपने भाई के साथ थे। इनके अतिरिक्त घोड़ा ड्यून महोदय का पीछा वास्तविक घटना के समय नहीं कर रहा था। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इस स्वप्न में और वास्तविक घटना में केवल संयोगवश (by chance) ही समानता है। प्रयोगों के आधार पर यह सिद्धान्त कि 'स्वप्न भविष्यसूचक' होते हैं, प्रत्येक दृष्टि से उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। अतएव हम केवल यही कह सकते हैं कि कुछ स्वप्न संयोगवश भविष्यसूचक हो सकते हैं, परन्तु प्रत्येक प्रकार के स्वप्न ऐसे नहीं हो सकते।

२. फ्रॉयड का सिद्धान्त (Freudian Theory)

दूसरा सिद्धान्त फ्रॉयड महोदय का है। फ्रॉयड के अनुसार स्वप्न हमें भविष्य के बारे में नहीं बताते, वरन् वे हमें हमारे वर्तमान में सुलझने वाली अचेतन भावना-ग्रन्थियों के सम्बन्ध में कुछ बताते हैं, तथा हमें अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ले जाते हैं। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में तीन मुख्य अनुमान (hypothesis) हैं। यहाँ हम तीनों का वर्णन करेंगे। यथा—

(अ) अर्थपूर्ण (Meaningfull)—पहला अनुमान यह है कि स्वप्न अर्थरहित नहीं होते हैं वरन् वे अर्थपूर्ण होते हैं। उनमें जो कुछ भी तत्त्व होते हैं उनको कुछ-न-कुछ अर्थ प्रदान किया जा सकता है। फ्रॉयड का यह विचार कि स्वप्न अर्थपूर्ण होते हैं उनके इस सामान्य सिद्धान्त से मेल खाता है कि हमारा प्रत्येक कार्य अर्थपूर्ण होता है; जैसे—जब हम कुछ लिखने में तथा बोलने में गलती (slip of pen and slip of tounge) करते हैं या हाथ को बार-बार हिलाते हैं या बहुत शीघ्र क्रोधित हो जाते हैं तो इन सब क्रियाओं के पीछे कुछ अर्थ छिपा रहता है जो हमको चेतन मस्तिष्क द्वारा नहीं पता चलता। इन क्रियाओं का संचालन अचेतन मन करता है।

(ब) इच्छापूर्ति (Wish-fulfilment)—इच्छापूर्ति से तात्पर्य है कि प्रत्येक स्वप्न का कुछ उद्देश्य होता है, और यह उद्देश्य किसी इच्छा या कामना की संतुष्टि है जो हमारे अचेतन मन में दमन की हुई रहती है। फ्रॉयड का यह मत उनके 'व्यक्तित्व के सामान्य सिद्धान्त' (General Theory of Personality) के आधार पर ही है। फ्रॉयड ने, जैसा कि हमने 'अचेतन' के अध्याय में वर्णन किया है, व्यक्तित्व को तीन भागों में बाँटा है। एक भाग को वह 'इदम्' (Id) कहता है। यह भाग वह है जहाँ पर अचेतन रूप से आवेग, इच्छाएँ, कामनाएँ, इत्यादि इकट्ठी रहती हैं जो अधिकतर काम सम्बन्धी रूप लिये रहती हैं। यह भाग हमारी क्रियाओं को सबसे अधिक गतिशीलता प्रदान करता है। इसके विरुद्ध दूसरा भाग होता है जिसे 'नैतिक मन'

(super ego) कहते हैं, जो कुछ चेतन होता है और कुछ अचेतन और सामाजिक नैतिकता का भण्डारघर होता है। इन दोनों के बीच में तीसरा भाग होता है, जिसे 'अहम्' (ego) कहते हैं। यह भाग 'इदम्' तथा 'नैतिक मन' के संघर्ष को निपटाने की चेष्टा करता है। यह भाग हमारे व्यक्तित्व का चेतन भाग है।

(स) छद्मवेश—इदम् की शक्ति सदैव इस चेष्टा में लगी रहती है कि वह अहम् के ऊपर अपना आधिपत्य कायम कर ले और उसमें छिपी कामनाएँ चेतन मस्तिष्क में आ जायें। जाग्रत अवस्था में नैतिक मन कठोरता के साथ उनका दमन कर देता है और उन्हें अचेतन से बाहर नहीं निकलने देता। परन्तु निद्रावस्था में नैतिक मन ढीला पड़ जाता है और उसका नियंत्रण शिथिल हो जाता है, जिसका फल यह होता है कि इदम् में दबी हुई इच्छाएं या कामनाएँ स्वप्न के रूप में बाहर फूट पड़ती हैं। परन्तु वास्तव में नैतिक मन निद्रावस्था में भी इतना शिथिल नहीं होता कि वह इच्छाओं को उनके मूल रूप में बाहर निकलने का अवसर प्रदान करे। इस कारण अतिरिक्त इच्छाएँ, कामनाएँ इत्यादि अपना वेश बदल लेती हैं और नैतिक मन को धोखा देकर स्वप्नावस्था में आ जाती हैं। इस प्रकार स्वप्न के दो रूप होते हैं—एक तो स्वप्न जैसा कि अनुभव किया गया अर्थात् व्यक्त स्वप्न, और दूसरा स्वप्न जो गुप्त है (latent-dream)। गुप्त स्वप्न से तात्पर्य है—वह विचार, इच्छाएँ आदि जिनका छद्मवेश उतार दिया जाता है और जो वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। इस दृष्टिकोण के आधार पर स्वप्न-विश्लेषणकर्त्ता का कार्य व्यक्त स्वप्न (manifest-dream) को अव्यक्त स्वप्न (latent dream) के रूप में व्याख्या प्रदान करना है।

फ्रॉयड के अनुसार यह व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। पहले प्रतीकीकरण (symbolisation) द्वारा; और दूसरे सहचार-विधि (method of association) द्वारा। हम यहाँ इन दोनों का वर्णन करेंगे :—

प्रतीकीकरण—प्रतीकीकरण से तात्पर्य है—स्वप्न की वस्तुओं को किन्हीं वास्तविक संसार की वस्तुओं का प्रतीक मानना। पुरातन काल से मनोवैज्ञानिकों ने प्रतीकीकरण की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अनेक वस्तुओं को जो स्वप्न में दिखाई देती हैं, वास्तविक संसार की अनेक वस्तुओं का प्रतीक माना। परन्तु उनके द्वारा प्रतीकीकरण और फ्रॉयड द्वारा प्रतीकीकरण में अन्तर है। फ्रॉयड ने मुख्यतः काम एवं काम-सम्बन्ध पर बल दिया। उसने जिन प्रतीकों की चर्चा की, वे सब काम-भावना के आधार पर ही थे। उसके द्वारा दिये हुए कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं—

छड़ी, सिगार, चिमनी, छाता, पेंसिल, हवाई जहाज, तीर, साँप, बन्दूक, पेड़ इत्यादि लम्बे आकार की वस्तुएँ—पुरुष लिंग (male genital organ) की प्रतीक हैं।

बर्तन, डिब्बा, दरवाजा, घर, सन्दूक, गुफा, नाव आदि खोखली चीजें—स्त्री लिंग (vagina) की प्रतीक हैं।

नाचना, किसी चीज से फिसलना, सीढ़ियाँ चढ़ना, घोड़े पर बैठना इत्यादि यौन-समागम (sexual inter-course) की प्रतीक हैं।

छोटे-छोटे जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े इत्यादि भाई-बहिन के प्रतीक हैं। ईश्वर, राजा-रानी या श्रेष्ठ पुरुष इत्यादि माता-पिता के प्रतीक हैं तथा आग प्रेम की प्रतीक है।

स्वतन्त्र सहचार-विधि (Method of Free Association)—स्वतंत्र सहचार-विधि का प्रतिपादन १६वीं शताब्दी के दार्शनिकों ने किया था। उनका विश्वास था कि विचार आपस में समानता या सहचारिता के कारण सम्बन्धित हो जाते हैं और मानसिक जीवन इस सम्बन्धों के द्वारा ही समझा जा सकता है। स्वतंत्र सहचार-सिद्धान्त के अनुसार यह प्रतिपादित किया जाता है कि विचार आकस्मिक रूप में मिल जाते हैं तो हम 'व्यक्त' (manifest) तथा 'अव्यक्त' (latent) स्वप्न में सम्बन्ध ज्ञात कर सकते हैं। हम व्यक्त स्वप्न से चलकर एक सहचारिता की शृंखला (chain of associations) द्वारा अव्यक्त स्वप्न का पता लगा सकते हैं। इससे तात्पर्य यह है कि हम कुछ ऐसे विचारों से जो हमें मान्य नहीं हैं और जो प्रकाशन चाहते हैं, सहचार द्वारा ऐसे विचारों पर आ सकते हैं जो हमारी समझ में नहीं आते और जो व्यक्त स्वप्न में निहित रहते हैं। जो विचार गुप्त रूप से हमारे स्वप्न में आते हैं वह सहचार की शृंखला द्वारा व्यक्त स्वप्न से जुड़े रहते हैं, और हम मूल विचारों का पता इस शृंखला के अनुसार पीछे की ओर बढ़ने से कर सकते हैं। फ्रॉयड महोदय व्यक्त स्वप्न से किसी भी विचार को लेकर विषयी (subject) से यह कहते हैं कि वह अपने सारे विचारों को, जो भी उसके मस्तिष्क में हैं, इस विचार पर केन्द्रित करे और जोर से कहता चला जाय, जो कुछ भी उसके मन में मूल विचार से सम्बन्धित विचार आते चले आयें। इस प्रकार की विधि द्वारा वह आशा करते हैं कि विचारों की शृंखला गुप्त, आकस्मिक विचार (casual latent idea) की ओर ले जायेगी। इस प्रकार स्वतंत्र सहचार-विधि द्वारा स्वप्नों को अर्थ प्रदान किया जा सकता है।

स्वप्न की यांत्रिक क्रियाएँ (Mechanism of Dream)—फ्रॉयड महोदय स्वप्न को अर्थ प्रदान करने के लिए स्वप्न की कुछ यांत्रिक क्रियाओं का वर्णन करते हैं। यह क्रियाएँ हैं—(१) नाटकीयता (dramatisation), (२) प्रतीकीकरण (symbolisation), (३) आकुंचन (condensation), (४) विस्थापन (displacement), (५) उप-विस्तारण (secondary elaboration)। यहाँ हम सब पर कुछ प्रकाश डालेंगे :—

(१) नाटकीयता (Dramatisation)—अधिकतर हमारे स्वप्न दृष्टि सम्बन्धी प्रतिमाओं द्वारा होते हैं। इसके पात्र नाटक के पात्रों की तरह ही होते हैं। जिस प्रकार से स्वप्न में नाटकीयता होती है, फ्रॉयड उसकी एक कार्टून से तुलना करते हैं। कार्टून में कुछ चित्र इत्यादि इस प्रकार से बने होते हैं जिनका कोई विशेष अर्थ कार्टून बनाने वाला कार्टून को देखने वालों को समझा देना चाहता है। इसी प्रकार

स्वप्न में जो विभिन्न चित्रों की आवृत्ति आदि दिखाई पड़ती है; उन सबका कुछ नाटकीय अर्थ होता है जिसका पता लगाना अत्यन्त कठिन होता है।

स्वप्न में दृष्ट प्रतिमाओं के साथ-साथ कभी-कभी ध्वनि प्रतिमाएँ भी दिखाई पड़ती हैं। किसके स्वप्न में किस प्रकार की प्रतिमाएँ आयेंगी ? यह उसकी अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभवों की तीव्रता एवं सहचार पर निर्भर रहता है।

(२) प्रतीकीकरण (Symbolisation)—नाटकीयता के साथ-साथ स्वप्नों की आन्तरिक क्रियाओं में प्रतीकीकरण का भी स्थान होता है। इस सम्बन्ध में पहले हमने कुछ वर्णन किया है। यहाँ एक उदाहरण द्वारा इसे और स्पष्ट किया जायेगा।

एक युवती ने स्वप्न में देखा कि एक पुरुष एक बहुत तेज भूरे रंग के घोड़े पर चढ़ने की चेष्टा कर रहा है। उसने तीन बार कोशिश की परन्तु तीनों बार असफल रहा। चौथी बार वह घोड़े पर बैठने में सफल हो गया और उसे दौड़ा ले गया। इस स्वप्न का प्रतीकीकरण इस प्रकार है : "घोड़े पर जो व्यक्ति चढ़ना चाह रहा था वह इस युवती का गहरा मित्र था। यह युवती उसके साथ प्रेम व्यवहार में इतनी बढ़ चुकी थी कि तीन बार इस पुरुष ने उससे यौन सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की परन्तु तीनों बार इस युवती ने नैतिकता के कारण पुरुष के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।" स्वप्न में नैतिकता इतनी सक्रिय नहीं रहती, इस कारण चौथी बार स्वप्न देखा कि वह पुरुष उसके साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो गया, और इस प्रकार युवती ने अपनी इच्छापूर्ति कर ली। यहाँ घोड़े पर चढ़ना यौन-समागम का प्रतीक है।

(३) आकुंचन (Condensation)—आकुंचन दमन की हुई इच्छाओं को इस प्रकार छद्मवेशित करता है कि वह बहुत अधिक जटिल हो जाती हैं। हमारे व्यक्त स्वप्न, अव्यक्त स्वप्न के ही सूक्ष्म रूप होते हैं। फ्रॉयड महोदय कहते हैं कि स्वप्न सूक्ष्म, तुच्छ एवं अल्प होता है। हमारे स्वप्न सम्बन्धी विचारों की तुलना में स्वप्न का प्रत्येक व्यक्त तत्त्व बहुत से अव्यक्त कारणों पर निर्भर रहता है, और इस प्रकार उसके द्वारा अनेक गुप्त विचारों को प्रकाशन मिलता है। यहाँ इस बात को समझने के लिए एक और स्वप्न का उदाहरण दिया जाता है :—

एक स्त्री अपने एक मित्र के साथ बाजार में घूम रही होती है। वह एक टोप वाले की दूकान की खिड़की के सामने खड़ी हो जाती है और टोप देखने लगती है। फिर वह अन्दर चली जाती है और टोप खरीद लेती है। फ्रिंक (Frink) महोदय ने इस स्वप्न का विश्लेषण किया। उन्होंने सहचार की शृंखला द्वारा यह पता लगाया कि स्त्री वास्तव में अपने मित्र के साथ बाजार में घूम रही थी पर उसने कोई भी टोप नहीं खरीदा था। जिस दिन वह बाजार में घूम रही थी, उसका पति बीमार था, और यद्यपि उसकी बीमारी बहुत अधिक गम्भीर नहीं थी, फिर भी [illegible] इस बात से बहुत चिन्तित थी कि कहीं उसका पति मर न जाय। जिस समय [illegible] बाजार में घूम रही थी तो उसने एक पुरुष [illegible] बात की जिसको वह शादी से पहले जानती थी और जिससे उसे प्रेम था। उससे पूछा गया कि उसने इस पुरुष [illegible] शादी क्यों नहीं की तो

उसने बताया कि वह सामाजिक स्तर में उससे ऊँचा तथा धनी था। जब स्त्री से कहा गया कि वह टोप के सम्बन्ध में अपने विचारों में सहचार स्थापित करे तो उसने बताया कि टोप की दूकान की खिड़की में रखे टोप उसे पसन्द थे परन्तु अपने पति की गरीबी के कारण वह उन्हें खरीद नहीं सकी। फ्रिक महोदय कहते हैं कि स्पष्ट रूप से इस स्वप्न में स्त्री अपनी इच्छा की पूर्ति कर रही थी। जो वह टोप खरीदना चाहती थी, उसे खरीद रही थी। इसके अतिरिक्त स्वप्न में टोप का रंग काला था। काला टोप अमंगलसूचक चिह्न है। वह स्त्री काला टोप खरीदने के द्वारा अपनी इस इच्छा की पूर्ति कर रही थी कि उसके पति की मृत्यु हो जाय जिससे वह धनी पति से शादी कर सके और गरीबी से छुटकारा मिल जाय। इस प्रकार इस औरत की यह चिन्ता कि कहीं उसका पति मर न जाय, इस बात का सूचक है कि उसके अचेतन मन में अपने पति के मरने की कामना थी।

(४) विस्थापन (Displacement)—यह वह क्रिया है जिसके द्वारा संवेदनात्मक वस्तु उचित वस्तु से विस्थापित होकर किसी ऐसी वस्तु के साथ जुड़ जाती है जो कम महत्व की होती है। इसी कारण अव्यक्त स्वप्न की मुख्य विशेषताएँ शायद ही व्यक्त स्वप्न में उसी रूप में दिखाई पड़ती हैं। व्यक्त स्वप्न में अव्यक्त स्वप्न के विचार विस्थापित हो जाते हैं। विस्थापन को हम निम्न उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं।

एक लड़की ने सपना देखा कि उसकी मौसी मर गयी है। स्वप्न विश्लेषण करने से पता चला कि उस लड़की की माँ बहुत तेज मिजाज की थी और वह उस पर कड़ी निगाह रखती थी। इसके कारण लड़की अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाती थी। माँ की मृत्यु होने पर ही वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकती थी। परन्तु चेतन मन में वह अपनी माँ की मृत्यु के सम्बन्ध में विचार भी नहीं कर सकती थी। स्वप्न में उसकी माँ का स्थान मौसी ने ले लिया जो माँ से मिलती-जुलती थी। मौसी की मृत्यु द्वारा उसकी माँ की मृत्यु की अचेतन इच्छा की पूर्ति हुई। यहाँ पर माँ के स्थान पर मौसी की मृत्यु देखना विस्थापन क्रिया के कारण हुआ।

(५) उप-विस्तारण (Secondary Elaboration)—स्वप्न में घटनाक्रम इस प्रकार का पता चलता है कि हमारी अलग-अलग दमन की हुई इच्छाएँ जो एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं भी होती हैं, वह भी सम्बन्धित-सी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार स्वप्न एक कहानी जैसा रूप ले लेते हैं। कहानी जैसा रूप लेने में, उप-विस्तारण की क्रिया स्वप्न में जटिल घटनाओं को क्रमशील बना देती है तथा उन्हें व्यवस्थित कर देती है। इस क्रिया के द्वारा जो अंश निरर्थक हैं वह भी सार्थक बना दिये जाते हैं।

फ्रॉयड के सिद्धान्त की आलोचना—फ्रॉयड के सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक प्रमाण दिये जाते हैं और इस सिद्धान्त की कई तरह से आलोचना की जाती है। यह आलोचनाएँ अग्रलिखित प्रकार से की जाती हैं—

(१) जो विचार एक स्वप्न में प्रतीकीकरण द्वारा व्यक्त किये जाते हैं, व दूसरे स्वप्न में स्पष्ट रूप से तथा प्रत्यक्ष ढंग से प्रकाशित हो जाते हैं। जैसे—ह एक स्वप्न में कुछ इस प्रकार की वस्तुएँ देखते हैं जिनको प्रतीकीकरण के आध पर यह अर्थ प्रदान किया जाता है कि हम अपने किसी शत्रु को जान से मार डाल चाहते हैं। परन्तु कुछ दिन बाद किसी और स्वप्न में हमें यह प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट र से दिखाई पड़ता है कि हमने उस व्यक्ति को मार डाला है। जो चीज हम एक स मे प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं उसे ही दूसरे समय क्यों गुप्त रूप से देखते हैं? इस व्याख्या फ्रॉयड का सिद्धान्त किसी भी प्रकार नहीं कर पाता। यदि अचेतन मे स के कारण इच्छाएँ एक समय मे अपने मूल रूप मे हमारे समक्ष नहीं आ सकतीं औ उन्हें छद्मवेश धारण करना पड़ता है तो दूसरे समय भी उन्हें वेश बदल कर हम स्वप्न मे आना चाहिए, न कि स्वप्न रूप मे।

(२) स्वप्न के प्रतीक जो हमारे स्वप्न के विचारों को छिपाना चाहते। बहुत कम ऐसा कर पाते हैं। बहुत से व्यक्ति यौन सम्बन्धी चिह्नों को—जो स्व मे दिखाई देते हैं, बिना किसी प्रकार के विश्लेषण के अर्थ प्रदान कर सकते हैं, औ इस प्रकार स्वप्न के प्रतीक हमारे विचारों को गुप्त नहीं रख पाते। बहुत-सी व्याव हारिक भाषा मे जो शब्द हम यौन सम्बन्धी लिंग इत्यादि के लिए उपयोग कर हैं, वे स्वप्न मे भी हमे दिखाई पड़ते हैं और हमें उन्हें अर्थ प्रदान करने में कुछ भ कठिनाई नहीं होती।

(३) अन्तिम आलोचना, जो फ्रॉयड के सिद्धान्त के सम्बन्ध में की जाती। कैल्विन एस० हाल (Calvin S. Hall) महोदय के अनुसार है। वह यही है। एक ही वास्तविक वस्तु के लिए इतने अधिक प्रतीक क्यों हैं? उन्हें प्रतीक सम्बन् साहित्य की खोज करने मे यह पता लगा कि १०२ विभिन्न स्वप्न-चिह्न पुरु लिंग के लिए, ६१ स्त्री लिंग के लिए और ९५ यौन-समागम के लिए प्रयोग कि जाते हैं। वे पूछते हैं कि—इतने अधिक प्रतीकों की क्या आवश्यकता है?

यहाँ हम फ्रॉयड के सिद्धान्त की आलोचना उनके एक स्वप्न-विश्लेषण सिद्धान्त द्वारा वर्णन करके करेंगे। हमने ऊपर एक स्वप्न का वर्णन किया है जि एक लड़की पुरुष को घोड़े पर चढ़ने हुए स्वप्न में देखती है। फ्रॉयड के अनुसार र लड़की घोड़े पर चढ़ने का स्वप्न अपने यौन-समागम की इच्छापूर्ति के लिए देखती है परन्तु प्रश्न यह है कि जब यह लड़की अपने मित्र के साथ बहुत कुछ प्रेमपूर्ण व्यव कर चुकी है तब फिर क्यों यौन-समागम उसके लिए इतना घातक पहुँचने का विचार है कि वह उसको प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर सकता? वास्त में यह लड़की कई बार उस पुरुष के साथ यौन-समागम की सीमा तक जा चुकी है तब इस तथ्य के सामने प्रतीकीकरण का कोई महत्व नहीं रहता। अतएव फ्रॉयड सिद्धान्त को हम पूर्णतः सत्य नहीं मान सकते।

इसके अतिरिक्त अनेक स्वप्नों में फ्रॉयड के सिद्धान्त के अनुसार विश्लेषण उचित नहीं प्रतीत होता। वह जो यौन को इतनी महत्ता देता है वह ठीक नहीं है। हमारे जीवन में यौन के अतिरिक्त भी बहुत-सी प्रेरणादायक शक्तियाँ हैं जिनको फ्रॉयड का सिद्धान्त कोई महत्त्व नहीं देता है।

३. हाल का सिद्धान्त

फ्रॉयड महोदय के सिद्धान्त की त्रुटियों को दूर करने के सम्बन्ध में सी० एस० हाल महोदय के सिद्धान्त पर ध्यान देना आवश्यक है। सी० एस० हाल का कहना है कि एक तथ्य, जैसे 'यौन समागम' के विभिन्न अर्थ विभिन्न व्यक्तियों को प्रतीत हो सकते हैं। किसी व्यक्ति को यौन-समागम से यह अर्थ मिलता है कि वंश-वृद्धि की जाय। किसी दूसरे को शारीरिक रूप से आक्रान्त करना, इस शब्द के अर्थ के रूप में समझ में आ सकता है। स्वप्न में विभिन्न प्रकार के प्रतीकीकरण का कारण यही है कि विभिन्न व्यक्ति एक ही शब्द को विभिन्न अर्थ प्रदान करते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह स्वप्न देखता है कि वह खेत में हल चला रहा है तो यह उसके स्वप्न द्वारा यौन-समागम की इच्छा की पूर्ति के कारण होता है परन्तु यहाँ यौन-समागम से उसका तात्पर्य वंश-वृद्धि है। दूसरा व्यक्ति जो यह स्वप्न देखता है कि वह पिस्तौल चला रहा है या छुरा मार रहा है तो वह भी अपनी यौन-समागम की इच्छा की पूर्ति कर रहा है। परन्तु यौन-समागम से उसका अर्थ यहाँ शारीरिक रूप से आक्रमण करना है। अतएव इस सिद्धान्त के अनुसार स्वप्नों में प्रतीकीकरण का कार्य, स्वप्नों के अर्थों को छिपाना नहीं है, वरन् उनका प्रकाशन है। हाल महोदय के अनुसार न केवल उस व्यक्ति के कार्य जिससे स्वप्नद्रष्टा सम्बन्धित है, के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है, वरन् स्वप्न द्वारा उसके इन वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति विचारों का भी पता लगता है।

एक व्यक्ति जो स्वप्न में अपनी माता को एक गाय या एक रानी के रूप में देखता है, तो फ्रॉयड महोदय इस स्वप्न का विश्लेषण इस प्रकार करेंगे कि स्वप्न-द्रष्टा अपनी माता को इस प्रकार छिपा देता है क्योंकि वह अपने आप को भी यह बताने को तैयार नहीं है कि उसकी माता के सम्बन्ध में उसके अचेतन रूप में क्या विचार है। हाल महोदय इस स्वप्न का विश्लेषण इस प्रकार करेंगे कि वह व्यक्ति न केवल अपने स्वप्न में माता के सम्बन्ध में विचार करता है, वरन् उसे या तो एक पालन-पोषण करने वाली (जैसे—गाय) के रूप में देखता है या शासन करने वाली एक रानी जो दूसरों से अलग रहती है, के रूप में देखता है। इस प्रकार हमें पता चलता है कि स्वप्न के प्रतीक हमारे विचारों का प्रकाशन करते हैं, न कि उन्हें और गुप्त कर देते हैं। फ्रॉयड के सिद्धान्त के अतिरिक्त यहाँ हम मनोवैज्ञानिक स्वप्न सिद्धान्तों के अन्तर्गत एडलर (Adler) तथा युंग (Jung) महोदय के सिद्धान्तों का भी वर्णन करेंगे।

४. एडलर का स्वप्न सम्बन्धी सिद्धान्त

एडलर महोदय यह मानते हैं कि मनुष्य अपने स्वभाव से ही दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने की इच्छा (will to dominate) रखता है। हर एक व्यक्ति यह चेष्टा करता है कि वह दूसरों के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर ले। एडलर के स्वप्न सम्बन्धी सिद्धान्त में इसी बात को अधिक महत्व दिया जाता है कि व्यक्ति में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है। उसका कहना है कि स्वप्नों का सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान से है। स्वप्नों द्वारा हम अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करते हैं परन्तु ये समस्याएँ केवल पुरानी दमन की हुई इच्छाओं से ही सम्बन्धित नहीं होतीं, वरन् वर्तमान जीवन में सामाजिक तथा औद्योगिक कठिनाइयों के सम्बन्ध में भी होती हैं। एडलर समस्याओं को केवल 'काम' सम्बन्धी ही नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति की समस्याएँ उसकी हीन भावना की प्रवृत्ति को दूर करके उसका प्रभुत्व स्थापित करने के सम्बन्ध में होती हैं। अतएव एक व्यक्ति यह स्वप्न देखता है कि उसकी प्रभुत्व स्थापित करने की समस्याएँ क्या हैं, और उनको सुलझाने की चेष्टा करता है।

एडलर प्रतीकीकरण की क्रिया में आस्था रखता है। परन्तु उसके अनुसार प्रतीक केवल 'काम' सम्बन्धी ही नहीं होते।

५. युंग का स्वप्न सम्बन्धी सिद्धान्त

युंग महोदय व्यक्ति के अचेतन को दो पहलुओं में बाँटते हैं। एक को वह व्यक्तिगत अचेतन (individual unconscious) कहते हैं, और दूसरे को जातीय अचेतन (racial unconscious) कहते हैं। 'व्यक्तिगत अचेतन' व्यक्ति अपने जीवन में अर्जित करता है, परन्तु 'जातीय अचेतन' उसमें जन्म के समय से ही होता है जिसमें व्यक्ति के पूर्वजों की अनेक इच्छाएँ, अनुभव आदि संकलित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त वह यह भी मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति में जीने की इच्छा (will to live) होती है। जब तक व्यक्ति की इस इच्छा में कोई रुकावट नहीं पड़ती, वह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है। जब इसमें बाधा पड़ जाती है और वह आगे बढ़ने में असमर्थ हो जाता है तो इसकी दिशा पीछे की ओर मुड़ जाती (regressive trend) है। जब यह मानसिक धारा पीछे हटती है तो वह अचेतन मन में चली जाती है और व्यक्तिगत अचेतन के स्तर को पार करती हुई जातीय अचेतन के किसी विशेष स्तर तक पहुँच जाती है, जहाँ पर जाकर वह रुक जाती है और उससे अधिक पीछे की ओर नहीं जाती। अब जो स्वप्न हम देखते हैं वे इस जातीय अचेतन के स्तर पर संचित अनुभवों के आधार पर होते हैं। स्वप्नों द्वारा हम अपने जीने की इच्छा पूर्ति करना चाहते हैं। परन्तु यह इच्छा-पूर्ति जिस प्रकार से होगी है, वह जातीय अचेतन के संचित अनुभवों पर जो उस स्तर पर होते हैं, निर्भर रहती है।

क्योंकि हम चेतन रूप से इस सम्बन्ध मे कुछ नहीं जानते, इसी कारण स्वप्न हमें रहस्यमय प्रतीत होते हैं।

युंग स्वप्न-निर्माण में आर्कटाइप (archytypes) को महत्त्व देता है। आर्कटाइप जातीय अचेतन में संचित जातीय अनुभव तथा अपूर्ण इच्छाएँ इत्यादि के रूप मे होते हैं। जातीय अचेतन मे लाखों प्रकार के आर्कटाइप संचित रहते हैं जो कुछ भी अनुभव हमारे जातीय अचेतन मे संगृहीत रहते हैं वे आर्कटाइप के ही रूप मे होते हैं। अतएव स्वप्न का निर्माण इन्हीं आर्कटाइप के द्वारा होता है और इसी कारण इसे समझना हमारे लिए कठिन हो जाता है।

युंग प्रतीकों मे विश्वास तो करते हैं परन्तु उनके अनुसार एक ही प्रतीक के दो व्यक्तियों के स्वप्न मे दो भिन्न अर्थ हो सकते हैं। किसी विशेष प्रतीक का अर्थ किसी विशेष व्यक्ति के लिए क्या होगा ? यह उस व्यक्ति के वैयक्तिक एवं जातीय अचेतन पर निर्भर रहता है।

फ्रायड महोदय ने स्वप्नो का सम्बन्ध भूतकालीन अनुभवों से माना। एडलर महोदय ने वर्तमान समस्याओं को भी महत्त्व दिया। परन्तु युंग महोदय ने भविष्य में होने वाली घटनाओं का सम्बन्ध भी स्वप्नों के साथ जोड़ा। इस प्रकार युंग स्वप्न-विश्लेषण मे भूत, भविष्य एवं वर्तमान—तीनों को महत्त्व देते हैं।

६. स्वप्न सम्बन्धी दैहिक सिद्धान्त (Physiological Theory of Dreams)

यह विश्वास किया जाता है कि हमारे कुछ स्वप्न दैहिक उत्तेजनाओं के कारण होते हैं। जो सिद्धान्त इस तथ्य मे आस्था रखते हैं उन्हें 'दैहिक सिद्धान्त' की संज्ञा दी जाती है। दैहिक सिद्धान्त दो प्रकार के हैं—(१) प्रत्यक्षीकरण-विपर्यय सिद्धान्त (Perception-Illusion Theory), (२) प्रबोधन-क्रियात्मक सिद्धान्त (Apperceptive-Trial Error Theory)।

(१) प्रत्यक्षीकरण-विपर्यय सिद्धान्त—नींद की अवस्था में चेतना का नियन्त्रण कमजोर पड़ जाता है। स्नायुमण्डल की क्रियाएँ भी अपेक्षाकृत निष्क्रिय हो जाती हैं। अतएव जो कुछ भी बाह्य ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजना मिलती है उसका प्रत्यक्षीकरण ठीक-ठीक नहीं होता। इसका फल यह होता है कि उन उत्तेजनाओं का गलत एवं भ्रम मे डालने वाला अर्थ लगा दिया जाता है। स्वप्न की अवस्था में यही गलत अर्थ अतार्किक ढंग से हमे दिखाई पड़ते हैं। स्वप्न नींद में प्रभावित करने वाली उत्तेजनाओ की प्रतिक्रिया के रूप मे उत्पन्न होते हैं।

उत्तेजनाओं के दोषपूर्ण ज्ञान के कारण स्वप्न हमें निरर्थक एवं बेतुके दिखाई देते हैं। जैसे नींद में यदि हमारा पाँव खाट की रस्सी मे फँस जाय तो स्वप्न में यह दिखाई देता है कि हम किसी जाल मे फँसे हैं या यदि हमारा हाथ गले पर लग जाय तो ऐसा लगता है जैसे कोई हमारा गला दबा रहा है।

(२) स्वप्न का प्रबोधन-क्रियात्मक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि निद्रावस्था में जो बाह्य एवं आंतरिक उत्तेजनाएँ मिलती हैं

यह व्यक्ति को प्रभावित करती है और व्यक्ति उनका स्पष्टीकरण करने की चेष्टा करता है। परन्तु निद्रावस्था में उच्च स्नायु-केन्द्र निष्क्रिय रहते हैं। अतएव उत्तेजनाओं को समझने की उसकी चेष्टा अत्यन्त कमजोर होती है। वह उत्तेजनाओं को सही अर्थ प्रदान नहीं कर पाता और उनका कोई दूसरा ही अर्थ समझता है। इस प्रकार की भूलें ही हमें स्वप्नों में दिखाई पड़ती हैं।

निद्रावस्था में बहुत-सी उत्तेजनाएं हमें हमारे सोने की शारीरिक मुद्राओं (bodily postures during a sleep) से प्राप्त होती हैं। जैसे—सोने के समय दोनों हथेलियों को हृदय के ऊपर रखना या चारों हाथ-पैर फैलाकर चित्त लेटना या टांगें मोड़ कर गठरी-सी बनाकर लेटना। यदि हाथ कलेजे पर रखे रहते हैं तो हमें बहुधा दुःख स्वप्न (night mares) आते हैं। इसी प्रकार यदि पाचन-क्रिया में कोई गड़बड़ है तो व्यक्ति के हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और वह स्वप्न में देखता है कि वह किसी ऊँची जगह से गिर रहा है।

यदि किसी सुप्त व्यक्ति के पास अलार्म घड़ी बजायी जाती है तो निद्रावस्था में इस उत्तेजना का ठीक प्रत्यक्षीकरण न होने के कारण उसे यह स्वप्न दिखाई पड़ सकता है कि कोई उसके पीछे तेजी से साइकिल पर चला आ रहा है और उसकी घंटी बजा रहा है या वह देख सकता है कि उसकी गाड़ी छूटी जा रही है और रेल सीटी दे रही है।

दैहिक सिद्धान्त की आलोचना—दैहिक सिद्धान्त यह तो बताता है कि व्यक्ति स्वप्न कैसे देखते हैं, परन्तु यह इस बात की कोई व्याख्या नहीं करता कि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार के स्वप्न क्यों देखते हैं। एक ही उत्तेजना होने पर भी एक व्यक्ति स्वप्न में कुछ देखता है और दूसरा कुछ और। अलार्म घड़ी बजाने पर एक व्यक्ति को साइकिल की घण्टी सुनाई देती है तो दूसरे को रेल की सीटी तथा तीसरे को मन्दिर की आरती की घंटी सुनाई देती है और चौथा देखता है कि उसके नौकर ने उसके घर के बर्तन गिरा दिये हैं। ऐसे विभिन्न स्वप्न क्यों आते हैं? इसको समझने के लिए हमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का ही सहारा लेना पड़ेगा। इन सिद्धान्तों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं।

स्वप्न-क्रिया का प्रयोगात्मक विश्लेषण (The Experimental Analysis of Dream Process)—स्वप्न क्रिया ने अनेकों मनोवैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। अब वह इस क्रिया के प्रयोगात्मक अध्ययन की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं। अमरीका में इस सम्बन्ध में तेजी से अनुसंधान हो रहे हैं। क्योंकि इस प्रारम्भिक पुस्तक में मनोविज्ञान के सब आधुनिक अनुसंधानों का वर्णन नहीं कर सकते। हम केवल एक प्रारम्भिक प्रयोगात्मक अध्ययन (Exploratory study) जो डेमण्ट (Dement) तथा वोल्पर्ट (Wolpert) महोदयों ने १९५८ में स्वप्न विश्लेषणात्मक अध्ययन के सम्बन्ध में किया, उसका वर्णन कर रहे हैं।

वोल्पर्ट तथा डेमण्ट महोदयों ने (a) आँखों की गति, शारीरिक गति (Gross-body movement) तथा बाह्य उत्तेजक (External Stimulation) के सम्बन्ध का विश्लेषण; (b) स्वप्न की सामग्री (Content of Dreams) से किया।

यह प्रयोग विशिष्ट यंत्रों से युक्त एक प्रयोगशाला में किया गया। इसमें इस सिद्धान्त का उपयोग किया गया कि जब हम सोते हैं तब हमारे मस्तिष्क की विद्युतीय शक्ति (electrical energy) बराबर बदलती रहती है। यह परिवर्तन नींद की गहराई से सम्बन्धित होते हैं। एक रात्रि में नींद की गहराई के कई चक्र पूर्ण होते हैं। प्रत्येक चक्र हल्की नींद से गहरी नींद की ओर होता है। हल्की निद्रावस्था (light sleep) में आँखों की गति तेज होती है। यही रात्रि का वह समय है जब स्वप्न आते हैं। जिन व्यक्तियों को उस समय जगा दिया जाता है जबकि आँख की गति शीघ्र है तो वह बहुत कुछ अपने स्वप्न के सम्बन्ध में बता सकते हैं। ८० प्रतिशत विषयी ऐसे समय स्वप्न का देखना बताते हैं। इसके विपरीत जब आँख की गति कम होती है तो केवल ७ प्रतिशत विषयी स्वप्न का देखना बताते हैं।

डेमण्ट तथा वोल्पर्ट ने १९ विषयी लिए जिनमें १४ पुरुष और ५ स्त्रियाँ थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने सोने के समय से कुछ ही देर पहले प्रयोगशाला में आता था। बिजली के ध्रुव शरीर के विभिन्न भागों में लगा दिये जाते थे ताकि आँखों की गति तथा मस्तिष्कीय विद्युत (Electroencephalogram or EEG) धाराओं की माप हो सके। व्यक्ति एक अँधेरे एवं शान्त कमरे में सोते थे। प्रत्येक व्यक्ति को उस समय जगा दिया जाता था जबकि आँखों की गति शीघ्र होती थी। इस प्रकार एक रात्रि में प्रत्येक व्यक्ति से लगभग चार, पाँच रिपोर्ट मिल जाती थीं। व्यक्ति को ५ से २० मिनट के भीतर आँखों की तेज गति के प्रारम्भ होने से जगा दिया जाता था। जागते ही स्वप्न सम्बन्धी विवरण उनसे ले लिया जाता था।

इस प्रयोग द्वारा यह पता चला कि आँखों की दिशा जागने से तुरन्त पहिले जो यन्त्रों द्वारा पता लगती थी, वह उसी ओर थी जिस ओर कि स्वप्न में व्यक्ति देख रहा था अथवा उसकी स्वप्नावस्था में आँख की दिशा थी। एक व्यक्ति जो स्वप्न में पृथ्वी पर से कोई वस्तु उठा रहा था और उसी समय जगा दिया गया था, उसकी आँख की दिशा जागने से तुरन्त पहिले नीचे की ओर ही थी। इसी प्रकार के अन्य कई प्रयोगों से यह भी पता लगा कि बाहरी उत्तेजकों का बहुत साधारण ही प्रभाव स्वप्न की सामग्री (Content of Dreams) पर पड़ता है। यह प्रयोग निद्रावस्था में विभिन्न उत्तेजक प्रदान करके किये गये।

उपरोक्त सिद्धान्तों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि प्रत्येक सिद्धान्त एक विशेष प्रकार के स्वप्नों का विश्लेषण करने में तो सफल होता है परन्तु कुछ अन्य प्रकार के स्वप्नों का विश्लेषण सफलतापूर्वक नहीं कर पाता, अतएव हम किसी भी सिद्धान्त को पूर्णतया सत्य नहीं मान सकते और प्रत्येक सिद्धान्त को जहाँ तक वह

सरयता से विश्लेषण कर पाता है, उसी सीमा तक सत्य मान सकते हैं। स्वप्न सम्बन्धी प्रयोगात्मक कार्य बहुत कम हुए हैं और जो कुछ भी स्वप्न-विश्लेषण की विधियाँ हमारे सम्मुख हैं, वे वैज्ञानिक विधि पर आधारित नहीं हैं। अतः इससे प्रथम कि स्वप्न के सम्बन्ध में हम किसी मान्य सिद्धान्त को अपनायें, उसके ऊपर वैज्ञानिक विधि से अनेक प्रयोग होने आवश्यक हैं।

सारांश

हमारी निद्रावस्था में जो स्वप्न आते हैं, वे इस बात के प्रतीक होते हैं कि हमारी मानसिक क्रियाएँ चल रही हैं।

स्वप्न की विशेषताएँ—(१) वे वस्तुयें जो हमारे स्वप्न में प्रवेश पाती हैं, बहुधा हमारे दैनिक जीवन में अनुभव की आने वाली होती हैं, (२) स्वप्न में न स्थान और न समय की सीमा होती है, (३) स्वप्न के साथ-साथ बहुधा शक्तिशाली संवेगात्मक अनुभव भी सम्मिलित रहते हैं, (४) अधिकतर स्वप्न में एक निश्चित प्रकार की-सी पृष्ठभूमि भी होती है, (५) पृष्ठभूमि के साथ-साथ स्वप्न में कुछ पात्र भी होते हैं, (६) स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा कुछ करते हुए दिखाई देता है, (७) कुछ साधारण रूप से दुख देने वाले स्वप्न सुख देने वालों की अपेक्षा अधिक होते हैं, (८) कभी-कभी हमें रंगीन स्वप्न भी आते हैं, (९) स्वप्न सार्थक होते हैं।

स्वप्न के प्रकार—(१) इच्छा-पूर्ति स्वप्न, (२) चिन्ता स्वप्न, (३) भविष्य-सूचक स्वप्न, (४) गति के स्वप्न, (५) दण्ड स्वप्न, (६) पुनरावर्तक स्वप्न, (७) मृत्यु के स्वप्न, (८) प्रतिरोध स्वप्न, (९) सामूहिक स्वप्न, (१०) लकवे के स्वप्न।

स्वप्न सम्बन्धी सिद्धान्त—प्राचीन स्वप्न सम्बन्धी सिद्धान्त हमें मान्य नहीं हैं। उनके स्थान पर जो मुख्य सिद्धान्त प्रचलित हैं, वे यह हैं—

(१) भविष्यवाचक सिद्धान्त—इसके अनुसार स्वप्न भविष्यवाचक होते हैं। प्रयोगों के आधार पर यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं प्रतीत हुआ।

(२) फ्रॉयड का सिद्धान्त—स्वप्न हमारे वर्तमान में न सुलझने वाली अचेतन भावना-ग्रन्थियों के सम्बन्ध बताता है। फ्रॉयड के सिद्धान्त के सम्बन्ध में तीन मुख्य अनुमान हैं—(अ) अर्थपूर्ण, (ब) इच्छापूर्ति, (स) छद्मवेश।

स्वप्न के दो रूप होते हैं, एक तो व्यक्त स्वप्न और दूसरा अव्यक्त स्वप्न। व्यक्त स्वप्न की व्याख्या अव्यक्त स्वप्न के रूप में दो प्रकार से की जाती है—(अ) प्रतीकीकरण द्वारा, (ब) सहचार-विधि द्वारा।

स्वप्न की यान्त्रिक क्रियाएँ ये हैं—(अ) नाटकीयता, (ब) प्रतीकीकरण, (स) आकुंचन, (द) विस्थापन, (इ) उत्तर-विस्तारण।

फ्रॉयड के सिद्धान्त की आलोचनाएँ—(i) इस बात का कोई पता नहीं चलता कि जो विचार एक स्वप्न में प्रतीकीकरण द्वारा व्यक्त किये जाते हैं वही दूसरे स्वप्न में स्पष्ट रूप से तथा प्रत्यक्ष रूप से क्यों प्रकाशित हो जाते हैं। (ii) स्वप्न के प्रतीक

जो हमारे स्वप्न के विचारों को छिपाना चाहते हैं, वे बहुत कम ऐसा कर पाते हैं। *(iii) इसका भी कोई कारण नहीं मिलता कि एक ही वास्तविक वस्तु के लिए इतने अधिक प्रतीत क्यों हैं ?*

(३) हाल का सिद्धान्त—हाल महोदय का कथन है कि स्वप्न में विभिन्न प्रकार के प्रतीकीकरण का कारण यही है कि विभिन्न व्यक्ति एक ही शब्द को विभिन्न अर्थ प्रदान करते हैं। यह सिद्धान्त बताता है कि स्वप्नों में प्रतीकीकरण का कार्य—सपनों के अर्थों का छिपाना नहीं, वरन् उनका प्रकाशन है।

(४) एडलर का सिद्धान्त—स्वप्नों का सम्बन्ध दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान से है। ये समस्याएँ केवल काम सम्बन्धी नहीं हैं।

(५) युंग का सिद्धान्त—युंग स्वप्न-निर्माण में आर्केटाइप को महत्व देता है। जो कुछ भी अनुभव हमारे जातीय अचेतन में रहते हैं, वे आर्केटाइप के रूप में होते हैं।

(६) स्वप्न सम्बन्धी दैहिक सिद्धान्त—स्वप्न नींद में प्रभावित करने वाली उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होते हैं। उत्तेजनाओं के दोषपूर्ण प्रत्यक्षीकरण के कारण हमें निरर्थक एवं बेतुके स्वप्न दिखाई देते हैं। *दैहिक सिद्धान्त इस कारण उपयुक्त प्रतीत नहीं होते कि वे इस बात की कोई व्याख्या नहीं कर पाते कि—विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार के स्वप्न क्यों देखते हैं ?*

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. स्वप्न से आप क्या समझते हैं ? इसकी मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?
२. स्वप्न के भविष्यवाचक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। ऐसे किसी स्वप्न का जो आपने देखा हो, पूर्ण विवरण दीजिए।
३. फ्रॉयड के सिद्धान्त में प्रतीकीकरण का क्या महत्त्व है ? एडलर एवं युंग फ्रॉयड के दिये गये प्रतीकरण से किस सीमा तक सहमत हैं ?
४. व्यक्त स्वप्न की अव्यक्त स्वप्न के रूप में कैसे व्याख्या की जा सकती है ? इस सम्बन्ध में स्वतंत्र सहचार-विधि का पूर्ण वर्णन कीजिए।
५. स्वप्न की यांत्रिक क्रियाओं से आप क्या समझते हैं ? प्रत्येक क्रिया का वर्णन कीजिए। हाल महोदय फ्रॉयड के सिद्धान्त की आलोचना किस प्रकार करते हैं ? इनके सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. आइसेंक एच० जे० : सेंस एण्ड नॉनसेंस इन साइकॉलॉजी, पैंग्विन बुक्स, १९६०।
२. मन, एन० एल० : मनोविज्ञान; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६१।
३. रैक्स एवं मारगरेट नाइट : मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, यूनीवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रेस, लन्दन, १९६६।
४. हैडफील्ड, जे० ए० : ड्रीम्स एण्ड नाइट मेयर्स, पैंग्विन बुक्स, १९५४।

१९

बुद्धि एवं बुद्धि-परीक्षा[1]

प्राय: आपने व्यक्तियों को दूसरों के प्रति यह कहते सुना होगा कि अमुक व्यक्ति अत्यन्त प्रतिभाशाली और मेधावी है, अमुक अत्यन्त योग्य और अमुक अत्यन्त मन्द-बुद्धि का तथा मूर्ख है। एक माँ का बालक जब ३ वर्ष की अवस्था में ही कविता-पाठ करने लगता है तो माँ अत्यन्त गौरव का अनुभव करती है और दूसरे लोग यह कहने में नहीं हिचकते कि बालक प्रतिभाशाली है। इसी प्रकार से जिस माँ का ३ वर्षीय बालक जब शब्दों का भी साफ-साफ उच्चारण नहीं कर सकता तो माँ उसके बारे में चिन्तित हो उठती है और दूसरे लोग उसे मन्द-बुद्धि कहकर पुकारते हैं। वस्तुत: तथ्य यह है कि बालकों की मानसिक योग्यता में भेद होता है परन्तु एक सामान्य व्यक्ति द्वारा प्रतिभावान और मन्द बुद्धि में किया गया वर्गीकरण बालक की एक या दो क्रियाओं के ऊपर ही आधारित हो सकता है। अत: यह उसकी बुद्धि एवं व्यक्तित्व का सही-सही आकलन नहीं हो सकता।

मनोविज्ञान ने बुद्धि मापने की सही प्रविधियों और उनकी सम्यक् व्याख्या के द्वारा व्यक्तियों के मानसिक विकास के आधार पर उनका वर्गीकरण कर, मानव-जाति को बहुत लाभ पहुँचाया है। मनोविज्ञान के द्वारा ही हम इस तथ्य का कारण जान सके हैं कि जॉन स्टुअर्ट मिल सामान्य उम्र से बहुत पहले ही क्यों ग्रीक पढ़ना सीख गये। एक बालक उम्र से पहले पढ़ना सीख लेता है और दूसरा लगातार स्कूल जाने पर भी १२ वर्ष की उम्र में भी गणित के सरलतम प्रश्नों को हल नहीं कर पाता। मनोविज्ञान ने ऐसी मानसिक परीक्षाओं को जन्म दिया, जो व्यक्तियों का

---

1. Intelligence and Intelligence Testing.

वर्गीकरण उनकी सहज प्रज्ञा (native intelligence) के आधार पर करती हैं। इसी ने बुद्धि और उसके मापने की अवधारणा को जन्म दिया तथा बुद्धि को मापने वाली ये विधियाँ 'बुद्धि-परीक्षाएँ' कहलायीं।

इस अध्याय में हम सर्वप्रथम बुद्धि-परीक्षा के इतिहास की चर्चा करेंगे, तदुपरान्त बुद्धि की परिभाषा और उसके बारे में विविध सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

बुद्धि-परीक्षा का इतिहास (History of Intelligence Testing)

बुद्धि मापने की सर्वाधिक उपयुक्त प्रविधि जो आज अपनायी जाती है उसका यह स्वरूप बहुत-से परीक्षणों के उपरान्त विकसित होकर इस अवस्था को प्राप्त हुआ है। बुद्धि-परीक्षा के विकास का अध्ययन अत्यन्त ही रोचक और महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम स्थानाभाव के कारण उसकी रूपरेखा पर ही विचार करेंगे। जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए अध्याय के अन्त में सहायक पुस्तकों की सूची दी हुई है, वे उनसे लाभ उठाकर अपनी मानसिक तुष्टि कर सकेंगे और बुद्धि-परीक्षा, उसके जन्म, विकास एवं विविध प्रविधियों के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करेंगे।

अभी बहुत समय नहीं हुआ जबकि वह व्यक्ति जो सामान्य बौद्धिक स्तर से बहुत नीचे होता था, मूर्ख समझा जाता था और उसके अन्दर किसी दुरात्मा का निवास माना जाता था। दुरात्मा को दूर करने के लिए उसके साथ लोगों का व्यवहार अत्यन्त क्रूर, अमानवीय और कोड़े लगाने तक का होता था। भारत में जादू-टोने वाले ऐन्द्रजालिक, भूत उतारने वाले ओझा और इसी प्रकार के अन्य तान्त्रिक अब भी बुद्धिहीन और मूर्ख लोगों के साथ उनके ऊपर से प्रेतात्मा आदि का प्रभाव हटाने के बहाने उन्हें बड़े शारीरिक कष्ट देते, जूतों, बेंतों से मारते और घोर पाशविक व्यवहार करते हैं। सुदूर ग्रामों में बसने वाली पिछड़ी जातियों में यदि तरुणियाँ 'हिस्टीरिया' के रोग से उन्मादग्रस्त हो जाती हैं, उन्हें बेहोशी आ जाती है तो प्रेत उतारने वाले ओझा आते हैं और बुरी तरह मार लगाते हैं। साँप काट खाता है तो भगतई होती है। सर्प देवता मनाये जाते हैं किन्तु डाक्टर तक जाने का प्रयास नहीं किया जाता। इन सबका कारण—लोगों की निरक्षरता, अज्ञानता एवं उचित शिक्षा का अभाव तथा शताब्दियों से चले आ रहे परम्परा के अन्ध-विश्वास हैं। यूरोप में भी इसी प्रकार की दशा १८वीं शदी तक रही, किन्तु विज्ञान ने उन्हें जगा दिया और १९वीं शती में सामाजिक न्याय (social justice) की भावना का उदय हुआ जिसने उन क्रूरताओं को समाप्त कर दिया।

सीग्युन (Seusn) ने फ्रांस में मन्दबुद्धि (feeble-minded) व्यक्तियों की शिक्षा के ऊपर सबसे पहले बल दिया। जब उन्होंने अपने दृष्टिकोण को लोगों को भली-भाँति *समझाया तो वहाँ उन लोगों का उपचार करने के लिए, जो सामान्य बौद्धिक स्तर से*

बहुत नीचे थे, बहुत-सी विशिष्ट कक्षाओं और औषधालयों (clinics) की स्थापना हुई। किन्तु कोई व्यक्ति मन्द-बुद्धि है, और है तो कितना है ? इसके लिए बुद्धि की सही-सही मात्रा को मापना, उसकी योग्यता का सम्यक् आकलन नितान्त आवश्यक था। अतः इस प्रयोजन को ध्यान में रखकर बहुत-सी प्रविधियों का विकास हुआ।

व्यक्ति की बुद्धि मापने की प्रविधियों का विकास प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की परीक्षणशालाओं के द्वारा भी हुआ। योरोप में वुन्ट (Wundt) महोदय ने और अमरीका में श्री कार्टेल ने उपयुक्त क्रियाओं द्वारा परीक्षणशालाओं में व्यक्ति के कार्य-कलापों का आकलन करने की दिशा में कई सफल कदम उठाये। इंगलैण्ड में डार्विन, स्पेन्सर और गॉल्टन महोदय ने वंशानुक्रम की समस्याओं का अत्यन्त ही रोचक और वैज्ञानिक अध्ययन किया तथा उनके गहन अध्ययन के फलस्वरूप व्यक्ति की योग्यता की माप की प्रविधियों में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ।

जी० एस० हाल, किलपैट्रिक प्रभृति विद्वान् बाल-अध्ययन आन्दोलन (child-study movement) में लगे हुए थे किन्तु फिर भी बालक के सम्यक् अध्ययन के लिए उसकी योग्यता की सही-सही माप परम अपेक्षित थी। अतः अमरीका में इन विद्वानों ने कुछ और व्यक्तियों की सहायता से बालक की बुद्धि मापने की दिशा में कुछ प्रयास किये।

योग्यता मापने की दिशा में जो सर्वप्रथम परीक्षा प्रचलित हुई, वह थी शारीरिक विशेषताओं की परीक्षा, जैसे—कसकर पकड़ने की क्षमता, घूमने-फिरने व दौड़ने की शक्ति, शारीरिक बल, इत्यादि।

इन सब विकासों के होते हुए भी बुद्धि-परीक्षा (intelligence test) के सम्बन्ध में जो सबसे महत्त्वपूर्ण विकास हुआ, उसका श्रेय फ्रांस को है। उस विकास के लिए प्रेरणा उस समय मिली, जबकि पेरिस में बहुत बड़ी संख्या में बालक अनुत्तीर्ण हुए। शिक्षा अधिकारियों को इसके बारे में बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने बालकों के असफल होने का सही कारण जानना चाहा। इसका मुख्य कारण—बालकों का कठिन परिश्रम न करना अथवा उनका शरारतीपन था अथवा उनकी सहज प्रज्ञा और जन्मजात बुद्धि में ऐसी कमी थी जो उस कोटि की शिक्षा को ग्रहण करने में सर्वथा अयोग्य थी, जिसके कारण वे सीखने में असफल हुए। यदि विद्यार्थी पढ़ने में रुचि और ध्यान नहीं लगाते हैं तो उनके लिए कुछ सुपरिणामी उपायों को सोचना चाहिए जिससे बालकों का ध्यान पाठ्य-विषय की ओर आकर्षित हो, वे उसे भली-भाँति सीखें। किन्तु यदि उनमें योग्यता की कमी है, उनकी सहज प्रज्ञा का अभी उपयुक्त विकास नहीं हुआ है तो उन्हें दूसरे प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है जिसे वे सरलतापूर्वक ग्रहण कर सकें। अतः यह एक गम्भीर समस्या थी और उसका हल तभी सम्भव था जबकि मानसिक योग्यता की कोई 'विषयगत परीक्षा' (subjective test) हो जिसमें काम-चोरों और अयोग्यों में सही-सही अन्तर किया जा सके। यह गम्भीर समस्या "दैहिक मनोविज्ञान की परीक्षणशाला" (Laboratory of Physiological-

Psychology) ■ संचालक अल्फ्रेड बिने (Alfred Binet), १८५७-१९११, के समक्ष आयी। उस समय उनकी परीक्षणशाला सोरबोन में स्थापित थी। उनके एक दूसरे चिकित्सक ने थियोफाइल साइमन (Theopbile Simon) की सहायता से एक ऐसे यन्त्र को बनाने में सफलता प्राप्त की जिसके द्वारा बुद्धि को नापा जा सके।

बिने-साइमन की माप-विधि (Binet-Simon Scale)

बुद्धि को मापने की बहुत-सी विधियों और प्रविधियों की परीक्षा के उपरान्त बिने महोदय इस निर्णय पर आये कि इसका सर्वश्रेष्ठ और सही तरीका यह होगा कि एक बड़ी संख्या में छोटे-छोटे कार्यों को चुना जाय, फिर इसकी सहायता से बालकों की बुद्धि मापी जाय। जिन कार्यों को एक विशेष उम्र के बालक अधिकतर हल कर लेते हैं, वही कार्य करने की क्षमता उस वर्ग के बालकों की मानसिक योग्यता मानी जाय। सन् १९०५ में बिने महोदय ने उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर प्रथम माप-परीक्षाएँ कीं। इसमें छोटी-छोटी ३० परीक्षाएँ थीं। एक से दूसरी कठिनतर के क्रम में रखी गयी थीं। सन् १९०८ में उन्होंने दूसरी माप-परीक्षाएँ प्रकाशित कीं। ये परीक्षाएँ उम्र के वर्ग के आधार पर क्रमबद्ध की गयीं और उन्हीं के आधार पर बिने ने मानसिक आयु की सामग्री को एकत्र किया तथा मानसिक आयु के बारे में सही-सही पता लगाया। मानसिक आयु का आधार उन्होंने यह बताया कि प्रत्येक उम्र के सामान्य बालकों के लिए कुछ ऐसे कार्य हो सकते हैं जो वह सफलतापूर्वक कर सकते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक आयु उसके द्वारा कार्यों को करने की क्षमता के ऊपर आधारित होती है; जैसे—किसी भी वास्तविक उम्र का बालक १० वर्ष के बालकों के लिए निर्धारित परीक्षा को पास कर लेता है तो उसकी मानसिक आयु १० वर्ष मानी जायगी। सन् १९११ में बिने ने अपनी 'परीक्षाओं' में संशोधन और परिवर्द्धन किया तथा उसी वर्ष मानवता की हित-कामना में ही वह महान् आत्मा चल बसी।

बिने ने सबसे पहले जो बुद्धि-माप-विधि चुनी, उसमें उन्होंने विभिन्न उम्र के बालकों के लिए अलग-अलग प्रश्नावली तैयार की। ११ और १३ वर्ष की उम्र के बालकों को छोड़कर ३ वर्ष से १५ वर्ष तक बालकों की परीक्षा के लिए प्रश्नावलियाँ तैयार की गयीं। प्रत्येक प्रश्नावली को इस प्रकार तैयार किया गया कि ५ वर्ष का बालक जिस प्रश्नावली को कर लेता था, उसे चार वर्ष का बालक नहीं कर पाता था। वे क्रम से कठिन और कठिनतर थीं। इसी प्रकार १४ वर्ष वाला बालक १५ वर्ष वाले के प्रश्नों को हल नहीं कर पाता था। जो बालक अपनी उम्र के लिए निर्धारित प्रश्नों को हल कर लेता था वह सामान्य बुद्धिवाला, जो अपने से अधिक उम्र के प्रश्नों को हल कर लेता वह प्रतिभावान; और जो अपनी उम्र से कम उम्र के प्रश्नों को कर पाता वह मन्द-बुद्धि माना जाता था। प्रत्येक प्रश्नावली में ५ या ६ प्रश्न रहा करते थे। बिने ने इस प्रश्नावली को तैयार करने में बड़ी सावधानी से काम लिया। उनका विचार था कि बालक में आयु-वृद्धि के साथ-साथ ज्ञान-वृद्धि भी होती है, अतः

किसी विशिष्ट उम्र का बालक उस उम्र के निर्धारित प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता तो वह अवश्य ही मन्द बुद्धि बालक है। वस्तुतः बिने ने ज्ञान को बुद्धि का प्रतीक माना और किस उम्र के बालक किस प्रश्नावली को हल कर सकेंगे, इसके लिए उन्होंने प्रत्येक उम्र के १,००० बालकों की परीक्षा की और जिन प्रश्नों का उत्तर एक ही उम्र के बालक ६० प्रतिशत सही देते थे, वही प्रश्नावली उनके लिए निर्धारित की गयी। वही उस उम्र के बालकों के लिए बुद्धि-मापन परीक्षा मानी गयी। एक बालक जिस उम्र के बालकों के निर्धारित प्रश्नों का उत्तर दे देता वही उसकी मानसिक उम्र मानी गयी। यदि कोई बालक जिसकी वास्तविक आयु १० वर्ष है, १२ वर्ष के बालकों के लिए निर्धारित प्रश्नों का उत्तर दे देता है तो उसकी मानसिक आयु १२ वर्ष मानी गयी, और यदि वही बालक ८ वर्ष के बालक के लिए निर्धारित प्रश्नों का ही सही उत्तर दे पाता है तो उसकी मानसिक आयु ८ वर्ष मानी गयी। एक बालक जो अपनी आयु के सभी प्रश्न हल कर लेता है और अपने से बड़ी अवस्था की प्रश्नावली के भी कुछ प्रश्न हल कर लेता है, तो बड़ी अवस्था की प्रश्नावली के प्रत्येक प्रश्न के लिए बिने १/५ वर्ष मानसिक आयु जोड़ देता था; जैसे—यदि कोई बालक जिसकी वास्तविक आयु ५ वर्ष है, अपनी अवस्था के सभी प्रश्नों को हल कर लेता है तथा ६ वर्ष के दो प्रश्न और ७ वर्ष के एक प्रश्न को हल कर लेता है तो उसकी मानसिक आयु इस प्रकार होगी : ५+२/५+१/५=५ ३/५ वर्ष।

बिने-साइमन ने ही सबसे पहले बुद्धि मापने का मनोवैज्ञानिक ढंग ढूंढ निकाला। उन्होंने अपनी परीक्षा मे साहित्यिक और विद्या सम्बन्धी उपलब्धियों को दूर रखा। वे उच्च मानसिक प्रतिक्रियाओं की परीक्षा करना चाहते थे। उन्होंने लिखा है कि "यह केवल बुद्धि ही है जिसे हम मापना चाहते हैं, व्यक्ति द्वारा प्राप्त की हुई शिक्षा अथवा विद्या की माप हम नहीं चाहते।" बिने का यह मत था कि जिस बालक को जितना अधिक ज्ञान है, उतनी ही बुद्धि उसमे अधिक है। वह यह मानता था कि एक बुद्धिमान व्यक्ति अपने चारों तरफ के वातावरण से, एक-सी ही परिस्थितियों में, उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक ज्ञान प्राप्त करेगा, अधिक सीख लेगा जो मन्द-बुद्धि है।

सन् १९११ में बिने ने अपनी प्रश्नावली में संशोधन करने के उपरान्त निम्न-लिखित माप-विधि बनायी :

बिने के बुद्धि-परीक्षा प्रश्न

३ वर्ष की आयु के लिए—

१. तुम्हारी नाक, आँख और मुँह कहाँ हैं ?
२. दो संख्याओं को दोहराना।
३. ६ शब्दों से बने वाक्य को दोहराना।
४. चित्र में जो देखते हो, उसे कहो।
५. अपना अन्तिम नाम बताओ।

४ वर्ष की आयु के लिए—

१. तुम लड़की हो या लड़का ?
२. तीन संख्याओं का दोहराना।
३. कुंजी, चाकू और सिक्का दिखाकर, ये क्या हैं ?

५ वर्ष की आयु के लिए—

१. विभिन्न भार के दो बक्सों की तुलना करवाना।
२. वर्गों को देखकर उसे खिंचवाना।
३. धैर्य के खेल खेलने को कहना।
४. चार सिक्कों को गिनवाना।
५. १० शब्द-खण्डों वाले वाक्य को दोहराना।

८ वर्ष की आयु के लिए—

१. २० से ० तक पीछे की ओर गिनने को कहना।
२. दिन और तारीखों के नाम पूछना।
३. ५ अंकों से बनी संख्या को दोहराना।
४. ६ सिक्कों को गिनवाना।
५. ४ रंगों का नाम बताना।
६. किसी गद्य-खण्ड को पढ़वाना और दो बातों को याद रखने को कहना।

११ वर्ष की आयु के लिए—

१. निरर्थक कथनों की आलोचना करवाना।
२. किसी वाक्य में ३ शब्द प्रयुक्त करवाना।
३. १ मिनट में ६० शब्द कहलवाना।
४. अमूर्त वस्तुओं की परिभाषा करवाना।
५. किसी वाक्य में बेतरतीब रखे शब्दों को तरतीब में रखवाना।

१५ वर्ष की आयु के लिए—

१. ७ अंकों को दोहराना।
२. १ मिनट में, दिये हुए शब्द से तीन प्रकार की लय निकलवाना।
३. २६ शब्दों से बने वाक्य को दोहराना।

इन प्रश्नों के अतिरिक्त ६, ७, ९, १०, १२, १३, १४ वर्षों की आयु के लिए भी प्रश्न निर्धारित किये गये हैं।

बिने-परीक्षा और अमरीकन संशोधन (Binet's Test and American Revision)

बिने महोदय की बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न फ्रांस वालों के लिए बनाये गये थे। जब अमरीका ने यह मनोवैज्ञानिक प्रगति देखी तो उसका भी ध्यान इधर आकर्षित हुआ। इन परीक्षाओं को अमरीकन बालकों पर प्रयुक्त करने के लिए वहाँ के विद्वानों

ने कुछ संशोधन की आवश्यकता समझी। सर्वप्रथम गोडार्ड महोदय ने सन् १९१० में बिने द्वारा स्वीकृत १९०८ ई० की बुद्धि-परीक्षाओं को प्रकाशित किया। उनमें प्रथम संशोधन करने वाले हेरिमन महोदय थे। १९१६ ई० में स्टैण्डफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर टरमैन महोदय ने बिने की बुद्धि-परीक्षा में कुछ दोष निकाले तथा उसका संशोधित रूप प्रकाशित किया जिसको अमरीका में बहुत लोकप्रियता बड़ी तथा मान्यता भी मिली। सन् १९३७ में माउड एम० मेरिल (Moud, M. Merril) के सहयोग से उसमें भी उपयुक्त संशोधन किये गये।

स्टैण्डफोर्ड-बिने परीक्षा—बिने महोदय की बुद्धि-परीक्षा विधि में जो टरमैन ने संशोधन किये, वह विधि संशोधित रूप में 'स्टैण्डफोर्ड-बिने परीक्षा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह नामकरण केवल उस विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि के लिये किया गया, जहाँ टरमैन महोदय ने कार्य किया था। इस संशोधन की बहुत-सी विशेषताएँ हैं और परीक्षा-विधि बिने से कुछ भिन्न है।

बिने ने प्रत्येक उम्र के बालकों के लिए पाँच-पाँच प्रश्न रखे थे किन्तु टरमैन ने संशोधन के उपरान्त प्रत्येक के लिए ६ प्रश्न कर दिये। यह प्रश्नावली ३ वर्ष की उम्र से १० वर्ष की उम्र तक के बालकों के लिए थी। १२ वर्ष की उम्र के बालकों के लिए उसने ८ प्रश्न निर्धारित किये तथा १४, १६ और १८ वर्ष के व्यक्तियों के लिए ६ प्रश्न निर्धारित किये। उसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। यथा—

टरमैन द्वारा संशोधित 'स्टैण्डफोर्ड-बिने बुद्धि-परीक्षा प्रश्न'[1]

३ वर्ष की आयु के लिए—

१. कुछ वस्तुओं को पहचानो (जैसे—घड़ी, कलम, पेंसिल, चाकू), उनके नाम बताओ।
२. तुम्हारी नाक कहाँ है ? तुम्हारे कान कहाँ हैं ?
३. तुम चित्र में क्या देखते हो ?
४. तुम लड़की हो या लड़का ?—आदि।

६ वर्ष की आयु के लिए—

१. अपना बायाँ हाथ दिखाओ। अपनी दाहिनी आँख दिखाओ।
२. इस चित्र को देखो। इसमें क्या अधूरा है ?
३. १३ सिक्कों को मेज पर रखकर बालक को जोर-जोर से गिनने को कहो।
४. चार-पाँच प्रकार के सिक्के रखकर पूछो—ये क्या हैं ?

---

1. Sandford Revision of Binet Scale.

एक ३ वर्ष का बालक साधारणतः चित्र में बनी हुई वस्तु का नाम बता सकेगा, एक ७ वर्ष का बालक उस चित्र का वर्णन भी कर सकेगा और एक ११ वर्षीय बालक उस चित्र की व्याख्या करने में भी समर्थ होगा।

सन् १९३७ में 'दि स्टैनफोर्ड रिवीजन' में टरमैन और मैरिल ने कुछ संशोधन किये। उन्होंने कुछ अंकगणित के प्रश्न हल करने के लिए रखे : विभिन्न परिस्थितियों में आप कैसे और क्या करेंगे ? जैसे—जब आप प्यासे हैं अथवा स्कूल में देर से पहुँचने के कारण भयभीत हैं। इस कथन में निहित व्यर्थता पर प्रकाश डालिए—"चूहा जिसके पास केवल एक बिल है, आसानी से पकड़ा जाता है।"

बुद्धि की अन्य वैयक्तिक परीक्षाएँ (Other Individual Tests of Intelligence)

एक समय में एक व्यक्ति की ही बुद्धि-परीक्षा करना वैयक्तिक परीक्षा कहलाती है, जो सामूहिक बुद्धि-परीक्षा से सर्वथा भिन्न है। बिने-साइमन माप परीक्षा के अतिरिक्त ऐसी बीसियों परीक्षाएँ हैं जो व्यक्ति की बुद्धि मापने के लिए काम में आती हैं किन्तु उन सबमें वैयक्तिक रीति को ही अपनाया जाता है। इनमें 'मैरिल-पामर परीक्षा'[1] सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसके अन्दर कुल ३८ प्रश्न होते हैं और यह १८ मास से ५½ वर्ष तक के बालकों के लिए होती है। दूसरी परीक्षा 'दि मिन्नेसोटा प्री स्कूल स्केल'[2] है। यह १८ मास से लगभग ५ वर्ष तक के बालकों के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसका विकास दो समान रूपों में हुआ।

कुछ दूसरी और बुद्धि-परीक्षाएँ भी हैं, जैसे—'एल्सटीन पिक्चर वोकैबुलरी टैस्ट'[3]। इसे 'वान एलस्टीन चित्र शब्द-भण्डार परीक्षा' भी कहा जाता है। इसका प्रयोग भी पाठशालावस्था से पहले किया जाता है। गुण्डन ओई का 'ड्राइंग ए मैन टैस्ट'[4] (व्यक्ति का चित्र बनवाकर परीक्षा करना) बेकर और लिलैण्ड का 'दि डेट्रोइट टैस्ट्स ऑफ लर्निंग एप्टिट्यूड'[5] और 'दि वेशलर-बैलेविन इन्टैलिजेन्स टैस्ट'[6] आदि परीक्षाएँ १० वर्ष और उससे बड़े बालकों की बुद्धि मापने के प्रयोग में आती हैं। इनसे प्रौढ़ व्यक्तियों की बुद्धि-योग्यता का भी पता लगाया जा सकता है।

बुद्धि की सामूहिक परीक्षाएँ (Group Tests of Intelligence)

बिने, टरमैन प्रभृति विद्वानों की बुद्धि मापने की विधियाँ वैयक्तिक थीं। उनमें एक समय में केवल एक व्यक्ति की ही परीक्षा हो सकती थी, अतः एक ऐसी विधि की आवश्यकता हुई जिससे थोड़े समय में बहुत से बालकों की बुद्धि-परीक्षा

---

1. Merril-Palmer Scale.
2. Minnesota Pre-school Scale, 3. The Van Alstyne Picture Vocabulary Test, 4. Drawing a Man Test, 5. The Detroit Test of Learning Aptitude, 6. The Wechelar-Bellevne Intelligence Test.

हो जाय। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। प्रथम विश्वमहायुद्ध (१९१४-१९१८) में अमरीका में फौजी सैनिकों और अधिकारियों की भर्ती के लिए वहाँ की सरकार के सामने कठिन समस्या उत्पन्न हुई। वह सैनिकों की बुद्धि-परीक्षा के द्वारा उनकी मानसिक योग्यता का आकलन कर ही, उन्हें भर्ती करना चाहती थी। किन्तु वैयक्तिक विधि से इसमें बहुत समय लगता, और जितनी शीघ्र उन्हें फौजियों की आवश्यकता थी उतने लाघव से परीक्षा करना बिने प्रणाली से सम्भव न था। अतः अमरीका के सैनिक अधिकारियों ने सुझाव दिया कि व्यक्तियों की सामूहिक बुद्धि-परीक्षा होनी चाहिए। इस कार्य-भार के लिए मनोवैज्ञानिकों की एक समिति बनायी गयी। उसने बिने और टरमैन की विधि को स्वीकार तो किया, किन्तु उसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन कर उसे सामूहिक परीक्षा के योग्य बनाया। इस प्रकार सामूहिक बुद्धि-परीक्षा के आधार पर अमरीका में लाखों सैनिकों और हजारों अफसरों की भर्ती हुई तथा बुद्धि के अनुसार वर्गीकरण भी किया गया कि अमुक व्यक्ति अमुक कार्य के लिए उपयुक्त होगा और अमुक—अमुक कार्य के लिए।

सामूहिक परीक्षा दो प्रकार से की जाती है—(१) मौखिक या वर्बल; (२) क्रियात्मक या नॉन-वर्बल। किन्तु बहुत-से लोग दोनों ही विधियों को साथ-साथ अपनाते हैं। मौखिक विधि में कुछ प्रश्न या अभ्यास हल करने के लिए दे दिये जाते हैं किन्तु जो पढ़े-लिखे नहीं होते उनके लिए क्रियात्मक प्रश्न बनाये जाते हैं। इन सब में प्रसिद्ध दो परीक्षाएँ हुई: प्रथम 'आर्मी अल्फा टेस्ट'[1] और दूसरी 'आर्मी जनरल क्लासिफिकेशन टेस्ट।'[2] इनमें प्रथम परीक्षा का विकास प्रथम महायुद्ध में हुआ और दूसरी का द्वितीय महायुद्ध में।

नॉन-वर्बल अथवा क्रियात्मक परीक्षा के अन्तर्गत चित्र, रेखाचित्र, रेखाचित्र, कुछ चित्र, शब्दों के स्थान पर अभ्यास समस्या के रूप में हल करने के लिए दिये जाते हैं। क्रियात्मक परीक्षा का विकास बहुत छोटे बालकों की बुद्धि मापने के लिये हुआ। इससे उन लोगों की बुद्धि भी मापी जाती है जो निरक्षर हैं और शब्दों को लिख पढ़ नहीं सकते। शाब्दिक एवं क्रियात्मक—दोनों ही प्रकार की सामूहिक विधियों में विभिन्न प्रकार की सरल से कठिनतम तक की समस्याएँ करने के लिए अभ्यास दिये होते हैं। यह एक छोटी पुस्तक के रूप में छपे होते हैं।

वैयक्तिक तथा सामूहिक बुद्धि-परीक्षाओं में भेद (Difference between Individual and Group Tests of Intelligence)—वैयक्तिक तथा सामूहिक बुद्धि-परीक्षाओं में निम्नलिखित भिन्नताएँ पायी जाती हैं—

(१) वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा में एक बार में एक व्यक्ति की ही बुद्धि की परीक्षा

1. Army Alpha Test, 2. Army General Classification Test.

की जाती है, जबकि सामूहिक बुद्धि-परीक्षा में बहुत-से व्यक्तियों का परीक्षण एक ही साथ कर लिया जाता है।

(२) वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा में आनुपातिक रूप से सामूहिक बुद्धि-परीक्षा की अपेक्षा अधिक समय लगता है।

(३) सामूहिक बुद्धि-परीक्षाओं का परीक्षण सरल है, क्योंकि इसके लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती, जबकि वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण के लिए विशेष प्रशिक्षण आवश्यक है।

(४) सामूहिक बुद्धि-परीक्षा में कार्य-सम्बन्धी प्रश्न नहीं रखे जाते, जबकि वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा में ऐसे प्रश्न रखे जा सकते हैं।

(५) सामूहिक बुद्धि-परीक्षा के लिए बहुत अधिक परीक्षार्थियों की आवश्यकता होती है जिनके ऊपर यह प्रमाणित (standardized) की जा सके। वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा के निर्माण में इस प्रकार के कम व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।

(६) वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षाएँ २ वर्ष से १८ वर्ष की आयु तक के लिए बनायी जा सकती हैं, जबकि सामूहिक बुद्धि-परीक्षा में आयु-विस्तार इतना अधिक नहीं हो सकता।

चित्र—६० (अ)
[मोटर के विभिन्न भागों को मिलाकर मोटर की आकृति बनाना।]

(५) वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षाएँ विशेष रूप से चिकित्सालयों में प्रयोग की जाती हैं। सामूहिक बुद्धि-परीक्षाएँ विद्यालयों आदि में प्रयुक्त की जाती हैं।

क्रिया-परीक्षा (Performance Test)

बुद्धि मापने की इस विधि का विकास उन लोगों के लिए हुआ जिन्हें भाषा की कुछ कठिनाई थी अथवा जो निरक्षर थे। इन विधियों में प्रत्यक्ष एवं मूर्त वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। उसमें विषयी से कुछ समस्यापूर्ण व्यावहारिक कार्यों को करने के लिए कहा जाता है, जैसे—विभिन्न बिखरी आकृतियों को एक आकृति-फलक (form board) में भरना इत्यादि, और उसी के अनुसार उनकी बुद्धि को मापा जाता है। आकृति-फलक या 'फार्म-बोर्ड' एक लकड़ी का तख्ता होता है जिसमें ९ छेद बने होते हैं। इन छेदों में १४ टुकड़े लगने होते हैं—किसी में चौकोर, किसी में तिकोना। इसी प्रकार एक 'सेगविन फार्म बोर्ड' भी होता है। उसमें १० छेद होते हैं और उन छेदों में समकोण चतुर्भुज, अर्द्धवृत्त तथा वृत्त आदि बैठाये जा सकते हैं।

इसी प्रकार 'भूलभुलैया विधि' (maze test) से भी बुद्धि मापी जाती है। इसका एक रेखाचित्र बालक को दिया जाता है और उससे कहा जाता है कि उसे एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिना रुकावट पहुँचना है, तो वह कौन-सा रास्ता अपनायेगा?

चित्र—६० (अ)

[विभिन्न लकड़ी के टुकड़ों को इस प्रकार रखना कि वे चित्र की आकृति का रूप ले लें।]
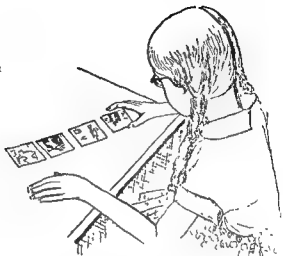
चित्र—६० (स)

[इस चित्र में किसी घटना का वर्णन होता है। इस लड़की को चेष्टा यह है कि वह चित्रों को घटनाक्रम के रूप में व्यवस्थित करे।]

इस प्रकार की सर्वप्रथम परीक्षा 'दि पिण्टनर-पीटर्सन स्केल ऑफ परफोरमैन्स टेस्ट्स' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें १५ आकृति-फलकों का प्रयोग किया जाता था। उनका प्रयोग ४ वर्ष के बालकों से १६ वर्ष के बालकों तक के लिए था। इसकी एक संक्षिप्त 'परीक्षा' १९३७ ई० में पिण्टनर और हिल्ड्रेथ के द्वारा प्रकाशित हुई। दूसरी प्रकार की क्रिया परीक्षाओं में 'आर्थर प्वॉइण्ट-स्केल ऑफ परफोरमैन्स टैस्ट', 'दि कारनेल-कोक्स परफोरमैन्स टैस्ट', तथा 'लीटर इंटरनेशनल परफोरमैन्स स्केल' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

चित्र—६१

['पिण्टनर-पीटर्सन स्केल ऑफ परफोरमैन्स टैस्ट' द्वारा बुद्धि-परीक्षण करने वाले कुछ पदार्थ।]

ये क्रिया-माप अथवा क्रियात्मक परीक्षाएँ 'बिने-परीक्षा' के सहायक के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं। जहाँ विषयी पढ़ा-लिखा न हो अथवा उसे किसी भी प्रकार की भाषा कठिनाई हो, बहरापन अथवा अन्य किसी प्रकार की बाधा आ पड़ती हो अथवा जहाँ 'बिने परीक्षा' का क्रियान्वित करना असम्भव दिखाई पड़ता हो—वहीं इसका प्रयोग करते हैं, अन्यथा नहीं। जैसे—गूँगे, बहरे, अंधों के लिए बुद्धि की परीक्षा की आशातीत सफलता ने व्यक्ति की अन्य विशेषताओं और गुणों को भी मापने के लिए अन्य विधियों के विकास को बहुत प्रोत्साहन दिया। व्यावसायिक रुझान परीक्षा[1], ज्ञान परीक्षा[2] आदि का भी विकास बालक की विभिन्न योग्यताओं को मापने के लिए हुआ।

भारत में बुद्धि-परीक्षा (Intelligence Testing in India)

भारत में बुद्धि-परीक्षा का महत्त्व लोगों ने बड़ी देर में समझा। शिक्षा की दृष्टि से देश पिछड़ा होने के कारण इस विधि का विकास भारत में अभी थोड़ा ही हुआ है। बुद्धि-परीक्षा के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य १९२२ में हर्बर्ट राइस महोदय ने किया। राइस महोदय ने 'बिने की बुद्धि-परीक्षाओं' का अनुवाद तथा संशोधन उर्दू तथा पंजाबी भाषा में किया था। इनके उपरान्त भी कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस ओर कार्य किया जिनमें शुक्ल, बैद तथा गुलतार का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सामूहिक बुद्धि-परीक्षाओं के सम्बन्ध में १९३७ में 'मनरो' ने सबसे पहले कार्य किया। १९३८ में डॉ० मोहसिन ने मिडिल स्कूल के विद्यार्थियों के लिए एक सामूहिक बुद्धि-परीक्षा का निर्माण किया। उत्तर प्रदेश में सर्वप्रथम डॉ० सोहनलाल ने बुद्धि-परीक्षा सम्बन्ध में कार्य किया। डॉ० सोहनलाल ने १९४१ में 'मोरे हाउस सामूहिक बुद्धि-परीक्षा' के आधार पर ११ वर्ष तथा ऊपर के बालकों के लिए सामूहिक बुद्धि-परीक्षा का निर्माण किया। उत्तर प्रदेश में मनोविज्ञानशाला में, जो इलाहाबाद में है, बुद्धि-परीक्षा की ओर काफी कार्य किया जा रहा है।

१९५१ में एक बुद्धि-परीक्षा जलोटा एवं पाण्डे ने मिलकर बनायी। यह *'सामूहिक-मानसिक योग्यता-परीक्षा ४/२१' कहलाती है जिसका निर्माण हिन्दी भाषा में* हुआ। एक और बुद्धि-परीक्षा जो १९५२ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बनायी गयी वह 'जलोटा-टण्डन बुद्धि-परीक्षा' है।

डॉ० सी० एम० भाटिया ने १९५३ में ११ से १६ वर्ष तक के बालकों के लिए एक परीक्षा का निर्माण किया। यह परीक्षा भारतीय दशाओं के अन्तर्गत बनायी गयी। इसमें पाँच कार्य-परीक्षाओं को मिलाकर एक बैटरी बनायी गयी जिसे 'भाटिया बैटरी' के नाम से सम्बोधित किया गया। जो कार्य-परीक्षाएँ इसमें शामिल की गयीं उनके नाम हैं—(१) कोह ब्लाक डिजाइन परीक्षा, (२) एलक्जैण्डर पास-ए-लोंग

---

1. Vocational Aptitude Test, 2. Achievement Test.

परीक्षा, (३) पैटर्न ड्राइंग परीक्षा, (४) इमीडिएट मेमोरी परीक्षा, (५) चित्र-निर्मा परीक्षा।

एक और बुद्धि-परीक्षा है, जिसे 'साधारण बुद्धि-परीक्षा' (General Intelli gence Test) कहते हैं। इसके कुछ प्रश्नों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

१—निम्नलिखित प्रश्नों में प्रत्येक कोष्ठक के अन्दर ५ शब्द हैं। इनमें केवल एक शब्द बाहर लिखे हुए तीन शब्दों के लिए प्रयोग किया जा सकता है कोष्ठक के अन्दर ऐसे शब्दों को मालूम कीजिए और उनके नीचे रेखा खींचिए जैसे—सेब, सन्तरा, अंगूर, (फूल, फल, तरकारी, मेवा, मिठाई)।

अब इसी प्रकार इन प्रश्नों को कीजिए—

(अ) जाड़ा, गर्मी, बरसात (हवा, पानी, जलवायु, ऋतु, वसंत)

(ब) बम्बई, कलकत्ता, मद्रास (भारतवर्ष, प्रदेश, देश, बन्दरगाह, प्रान्त)

२—कृष्ण से राम लम्बा है और राम से मोहन छोटा है।

इसलिए कृष्ण मोहन से छोटा हुआ। (हाँ, अनिश्चय, नहीं)

डेढ़ नौ
३—यदि १५ मिनट पहले ८½ बजे थे तो १ घण्टे बाद ७½ बजेंगे।
दो आठ

उस विधि में कुल मिलाकर विभिन्न प्रकार के १०० प्रश्न होते हैं उनमें से कुछ प्रश्न बालकों के वचन का अनौचित्य समझने के लिए हैं, कुछ अन बालकों से तुलना के लिए और कुछ प्रश्न सत्य और झूठ की जानकारी के लि होते हैं।

हमने अभी तक बुद्धि-परीक्षा के विकास की चर्चा की कि कैसे उसका उद्गम और विकास विभिन्न देशों में हुआ, किन्तु अभी तक यह नहीं बताया कि बुद्धि-परीक्ष का अभिप्राय क्या है, अथवा बुद्धि क्या है और उसका स्वरूप क्या है? इसके पह कि हम बुद्धि की परिभाषा दें, हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि मानसिक आयु किसे कहते हैं और बुद्धि-लब्धि क्या है?

मानसिक आयु और बुद्धि-लब्धि
(Mental Age and Intelligence Quotient)

मानसिक आयु—हमने अभी देखा कि बिने महोदय ने बुद्धि-परीक्षा के सम्ब में मानसिक आयु की भी चर्चा की है। मानसिक आयु की इस धारणा के विकास बुद्धि-परीक्षा के वास्तविक महत्व को बताया और उसके प्रयोजन को अधिक बढ़ बना दिया। "मानसिक आयु किसी व्यक्ति के द्वारा प्राप्त विकास की सीमा को

अभिव्यक्ति है जो उसके कार्यों द्वारा जानी जाती है तथा किसी आयु-विशेष में उसकी अपेक्षा की जाती है।"[1]

इससे तात्पर्य यह है कि जिस बालक की मानसिक आयु ८ वर्ष बतायी जाती है, वह परीक्षा के अनुसार अपनी ८ वर्ष की उम्र के ही सामान्य बालकों के समान कार्य करने में सफल होता है।

बुद्धि-परीक्षा के लिए परीक्षक बहुत-सी उन वस्तुओं का संकलन करेगा जिन्हें वह अपनी परीक्षा में सम्मिलित करना चाहता है; तथा उनको एक विशिष्ट क्रम में लगायेगा। फिर विभिन्न उम्र के प्रतिनिधि बालकों को समस्याएँ हल करने के लिए देगा। यह सब इस प्रकार से आयोजित किया जायगा जिससे कि बालकों की विभिन्न उम्र की सामान्य उपलब्धियों का ठीक-ठीक पता लग जाय। परीक्षा में विभिन्न उम्र के प्रतिनिधि बालकों ने कार्यों में जिस सीमा तक सफलता पायी तथा एक ही उम्र के अधिक बालकों ने जिस कार्य को सफलतापूर्वक किया, वही उस विशिष्ट आयु की मानसिक आयु निश्चित कर ली जायगी; जैसे—५ वर्ष की उम्र के सामान्य बालकों की औसत उपलब्धि ही उनकी ५ वर्ष की मानसिक आयु का प्रतीक होगी। यदि कोई ५ वर्ष का बालक ऐसे कार्यों को कर लेता है जो ६ वर्ष का सामान्य बालक कर सकेगा तो उसकी मानसिक आयु ६ वर्ष कहलायगी। किन्तु यदि ५ वर्ष का बालक ऐसे कार्यों को ही कर सकता है जो उससे छोटी उम्र का ४ वर्ष का भी सामान्य बालक कर सकता है तो उस बालक की मानसिक आयु (मा० आ०) ४ वर्ष ही मानी जायगी जबकि उसकी वास्तविक आयु ५ वर्ष होगी। इस प्रकार प्रथम बालक अपनी उम्र के सामान्य बालकों से अधिक श्रेष्ठ होगा और दूसरा बालक अपनी उम्र के सामान्य बालकों की अपेक्षा हीन होगा।

वास्तव में मानसिक आयु किसी विशिष्ट उम्र में बालक की मानसिक परिपक्वता को बताती है कि बालक उस वास्तविक आयु पर मानसिक दृष्टि से कितना प्रौढ़ हुआ है। यही प्रौढ़ता व परिपक्वता की मात्रा मानसिक आयु है। बालक की आयु-वृद्धि के साथ-साथ उसकी मानसिक परिपक्वता भी बढ़ती जाती है। बिने-परीक्षा व्यक्ति की "सामान्य मानसिक योग्यता" को ही मापती है जिसका विकास थोड़े-बहुत अन्तर से प्रौढ़ता तक एकरूपेण ही होता है। व्यक्ति का मानसिक विकास जिस उम्र में पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त होता है वह सभी के द्वारा १४ से २२ वर्ष में माना जाता है। यह विविध परीक्षाओं में विभिन्न हो सकता है।

बुद्धि-लब्धि (Intelligence Quotient) (आई० क्यू०)—किसी भी व्यक्ति को जो प्रतिभा प्राप्त होती है, उसकी मात्रा को बताने वाली संख्या 'बुद्धि-लब्धि'

---

1. "The mental age is an expression of the extent of development achieved by the individual stated in terms of the performance expected at any given age."

कहलाती है, अथवा व्यक्ति के पास बुद्धि की कितनी मात्रा है, उसकी माप अथवा उसके द्वारा उपलब्ध बुद्धि ही बुद्धि-लब्धि है। बुद्धि-लब्धि निकालने के लिए मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग दिया जाता है। जैसे—

$$\text{I. Q.} = \frac{\text{M.A.}}{\text{C.A.}}, \text{ बुद्धि लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}}$$

उदाहरण के लिए, यदि बालक की वास्तविक आयु १० वर्ष है और बिने-परीक्षा के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि वह १२ वर्ष के सामान्य बालकों के समान कार्य कर लेता है तो उसकी मानसिक आयु १२ वर्ष मानी जायेगी तथा उसकी बुद्धि-लब्धि इस प्रकार होगी—

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}}$$

$$= \frac{१२}{१०}$$

$$= १\text{·}२$$

प्रायः दशमलव के भागों को पूर्णाङ्क बनाने के लिए और इससे आने वाली असुविधा को दूर करने के लिए १०० से गुणा कर दिया जाता है तथा संख्या को पूर्णाङ्क बना लिया जाता है। यह केवल सुविधा की दृष्टि से किया जाता है।

जैसे, इसी उदाहरण में—

बुद्धि-लब्धि = १·२ × १०० = १२०

बुद्धि-लब्धि किसी भी बालक की मानसिक अभिवृद्धि की मात्रा को प्रकट करती है। उपरोक्त उदाहरण में बालक के मानसिक विकास की गति सामान्य बालक से अधिक है। यदि उसी बालक की बुद्धि-लब्धि १०० रही होती तो उसका मानसिक विकास सामान्य माना जाता। यदि यह ७५ रही होती तो उसकी अभिवृद्धि सामान्य से कम हुई होती। चूँकि बुद्धि-लब्धि मानसिक विकास की मात्रा को बताती है, इसलिए इसे हम प्रतिभा का सूचीपत्र भी कह सकते हैं।

नीचे एक सूची दी हुई है जिसमें बुद्धि-लब्धि और प्रतिभा की मात्रा का सम्बन्ध दिखाया गया है। इस सूची का निर्माण टरमैन, मैरिल तथा रॉबिन्सन के अध्ययन के आधार पर किया गया है तथा डॉ० मैरिल (Merrial, Maud A.) द्वारा यह स्वीकृत और मान्य है। यथा—

१४०—१६६	अत्युत्कृष्ट (Very superior)
१२०—१३६	उत्कृष्ट (Superior)
११०—११६	सामान्य से ऊपर (High average)
९०—१०६	सामान्य (Normal or average)
८०—८६	सामान्य से नीचा (Low average)

७०—७६	हीन बुद्धि की सीमा-रेखा (Border-line Defective)
६०—६६	मूर्ख (Moron)
५०—५६	मूर्ख (Moron)
२५—४६	मूढ़ (Imbecile)
०—२४	जड़ (Idiot)

बुद्धि का स्वरूप (Nature of Intelligence)

बुद्धि की परिभाषा विभिन्न लोगों ने विभिन्न प्रकार से की है, उनमें आपस में कोई समनुरूपता नहीं है। वस्तुतः बुद्धि की परिभाषाएँ उतनी हैं जितने कि इस विषय के लेखक। किन्तु विभिन्न परिभाषाओं में बाह्य अन्तर होता है, वास्तविक नहीं। यह सम्भव है कि परिभाषाओं का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो, किन्तु उनकी आत्मा तो एक ही होती है। नीचे हम इस विषय के कुछ महान् विद्वानों की परिभाषाओं को उद्धृत कर रहे हैं। यथा—

१. बिने और साइमन की परिभाषा[1]—"निर्णय, विवेक, मौलिकता, समझने की योग्यता, युक्तियुक्त तर्क और वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने की शक्ति ही 'बुद्धि' है।"[2]

२. बर्ट की परिभाषा—"नवीन शारीरिक संयोगों के आयोजन द्वारा अपेक्षाकृत नवीन परिस्थितियों में पुनर्व्यवस्थापन की शक्ति ही 'बुद्धि' है।"[3]

३. स्टर्न की परिभाषा—"नई परिस्थितियों में अपनी विचारधारा को सुव्यवस्थित कर लेने की एक सामान्य शक्ति 'बुद्धि' है।"[4]

४. टरमैन की परिभाषा—"अमूर्त वस्तुओं के विषय में सोचने की योग्यता 'बुद्धि' है।"[5]

५. पिण्टनर की परिभाषा—"जीवन में आगत नूतन परिस्थितियों में अपने को सुव्यवस्थित करने की व्यक्ति की क्षमता ही 'बुद्धि' है।"[6]

---

1. Binet and Simon's Definition.
2. "Judgment, good sense, intiative, the ability to comprehend and to reason will and to adapt one's self to circumstances." —Binet and Simon, 1905, in *Kite* (trans.), 1916, pp. 42-43.
3. "The power of readjustment to relatively novel situations by organizing new psycho-physical combination."—Burt, 1909, p. 168.
4. "A general capacity of an individual conciously to adjust his thinking to new requirements."—Stern, 1914, p. 3.
5. "The ability to carry out abstract thinking." —Terman, 1921, . 126.
6. . ability of the individual to adapt himself, adequately to ...vely new situations in life."—Pintner, 1921, p. 139.

६. बकिंघम की परिभाषा—"सीखने की शक्ति ही 'बुद्धि' है ।"[1]

७. थोर्नडाइक की परिभाषा—"वास्तविक परिस्थिति के अनुसार अपेक्षित प्रतिक्रिया की योग्यता ही 'बुद्धि' है ।"[2]

८. स्टोडार्ड की परिभाषा—"उन कार्यों को करने की शक्ति जिनमें कठिनाई, जटिलता, उद्देश्य-प्राप्ति की क्षमता, सामाजिक मूल्य, मौलिकता की अपेक्षा तथा विशिष्ट परिस्थितियों में ऐसे कार्य करने की योग्यता जिसमें शक्ति-केन्द्रीकरण की आवश्यकता, एवं संवेगात्मक शक्तियों पर नियन्त्रण ही 'बुद्धि' है ।"[3]

९. गैरेट की परिभाषा—"ऐसी समस्याओं को हल करने की योग्यता जिसमें ज्ञान और प्रतीक के प्रयोग की आवश्यकता हो; जैसे—शब्द, अंक, रेखाचित्र, समीकरण और सूत्र, 'बुद्धि' कहलाती है ।"[4]

उपरोक्त सभी परिभाषाएँ किसी-न-किसी प्रकार से 'बुद्धि' की व्याख्या करती हैं । उनकी सबकी अपनी उपयोगिताएँ हैं क्योंकि वे विभिन्न दृष्टिकोणों से बौद्धिक माप के ऊपर प्रकाश डालती हैं । ये परिभाषाएँ किसी भी प्रकार से बुद्धि की व्याख्या करती हों, किन्तु सभी एक विशेष दिशा में संकेत करती हैं कि बुद्धि की माप बुद्धि-परीक्षा द्वारा होती है ।

बुद्धि-परीक्षा क्या मापती है ?—अभी हमने बताया कि बुद्धि-परीक्षा में बुद्धि की माप की जाती है । बुद्धि की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि बुद्धि-परीक्षा सामान्यतः उन योग्यताओं की माप करती है जो चार भागों में विभाजित की जा सकती हैं—

१. सीखने की योग्यता ।
२. नई समस्याओं अथवा परिस्थितियों में अपने ज्ञान का समुचित प्रयोग करने की योग्यता ।

---

1. "The ability to learn."—Bukingham, 1921, p. 273.
2. 'The power of good response from the point of view of truth or fact."—Thorndike, 1921, p. 124.
3. "The ability to undertake activities that are characterized by difficulty, complexity, adaptiveness to a good social value and the emergence of originals, and to maintain such activities under conditions that demand a concentration of energy and a resistence to emotional forces."—Stoddard, 1943, p. 4.
4. "The abilities demanded in the solution of problems which require the comprehension and use of symbols, i.e., words, numbers, diagrams, equations, formulas."

—Garrett, 1946, p. 382.

३. विविध सम्बन्धों को समझने की योग्यता, सारभूत वस्तुओं को पहचानने की योग्यता।

४. सम्यक् तर्क की योग्यता।

बुद्धि के प्रकार (Kinds of Intelligence)

थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि कई प्रकार की शक्तियों का एक समूह है इसलिए उन्होंने स्थूल दृष्टि से बुद्धि के तीन प्रकार बताये, जिनके नाम हैं—अमूर्त, सामाजिक, और यान्त्रिक बुद्धि। हम यहाँ पर क्रमशः उनकी चर्चा करेंगे। यथा—

(१) अमूर्त बुद्धि (Abstract Intelligence)—पुस्तकीय ज्ञान के प्रति अपने को व्यवस्थित करने की योग्यता 'अमूर्त बुद्धि' कहलाती है। विद्यालय के वातावरण में बुद्धि-परीक्षा सबसे अधिक सफल सिद्ध होती है। इस परीक्षा के द्वारा यह सफलतापूर्वक बताया जा सकता है कि बालक में कौन-कौन सी विशिष्ट योग्यताएँ हैं तथा रुझान-परीक्षा के द्वारा बालक की रुचि और रुझान के बारे में हमें लाभदायक जानकारी प्राप्त होती है। अमूर्त बुद्धि स्वयं अपने को ज्ञानोपार्जन के प्रति रुझान, पढ़ने-लिखने और शब्दों एवं प्रतीकों के रूप में आने वाली समस्याओं को हल करने के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करती है। यह वह शक्ति है जो शब्दों और प्रतीकों के प्रति प्रभावशाली व्यवहार के रूप में व्यक्त होती है। जिस व्यक्ति में इस प्रकार की बुद्धि होगी, वह पाठशाला के ज्ञानोपार्जन के वातावरण में सबसे अधिक सफल होगा।

कोई भी व्यक्ति अमूर्त बुद्धि की कितनी मात्रा से युक्त है, इसकी जानकारी निम्नलिखित विधि से की जा सकती है—

(क) बौद्धिक कार्यों में आने वाली कठिनाइयों के किस स्तर तक वह कठिन कार्य को कर सकता है।

(ख) समान कठिनाई के विविध बौद्धिक कार्यों की संख्या, जिन्हें वह कर सकता है।

(ग) किस वेग अथवा गति से वह इन कार्यों को पूरा कर सकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि अमूर्त बुद्धि त्रिमुखी है। स्तर, क्षेत्र और वेग अथवा गति ही उसकी तीन विभिन्न विमा (Dimensions) हैं।

यदि इस अमूर्त बुद्धि में किसी प्रकार की कमी हो तो इससे यह तात्पर्य नहीं कि अन्य दो प्रकार की बुद्धि में किसी प्रकार की कमी होगी। अमूर्त बुद्धि के कम होने पर भी अन्य प्रकार की बुद्धि ठीक हो सकती है। बुद्धि की मात्रा विभिन्न व्यक्तियों में उनके अनुभव करने, समझने और याद करने की शक्ति के अनुसार कम या अधिक होती है। बुद्धि की यह विभिन्नता तर्क में प्रयुक्त प्रतीकों के सदुपयोग के ऊपर भी बहुत आधारित होती है।

(२) सामाजिक बुद्धि (Social Intelligence)—अपने को समाज के अनुकूल व्यवस्थित करने की योग्यता ही 'सामाजिक बुद्धि' है। यह दूसरे लोगों के साथ प्रभावपूर्ण व्यवहार करने की क्षमता है। दूसरों के साथ सदाचार करने, उनसे मिल-जुलकर रहने, उनके साथ विकास के कार्यों में हाथ बँटाने और सामाजिक कार्यों में रुचि लेने की योग्यता ही 'सामाजिक बुद्धि' है।

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सामाजिक बुद्धि नितान्त आवश्यक होती है। बहुत-से ऐसे व्यक्ति भी देखे जाते हैं जिनमें अमूर्त बुद्धि तो प्रतिभा की सीमा तक होती है, किन्तु सामाजिक बुद्धि के अभाव के कारण वे जीवन की विविध परिस्थितियों में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। फिर भी प्रायः अमूर्त बुद्धि और सामाजिक बुद्धि का विकास साथ ही साथ होता है।

(३) गामक अथवा यान्त्रिक बुद्धि (Motor or Mechanical Intelligence)—यह यन्त्रों और मशीनों के साथ अनुकूलन की योग्यता है। इसके होने से व्यक्ति एक कुशल कारीगर, मिस्त्री, चालक अथवा इंजीनियर बन सकता है। यह ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति उन परिस्थितियों में, जिनका सम्बन्ध यन्त्रों अथवा भौतिक पदार्थों से होता है, अपने को सुव्यवस्थित कर लेता है। एक बालक जिसमें अपनी साइकिल ठीक करने, घड़ी स्वयं बना लेने, यान्त्रिक औजारों के ठीक-ठीक प्रयोग करने की क्षमता है, तो यह कहा जायगा कि उसमें यान्त्रिक बुद्धि है।

विभिन्न व्यक्तियों में उनकी गामक बुद्धि में भी अन्तर पाया जाता है। कोई व्यक्ति छोटे-से और स्थूल यन्त्र को भी ठीक नहीं कर सकता; थोड़ी-सी साइकिल बिगड़ गयी, उन्हें पता ही नहीं क्या खराबी है, साइकिल वाले की दूकान पर लिये चले जा रहे हैं। दूसरा व्यक्ति है जो अपने घर की बिजली की व्यवस्था भी स्वयं ठीक कर लेता है—साइकिल, घड़ी, मोटर भी ठीक कर लेता है। हालाँकि यह क्षमता अभ्यास के द्वारा बढ़ायी भी जा सकती है। किन्तु बहुत-से लोग लम्बे अभ्यास के उपरान्त भी कुशल कारीगर, मिस्त्री एवं इंजीनियर नहीं बन पाते जबकि दूसरे व्यक्ति थोड़े ही अभ्यास से यन्त्र के कार्यों में दक्ष हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों में गामक बुद्धि का विकास कम होता है, वे खेलों और अन्य शारीरिक कार्यों में भी कुशलतापूर्वक भाग नहीं ले सकते तथा हीन और दब्बू प्रकृति के होते हैं।

बुद्धि के सिद्धान्त (Theories of Intelligence)

हेल्सटीड (Halstead) के अनुसार, बुद्धि के सिद्धान्तों का वर्गीकरण उनके स्वीकृत आधार-तत्त्वों की संख्या के ऊपर किया गया है। इस आधार पर हम बुद्धि के ४ सिद्धान्तों का, जिन्हें सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है, यहाँ पर वर्णन करेंगे। वे इस प्रकार हैं—(१) एक-खण्ड सिद्धान्त (Unifactor Theory), (२) द्वि-खण्ड सिद्धान्त (Two-factor Theory), (३) त्रि-खण्ड सिद्धान्त (Three-factor Theory), (४) बहु-खण्ड सिद्धान्त (Multi-factor Theory)।

बुद्धि की अभिवृद्धि (Growth of Intelligence)

बुद्धि-परीक्षा के परिणामों से यह सिद्ध हो चुका है कि बालक की बुद्धि उसकी उम्र के साथ बढ़ती रहती है और बालक की मानसिक आयु उसके जन्म से किशोरावस्था के अन्त तक बढ़ती रहती है। जिस उम्र पर आकर बुद्धि की वृद्धि रुक जाती है उसे ठीक-ठीक बताना अत्यन्त कठिन है। पिण्टनर महोदय का मत है कि १४ और २२ वर्ष के बीच मे बुद्धि का विकास किसी भी समय में रुक जाता है। टरमैन के विचार से उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के बालक अपनी बुद्धि के विकास के चरम-बिन्दु पर १६ वर्ष की अवस्था में पहुँच जाते हैं।

बुद्धि के विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचने से यह तात्पर्य नहीं है कि १६ वर्ष के उपरान्त व्यक्ति में किसी भी प्रकार की बौद्धिक अभिवृद्धि नहीं हो सकती। व्यक्ति का बौद्धिक विकास ३० वर्ष या उससे परे तक निरन्तर चालू रह सकता है। किन्तु नई-नई समस्याओं को हल करने की योग्यता उसमें जो १६ वर्ष पर थी, वही अब ४० वर्ष पर भी होगी। व्यक्ति का मानसिक विकास चाहे लगातार होता रहे, फिर भी उसमें नई परिस्थितियों को हल करने, उनमें अपने को व्यवस्थित करने एवं समझने की योग्यता तो किशोर जीवन में ही पूर्ण हो जाती है। वस्तुतः बाद को बुद्धि नहीं बढ़ती, ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान एक अर्जित शक्ति है, जो बुद्धि नहीं है। बुद्धि तो वह जन्मजात योग्यता है जिसके द्वारा व्यक्ति किसी भी समस्या के [illegible] करने के सम्भव साधनों को अपनी क्षमता के अनुसार जुटाता, उसे हल करता और अपने को वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित करता है। इस प्रकार की जन्मजात बौद्धिक योग्यता पंद्रहवें की परिसमाप्ति तक पूर्ण हो चुकती है, उसमें आगे वृद्धि की सम्भावना नहीं। हाँ, केवल संचित ज्ञान ही बढ़ता जाता है।

बुद्धि तथा राष्ट्र—बुद्धि परीक्षाओं द्वारा इस बात की तुलना की जाती है कि विभिन्न राष्ट्रों की औसत बुद्धि कितनी है। इस सम्बन्ध में जो परीक्षण किये गये हैं वे इस ओर संकेत करते हैं कि गोरी जातियों में औसत बुद्धि काली जातियों से अधिक है। परन्तु [illegible] निष्कर्षों पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि जो भी बुद्धि-परीक्षाएँ बनायी गयी हैं वे गोरी जाति को ही ध्यान में रखकर बनायी गयी हैं। इस कारण उनका मूल्यांकन ऐसी परीक्षाओं में काली जातियों से अधिक होगा है। यदि काली जातियों को ध्यान में रखकर बुद्धि-परीक्षाएँ बनायी जायें तो सम्भव है दूसरे प्रकार के परिणाम मिलें।

बुद्धि तथा लिंग—बुद्धि-परीक्षाओं द्वारा [illegible] पता लगाने की चेष्टा की गयी कि लड़के और लड़कियों की बुद्धि में किसकी बुद्धि अधिक तीव्र है। कुछ बुद्धि-परीक्षाओं के परिणाम से पता चलता है कि लड़कियों की बुद्धि १७ या १८ वर्ष की आयु तक [illegible] की अपेक्षा अधिक होती है। इसका कारण यह हो सकता है कि लड़कियों का [illegible] लड़कों की अपेक्षा लगभग एक वर्ष अधिक होता है। परन्तु इस

सम्बन्ध में जो प्रमुख खोजें हुई हैं वे इस ओर संकेत करती हैं कि लड़के और लड़कियों की बुद्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर प्रतीत होते हैं वे इस कारण हैं कि इन दोनों की रुचि में अन्तर होता है, लड़के जब बाहर की ओर अपना ध्यान लगाते हैं तो लड़कियाँ घर में पढ़ाई की ओर ध्यान लगाती हैं।

बुद्धि तथा समुदाय—भारत में विभिन्न समुदायों की बुद्धि की तुलना कई मनोवैज्ञानिकों ने की है। जाति के आधार पर डॉ० भाटिया ने ६४२ व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि (I. Q.) निकाली। इनमें से १३६ ब्राह्मण जाति के थे, ६२ क्षत्रिय, १२२ कायस्थ, ४२ वैश्य, ६५ क्रिश्चियन तथा ऐंग्लोइण्डियन, १२० मुसलमान, ३१ परिगणित और ६' अन्य जातियों के थे। ब्राह्मण का औसत I.Q. ९७.८६; क्षत्रिय का ९५.१६; कायस्थ का १०१.१८; वैश्य का ९८.१६; क्रिश्चियन तथा ऐंग्लोइण्डियन का १०४.३०; मुसलमान ९६.३३ था और परिगणित जातियों का ९८.६१ निकला। इस प्रकार उन्होंने देखा कि मुसलमानों और हिन्दुओं की बुद्धि-लब्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं था। हिन्दुओं में कायस्थ जाति की बुद्धि अन्य सब जातियों की अपेक्षा अधिक थी। परिगणित जातियों की बुद्धि-लब्धि दूसरी जातियों से कोई विशेष कम न थी। परन्तु यह सब परीक्षण एक सीमित समुदाय पर किये जाते हैं और इस कारण इनकी विश्वसनीयता में संदेह हो सकता है। यदि एक बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को लिया जाय और फिर उनकी बुद्धि-लब्धि की तुलना की जाय तो शायद विश्वसनीय परिणाम मिल सकें।

बुद्धि और व्यवसाय—अनेक बुद्धि-परीक्षणों से यह सिद्ध हो गया है कि जिन बालकों के माँ-बाप ऊँचे व्यवसाय करते हैं, उनकी बुद्धि-लब्धि भी ऊँची होती है। इस प्रकार जो व्यक्ति सामाजिक तथा आर्थिक रूप से ऊँचे होते हैं उनके बालकों की बुद्धि भी ऊँची होती है। वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक तथा सरकार के उच्च कर्मचारियों की बुद्धि-लब्धि उच्च होती है, जबकि मजदूरों और किसानों की औसत बुद्धि-लब्धि उनकी अपेक्षा कम होती है।

बुद्धि-परीक्षा के उपयोग (Uses of Intelligence Tests)

आधुनिक काल में बुद्धि-परीक्षा परम उपयोगी सिद्ध हुई है। यह देखा गया है कि जीवन में सफलता और असफलता तथा नई परिस्थितियों के समायोजन एवं नई समस्याओं के हल करने में बुद्धि का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यही नहीं, मानव जीवन के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में बुद्धि की बहुत अधिक महत्ता और उपयोगिता है। चूँकि बुद्धि-परीक्षा द्वारा ही बुद्धि मापी जाती है, इसलिए उसकी भी बहुत उपयोगिता है। हम इसके कुछ उपयोगों का वर्णन नीचे करेंगे। यथा—

(१) मन्द-बुद्धि बालकों का पता लगाना (Diagnosing Feeble Minded Children)—बुद्धि-परीक्षा के द्वारा अध्यापक सरलतापूर्वक एक ही कक्षा में पढ़ने वालों में से मन्द-बुद्धि और प्रखर बुद्धि बालकों को छाँट सकता है। उनकी बुद्धि-लब्धि के आधार पर वर्गीकरण कर, उनके समान बुद्धि-लब्धि वाले बालकों के साथ

(४) विशिष्ट वर्गों के अध्ययन के लिए उपयोगी (Use of Special Groups)—बुद्धि-परीक्षा व्यक्तियों के विशिष्ट वर्गों के लिए परमोपयोगी है। यह विशिष्ट वर्गों जैसे अंधे, गूंगे, बहरे और जातीय समुदायों का सर्वेक्षण करती है।

(५) उद्योगों में उपयोगिता (Use in the Industries)—उद्योगों में अधिकारियों, कर्मचारियों और विशेषज्ञों के चुनाव में बुद्धि-परीक्षा बहुत सहायता देती
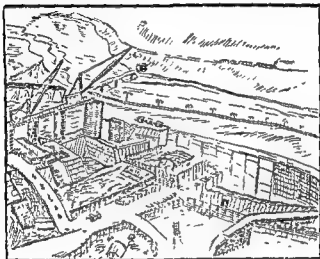
चित्र—६२

[यदि उद्योगों में अधिकारियों, कर्मचारियों और विशेषज्ञों का चुनाव बुद्धि-परीक्षा के आधार पर किया जाय तो इस प्रकार के उच्च, औद्योगिक कार्य, जैसे बाँधों का निर्माण आदि में पूर्ण सफलता प्राप्त की जा सकती है।]

है। चुनाव की अन्य विधियों, जैसे साक्षात् एवं उम्मीदवार के आवेदनपत्र, जिसमें उसके पूर्व-अनुभवों, शैक्षिक और सामाजिक एवं विशिष्ट योग्यताओं का लेखा-जोखा होता है, के साथ बुद्धि-परीक्षा भी परम उपयोगी सिद्ध होती है।

सारांश

मनोविज्ञान ने बुद्धि मापने की सही-सही विधियों एवं उनके परिणामों की सम्यक् व्याख्या से व्यक्तियों का उनकी मानसिक योग्यता एवं बौद्धिक विकास के आधार पर वर्गीकरण कर मानव समाज की बहुत बड़ी सेवा की है। ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्धि-परीक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य फ्रांस के बिने और

साइमन महोदय ने किया। बिने ने तीन परीक्षाएँ क्रमशः सन् १६०५, १६०८ और १६११ में प्रकाशित कीं। अमरीका में गॉडार्ड महोदय ने बिने की १६०८ की बुद्धि की मापन विधि को स्वीकार कर सर्वप्रथम सन् १६१० में अमरीकन बालकों के लिए बुद्धि-परीक्षा प्रकाशित की। सन् १६१६ में टरमैन महोदय ने बिने की प्रणाली में आवश्यक संशोधन किया जो अमरीका में बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ। यह बुद्धि-परीक्षा वैयक्तिक परीक्षा प्रणाली थी। इनके अलावा अमरीका में इस प्रकार की 'वैयक्तिक परीक्षाएँ' बहुत प्रचलित हुईं। इसके साथ-साथ बहुत-सी 'सामूहिक-परीक्षाएँ' भी एक पूरी कक्षा अथवा वर्ग या व्यक्ति समूहों की बुद्धि की एक साथ परीक्षा के लिए आविष्कृत हुईं। उन बालकों के लिए जो अशिक्षित थे अथवा जिन्हें भाषा की कठिनाई थी, 'क्रिया-प्रश्न' या 'क्रियात्मक-परीक्षा' विधि अपनायी गयी। भारत में भी भारतीय बालकों के लिए प्रामाणिक बुद्धि-परीक्षाएँ (standard intelligence tests) अपनायी गयीं और स्वतन्त्रता के बाद इस दिशा में पर्याप्त विकास हुआ।

बुद्धि-परीक्षा के लिए दो अवधारणाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानी गयीं। उनमें से एक 'मानसिक आयु' और दूसरी 'बुद्धि-लब्धि' है। "मानसिक आयु एक व्यक्ति द्वारा प्राप्त विकास के विस्तार की वह अभिव्यक्ति है जो उसके कार्यों द्वारा व्यक्त होती है तथा सामान्यतः उन कार्यों को करने की क्षमता का वर्णन करती है जो उस व्यक्ति में उस विशिष्ट उम्र पर होनी ही चाहिए।" बुद्धि-लब्धि को प्राप्त करने के लिए मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग दिया जाता है तथा परिणाम को १०० से गुणा कर देते हैं, जो मान आता है, वही बुद्धि-लब्धि कहलाती है।

विभिन्न विद्वानों ने बुद्धि की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। उनमें भिन्नता होते हुए भी सभी ने एकमत से स्वीकार किया है कि बुद्धि, बुद्धि-परीक्षा द्वारा मापी जा सकती है। संक्षेप में, हम यह सकते हैं कि बुद्धि-परीक्षा निम्नलिखित तथ्यों की माप करती है—

१. सीखने की योग्यता।
२. नई समस्याओं एवं परिस्थितियों में अपने ज्ञान का समुचित प्रयोग।
३. सम्बन्धों को अनुभव करने की योग्यता एवं आवश्यकता की पहचान।
४. सम्यक् तर्क की योग्यता।

मनोवैज्ञानिकों के मत से बुद्धि तीन प्रकार की होती है—

१. अमूर्त—पुस्तकीय ज्ञान से व्यवस्थापन की योग्यता।
२. सामाजिक—समाज में व्यवस्थापन की योग्यता।
३. यान्त्रिक—यन्त्र आदि की विशिष्ट योग्यता।

बुद्धि के बारे में बहुत से सिद्धान्त प्रचलित हैं। उनमें से निम्नलिखित चार मुख्य रूप से प्रसिद्ध हैं—

१. एक-खण्ड सिद्धान्त—बिने, टरमैन आदि के द्वारा समर्थित।
२. द्वि-खण्ड सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रणेता स्पीयरमैन महोदय थे।
३. त्रि खण्ड सिद्धान्त—यह द्वि-खण्ड सिद्धान्त का ही संशोधित और परिवर्द्धित रूप है।
४. बहु-खण्ड सिद्धान्त—थॉर्नडाइक महोदय के द्वारा प्रतिपादित।

आधुनिक काल में बुद्धि-परीक्षा विभिन्न क्षेत्रों में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुई है। इसका उपयोग इन बातों में दिखाई पड़ता है—(१) मन्द बुद्धि बालकों का पता लगाने में, (२) बाल अपराधियों ■ व्यवहार में, (३) शिक्षा में उपयोग में, (४) विशिष्ट वर्गों के अध्ययन में, (५) उद्योग में। इन बुद्धि-परीक्षाओं का प्रयोग बड़ी ही सावधानी और सतर्कता से करना चाहिए। अच्छा तो यही होगा कि इनका आयोजन अनुभवी, सुशिक्षित और दक्ष व्यक्तियों द्वारा किया जाय।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. बुद्धि की 'वैयक्तिक परीक्षा' और 'सामूहिक परीक्षा' विधियों की तुलना करते हुए दोनों के हानि और लाभों पर प्रकाश डालिए।
२. प्रौढ़ व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि निकालने की विधि का वर्णन कीजिए।
३. मानसिक आयु और बुद्धि-लब्धि किसे कहते हैं ? किसी वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा के आधार पर मानसिक आयु और बुद्धि-लब्धि निकालने के प्रयत्न उदाहरण दीजिए।
४. बुद्धि-परीक्षा की उपयोगिता और उसके दोषों पर प्रकाश डालिए।
५. बुद्धि के स्वरूप के बारे में थर्स्टोन और थॉर्नडाइक के सिद्धान्तों की तुलना कीजिए।
६. बुद्धि की किस परिभाषा को आप सबसे अधिक उपयुक्त समझते हैं और क्यों ? स्पष्ट विवेचना कीजिए।
७. जाति, लिंग एवं राष्ट्र के आधार पर बुद्धि-लब्धि हमें क्या सूचना देती है ?

सहायक पुस्तकों की सूची

१. कैटल, आर० बी० : गाइड टु मेण्टल टेस्टिंग, युनीवर्सिटी ऑफ लन्दन प्रेस, लन्दन, १९४८।
२. ग्राहम एल० टी० : एलीमेण्ट्स ऑफ साइकोलॉजिकल टेस्टिंग, हार्पर, १९४६।
३. फ्रीमैन, एफ० एन० : मेण्टल टेस्ट्स, हाउटन मिफ्लिन, बोस्टन, न्यूयार्क, १९३९।

४. गुडनवों, एफ० एल० : मेण्टल टेस्टिंग, रेनहार्ट एण्ड कं०, न्यूयार्क, १६४६ ।

५. स्पीयरमैन, सी० : दि नेचर ऑफ इण्टेलिजेंस एण्ड दि प्रिंसिपुल्स ऑफ कॉग्नीशन, मैकमिलन, न्यूयार्क, १६२३ ।

६. टरमैन, एल० एम० एण्ड मेरिल, एम० ए० : मेजरिंग इण्टेलिजेंस, हाउटन मिफलिन, बोस्टन, १६३७ ।

७. थॉर्नडाइक, एल० एल० : प्राइमरी मेण्टल एबिलिटीज, यूनी० ऑफ शिकागो प्रेस, १६३८ ।

२०

व्यक्तित्व[1]

व्यक्तित्व का व्यवस्थापन एवं अव्यवस्थापन
(Personality Adjustment and Maladjustment)

व्यक्तित्व की सामान्य धारणा (Concept of Personality)—'व्यक्तित्व' शब्द का उद्‌गम लैटिन भाषा के 'पर्सनेअर' (personare) शब्द से माना गया है जिसका तात्पर्य ध्वनि करने के सहाय से है। 'व्यक्तित्व' शब्द एक पात्र की आवाज को भी व्यक्त करता है जो वेश बदले हुए होता है। ईसा से एक सदी पूर्व 'पर्सोना' (persona) शब्द व्यक्ति के कार्यों को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। अधिकतर नाटकों आदि में इस शब्द की महत्ता थी। किन्तु वर्तमान काल में प्रायः 'व्यक्तित्व' शब्द से हमारा तात्पर्य ऐसे गुणों के संगठन से है जिसमें बहुत-से मानवीय गुण अन्तर्निहित और संगठित होते हैं। किन्तु व्यक्तित्व का यह विचार मानवीय गुणों के बारे में हमें कोई निश्चित भाव नहीं देता। कुछ व्यक्ति अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं कि व्यक्तित्व में वे सभी बातें आती हैं जिनको लेकर एक व्यक्ति पैदा होता है। जिनको वातावरण प्रभावित नहीं कर पाता और जो व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया में झलकती हैं। कुछ अन्य व्यक्ति व्यक्तित्व की परिभाषा इस प्रकार देते हैं कि—व्यक्तित्व ही व्यक्ति है। किन्तु व्यक्ति और व्यक्तित्व—दो अलग-अलग शब्द हैं जिनका एक-दूसरे से सम्बन्ध होते हुए भी बहुत विभेद है। यही नहीं कुछ व्यक्ति व्यक्तित्व के बारे में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि व्यक्तित्व मानवीय व्यवहार के प्रतिमान हैं जो

1. Personality.

किसी परिस्थित-विशेष के प्रत्युत्तर में किये जाते हैं और इनका उस परिस्थिति-विशेष से अलग कोई अस्तित्व नहीं होता है।

इस प्रकार विभिन्न मतों का मूल्याङ्कन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि व्यक्तित्व सम्बन्धी सामान्य विचार बहुत ही व्यापक हैं और विभिन्न व्यक्ति उन्हें विभिन्न मतानुसार स्पष्ट करते हैं। अतः संक्षेप रूप में व्यक्तित्व को स्पष्ट करना बड़ा ही दुस्तर कार्य है, किन्तु निम्न व्याख्या में हम व्यक्तित्व की सही परिभाषा क्या हो सकती है, इस पर विचार करेंगे, जिससे बहुत-से मनोवैज्ञानिक सहमत हो सकते हैं।

व्यक्तित्व की परिभाषा (Definition of Personality)

व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के लिए बहुत से प्रयत्न किये गये हैं किन्तु उनमें से जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं और आवश्यक उनका यहाँ विवेचन किया जायगा। यथा—

वारेन की व्याख्या[1]—"व्यक्तित्व व्यक्ति का सम्पूर्ण मानसिक संगठन है जो उसके विकास की किसी भी अवस्था में होता है।" वारेन का यह कथन सर्वथा सत्य नहीं क्योंकि व्यक्ति की रचना, ऐसे समूहों से, भावों में, और संगठनों से नहीं होती जो कुछ मानसिक और कुछ शारीरिक होते हैं, किन्तु इसके विपरीत व्यक्तित्व की क्रिया बड़ी ही उलझी हुई है और वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। यह परिभाषा मानसिक और शारीरिक को एक-दूसरे से अलग कर देती है। यह स्थिति हमें स्वीकार नहीं है।

रैक्स की व्याख्या[2]—"व्यक्तित्व समाज द्वारा मान्य तथा अमान्य गुणों का संतुलन है।" यह परिभाषा भी उपयुक्त नहीं है। जैसा कि परिभाषा के विश्लेषण द्वारा हमें पता लगता है, यह परिभाषा हमारे सामने व्यक्तित्व का एक स्थिर मत उपस्थित करती है। साथ ही साथ यह व्यक्तित्व को अत्यन्त सरल रूप भी देती है जो निर्धारण में द्वन्द्वात्मक अथवा द्विअर्थी बन जाता है।

डैशील की निम्न व्याख्या अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। इस परिभाषा के अनुसार व्यक्ति का व्यक्तित्व "उसकी प्रतिक्रियाओं का एक ढंग है और इन प्रतिक्रियाओं की सम्भावनाएँ परिवेश में किये गये-अन्य सामाजिक प्राणियों द्वारा मानी जाती हैं। यह व्यक्ति के व्यवहारों का एक समायोजित संकलन है जो व्यक्ति

1. Definition of Warren H. C., *Elements of Psychology*, "Personality is the entire mental organization of a human being at any stage of his development."
2. Definition of Rex Road, *General Psychology*, "The balance between socially approved and disapproved traits."

अपने सामाजिक व्यवस्थापन के लिए करता है।"[1] इस प्रकार यह परिभाषा व्यक्तित्व की प्रतिक्रियाओं और व्यवहारों का ढंग बताती है। साथ ही साथ इसमें व्यक्ति को ही महत्वपूर्ण नहीं समझा गया है, किन्तु परिवेश के अन्य प्राणियों को भी सम्मिलित किया गया है। अतः इस परिभाषा को हम संगत कह सकते हैं, क्योंकि यह व्यक्ति पर पूर्णरूपेण प्रकाश डालती है। विश्वासपूर्ण ढंग से भी यह सत्य है कि मानव व्यक्तित्व तभी समझा जा सकता है जब व्यक्ति अन्य प्राणियों के सम्पर्क में आकर प्रतिक्रिया और प्रत्युत्तर करता है।

गार्डन ऑलपोर्ट (१९३७) की व्यक्तित्व सम्बन्धी परिभाषा भी जो लगभग ५० परिभाषाओं के अध्ययन के आधार पर की गई है, यहाँ पर प्रस्तुत करने योग्य है। ऑलपोर्ट ने व्यक्तित्व की परिभाषा करते हुए संकेत किया है कि—"व्यक्तित्व एक क्रियाशील संगठन है, जो व्यक्ति के मनो-शारीरिक ढंगों को निश्चित करता है जिन्हें कि वह बाह्य पर्यावरण में अपने आप को स्थित करने में अनोखे रूप से अपनाता है।"[2] यह परिभाषा इस बात पर महत्व देती है कि व्यक्तित्व का विकास व्यवस्थापन क्रिया पर आधारित है। इस प्रकार व्यक्ति की आवश्यकतायें उसके व्यवहार को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए प्रेरक होती हैं। लक्ष्य-प्राप्ति में यदि एक या दो बार भी प्राणी को उसके व्यवहार में असफलता मिलती है तो उसके व्यक्तित्व के सम्यक् विकास में बाधा पड़ती है और उसका व्यक्तित्व तब तक व्यवस्थित नहीं होता जब तक कि उसकी इच्छाओं की दिशा बदल कर उन्हें सन्तुष्ट न कर दिया जावे। यह परिभाषा भी सन्तोषजनक है क्योंकि स्पष्ट रूप से व्यक्तित्व को प्रकट करती है और उस पर प्रकाश डालती है।

वे परिभाषाएँ जो व्यक्तित्व की स्पष्ट और सही रूप में व्याख्या करती हैं, व्यक्तित्व को क्रियाशील बनाती हैं, व्यवस्थित (integrated) व्यवहार की ओर इंगित करती हैं तथा व्यक्ति के वंशानुक्रमित और वातावरण (inherited and environmental potentialities) के महत्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं।

व्यक्तित्व का विकास (Development of Personality)

नवजात शिशु अपने साथ कुछ वंशार्जित शक्तियों को लेकर आता है जिनके

---

1. Individual's personality is defined as, "His system of reactions and reaction-possibilities in toto as viewed by fellow members of Society. It is the sum-total of behaviour trends manifested in his social adjustment."—Dashiell, I. F. : *Fundamentals of Objective Psychology*.
2. "Personality is the dynamic organization with the individual of those Psycho-physical system that determine his unique adjustment to the enviroment."—Allport, H. W. : *Personality : A Psychological Introduction*, p. 46.

द्वारा उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। इस नवजात शिशु का कोई भी स्पष्ट व्यक्तित्व नहीं होता। शिशु एक प्राणी है और प्राणीत्व को विकसित करने के लि जैसे ही अपने व दूसरे के व्यवहारों के प्रभावों को समझना आरम्भ करता है उसका व्यक्तित्व विकसित हो उठता है, और ज्यों ही दूसरे प्राणी उसके लिए व्यक्ति हो जाते हैं, वे उसके लिए पर्यावरण की वस्तु नहीं रहते। उसी समय से शिशु के व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

व्यक्तित्व निश्चित और चिर-स्थायी वस्तु नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वंश-परम्परा का व्यक्तित्व के विकास में बहुत ही थोड़ा भाग होता है। प्रायः व्यक्ति के दिन-प्रतिदिन के अनुभव, वातावरण का प्रकार जिसमें कि व्यक्ति विकसित हो चुका है, और वे सभी सुविधायें और अवसर जो उसे दिए जाते हैं, उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उत्तरदायी होते हैं। बालक दिन के प्रत्येक क्षण में अपने व्यक्तित्व को विकसित करता है। व्यक्तित्व के विकास में नाना प्रकार के प्रभाव व्यक्ति के ऊपर असर डालते हैं। हम इनको निम्न चार स्तम्भों में बाँट सकते हैं—शरीर (physique), ग्रन्थि-रचना (chemique), वातावरण के तत्त्व (environmental factors, और सीखना (learning)। इन स्तम्भों का वर्णन हम व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों के रूप में भी कर सकते हैं।

चित्र—६१

[यह बालक अपनी आयु के औसत बालकों की अपेक्षा अधिक बुद्धि वाला या अधिक बलशाली है। क्योंकि अपनी योग्यता के अनुसार इसे काम करने के अवसर मिल गये हैं; इसलिए इसके व्यक्तित्व का विकास उचित दिशा में हो रहा है।]

व्यक्तित्व के निर्धारक (Determinants of Personality)

(अ) शरीर (Physique)—यद्यपि शरीर के बाह्य रूप—शक्ति, सुगठित रचना, माप, उचित अनुपात आदि—व्यक्तित्व के स्पष्ट संकेत नहीं हैं किन्तु फिर भी यह सब अस्पष्ट रूप में व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। एक ठिगने कद का बालक, जिसके अन्य साथी उसके ठिगनेपन पर उसका मजाक उड़ाते हैं और फलतः उसके अन्दर यह विचार आ जाता है कि उसका ठिगनापन उसमें भारी कमी है, कद और माप को अधिक महत्ता देने लगेगा जबकि इतनी अधिक महत्ता को आवश्यकता नहीं होगी। इसी प्रकार एक मोटा बालक या बालिका मोटेपन को एक भारी अभिशाप समझते हैं, यदि इस सम्बन्ध में उसकी हँसी उड़ायी जाती है। इस प्रकार उस बालक अथवा बालिका में एक अलग व्यक्तित्व का विकास (Emotional imbalance) हो जाता है जबकि साधारण रूप में उनके व्यक्तित्व का विकास दूसरी प्रकार से होता है। इस प्रकार शारीरिक रचना का अस्पष्ट रूप में व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है, यद्यपि स्पष्ट रूप में शारीरिक रचना का कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता जो व्यक्तित्व पर प्रभाव डालता हो। एक व्यक्ति के प्रति जो व्यवहार उसके साथियों द्वारा किये जाते हैं और उनका आधार व्यक्ति की शारीरिक रचना होती है, वे सब उसके उन गुणों के समूह पर प्रभाव डालते हैं जो उसके व्यक्तित्व के अंग होते हैं।

व्यक्ति का बुद्धिमान अथवा मूढ़ होना भी यह स्पष्ट करता है कि कहाँ तक वह व्यक्ति सामाजिक मान्यता और व्यवहार के प्रतिमान से सामंजस्य स्थापित करने के योग्य है। इस प्रकार एक निम्न बुद्धि-स्तर का व्यक्ति अपने आपको समाज में व्यवस्थापित करने में असमर्थ होगा। अतः उसके व्यक्तित्व के गुण भी एक साधारण व्यक्ति के समान नहीं होते हैं।

[चित्र—६४]

किसी विशेष रुचि का होना भी यह बताता है कि वह व्यक्ति एक विशेष दिशा की ओर अपने व्यवहारों को उतना संलग्न किये हुए है जितना कि दूसरे नहीं कर पाते। एक बुद्धिमान कलाकार अपनी कला पर स्वामित्व रखता है और इस प्रकार दूसरों की अपेक्षा किसी विशेष ढंग से वस्तु के सम्पर्क से उत्तेजित

हो उठता है। उदाहरणस्वरूप, एक अभिनेता जो अपने कार्यों से भली प्रकार परिचित है, अपने व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार के गुण रखेगा; जैसे अधिक संवेगात्मक प्रवृत्ति, (emotional imbalance), क्षणभंगुर (moodiness) प्रवृत्ति आदि। उसके ये गुण साधारण व्यक्ति से अलग होंगे। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक अभिनेता इस प्रकार का नहीं होता। अधिकतर अभिनेता न कुछ होते हुए भी दिखावट को पसन्द करते हैं।

(ब) ग्रन्थि-रचना (Chemique)—ग्रन्थि-रचना से हमारा तात्पर्य यह है कि आन्तरिक ग्रन्थिस्राव का व्यक्तित्व के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ? अध्ययन से प्रतीत होता है कि जब तक ये ग्रन्थियाँ अपने उचित रूप में कार्य करती रहती हैं, व्यक्तित्व पर उनका बहुत ही अल्प प्रभाव पड़ता है। लेकिन जब कभी इनमें से कोई ग्रन्थि अपने उचित रूप में कार्य नहीं कर पाती, तब अस्पष्ट रूप से इसका प्रभाव व्यक्ति के व्यवहारों और व्यक्तित्व पर पड़ता है। इस सम्बन्ध में हम संवेग के अध्याय में वर्णन कर चुके हैं।

(स) पर्यावरण का प्रभाव (Environmental Influences)—सामाजिक अथवा पर्यावरण सम्बन्धी तत्त्व भी मानव के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते हैं। हमने व्यक्तित्व की परिभाषाओं का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप में संकेत किया है कि हम उस परिभाषा को पूर्ण अथवा शुद्ध समझते हैं जिसमें पर्यावरण के अन्य मानवों पर भी विचार किया गया हो, जो व्यक्ति के चारों ओर होते हैं। इस परिभाषा ने पूर्णरूपेण पर्यावरण अथवा वातावरण पर बल दिया है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर पर्यावरण, जिसमें कि व्यक्ति रखा जाता है, और वह अनुभव जो दूसरों के सम्पर्क के कारण उसमें उत्पन्न होते हैं, अपना अमिट तथा स्पष्ट प्रभाव डालते हैं।

सामाजिक अथवा वातावरण के तत्त्व एक युवक के व्यक्तित्व तक को प्रभावित करते हैं। यह परिवर्तन दूसरों के व्यवहार के अध्ययन से सम्भव होता है, जैसा कि व्यवहार सम्बन्धी जो खोजें की गयी हैं वह हमें बताती हैं। व्यावहारिक प्रतिक्रिया-सम्बन्धी की गयी खोजें; जैसे—जिज्ञासा, नकारात्मक, ईर्ष्या, विरुद्धिताण और दास प्रवृत्ति; इस ओर संकेत करती हैं कि जीव-वैज्ञानिक तथा वातावरण सम्बन्धी तत्त्व एक शिशु की व्यक्तित्व-धारणाओं के लिए उत्तरदायी होते हैं।

व्यक्ति एक विशेष प्रकार का व्यक्तित्व अपने उस सामाजिक पर्यावरण, जिसमें उसका लालन-पालन होता है, और अपने सामाजिक अनुभव जो वह इस विकास [illegible] अवस्था में अर्जित करता है—के कारण बना लेता है; अर्थात् सामाजिक वातावरण और तत्कालीन अनुभव उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। वह परिवार जिसमें वह बड़ा होता है, उस पाठशाला के अध्यापक जिसमें वह विद्यारम्भ करता है, उस समुदाय के लोग जिनके सम्पर्क में आता है, उसके साथी—वास्तव में सब जो उसके सम्पर्क में आते हैं—अपना अमिट प्रभाव उसके ऊपर छोड़ देते हैं।

चित्र—६५ (अ)

ालक के ऊपर उसके जन्म के समय से ही उसके वातावरण के अन्य सदस्य भाव डालने लगते है। यदि यह प्रभाव अच्छा होता है तो बालक का व्यक्तित्व च्छे ढग से विकसित होता है अन्यथा इनमे दोष आ जाते हैं चित्र ६५ (अ) मे दे बालक गम्भीर एव कुछ चिन्ता ग्रस्त मुद्रा मे हैं छोटे बालक पर इसका प्रभाव कता है और वह भी गम्भीर शान्ति प्रकृति वाला जैसा चित्र ६५ (ब) मे खाया है, हो जाता है। परन्तु यदि उसको ऐसे बालको का सहवास मिला ता जो हँसोड़ एव प्रसन्न चित्त रहने वाले होते तो उसका व्यक्तित्व भी इस ार विकसित होता जैसा चित्र ६५ (स) की बालिकाओं का दिखाया गया है।

चित्र—६५ (ब)

चित्र—६५ (स)
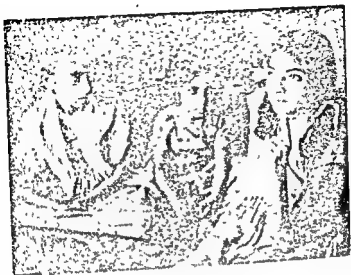
(१) कुटुम्ब का प्रभाव—कुछ ऐसे सामाजिक सम्पर्क हैं जो व्यक्तित्व-विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से ही कौटुम्बिक प्रभावों का मूल्य है। माता-पिता का बालक के प्रति व्यवहार, माँ-बाप का एक-दूसरे के प्रति व्यवहार, दूसरों के प्रति व्यवहार घटनाएँ और उद्देश्य आदि सभी बालक के विकासमय व्यक्तित्व पर छाप डालते हैं। स्कॉट (Scott) का ग्राम्य क्षेत्र नेब्रास्का (Nebraska) के किशोरों के ऊपर किया गया अध्ययन पारिवारिक जीवन के प्रभावों के ऊपर भली-भाँति प्रकाश डालता है। ये किशोर हाईस्कूल श्रेणी के थे। कुछ तत्व; जैसे—पारिवारिक, सामूहिक जीवन, कुछ अन्य कार्य जो माँ से दूर किये गये थे; दण्ड, संवेगात्मक नियन्त्रण (emotional control), माता-पिता का स्वास्थ्य आदि, ने किशोरों के सामाजिक अनुकूलन (social adjustment) पर आशाजनक प्रभाव उत्पन्न किया।

परिवार, परिपक्वता एवं द्वन्द्व (Family, Maturity and Conflicts)—बालक समयानुसार शारीरिक परिपक्वता के कारण विवाह की आयु पर पहुँच जाता है। इस आयु तक पहुँचने में उसके व्यक्तित्व पर माता-पिता, मित्रगण, संस्कार एवं संस्कृति का ऐसा प्रभाव पड़ चुका होता है जो कि उसके सम्मुख एक अपने तथा अपने जीवन साथी के व्यवहार की रूपरेखा की प्रतिमा बना देता है। वह यह भी अपने मन में निर्धारित कर लेता है कि उसे किस रूप-रंग एवं आचरण का जीवन साथी चाहिए।

जब व्यक्ति विवाह करता है तो अपने मन की प्रतिमा के अनुरूप ही अपने जीवन साथी से व्यवहार की आशा करता है। जब ऐसा व्यवहार उसे नहीं मिलता तो द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

प्रत्येक विवाह एक प्रयोजनशील प्रक्रिया है। प्रयोजन दूसरे व्यक्ति पर आधिपत्य, यौन तुष्टि, आर्थिक सुरक्षा, इत्यादि हो सकते हैं। यदि इन प्रयोजनों की प्राप्ति में बाधा पड़ती है तब द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं जो तलाक तक का रूप ले लेते हैं।

अधिकतर व्यक्ति विवाह के पश्चात् आपसी व्यवस्थापन कर लेते हैं। वह एक दूसरे की आशाओं के अनुरूप रहना सीख लेते हैं और एक-दूसरे की आदतों से अनुकूलन कर लेते हैं। बर्गेस एवं वालिन (Burgess and Wallin) के अध्ययन इस ओर तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि अधिकतर व्यवहार का रूपान्तर और दूसरे के अनुकूल अपने को बनाना पत्नी द्वारा ही होता है।[1] शायद ऐसा स्त्रियों को प्रारम्भ से ही यह सोखने के कारण होता है कि वह पुरुषों से हीन हैं अथवा उनको प्रसन्न रखना ही उनका कार्य है।

विवाहित जीवन में जो अनेकों प्रकार के द्वन्द्व होते हैं उनका वर्णन हम आगे इस प्रकार कर सकते हैं :—

1. Burgess E. W., and Paul Wallin : *Engagement and Marriage*, Philadelphia, Lippincott, 1953, pp. 432-434.
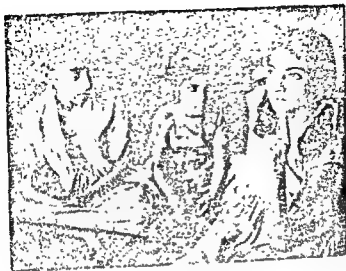
चित्र—६५ (ब)

चित्र—६५ (स)

है। यदि पाठशाला में योग्य शिक्षक हैं, सन्तोषजनक कुर्सी, मेज आदि तथा कक्षाओं की व्यवस्था है, अच्छा क्रीड़ास्थल है तो यह सम्भावना की जा सकती है कि बालक अपने व्यक्तित्व का यथासम्भव विकास कर सकता है। यदि पाठशाला में रुचिपूर्ण विषयों का प्रबन्ध नहीं है तो यह सम्भव है कि बालक के व्यक्तित्व-विकास पर गहरा प्रभाव पड़े।

चित्र—६६ (अ)

[बालक के व्यक्तित्व के विकास में जन्म के समय से ही उसकी माता,

चित्र—६६ (ब)

उसके साथी, उसके अध्यापक तथा कुटुम्ब के अन्य सदस्य

(i) प्रतिक्रिया द्वन्द्व (Response Conflict)—बाल्यावस्था में विभिन्न प्रकार से पाले जाने के कारण पुरुष तथा स्त्री की प्रेमपूर्ण व्यवहार की प्रत्याशाएँ विभिन्न होती हैं। यह ही द्वन्द्व का कारण बन जाती है। एक स्त्री अपने पति को इसलिए तलाक देना चाहती थी कि उसका पति यौन-समागम के समय तथा और समय कम बोलता था। इस स्त्री की *प्रत्याशा जो अपने माता-पिता के व्यवहार के देखने से उसमें उत्पन्न हुई थी,* यह थी कि उसका पति बहुत वाचाल हो।

(ii) आधिपत्य द्वन्द्व (Dominance Conflict)—विवाहित जीवन में बहुत गम्भीर द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं जबकि पति तथा पत्नी—दोनों एक-दूसरे को दबा देना चाहते हैं। *हमारी संस्कृति में पत्नी अनुयायी की स्थिति में होती है और पति नेता* की। किन्तु यदि पत्नी नेता बनना चाहने लगती है तो द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं।

(iii) यौन-सम्बन्धी द्वन्द्व (Sex Conflicts)—यौन की तृप्ति विवाह का एक मुख्य लक्ष्य होता है। यदि यह नहीं हो पाती तो द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाते हैं। किन्तु *यह याद रखना चाहिए कि कभी-कभी द्वन्द्व यौन सम्बन्धी न होकर किन्हीं और कारणों* से भी प्रारम्भ हो जाते हैं। बाद में अपने साथी को सजा देने के विचार से व्यक्ति यौन सम्बन्ध से इन्कार कर देता है।

विवाहित द्वन्द्व एवं व्यक्तिगत द्वन्द्व (Marital Conflicts & Personal Conflicts)—*विवाहित जीवन की कठिनाई मूल रूप से एक व्यक्ति की कठिनाई* है। अनेक अध्ययनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विवाहित जीवन के द्वन्द्व एक व्यक्ति के ही कारण प्रारम्भ होते हैं। बहुधा इस व्यक्ति के अन्दर द्वन्द्वात्मक *मूल्य तथा प्रत्याशाएँ वैवाहिक जीवन सम्बन्धी होती हैं। जैसे एक पति चाहता है कि* उसकी पत्नी नौकरी भी करे और पर-पुरुष से बात भी न करे। उसके स्वयं के अन्दर आधुनिक तथा परम्परागत विचारों का द्वन्द्व है जिसके कारण बेचारी पत्नी कठिनाई में पड़ती है। यदि वह नौकरी करती है तो पति नाराज है, *नहीं करती है तो भी पति* नाराज रहता है। स्पष्ट है कि द्वन्द्व का जिम्मेदार केवल पति ही है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि एक व्यक्ति के वैवाहिक जीवन की व्याख्या उसके व्यक्तित्व के द्वारा की जा सकती है। जितना परिपक्वता तक व्यक्तित्व का निर्धारण हो चुका होता है *वह उसके विवाहित जीवन पर प्रभाव डालता है।* और उसका विवाहित जीवन बालकों के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालता है। अतएव विवाहित जीवन के द्वन्द्व भी व्यक्तित्व को प्रभावित करने के क्षेत्र में आते हैं।

एक व्यक्तित्व जो ठीक से संगठित नहीं है, परिवार में बालकों पर *निश्चय ही दूषित प्रभाव डालता है। बालकों के व्यक्तित्व के निर्धारण में यह प्रभाव महत्व*-पूर्ण होते हैं।

(२) पाठशाला का पर्यावरण—परिवार के प्रभावों के ही समान पाठशाला का पर्यावरण भी बालक के विकासोन्मुख (*developing*) *व्यक्तित्व* पर प्रभाव डालता

है। यदि पाठशाला में योग्य शिक्षक हैं, सन्तोषजनक कुर्सी, मेज आदि तथा कक्षाओं की व्यवस्था है, अच्छा क्रीड़ास्थल है तो यह सम्भावना की जा सकती है कि बालक अपने व्यक्तित्व का यथासम्भव विकास कर सकता है। यदि पाठशाला में रुचिपूर्ण विषयों का प्रबन्ध नहीं है तो यह सम्भव है कि बालक के व्यक्तित्व-विकास पर गहरा प्रभाव पड़े।

चित्र—६६ (अ)

[बालक के व्यक्तित्व के विकास में जन्म के समय से ही उसकी माता,

चित्र—६६ (ब)

उसके साथी, उसके अध्यापक तथा कुटुम्ब के अन्य सदस्य

चित्र—६६ (स)

प्रभाव डालते हैं। विद्यालय में नाटक इत्यादि में भाग लेने के समय

चित्र—६६ (ब)

चित्र—६६ (इ)

अथवा प्रयोगशाला में कार्य करते समय भी उसके व्यक्तित्व पर ऐसे प्रभाव पड़ते रहते हैं जो उसे विकसित करने में सहयोग प्रदान करते हैं।]

(५) सीखना—इसमें सन्देह नहीं कि मानवीय शिक्षण या सीखना जीवन-पर्यन्त चलता रहता है, क्योंकि पग-पग पर हमें अनुभव होते हैं। ये संचित भी होते हैं और व्यक्तित्व पर प्रभाव भी डालते हैं। यही नहीं, प्रत्येक अनुभव के बाद व्यक्ति की मूल अवस्था व वर्तमान में परिवर्तन भी होता है। सच है कि यह परिवर्तन की मात्रा उस अनुभव के प्रकार पर निर्भर होती है, जो अनुभव किया जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के सीखने पर उन अनुभवों का प्रभाव पड़ता है, जिनके सम्पर्क में वह आता है। कुछ दशाओं में एक किताब, आलोचना, चलचित्र आदि या अन्य किसी प्रकार का अनुभव व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन उपस्थित कर सकता है। इस प्रकार इस विचार का प्रभाव हमारे व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है।

किसी भी कार्य का सीखना हो, सीखने में प्राप्त अनुभव व्यक्तित्व पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहते।

चित्र—६७ (अ)

[बालक चम्मच से खाना सीख रहा है]

चित्र—९७ (घ)

[स्टूल पर चढ़ना सीख रहा है]

चित्र—९७ (ङ)

[ट्राइसिकिल चलाना सीख रहा है। ये सब अनुभव उनके व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।]
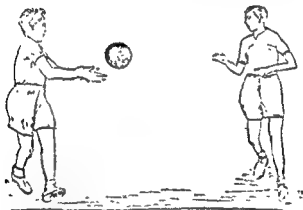
चाहिए। मनोवैज्ञानिकों का गुण से तात्पर्य 'व्यवहार करने के ढंग से है।' वुडवर्थ ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है, "व्यक्तित्व गुण हमारे व्यवहार का एक मुख्य प्रकार का ढंग है, जैसे प्रसन्नता या आत्मविश्वास आदि—जो कुछ समय तक तो हमारे व्यवहार के गुण ही होते हैं किन्तु कुछ दिनों बाद हमारे जीवन के एक आवश्यक अंग बन जाते हैं।" वुडवर्थ व्यक्तित्व को इन्हीं गुणों का योग बताता है लेकिन इसके साथ ही साथ वह आगे यह भी बताता है कि व्यक्तित्व का तात्पर्य इस योग से कुछ अधिक भी है, अर्थात् केवल योग ही व्यक्तित्व का तात्पर्य नहीं है, इस योग से कुछ अधिक भी है अर्थात् केवल योग ही व्यक्तित्व नहीं है वरन् व्यक्तित्व में कुछ और भी गुण सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति जो प्रसन्न और आत्मविश्वासी है या दुखी है, इसका तात्पर्य केवल यही नहीं है कि वह इस प्रसन्नता, आत्मविश्वास या दुख का योग है, वरन् वास्तव में वह इससे भी कुछ अधिक है।

व्यक्तित्व के प्रकार (Kinds of Personality)

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के आधार पर हम निम्न प्रकार से व्यक्तित्व के प्रकार का वर्णन कर सकते हैं—

(१) चार प्रकार के स्वभाव—हिप्पोक्रेट्स (Hippocrates), ४०० बी० सी० और उसके बाद गालिन, १५० ए० डी०, ने शारीरिक स्वभाव के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया। इनके अनुसार चार समूह इस प्रकार हैं—

(अ) मन्द या कफ वाले (Phelgmatic)—वे लोग जो धीमे, निर्बल और निरुत्तेजित होते हैं।

(ब) उदासीन (Melancholic)—वे लोग जो निराशावादी होते हैं।

(स) क्रोधी (Choleric)—वे लोग जो शीघ्र ही क्रोधित हो जाते हैं।

(द) आशावादी (Sanguine)—वे लोग जो बहुत ही शीघ्र कार्य करते हैं और प्रसन्न रहते हैं।

बहुत-से कारणों से इस सिद्धान्त पर अधिक समय तक विश्वास न किया जा सका और अब हम इसे स्वीकार नहीं करते हैं।

(२) शारीरिक प्रकार—क्रेचमर (Kretchner) ने ४०० व्यक्तियों के अध्ययन के आधार पर, जो मानसिक दोषयुक्त थे, व्यक्तियों को चार समूहों में उनकी शारीरिक रूपरेखा के अनुसार विभक्त किया—

(अ) हृष्ट-पुष्ट (Athletic)—वे जो शक्तिवान होते हैं और इच्छानुसार व्यवस्थापन कर लेते है, कार्य में रुचि लेते हैं और दूसरी वस्तुओं की चिन्ता बहुत थोड़ी करते हैं।

(ब) निर्बल (Asthemic)—इस प्रकार के व्यक्ति लम्बे और पतले होते हैं, दूसरे की निन्दा करते हैं किन्तु अपनी निन्दा के प्रति सजग रहते हैं।

(स) विकनिक (Pyknik)—इस प्रकार के लोग मजबूत तथा छोटे होते हैं ।, दूसरे लोगों के साथ सरलता से मिल जाते हैं।

(द) स्थिर बुद्धि (Dysplastic)—इस प्रकार के लोगों का शरीर असाधारण होता है।

(३) शारीरिक गुणों पर आधारित वर्गीकरण (Soma Types)—यह वर्गीकरण शेल्डन (Sheldon) ने भी शारीरिक गुणों के आधार पर किया है। इस वर्गीकरण का आधार—शेल्डन का शरीर विज्ञान तथा शरीर विकास विज्ञान Morophology) के आधार पर ४००० व्यक्तियों का अध्ययन है।

(अ) कोमल तथा गोल शरीर वाले (Endomorphic)—इस प्रकार के व्यक्ति अत्यन्त कोमल किन्तु देखने में मोटे लगते हैं और उनका व्यवहार उनकी आंतो की आन्तरिक शक्तिशाली पाचन-शक्ति पर निर्भर होता है।

(ब) हृष्ट-पुष्ट (Mesomorphic)—यह वे लोग होते हैं जो पूर्ण रूप से शक्तिवान होते हैं, इनका शरीर भारी तथा मजबूत होता है और खाल पतली होती है।

(स) शक्तिहीन (Ectomorphic)—इस श्रेणी में शक्तिहीन व्यक्ति होते हैं। किन्तु इनमें उत्तेजनशीलता अधिक होती है जिसके कारण बाह्य जगत में वे अपनी क्रियाओं को शीघ्रता से करते हैं।

शेल्डन (Sheldon)[1] का मत है कि शरीर के गुणों पर आधारित वर्गीकरण के व्यक्ति विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएँ रखते हैं और विभिन्न प्रकार के व्यवहार को भी पसन्द करते हैं।

व्यक्तित्व के वर्गीकरण के कुछ अन्य भी आधार है; जैसे—आन्तरिक प्रकार (Endocrine Types), जीव-विज्ञान के अनुसार (Biological Types); फ्रायड के अनुसार (Fruedian Types)। हम इनका वर्णन यहाँ पर नहीं करेंगे, क्योंकि यह हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। अब हम युंग के द्वारा किये वर्गीकरण पर, जो महत्वपूर्ण है, विचार करेंगे।

अन्तर्मुखी, विकासोन्मुख एवं बहिर्मुखी (Introvert, Ambivert and Extrovert Types)—युंग के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम सम्पूर्ण व्यक्तियों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। इन दो भागों के साथ तीसरा प्रकार भी बाद में जोड़ दिया गया क्योंकि सम्पूर्ण व्यक्ति इन दो भागों के अन्दर नहीं आ सकते थे।

(अ) बहिर्मुखी व्यक्तियों की मुख्य विशेषताएँ (Charcteristics of Extroverts)—बहिर्मुखी वे व्यक्ति होते हैं जिनकी रुचि बाह्य जगत में होती है। बहिर्मुखी व्यक्ति की विशेषताओं को हम निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

(१) कार्य करने की दृढ़ इच्छा और बहादुरी के कार्यों में रुचि रखते हैं।

(२) शासन करने का स्वभाव, शीघ्र न घबराने वाले।

1. W. H. Sheldon (etal.): *The Varieties of Human Physique*; Harper, N. Y.; 1940.

चाहिए। मनोवैज्ञानिकों का गुण से तात्पर्य 'व्यवहार करने के ढंग से है।' वुडवर्थ ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है, "व्यक्तित्व गुण हमारे व्यवहार का एक मुख्य प्र का ढंग है, जैसे प्रसन्नता या आत्मविश्वास आदि—जो कुछ समय तक तो ह व्यवहार के गुण ही होते हैं किन्तु कुछ दिनों बाद हमारे जीवन के एक आवश्यक बन जाते हैं।" वुडवर्थ व्यक्तित्व को इन्हीं गुणों का योग बताता है लेकिन इ साथ ही साथ वह आगे यह भी बताता है कि व्यक्तित्व का तात्पर्य इस योग से कु अधिक भी है, अर्थात् केवल योग ही व्यक्तित्व का तात्पर्य नहीं है, इस योग से कु अधिक भी है अर्थात् केवल योग ही व्यक्तित्व नहीं है वरन् व्यक्तित्व में कुछ और गुण सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति जो प्रसन्न और आत्मविश्वासी है दुखी है, इसका तात्पर्य केवल यही नहीं है कि वह इस प्रसन्नता, आत्मविश्वास दुख का योग है, वरन् वास्तव में वह इससे भी कुछ अधिक है।

व्यक्तित्व के प्रकार (*Kinds of Personality*)

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के आधार पर हम निम्न प्रकार से व्यक्तित्व के प्रका का वर्णन कर सकते हैं—

(१) चार प्रकार के स्वभाव—हिप्पोक्रेट्स (Hippocrates), ४०० बी० सी० और उसके बाद गालिन, १५० ए० डी०, ने शारीरिक स्वभाव के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया। इनके अनुसार चार समूह इस प्रकार हैं—

(अ) मन्द या कफ वाले (Phelgmatic)—वे लोग जो धीमे, निर्बल और निरुत्तेजित होते हैं।

(ब) उदासीन (Melancholic)—वे लोग जो निराशावादी होते हैं।

(स) क्रोधी (Choleric)—वे लोग जो शीघ्र ही क्रोधित हो जाते हैं।

(द) आशावादी (Sanguine)—वे लोग जो बहुत ही शीघ्र कार्य करते हैं और प्रसन्न रहते हैं।

बहुत-से कारणों से इस सिद्धान्त पर अधिक समय तक विश्वास न किया जा सका और अब हम इसे स्वीकार नहीं करते हैं।

(२) शारीरिक प्रकार—क्रैचनर (Kretchner) ने ४०० व्यक्तियों के अध्ययन के आधार पर, जो मानसिक रोगयुक्त थे, व्यक्तियों को चार समूहों में उनकी शारीरिक रूपरेखा के अनुसार विभक्त किया—

(अ) हृष्ट-पुष्ट (Athletic)—वे जो शक्तिवान होते हैं और स्वयं अनुकूल व्यवस्थापन कर लेते हैं, कार्य में रुचि लेते हैं और दूसरी वस्तुओं की चिन्ता बहुत थोड़ी करते हैं।

(ब) निर्बल (Asthenic)—इस प्रकार के व्यक्ति लम्बे और पतले होते हैं, दूसरे की निन्दा करते हैं किन्तु अपनी निन्दा के प्रति सजग रहते हैं।

(स) गिरनिक (Pyknik)—इस प्रकार के लोग मजबूत तथा मोटे होते हैं और दूसरे लोगों के साथ सरलता से मिल जाते हैं।

(ब) स्थिर बुद्धि (Dysplastic)—इस प्रकार के लोगों का शरीर असाधारण होता है।

(३) शारीरिक गुणों पर आधारित वर्गीकरण (Soma Types)—यह वर्गीकरण शेल्डन (Sheldon) ने भी शारीरिक गुणों के आधार पर किया है। इस वर्गीकरण का आधार—शेल्डन का शरीर विज्ञान तथा शरीर विकास विज्ञान Morophology) के आधार पर ४००० व्यक्तियों का अध्ययन है।

(अ) कोमल तथा गोल शरीर वाले (Endomorphic)—इस प्रकार के व्यक्ति अत्यन्त कोमल किन्तु देखने में मोटे लगते हैं और उनका व्यवहार उनकी आँतों की आन्तरिक शक्तिशाली पाचन-शक्ति पर निर्भर होता है।

(ब) हृष्ट-पुष्ट (Mesomorphic)—यह वे लोग होते हैं जो पूर्ण रूप से शक्तिवान होते हैं, इनका शरीर भारी तथा मजबूत होता है और खाल पतली होती है।

(स) शक्तिहीन (Ectomorphic)—इस श्रेणी में शक्तिहीन व्यक्ति होते हैं। किन्तु इनमें उत्तेजनशीलता अधिक होती है जिसके कारण बाह्य जगत में वे अपनी क्रियाओं को शीघ्रता से करते हैं।

शेल्डन (Sheldon)[1] का मत है कि शरीर के गुणों पर आधारित वर्गीकरण के व्यक्ति विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएँ रखते हैं और विभिन्न प्रकार के व्यवहार को भी पसन्द करते हैं।

व्यक्तित्व के वर्गीकरण के कुछ अन्य भी आधार हैं; जैसे—आन्तरिक प्रकार (Endocrine Types), जीव-विज्ञान के अनुसार (Biological Types), फ्रायड के अनुसार (Fruedian Types)। हम इनका वर्णन यहाँ पर नहीं करेंगे, क्योंकि यह हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। अब हम युंग के द्वारा किये वर्गीकरण पर, जो महत्वपूर्ण है, विचार करेंगे।

अन्तर्मुखी, विस्तारोन्मुख एवं बहिर्मुखी (Introvert, Ambivert and Extrovert Types)—युंग के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम सम्पूर्ण व्यक्तियों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। इन दो भागों के साथ तीसरा प्रकार भी बाद में जोड़ दिया गया क्योंकि सम्पूर्ण व्यक्ति इन दो भागों के अन्दर नहीं आ सकते थे।

(अ) बहिर्मुखी व्यक्तियों की मुख्य विशेषताएँ (Charteristics of Extroverts)—बहिर्मुखी वे व्यक्ति होते हैं जिनकी रुचि बाह्य जगत में होती है। बहिर्मुखी व्यक्ति की विशेषताओं को हम निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

(१) कार्य करने की दृढ़ इच्छा और बहादुरी के कार्यों में रुचि रखते हैं।

(२) शासन करने का स्वभाव, शीघ्र न घबराने वाले।

---

1. W. H. Shelden (etal.): *The Varieties of Human Physique*; Harper, N. Y.; 1940.

(३) शान्त और आशावादी, परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुकूल अपने को व्यवस्थित करने वाले।

(४) उनका ध्यान सदैव बाह्य समाज की ओर लगा रहता है, इसलिए आन्तरिक जीवन कष्टमय होता है। अपने शासकीय स्वभाव के कारण बाह्य क्रियाओं को अधिक महत्त्व देते हैं।

(५) वातावरण के प्रभाव से शीघ्र प्रभावित होते हैं। बहिर्मुखी के जीवन का उद्देश्य—अपने को वातावरण की आवश्यकताओं के अनुसार व्यवस्थापित करना होता है। उसके विचार स्वतन्त्र नहीं होते किन्तु बहुत-से लोगों के विचारों के ही अनुसार वह अपने विचारों का निर्माण करता है।

(६) आक्रामक, अहंवादी और अनियंत्रित होते हैं।

(७) उन गुणों को जानते हैं जिन्हें संसार में प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता है तथा उन्हें अपनाते हैं।

(८) धाराप्रवाह बोलने वाले और मित्रों जैसा व्यवहार करने वाले होते हैं।

(९) चिन्तामुक्त होते हैं।

(१०) प्रायः प्राचीनता के पोषक होते हैं।

(११) स्वयं की अस्वस्थता, पीड़ा आदि की चिन्ता नहीं करते हैं।

(ब) अन्तर्मुखी की विशेषताएँ (Characteristics of Introverts)—अन्तर्मुखी व्यक्ति वे व्यक्ति हैं जिनकी रुचि स्वयं में होती है और स्वयं के जीवन की ओर आन्तरिक रूप में मुड़ी होती है। अन्तर्मुखी की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं—

(१) अन्तर्मुखी कम बोलने वाले, लज्जाशील और पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने में रुचि लेते हैं।

(२) इनका व्यवहार आज्ञाकारी होता है, शीघ्र ही घबराने वाले होते हैं।

(३) शान्त स्वभाव के नहीं, किन्तु क्रोध करने वाले होते हैं। इनके अन्दर लचीलापन नहीं होता है।

(४) इनके अन्दर आत्मचिन्तन होता है जिससे दूसरों को प्रभावित करते हैं।

(५) अपने विचारों को अपने लिए रखते हैं।

(६) आज्ञाकारी, स्वयं के लिए चिन्तित, सन्देही एवं सावधान होते हैं।

(७) अधिक लोकप्रिय नहीं होते।

(८) अच्छे लेखक होते हैं, लेकिन अच्छे वक्ता नहीं होते और चुपचाप रहते हैं।

(९) चिन्ताग्रस्त रहते हैं।

(१०) वे प्रायः प्रतिक्रियावादी होते हैं। अपने विचारों को वास्तविकता के अनुकूल नहीं बनाते, वरन् वास्तविकता को अपने स्वभावानुसार मोड़ने का प्रयत्न करते हैं।

(१) अपनी वस्तुओं तथा कष्टों के प्रति सजग होते हैं।

स्पष्टतः कुछ ही इस प्रकार के व्यक्ति होते हैं जो पूर्णतया अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी होते हैं। बहुत-से लोग इस प्रकार के होते हैं जिनमे दोनों का मिश्रण होता है, और वे जीवन की आवश्यकताओं के लिए स्पष्ट निर्णय रखते हैं। इन्हें हम विकासोन्मुख कहते हैं। विकासोन्मुखी व्यक्ति एक स्थिति मे अन्तर्मुखी धारणाओ को विचार मे ला सकता है और दूसरी स्थिति में बहिर्मुखी विचारो को अपनी क्रियाओ में स्थान दे सकता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति अच्छा लेखक तथा वक्ता—दोनो हो सकता है—मित्रतापूर्ण व्यवहार करता हो किन्तु अकेले कार्य करना भी पसन्द करता हो। हम मे से बहुत-से व्यक्ति विकासोन्मुख प्रकार के ही होते हैं।

सत्य ही कहा है कि हर एक व्यक्ति कार्य करने की इच्छा रखता है किन्तु समुदाय के भय के कारण या हम कह सकते हैं कि समुदाय की इच्छा के कारण वह अपनी इच्छा को कुचल देता है। यदि व्यक्ति इन दोनों में सामंजस्य की भावना से कार्य करने की विचारधारा रखता है तो निस्सन्देह उसका व्यक्तित्व अच्छा होगा। यदि वह सामंजस्य को प्राप्त नहीं करता तो निश्चय ही उसका जीवन असामान्य हो जाता है।

एक बहिर्मुखी व्यक्ति समुदाय की इच्छा से कार्य नहीं करता। अतः उसका व्यक्तित्व मोड़ने वाला होता है। वह अपने अन्दर सामाजिक विशेषताएँ; जैसे—क्रूरता, नशा आदि को स्थान दे देता है।

अन्तर्मुखी मे सामाजिक रुचि नहीं होती। इसी प्रकार वह अपने जीवन के ढंग को भी प्रकट करता है। जब सामाजिक समस्याएँ उसके जीवन के साथ मेल करने को आती हैं, वह उनसे पलायन करने की सोचता है। वह स्नायुक दोषों से भी पीड़ित होता है।

व्यक्तित्व की माप (Assessment of Personality)

व्यक्तित्व को मापना और निर्धारण करना एक बहुत ही कठिन समस्या है। शताब्दियों से मनुष्य ने अपने तथा दूसरों के व्यक्तित्व और चरित्र को समझने का प्रयास किया। उसने ऐसे साधनों को चुना जो आज तक हमारी प्रत्येक संस्कृति (culture) मे मान्य हैं और प्रत्येक समुदाय लगभग उनसे सहमत है। ये साधन कपालविद्या (phernology), मुख लक्षण निरूपण विधि (physiognomy), आकार के अनुसार (graphology), हस्तरेखा ज्ञान के आधार पर हैं, और इन्हीं के द्वारा लोग चरित्र को पढ़ने का प्रयास या चरित्र के बारे मे बताने का प्रयत्न करते थे। मनोवैज्ञानिक इन सिद्धान्तों तथा ज्योतिषशास्त्र मे विश्वास नहीं रखते। व्यक्तित्व के निर्धारण तथा व्यक्तित्व के गुणों को प्रकट करने के लिए मनोवैज्ञानिक नवीन ढंगों का प्रतिपादन करते हैं। इनमे से कुछ जो मुख्य हैं उन पर हम यहां विचार करेंगे।

किन्तु वस्तु के मूल्यांकन से तात्पर्य है उस वस्तु सम्बन्धी किसी प्रकार का

र्णन। जब हम मापते हैं तो वर्णन का सहारा लेते हैं किन्तु यह वर्णन तुलनात्मक और साधारण अङ्क सम्बन्धी होते है; अर्थात् यह माप सदैव अंशों में होती है जो कम या अधिक की हो सकती है। वास्तविक रूप में यह माप पूरे का एक अंश होती है, यह पूरी माप नहीं हो सकती। जब हम किसी वस्तु को मापते हैं तो कोई भी एक गुण या एक से अधिक गुण उस वस्तु का मापते हैं; जैसे—लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, ऊँचाई, भार, चिकनापन या कठोरता आदि; किन्तु विशेष बात यह है कि कभी भी हम उस वस्तु के सब गुणों एक मापन द्वारा नहीं माप सकते। हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि कोई भी एक मापक हमें पूर्ण रूप से इसका पूरा चित्र नहीं दे सकता।

व्यक्तित्व माप की विभिन्न विधियाँ (Various Methods of Personality Measurement)

व्यक्तित्व की विशेषताओं को मापने की तीन मुख्य विधियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) व्यक्तिगत विधि (Subjective Method), (२) वस्तुनिष्ठ विधि (Objective Method), (३) प्रक्षेपण विधि (Projective Method)।

व्यक्तिगत विधि (Subjective Method)

इस प्रकार की विधि में हम व्यक्ति सम्बन्धी सूचना या तो व्यक्ति से ही स्वयं लेते हैं या उसके मित्रों या सम्बन्धियों से भी प्राप्त करते हैं।

इसको क्रियान्वित करने के चार ढंग हैं—

१. जीवन-कथा अथवा व्यक्ति का स्वयं का इतिहास (Biography or Self Study),
२. व्यक्तिगत इतिहास (Individual History),
३. साक्षात्कार विधि (Interview Technique),
४. अभिज्ञापक प्रश्नावली (Inventory)।

(१) जीवन-कथा अथवा व्यक्ति-इतिहास विधि (Biography or Self Study)—इस विधि के अनुसार जिस व्यक्तित्व का अध्ययन करना होता है, मनोवैज्ञानिक कुछ बातों के आधार पर व्यक्तित्व को कुछ शीर्षकों में बाँट देता है और फिर उस व्यक्ति से अपना व्यक्तिगत इतिहास लिखने को कहता है। इन सूत्रों के आधार पर व्यक्ति के बारे में कुछ निश्चित निष्कर्ष निकालता है।

इस विधि में यह कठिनाई होती है कि भूलने के कारण व्यक्ति अपनी कुछ घटनाओं को भूल जाता है और उनको सविस्तार एवं सही सही लिख नहीं पाता। इस विधि के द्वारा हम कुछ अचेतनावस्था में दबी हुई इच्छाओं या भावना-ग्रन्थियों का अनुमान नहीं लगा सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के व्यवहार या समायोजन (Adjustment) आदि का भी सही रूप में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।

(२) व्यक्तिगत इतिहास (Individual History)—इस विधि के अन्तर्गत हम

उन वातावरण के तत्वों तथा वंशानुगत तत्वों का अध्ययन करते हैं जो व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालते हैं। व्यक्ति की मानसिक रचना को हम उसके परिवार के इतिहास, रीति-रिवाज, धारणाओं, जन्म लेने का क्रम आदि का सहारा लेकर समझने का प्रयत्न करते हैं।

इस विधि को प्रायः मानसिक चिकित्सक अपनाते हैं। मुख्य रूप से साधारण-तया जन्म से सम्बन्धित, जन्म के पूर्व की परिस्थितियों, माता पिता का बालक के प्रति व्यवहार, व्यक्ति की बीमारी की घटनाओं का इतिहास आदि का सहारा मानसिक चिकित्सा के लिए लेते हैं।

(३) साक्षात्कार विधि (Interview Method)—जिन मुख्य बातों को हम व्यक्ति के इतिहास से पता नहीं लगा पाते, उनका इस विधि के द्वारा अध्ययन किया जाता है। इस विधि के अनुसार मनोवैज्ञानिक विषयों का साक्षात्कार (interview) करता है। यदि साक्षात्कार करने वाला एक योग्य व्यक्ति है तो साक्षात्कार के साथ-साथ वह सब अनिवार्य सूचनाओं को लिख लेता है। वह व्यक्ति के अन्दर पहले अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता है और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह व्यक्ति की समस्याओं को समझने में सहयोग प्रकट करता है, साथ ही साथ उसके उत्तर-दायित्व को भी समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जितनी भी सूचनाएँ प्राप्त करता है, वे व्यक्ति की व्यक्तित्व-सम्बन्धी विशेषताओं को समझने तथा निर्णय करने में उसकी सहायक होती हैं।

(४) अभिज्ञापक प्रश्नावली (Inventory Technique)—इस विधि में हम प्रश्नों की एक प्रश्नावली बनाते हैं और व्यक्ति से स्वयं इसे भरने का अनुरोध करते हैं। यह प्रश्नावली विभिन्न प्रकार की होती है। यह प्रश्नावली उनको दे देते हैं जिनके व्यक्तित्व का अध्ययन करना है।

प्रश्न प्रश्नावली (questionnaire) में साधारणतया प्रश्नों की एक सूची होती है, जिनका व्यक्ति को लिखित या 'हाँ' या 'न' में उत्तर देना होता है। ये प्रश्न इस प्रकार तैयार किये जाते हैं कि उनसे इच्छित जानकारी प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति की आरम्भ की परीक्षाओं में वुडवर्थ की 'साइकोन्यूरेटिक इन्वेंटरी' (Woodworth's Psychoneurotic Inventory) हैं। इसमें ११६ प्रश्न व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित, जबकि वह दूसरे के साथ होता है, विभिन्न अनुभवों के हैं, जिन्हें व्यक्ति प्रत्युत्तर-स्वरूप करता है। साथ ही साथ उसके अनुभव भी इसमें सम्मिलित रहते हैं।

विभिन्न व्यक्तित्व-प्रश्नावली में दिये हुए प्रश्न निम्न प्रकार हैं—

१. क्या आप अपने परिवार के सदस्यों से झगड़ा करते हैं?—(हाँ, नहीं)
२. क्या आप अक्सर रात को जागते हैं?—(हाँ, नहीं)
३. क्या आप चिन्ता करते हैं?—(अक्सर, कभी-कभी, कदाचित्)

या दूसरे प्रकार के प्रश्न होते हैं, जैसे—

४. क्या आप अपने वैवाहिक सम्बन्ध से सन्तुष्ट हैं ?—(पूर्ण रूप से, थोड़े रूप में, या बिल्कुल नहीं)

विषयी से उस अंश को चिह्न लगाने के लिए कहा जाता है जो करीब-करीब ीक हो ।

प्रश्नावली बहुत से व्यक्तित्व गुणों; जैसे—दुःख, प्रभुत्व, सामाजिकता, न्तर्मुखी, बहिर्मुखी आदि को मालूम करने या उनकी परीक्षा करने के लिए बनाये ाते हैं । इन परीक्षाओं द्वारा व्यक्ति की रुचि की सीमा भी मालूम हो सकती है, यदि श्नावली में इस प्रकार के विभिन्न प्रश्नों को सम्मिलित कर दिया जाये जो व्यक्ति की चि के या अरुचि के सम्बन्ध में हों । इस प्रकार व्यवसाय आदि के चुनने या उसके ारे में रुचि जानने में भी यह प्रश्नावली सहायक होती है । इस प्रश्नावली विधि के ुसार हम व्यक्ति के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक या मौलिक विचारों आदि का भी ता लगाने में सफल हो सकते हैं ।

यह ढंग बड़ा ही उपयोगी है और दुःख आदि जानने वाली प्रश्नावली की सकी बड़ी विश्वसनीयता (reliability) है, किन्तु इसकी यथार्थता (validity) कम ती है । उच्च विश्वसनीयता से हमारा तात्पर्य यह है कि किसी दूसरी परीक्षा में वे ही या उसी प्रकार के उत्तर प्राप्त हों । ऐसा कुछ विशेष प्रकार की प्रश्नावलियों पाया जाता है । परन्तु इस प्रश्नावली विधि द्वारा सदैव व्यक्ति से सत्य उत्तर प्राप्त ीं किये जा सके । अवसर व्यक्ति सत्यता को छिपा लेते हैं या झूठ उत्तर दे देते हैं एव उनकी यथार्थता निम्न होती है ।

यथार्थता और विश्वसनीयता से हमारा क्या तात्पर्य है ?—विश्वसनीयता र यथार्थता के बारे में हम थोड़ा-सा वर्णन ऊपर भी कर चुके हैं ।

(i) मापने का यन्त्र तभी यथार्थ कहा जाता है जबकि प्राप्त सूचनाएँ सत्य हों ।

(ii) मापने का यन्त्र विश्वसनीय तभी हो सकता है, यदि प्राप्त सूचनाएँ उसी प्रकार की किसी दूसरी परीक्षा से भी प्राप्त हों या उसी के प्रकार की हों ।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रश्नावली आदि के समान किसी विधि की मान्यता हो सकती है जबकि वह उन सभी गुणों की सत्य सूचना दे जिसके लिए उसको र किया गया है । उदाहरण के लिए, यदि प्रश्न संख्या-पत्र का उद्देश्य यह मापन ़ व्यक्ति आत्म-केन्द्रित (self-centred), चिन्तित या उत्सुक है तो यदि वह इसको रूप में मापता है अर्थात् व्यक्ति के अन्दर उतनी ही मात्रा में चिन्ता है जितनी प्रश्नावली द्वारा पता चलती है, तो हम कह सकते हैं कि यह प्रश्नावली माननीय एक विश्वसनीय यन्त्र से तात्पर्य यह है कि एक अवसर पर प्रश्नावली में दिये गये एक दूसरी प्रश्नावली या उस प्रकार की प्रश्नावली में दूसरे अवसर पर भी न हों । उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति कहता है कि वह अवसर चिन्तित ा है और उसी प्रकार के प्रश्नों के उसी प्रकार के उत्तर दूसरे अवसर पर भी देता ो इस प्रकार का यन्त्र विश्वसनीय कहा जायगा ।

व्यक्तिगत विधि के दोष (Defect of Subjective Technique)—व्यक्तिगत विधि में बहुत-से दोष हैं। इनमें से मुख्य निम्न प्रकार हैं—

(१) ये विषयीगत होती हैं (They are Subjective)—अर्थात् उस व्यक्ति पर निर्भर होती हैं जिसके व्यक्तित्व का अध्ययन किया जा रहा है और वह कुछ तथ्यों को छिपा सकता है।

(२) यह अविश्वसनीय होती हैं (They are un-reliable)—अर्थात् व्यक्ति सामान्य रूप से समान उत्तरों को नहीं देते। वे एक समय एक बात कहते हैं और दूसरे क्षण पर दूसरी बात कहते हैं।

(३) उनमें यथार्थता कम होती है—अर्थात् जो भी सूचना हम व्यक्ति की सहायता से प्राप्त करते हैं, वह हमेशा सत्य नहीं होती। व्यक्ति सत्य बात को छिपा लेते हैं और उत्तर में उस उत्तर को देते हैं जो सामाजिक रूप से मान्य होता है। उदाहरण के लिए, बहुत थोड़े लोग इस बात को स्वीकार करेंगे कि उनमें समान लिंगी भावनाएँ (homo-sexual tendencies) जीवन में किसी भी अवसर पर थीं।

(४) केवल वे चेतन मस्तिष्क की बातें बताते हैं—यह विधियाँ व्यक्ति के अचेतन मस्तिष्क के बारे में कोई भी बात नहीं बताती, जबकि व्यक्ति के मस्तिष्क का $\frac{7}{8}$ भाग अचेतन है और व्यक्तित्व पर वृहत् प्रभाव डालता है।

इस प्रकार ये विधियाँ व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से मापने में असमर्थ हैं तथा अपूर्ण भी हैं।

२. वस्तुनिष्ठ विधि (Objective Method)

वस्तुनिष्ठ विधियाँ व्यक्ति के बाह्य व्यवहार पर आश्रित होती हैं। ये व्यक्ति के स्वयं के वर्णन पर मुख्य रूप से आधारित नहीं होतीं। ये वैज्ञानिक होती हैं और इनमें वस्तुनिष्ठता (objectivity) होती है।

वस्तुनिष्ठ विधियों में मुख्य हैं—(१) नियन्त्रित निरीक्षण (controlled observation), (२) व्यक्तिगत गुणों का मूल्य निर्धारण (appraisal of personal qualities) या अन्य व्यक्ति के द्वारा अनुमानांकन मापदण्ड द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों का निराकरण या व्यवहार के लिए अन्य पूर्व-कारणों की प्रस्तुती, (३) शारीरिक परिवर्तन जो व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं, (४) मौखिक व्यवहार द्वारा व्यक्तित्व-अध्ययन (study of personality through verbal behaviour)। ये सब विधियाँ पूर्ण रूप से वस्तुगत नहीं होतीं; जैसे—अनुमानांकन मापदण्ड (rating scale) को भी कभी कभी हम व्यक्तिगत विधियों में सम्मिलित कर लेते हैं। किन्तु उचित सावधानी बरतने से उसमें वस्तुनिष्ठता भी आ जाती है। अतः इस विवाद के आधार पर यहाँ हम इन्हें वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं में सम्मिलित करते हैं।

अब हम इन परीक्षाओं पर क्रमानुसार विचार करते हैं। यथा—

(१) नियन्त्रित निरीक्षण (Controlled Observation)—इस विधि का सफल प्रयोग मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में हो सकता है। इस विधि में प्रयोगशाला को

नियन्त्रित परिस्थितियों के मध्य एक कुशल मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन करता है।

(२) अनुमानांकन मापदण्ड (Rating Scale)—वास्तविक रूप में यह व्यक्तित्व मापन का वस्तुगत ढंग नहीं है। प्रश्न सम्पादकों द्वारा हम इन्हें अच्छी प्रकार प्रयोग में ला सकते हैं। अनुमानांक वह विधि है जो व्यक्तित्व के गुणों का अनुमान लगाने के लिए होती है, जो कम रूप से व्यक्तिगत है और साधारण ढंगों से अधिक सही है। यह व्यक्तित्व का, जैसा कि कहा जा चुका है, व्यक्तिगत ढंग से अध्ययन करती है।

लगभग सभी व्यक्तित्व की विशेषताएँ अनुमानांकन मापदण्ड द्वारा पता लगाई जा सकती हैं। किन्तु इसमें गुणों को प्रदर्शित करने की एक सीमा भी होनी है जिससे अनुमानांकरण की विश्वसनीयता में अन्तर न पड़ सके।

सबसे अधिक साधारण रूप में अनुमानांकन 'हाँ', 'ना' के उत्तरों के रूप में होता है, जैसे यह प्रश्न है—क्या आप उसे कंजूस समझते हैं? क्या वह अपने मित्रों को प्यार करता है?

(३) शारीरिक परिवर्तन व्यक्तित्व के संकेत के रूप में (Physiological Changes as Personality Indicators)—व्यक्तित्व की कुछ विशेषताओं को हम अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के व्यवहार को देखकर अध्ययन कर सकते हैं। व्यक्तित्व का अध्ययन करने के लिए मुख्य तत्त्व 'संवेग' है। संवेग को प्रदर्शित करने वाले मुख्य शारीरिक संकेत—हृदय की गति और रचना, रक्त परिमाण (blood volume), रक्त-भार (blood pressure), श्वसन के परिवर्तन, मनोवैज्ञानिक-रासायनिक प्रतिक्रिया (psycho-galvaric reflex) और व्यक्तिगत परिवर्तन आदि हैं। इन शारीरिक परिवर्तनों की माप के द्वारा हम एक सीमा के अन्दर झूठ या धोखे की माप एक व्यक्ति के अन्दर करने में सक्षम होते हैं।

(४) मौखिक व्यवहार द्वारा व्यक्तित्व का अध्ययन (Study of Personality through Verbal Behaviour)—व्यक्तित्व की विशेषताओं का लिखित या मौखिक प्रक्रियाओं के द्वारा अध्ययन करने में यह समझा जाता है कि वह व्यक्तित्व मुख्य गुणों का संकेतक है। बहुत-सी प्रकार की व्यक्तित्व परीक्षाएँ मौखिक व्यवहारों का प्रयोग करती हैं। इनमें से मुख्य—साहचर्य परीक्षा (Association Test), प्रक्षेपण परीक्षा (Projective Test), प्रश्न-उत्तर परीक्षा (Question-Answer Test), व्यवहार के मापक (Attitude Scale), तथा ज्ञान की परीक्षा (Test of Knowledge), और सामाजिक तथा नैतिक मूल्य की परीक्षा (Judgment of Social and Ethical Values) हैं।

साहचर्य परीक्षाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। स्वतन्त्र साहचर्य परीक्षाएँ वे हैं जिनमें परीक्षार्थी को लगातार बोलना पड़ता है, उस समय तक जब तक वह स्वयं बोलने में असमर्थ हो जाता है। इसका प्रयोग मनोविश्लेषक किसी भावना का पता लगाने के लिए करता है।

दूसरे प्रकार की साहचर्य परीक्षा मे हम विषयी को एक उत्तेजक शब्द दे देते हैं और इसके प्रत्युत्तर में विषयी के मस्तिष्क मे जो भी आता है, वह बोलता है। इन परीक्षाओं को हम विषयी की संवेगात्मक कठिनाइयों का पता लगाने के लिए प्रयोग करते हैं।

४. प्रक्षेपण विधि (Projective Method)

तीसरी विधि जिसका प्रयोग हम व्यक्तित्व-माप के लिए करते हैं, प्रक्षेपण विधि है। व्यक्तिगत या वस्तुगत परीक्षाओं की सबसे बड़ी कमी यह है कि ये व्यक्ति के अचेतन मन का अध्ययन नहीं करतीं। प्रत्येक व्यक्ति में प्रेरणायें, इच्छायें, रुचि, संवेग, विश्वास आदि होते हैं जो वास्तव में दूसरों को दिखाई नहीं देते किन्तु वे उस व्यक्ति के ही एक अंग होते हैं। व्यक्ति स्वयं भी इनके बारे मे चेतन नहीं होता। इस प्रकार बिना इन अचेतन प्रेरणाओं, ऐषणाओं को विचार मे रखते हुए व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकते अन्यथा हमें व्यक्तित्व का एकांगी चित्र ही मिल सकेगा। अब तक व्यक्तित्व को मापने के लिए जितनी भी विधियाँ या ढंग प्रस्तुत किये जा चुके हैं उनमे स्वतन्त्र साहचर्य और नियन्त्रित साहचर्य को छोड़कर कोई भी अचेतन मन को स्थान नहीं देता। इसके लिए हमे नवीन विधियों की आवश्यकता है जो हमें व्यक्ति के अचेतन के सम्बन्ध में भी ज्ञान दें। प्रक्षेपण विधियाँ इस सम्बन्ध में सबसे अधिक उपयोगी तथा उचित हैं।

प्रक्षेपण से क्या तात्पर्य है?—'मनोविश्लेषक प्रक्षेपक विधि' से तात्पर्य एक रक्षात्मक यन्त्र रचना (defence mechanism) है; अर्थात् यह एक प्रकार की क्रिया है जिसमें व्यक्ति अपनी दबी हुई इच्छाओं को परिवर्तित रूप में प्रकट करता है और उन धारणाओं को भी प्रकट करता है जिनके कारण वह किसी बाह्य वस्तु को करने में असफल रह जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि एक हेड-क्लर्क अपने आफीसर द्वारा डाँटे जाने पर अपने अधीन दूसरे सहायक क्लर्कों को डाँटता है और अपने विचारों की तुष्टि अपनी पत्नी को फटकारने के द्वारा करता है। इसी प्रकार एक अध्यापक भी जिसकी पत्नी कर्कशा है और वह स्वयं पत्नी-भक्त है, अपने दबे विचारों को अपनी कक्षा के बालकों को पीटने के द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न करता है।

मुख्य विचार जिसके ऊपर यह 'प्रक्षेपण विधि' आधारित है, यह है कि कोई भी दो व्यक्ति बाह्य वस्तु को एक ही विचार से नहीं देखते। उनके विचारों में अन्तर उनके व्यक्तित्व के कारण होता है। इस प्रकार प्रक्षेपण विधि में हम विषयी को किसी बाह्य पदार्थ के सहारे अपने विचार प्रक्षेप करने को कहते हैं। इस प्रकार उस व्यक्ति द्वारा अपने विचार का प्रक्षेपण हमे उस व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझने में सहायता देता है।

प्रमुख प्रक्षेपण विधियाँ (The Main Projective Methods) अग्रलिखित प्रकार हैं—

(१) रोशा परीक्षा (Rorschach Test),
(२) थेमेटिक एपरसेप्शन टेस्ट (Thematic Apperception Test),
(३) प्ले टेक्नीक (Play Technique),
(४) शब्द-सहचार्य परीक्षा (Word Association Test)
(५) चित्र-साहचर्य परीक्षा (Picture Association Test),
(६) अभिनय प्रदर्शन परीक्षा (Dramatic Production Test)।

रोशा परीक्षा—यह परीक्षा हरमैन रोशा द्वारा बनायी गयी है। इसमें हम स्याही के धब्बों को एक सफेद कागज पर गिरा देते हैं और फिर कागज को धब्बे के बीच से मोड़ देते हैं। थोड़ी देर बाद दबाकर हम कागज को खोल देते हैं। परिणामतः जो चित्र विषयी के सम्मुख आता है, वह स्याही के धब्बों के द्वारा बना होता है। इसका एक उदाहरण निम्न चित्र है—

[चित्र—६८]

रोशा परीक्षा में इस प्रकार १० स्याही के धब्बे प्रयोग किये जाते हैं। इनमें से कुछ को हम सफेद कागज पर बनाकर दिखाते हैं और कुछ को रंगीन कागज पर बनाकर विषयी के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। यह रंग गहरे भूरे रंग से आरम्भ करते हैं और लाल या नीले तक के बीच में रहते हैं। १० चित्र इस प्रकार बनाये जाते हैं कि पहले से अन्तिम तक उनमें जटिलता बढ़ती जाती है। ये धब्बे इस प्रकार के होते हैं कि विषयी को इनमें कुछ वस्तु प्रतीत होती है।

धब्बों के इस समुदाय को हम विषयी को इस प्रकार दिखाते हैं कि एक समय में उसके सामने एक ही चित्र रहता है और वह बताता है कि वह क्या देख रहा है। विषयी उसी धब्बे में एक के बाद दूसरी वस्तु का अनुभव करता है। विषयी की प्रतिक्रियाओं को अंकों के रूप में मापने के लिए परीक्षक इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर पर अंक प्रदान करता है—

१. कितनी बार विषयी ने आदमी का चित्र देखा, कितनी बार जानवरों का चित्र देखा, कितनी बार पौधे और भूमि-चित्र आदि को देखा ?
२. क्या उसने सम्पूर्ण चित्र को देखा या विस्तृत रूप में देखा ? जिन चित्रों को उसने देखा वे कितने सुन्दर थे ?
३. उसकी कल्पनाओं में कितनी वास्तविकता या अस्वाभाविकता है ?

इन विभिन्न विस्तारों के आधार पर परीक्षक बहुत से आश्चर्यजनक परिणाम निकालता है। धब्बे को पूर्ण रूप में देखने से तात्पर्य यह है कि उस परीक्षार्थी के अन्दर अद्वय और संकलन-योग्यता है, जबकि व्याख्यात्मक वर्णन उसके अन्दर वास्तविकता की भावना को व्यक्त करता है। इसी प्रकार विभिन्न जानवरों को देखने से तात्पर्य यह है कि उसकी विचार-शृंखला दृढ़ है। स्वच्छ, अच्छे चित्रों को देखने का तात्पर्य है कि नियन्त्रण अच्छा है। जब इन सभी व्याख्याओं को हम मिला देते हैं तभी व्यक्ति के व्यक्तित्व का पता चल जाता है, जो एक विस्तृत सीमा तक ठीक भी होता है।

इस विधि की यथार्थता का पता हम इस प्रकार लगा सकते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को रोशा के परिणामों द्वारा मापें और फिर दूसरी विधियों द्वारा व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जानकारी ले इसकी तुलना करें।

इस परीक्षा की विश्वसनीयता को हम लगातार इस परीक्षा को ६ से १२ महीने तक देने से कर सकते हैं। यह देखा गया है कि एक [illegible] बाद औसतन २५ या ३० प्रतिशत प्रत्युत्तर एक-से होते हैं। यह और फिर पाँच वर्ष बाद दोहराया जाता है जबकि सभी प्रतिक्रियायें विषयी भूल जाता है। इस प्रकार की परीक्षा द्वारा हम रोशा परीक्षा की विश्वसनीयता की जाँच कर सकते हैं।

थेमेटिक एपरसेप्शन परीक्षण—इस परीक्षण में पात्र को चित्रों की एक प्रतिमानित माला एक निश्चित क्रम में दिखाई जाती है और उससे प्रत्येक चित्र के लिए एक कहानी लिखने को कहा जाता है। परीक्षण में कुल मिलाकर २० कार्ड होते हैं जिनमें से १६ में तो चित्र होते हैं और १ खाली होता है। परीक्षण के समय एक-एक चित्र परीक्षार्थी को दिया जाता है और उससे कहा जाता है कि वह बताये कि वर्तमान घटना जो चित्र में दिखाई गई है, किन पूर्वगामी घटनाओं से उत्पन्न हुई है ? इसके अतिरिक्त परीक्षक यह भी कहता है कि परीक्षार्थी बताये कि चित्र का पात्र क्या अनुभव कर रहा है, क्या सोच रहा है और परिणाम क्या होगा ? जब परीक्षार्थी प्रत्येक चित्र पर कहानी लिख लेता है तो इन कहानियों का विश्लेषण किया जाता है।

मूरे तथा मॉर्गन (Murray and Morgan) महोदय, जिन्होंने इस परीक्षा का निर्माण किया, इस बात पर बल देते हैं कि कहानी के विश्लेषण द्वारा व्यक्तियों में पायी जाने वाली इच्छाओं (drives) तथा संघर्षों का पता चल जाता है। जिस व्यक्ति पर परीक्षण किया जाता है वह अपने द्वन्द्व, संघर्ष इत्यादि का प्रक्षेपण चित्र की ओर करता है और इस प्रकार जो कहानी गढ़ता है वह उसकी अभिप्रेरणात्मक संरचना

के आधार पर होती है। चित्रों का विश्लेषण करने वाला यह देखता है कि चित्र सम्बन्ध में जो कहानी गढ़ी जाती है वह बार-बार एक ही प्रकार की घटना को घ होते हुए बताती है; जैसे—मृत्यु, माता का प्यार या स्नेह की आकांक्षा। मन महे कार्ल नामक एक व्यक्ति का वर्णन करते हैं। कार्ल द्वारा दिए गये परीक्षण में क नियाँ बनाने में मृत्यु के विषयों की संख्या असाधारण रूप से अधिक पायी गई। द्वारा बताई गई कठिनाइयों में व्यक्तियों के मरने का ढंग असाधारण था। पात्र अज्ञात कारणों से मरते थे। इन कठिनाइयों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने क के व्यक्तित्व में इन तथ्यों को महत्वपूर्ण माना—

१. कार्ल के अन्दर आक्रामक प्रवृत्तियाँ थीं जिनके कारण वह चिि रहता था।
२. बचपन में उसकी आक्रमण करने की प्रवृत्ति के कारण उसे कठोर द दिया गया था।
३. उसके माता-पिता का नियन्त्रण उस पर कठोर था।

कार्ल अपने पात्रों की मृत्यु इस कारण कराता था कि वह चाहता था कि उसके माता-पिता की मृत्यु हो जाय और वह उनसे मुक्ति प्राप्त कर ले।

टी० ए० टी० विधि में भी वे सब दोष हैं जो रोशा-परीक्षण में हैं। इस वि द्वारा विषयों का निश्चय तो किया जा सकता है, परन्तु उनकी व्याख्या परीक्षणात्मक आधार नहीं दिया जा सकता।

टी० ए० टी० (T. A. T.) परीक्षण में भी कई संशोधन हो चुके हैं। ब्लाव तथा ब्लाक (Bllak, H. and Bllak, S. S.) महोदयों ने मिलकर टी० ए० टी० परीक्षण के दो संशोधन किये हैं। उन्होंने एक संशोधन किशोरावस्था के लिए औ दूसरा बाल्यावस्था के लिए किया है। दूसरे को 'चिल्ड्रेन एपरसेप्शन टैस्ट' (C. A. T.) or (Children Appercception Test) कहते हैं। बालकों के लिए जो परीक्षण है उसमें मनुष्यों के चित्रों के स्थान पर पशुओं के चित्रों का प्रदर्शन किया जाता है।

स्वप्न-विश्लेषण तथा स्वतन्त्र सहचार परीक्षण (Dream Interpretation and Fact Association Test)—इस विधि के सम्बन्ध में हम स्वप्न नामक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। इस विधि का प्रयोग मनोविश्लेषणकर्त्ता व्यक्ति के विश्लेषण के लिए करते हैं। इस विधि द्वारा मानसिक रोगियों की चिकित्सा की जाती है। स्वप्न के अध्याय में हमने स्वप्नों का विश्लेषण स्वतन्त्र सहचार विधि द्वारा करने का वर्णन किया है। इस विधि में व्यक्ति आराम से कुर्सी पर लिटा दिया जाता है और उससे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी भावनाओं को व्यक्त करने को कहा जाता है। बहुधा स्वप्न का कोई एक अंग ले लिया जाता है और व्यक्ति से कहा जाता है कि उस सम्बन्ध में जो कुछ भी विचार उसके मस्तिष्क में आते जायँ, उन्हें व्यक्त करता जाय। इस प्रकार व्यक्ति की आन्तरिक इच्छायें, कामनाएँ या स्पृहाएँ प्रकट हो जाती हैं।

व्यवस्थापन और अव्यवस्थापन से क्या तात्पर्य है ?
(What do we mean by Adjustment and Maladjustment)

व्यक्ति की व्यवस्थापन सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते हुए हमें उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर विचार करना पड़ता है। अब व्यवस्थापन या अव्यवस्थापन पर विचार करने से प्रथम हम इस बात पर विचार करेंगे कि हमारा पूर्ण व्यक्तित्व से क्या तात्पर्य है ?

हम पिछले अध्यायों में यह विचार कर चुके हैं कि किस प्रकार बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक व्यक्तित्व का विकास होता है और वे कौन-कौन से मुख्य गुण हैं जो व्यक्तित्व-विकास को प्रभावित करते हैं। हमने कुछ ऐसे भी साधनों का वर्णन किया है, जिनसे व्यक्तित्व का उचित विकास होता है, किन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक के विकास में कुछ वस्तुएँ इस मार्ग में विरोधी होती हैं, और कुछ असफलताएँ भी होती हैं, कुछ निराशाएँ भी होती हैं। इस प्रकार इन प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप व्यक्ति के मस्तिष्क में 'द्वन्द्व' (conflict) उत्पन्न हो जाता है। व्यक्ति के अन्दर बहुत-सी इच्छाएँ होती हैं, कुछ लोग वास्तविकता से समन्वय स्थापित कर लेते हैं किन्तु कुछ ऐसी भी इच्छाएँ शेष रह जाती हैं जिन्हें हम पूर्ण नहीं कर पाते। प्रायः जीवन में विशेष रूप से इनके समन्वय की आवश्यकता होती है। यदि एक ऐसा व्यक्ति है जो परिस्थिति से समन्वय कर लेता है तो वह अपने अनुकूलन की योग्यता को स्थापित कर लेता है और यदि वह इस व्यवस्थापन में असफल रह जाता है तो मानसिक द्वन्द्व बढ़ जाता है। कुछ व्यक्तियों की यह इच्छा होती है कि उनके पास बहुत-सा धन हो, कुछ चाहते हैं कि वे प्रसिद्धि प्राप्त करें किन्तु बहुत थोड़े ही इन सबको प्राप्त कर पाते हैं। कुछ अपनी असफलता को वास्तविकता के रूप में लेते हैं और जो कुछ उनके पास है, उससे सन्तुष्ट हो जाते हैं तथा परिस्थितियों का साहस से सामना करते हैं। ऐसे व्यक्ति भली प्रकार व्यवस्थापित कहे जा सकते हैं, किन्तु वे लोग जो सदैव अपनी असफलता के बारे में सोचते रहते हैं—अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए, धन की पूर्ति के लिए, शक्ति-संचयन के लिए असाधारण ढंगों का सहारा लेते हैं, बड़े अभिमानी या हठी हो जाते हैं, या कल्पना की अधिकता के कारण दिवा-स्वप्न देखने लगते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के व्यक्तित्व को हम 'अव्यवस्थापित व्यक्तित्व' कहते हैं।

द्वन्द्व (Conflicts)

हम में से सभी व्यक्ति अपनी-अपनी इच्छाएँ रखते हैं। उनमें द्वन्द्व भी होता है, जिसका या तो यह कारण होता है कि व्यक्ति के उद्देश्यों में ही विरोध होता है या वह व्यक्ति एक साथ विविध इच्छाओं को समझ नहीं पाता। एक बालक खेलते समय भूखा हो सकता है किन्तु फिर भी खेल बन्द करना नहीं चाहता। एक बालक पढ़ने के समय चलचित्र देखने की इच्छा कर सकता है। इसी प्रकार द्वन्द्व और भी विरोधी

इच्छाएँ होती हैं, जिन्हें हम सब आये दिन अपने दैनिक जीवन में अनुभव करते हैं।

आरम्भ से ही बालक अच्छी और बुरी बातों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेता है और अपने व्यवहार के लिए आदर्शों का भी निर्माण करता है। ये आदर्श उसकी प्राकृतिक इच्छाओं से द्वन्द्व भी करते हैं। कुछ व्यक्ति अपने रास्ते को इसी कलह या प्रतिक्रिया के बीच में चुनते हैं, परन्तु कुछ में ये दोनों विपरीत इच्छाएँ साथ-साथ ध्यान में रहती हैं, जिसके कारण वे स्वयं भी परेशान रहते हैं और दूसरों को भी परेशान करते हैं।

चित्र—६६
[जो व्यक्ति अपनी असफलताओं के बारे में अत्यधिक सोचते रहते हैं उनका व्यक्तित्व असमायोजित हो जाता है।]

यह द्वन्द्व वाली स्थिति यदि सामाजिक स्वीकृति के अनुसार होती है तब इससे संवेगात्मक तनाव पैदा नहीं होता। यदि यह स्थिति इस प्रकार ठीक नहीं होती तो इस प्रतिक्रम में दो रास्ते होते हैं—(१) अप्रभावित ढंग (Ineffective Method)—व्यक्ति बहुत-से कार्य करता है फिर भी उसका द्वन्द्व कम नहीं होता। उसके द्वारा तनाव को कम करने के सब तरीके व्यर्थ हो जाते हैं और तनाव में कोई कमी नहीं आती। (२) अवांछनीय ढंग (Undesirable Method)—व्यक्ति इस प्रकार प्रतिक्रिया करता है कि बाह्य रूप से तो द्वन्द्व मिटते हुए प्रतीत होते हैं और अस्थायी रूप से उसके संवेगात्मक तनाव कम हो जाते हैं, परन्तु उसके ये व्यवहार नैतिक या सामाजिक स्वीकृति के अनुसार नहीं होते।

अधिकतर व्यक्ति उचित ढंग द्वारा किसी द्वन्द्वात्मक स्थिति का सामना करते हैं। किन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो अपनी प्रतिक्रिया के ढंग को अवांछनीय ढंग से प्रकट करते हैं। व लोग जो द्वन्द्व को दूर करने में असमर्थ होते हैं, असमायोजित (maladjusted) व्यक्ति कहलाते हैं। शारीरिक कष्ट; जैसे—ग्रंथि असंतुलन (...ular imbalance), पुरानी बीमारी अथवा शारीरिक या मानसिक दुर्बलता (...al or mental handicap), व्यक्तियों के व्यवहार के अनुकूलन पर प्रभाव

ते हैं। साथ ही साथ ये तत्त्व इस ओर भी संकेत करते हैं कि व्यक्ति किस प्रकार
ने को अव्यवस्थापित कर सकता है। वातावरण के तत्त्व व्यक्तित्त्व के ऊपर प्रभाव
ाते हैं। बहुत-से तत्त्व जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं, अव्यवस्थापन
उत्पन्न कर सकते हैं और इनका निर्माण त्रुटिपूर्ण सीखने के द्वारा होता है।

व्यक्तित्त्व का अव्यवस्थापन व्यक्ति के झगड़ालूपन या आक्रामक रूप में (ag-
essive behaviour) प्रकट हो सकता है या पलायनवादी (withdrawing type)
रूप में भी उसमे नाड़ी-प्रभावोत्पादक आदतें (nervous habits) भी पड सकती
। कष्ट देना, चोरी करना, आलस्य, अनाज्ञापालन, प्रताड़ना, नष्ट करना और
भाव, विकृति एवं झगड़ालूपन आक्रमणकारी व्यवहार के रूप हो सकते हैं। पलायन-
दी वह व्यक्ति हैं जिसमें ये बातें मिलती हैं—लज्जा, भय, दिवा-स्वप्न, असामाजि-
ता और रहस्यात्मकता आदि। टिक-टिक करना, दाँतों से नाखूनों को काटना,
चल होना, अँगूठा चूसना आदि; कुछ नाड़ी प्रभावोत्पादक आदतों के उदाहरण हैं।

केवल एक ही प्रकार के व्यवहार के आधार पर व्यक्तित्व अव्यवस्थापित नहीं
हा जा सकता। वास्तविक रूप में बहुत-से कारण तथा लक्षण होते हैं जो हमें एक
यक्तित्व के बारे में यह बताते हैं कि वह व्यवस्थापन नहीं कर सका।

छोटे-छोटे लक्षण; जैसे कभी-कभी दिवा-स्वप्नों (day dreams) का देखना,
तर्कयुक्त व्याख्या (rationalization) का प्रदर्शन, सुरक्षा, आवश्यकता से अधिक
हानि की पूर्ति करना (over compensation) आदि; कुछ ऐसे लक्षण हैं जो सामान्य
व्यक्तियों में भी पाये जाते हैं। किन्तु जब कभी ये धारणाएं अतिशय हो जाती हैं
और व्यक्ति की आदत का रूप धारण कर लेती हैं तब व्यक्ति के मानसिक सन्तुलन
पर इस प्रकार की धारणाओं से भारी चोट पहुँचती है। बहुत अधिक तीव्र रूप में ये
लक्षण मानसिक रोग की ओर संकेत करते हैं और इस प्रकार व्यक्ति की शक्ति
इतनी क्षीण हो जाती है कि उसे मानसिक अस्पताल की सहायता लेनी पड़ती है। ऐसी
दशा में व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है। अब हमें यह देखना है कि व्यक्तित्व के
संघटन एवं विघटन से हमारा क्या तात्पर्य है।

व्यक्तित्व का संघटन तथा विघटन (Integration and Disintegration of Personality)

हमने इस अध्याय के आरम्भ में जहाँ व्यक्तित्व की परिभाषा दी है वहाँ इस
बात पर बल दिया है कि व्यक्तित्व की संघटनशीलता इसकी सबसे बड़ी विशेषता
है। व्यक्तित्व को हम विभिन्न भागों में विभाजित नहीं मान सकते। व्यक्तित्व के
अनेक गुण तथा लक्षण होते हैं, परन्तु इन सब का संघटित या समन्वित होना
आवश्यक है।

व्यक्तित्व जो भी व्यवहार व्यक्त करता है वह एक सम्पूर्ण रूप में होता है।

जैसे जब कोई व्यक्ति प्रसन्न मुद्रा में है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल प्रसन्नता ही उसके व्यक्तित्व का गुण सक्रिय है और बाकी व्यक्तित्व निष्क्रिय है वरन् इस स्थिति में सम्पूर्ण व्यक्तित्व सक्रिय रहता है। प्रसन्नता हमारे व्यक्तित्व का कोई विशेष भाग नहीं वरन् सारा शरीर ही अनुभव करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्तित्व में पूर्णता एवं संघटनशीलता होना अत्यन्त आवश्यक है।

जिस समय व्यक्तित्व का उचित संघटन नहीं होता उस समय व्यक्ति असमानता की ओर जाता है। व्यक्ति को समाज में रहना होता है। जब वह समाज के नियमों के अनुसार अपने को समायोजित कर लेता है तो हमें व्यक्तित्व का संघटन उचित प्रतीत होता है। परन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो समाज के नियमों के अनुसार अपने को समायोजित नहीं कर पाते। वे या तो समाज को नष्ट-भ्रष्ट या तोड़-फोड़ कर देने की चेष्टा करते हैं या समाज से इतने भयभीत हो जाते हैं कि अपने व्यक्तित्व के संकुचित दायरे में घिरकर बैठ जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को हम असमान व्यक्तित्व वाला कहते हैं।

जब व्यक्तित्व एकता के सूत्र में नहीं बँध पाता और इसमें गड़बड़ी हो जाती है तो व्यक्तित्व का विघटन का विच्छेद (disintegration) प्रारम्भ हो जाता है। यह विघटन कभी-कभी इतना गम्भीर रूप धारण कर लेता है कि हम ऐसे व्यक्तियों को उन्माद रोगी (mad people) कहने लगते हैं।

यह पता लगाना अत्यन्त कठिन है कि समानता तथा असमानता की विभाजन रेखा कहाँ है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में असमान होता है परन्तु फिर भी ऐसे व्यक्तियों को जो समाज में औसत रूप से समायोजित होते हैं, हम समानता की श्रेणी में रख देते हैं; और जो इस प्रकार से समायोजित नहीं हो पाते उन्हें असमायोजित व्यक्ति कहते हैं।

असमानता का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक वर्गीकरण असमानता को संरचनात्मक (structural) या कृत्यात्मक (functional) होने के रूप में विभाजित करता है और दूसरे प्रकार का वर्गीकरण असमानता को मनस्तापी (psycho-neurosis) या उन्माद (psychosis) की श्रेणी में विभाजित करता है।

संरचनात्मक व्यक्तित्व का विकार इस प्रकार का विकार होता है जिसका कोई ज्ञात शारीरिक कारण होता है; जैसे—नाड़ी तंत्र की सिफलिस या मस्तिष्क की धमनियों का कड़ा हो जाना। कृत्यात्मक विकारों में व्यक्ति की विचित्र मनोवृत्तिजनित नाड़ी-तंत्र की विकृतियाँ जो उसके अपने प्रति या दूसरों के प्रति होती हैं, दिखाई पड़ती हैं। परन्तु इस प्रकार की असमानता में कोई ज्ञात शारीरिक कारण नहीं होता।

मनस्तापी व्यक्तित्व (Psycho-neurosis)—मनस्तापी विकार क्षीण प्रकार के मानसिक विकार होते हैं। इस प्रकार के विकारों के लक्षण ये हैं—अत्यधिक थकान, शारीरिक शिकायतें, स्मृति का लुप्त हो जाना, असाधारण चिन्ता इत्यादि। इस प्रकार

के विकार रोगी को तथा दूसरे व्यक्तियों को अत्यन्त परेशान करते हैं। परन्तु यह व्यक्ति इतने असामान्य नहीं होते कि उन्हें पागलखाने भेजा जाए।

मनस्ताप कृत्यात्मक (functional) होते हैं। इनके उत्पन्न होने के कारण व्यक्ति को वातावरण में कुसमायोजन होता है। इन मनस्तापी विकारों का कोई शारीरिक कारण नहीं होता। इस विकार से पीड़ित व्यक्ति अपने को बीमार समझते हैं और यह मानने लगते हैं कि वे किसी कार्य को करने लायक नहीं हैं। इनमें लक्ष्य का अभाव होता है। वे अपनी शारीरिक दुर्बलताओं की ओर ही ध्यान देते हैं और किसी ऐसे लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकते जिसके चारों ओर वे अपने व्यक्तित्व को संगठित कर सकें। वे अपनी समस्याओं का समाधान तो करना चाहते हैं, पर जो विधि अपनाते हैं वह त्रुटिपूर्ण होती है। वे रोगी बन जाते हैं और दूसरों की सहानुभूति, प्रेम इत्यादि को अपनी ओर जबरदस्ती खींचकर अपनी समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करते हैं। मनस्तापी विकारों से पीड़ित व्यक्तियों के मन में अनिश्चय (indecision) की मात्रा बहुत होती है। वे किसी भी समस्या पर निश्चित रूप से विचार नहीं कर सकते। उन्हें हर बात पर सन्देह भी होता है। वे किसी भी बात पर चाहे वह कितनी ही विश्वासपूर्ण क्यों न हो, विश्वास नहीं करते और प्रत्येक को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

विघटन (Dissociation)—विघटन मनस्ताप का ही एक विशेष लक्षण है। मन (Munn) इसकी परिभाषा इस प्रकार देते हैं, "विघटन एक ऐसी अवस्था है जिसमें कुछ क्रियाएँ सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ संगठित नहीं रह पातीं।" ये क्रियाएँ व्यवहार के उन भागों के सदृश हैं जो शेष से कटकर अलग हो जाते हैं किन्तु अपने अस्तित्व को उसके अस्तित्व के साथ बनाये रखते हैं। इस वर्ग में कई प्रकार के स्नायु-रोग आते हैं, जिनमें—उन्माद (hysteria), स्मृतिभ्रंश (amnesia), स्मृति-विलोप (fugue) विलग रोग, द्विगुणीय व्यक्तित्व (dual personalty), बहुगुणीय व्यक्तित्व (multiple personality) इत्यादि हैं।

उन्माद (Hysteria)—इस रोग में व्यक्ति रोता, चिल्लाता या हँसता हो जाता है, या समय-समय पर भीषण क्रोध प्रदर्शित करता है। यह रोग पहले केवल स्त्रियों का रोग समझा जाता था परन्तु दूसरे महायुद्ध में बहुत-से पुरुष सिपाही भी इस रोग से पीड़ित होते हुए देखे गये। इस रोग में मानसिक योग्यताओं का ह्रास हो जाता है। कभी-कभी कुछ शारीरिक योग्यताओं में भी कमी आ जाती है। उन्माद के कुछ लक्षण क्रियात्मक होते हैं। जैसे—कृत्यात्मक अन्धापन (functional blindness), बहरापन, लकवा इत्यादि। बहुधा इनमें स्मृतिभ्रंश भी हो सकता है। स्मृतिभ्रंश से तात्पर्य है कि व्यक्ति अपना नाम-धाम इत्यादि सब भूल जाता है। स्मृति-विलोप भी इसी के अन्तर्गत आता है। स्मृति-विलोप एक विचित्र मानसिक अवस्था होती है जिसमें एक व्यक्ति कोई काम करके उसे बिल्कुल भूल जाता है।

स्नायु-दुर्बलता (Neurosthenia)—यह रोग थकान की अत्यधिक स्थिति है। रोगी जब कोई कार्य नहीं भी करता है, तब भी थका हुआ अपने को महसूस करता है। उसके अन्दर थकान शारीरिक तथा मानसिक—दोनों प्रकार की हो सकती है। प्रायः यह रोग व्यक्ति के आन्तरिक द्वन्द्व के कारण होता है। व्यक्ति जब परिस्थितियों में समायोजन नहीं कर पाता तो वह इस रोग से पीड़ित हो जाता है।

चिन्ता रोग (Anxiety Neurosis)—मनस्ताप का रोग चिन्ता-मनस्ताप के रूप में भी दिखाई पड़ता है। चिन्ता-मनस्ताप में रोगी अकारण ही चिन्ताग्रस्त रहता है। वह अन्य [illegible] से डरने लगता है। कभी-कभी चिन्ता-मनस्ताप में आतंक भी मिल जाता है। अतएव वह भयभीत रहने लगता है और यह समझता है कि कोई ऐसा कार्य होने जा रहा है जिससे या तो वह स्वयं मर जायेगा या कोई कुकृत्य कर जायेगा। इस रोग में व्यक्ति अत्यधिक चिन्ताग्रस्त रहता है परन्तु उसे यह नहीं मालूम होता कि वह क्यों चिन्ताग्रस्त है।

चिन्ता-मनस्ताप का मुख्य कारण अहम् (Id) और नैतिक मन (super-ego) में संघर्ष का होना है। फ्रायडवादी कहते हैं यह संघर्ष माता-पिता तथा अन्य लोगों के निषेधों तथा व्यक्ति के अहम् द्वारा यह कार्य करने की प्रेरणाओं के मध्य होता है। रोगी इस भय से चिन्तातुर रहता है कि कहीं उसकी दमन की हुई इच्छाएँ एवं वासनाएँ प्रकट न हो जावें और उसके व्यक्तित्व के ऊपर जो आवरण पड़ा है वह समाप्त न हो जाय। ऐसा हो जाने पर वह समझता है कि वह दूसरों का आदर और स्नेह खो बैठेगा।

बहुरूपीय व्यक्तित्व (Multiple Personality)—इस रोग में रोगी अपने अतीत जीवन, नाम, परिवार, मित्र तथा रिश्तेदारों को भूल जाता है और अपने को एक नये नाम वाला, नये देश वाला और बिल्कुल दूसरा व्यक्ति समझने लगता है। वह व्यक्ति कुछ समय तक एक अवस्था में रहता है और कुछ समय बाद अपने दूसरे व्यक्तित्व का आचरण शुरू कर देता है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का विभाजन दो व्यक्तियों में हो जाता है, जिसे द्विगुणीय व्यक्तित्व (dual personality) कहते हैं। क्योंकि एक समय एक प्रकार का व्यक्तित्व दिखाता है और कुछ समय बाद बिल्कुल दूसरा ही व्यक्तित्व [illegible] है। परन्तु जो भी व्यक्तित्व उसमें एक समय में उपस्थित होता है वह दूसरे के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं रखता और दोनों के कार्य भी भिन्न हो सकते हैं, जैसे—एक व्यक्तित्व धार्मिक तथा [illegible] है [illegible] दूसरा व्यक्तित्व उद्दण्ड, बेहूदा और क्रूर हो सकता है।

एक [illegible] के विभाजन का [illegible] दिया जा सकता है। [illegible]
(Dr. [illegible]) [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

लापरवाह और शरारती हो गयी। उसकी यह अवस्था बराबर चलती रही। कभी वह शान्त, परिश्रमी हो जाती थी और कुछ समय बाद, सहसा शरारती और लापरवाह बन जाती थी। गम्भीर डॉरिस, शरारती डॉरिस की बात याद नहीं रखती थी। परन्तु जिस समय डॉरिस शरारती बन जाती थी तो उसे गम्भीर डॉरिस की सभी बातें याद रहती थी, और इस स्थिति में गम्भीर डॉरिस को बुरा समझती थी और उसके बारे में घृणापूर्वक ढंग से कहती थी।

व्यक्तित्व का विघटन दो भागों में हो जाना चेतना की विच्छिन्नता को प्रकट करता है। दो व्यक्तित्वों जो दिखाई पड़ते हैं, ये स्वभाव और चरित्र में भिन्न हो सकते हैं। दोनों व्यक्तित्वों की स्मृतियाँ भिन्न होती हैं। इनमें से जो व्यक्तित्व अधिक समय तक रहता है उसे हम मुख्य व्यक्तित्व कहते हैं और जो कम समय तक रहता है उसे गौण व्यक्तित्व कहते हैं। कभी-कभी गौण व्यक्तित्व मुख्य व्यक्तित्व के गुणों को याद रखता है, परन्तु मुख्य व्यक्तित्व गौण व्यक्तित्व को याद नहीं रखता।

व्यक्तित्व का विच्छेदन दो से अधिक व्यक्तित्व में भी हो सकता है। इसको बहुपुरुषीय व्यक्तित्व कहते हैं। कभी-कभी तीन एवं इससे भी अधिक व्यक्तित्व-विघटन दिखाई पड़ते हैं।

मनस्तापक की मानसिक चिकित्सा (Treatment of Psycho-neurosis)

अनेक मनोवैज्ञानिक विधियों से मनस्तापक की मानसिक चिकित्सा होती है। कभी-कभी तो मनोवैज्ञानिक द्वारा सहानुभूतिपूर्ण ढंग से बातचीत करने से ही मनस्तापी विकार कम हो जाते हैं। सम्मोहन (hypnosis) के द्वारा भी मनस्ताप का उपचार होता है। सम्मोहित अवस्था में व्यक्ति के द्वन्द्व आदि का पता लगा लिया जाता है और उनको दूर करने के लिए निर्देश दे दिये जाते हैं।

फ्रॉयड महोदय ने मनोविश्लेषण द्वारा इस प्रकार के विकारों की चिकित्सा करने की चेष्टा की। मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा में रोगी को आरामदेह कुर्सी पर लिटा दिया जाता है और उससे कहा जाता है कि जो कुछ भी उसके मन में विचार आयें उन्हें कहता जाये। मनोविश्लेषण में स्वप्न-विश्लेषण भी सम्मिलित रहता है।

हाल में रॉजर्स और उसके अनुयायियों ने भेंट या वार्तालाप का एक नया रूप निकाला है। इसको रोगी-केन्द्रित उपचार कहते हैं। इसमें मनोविश्लेषण की अपेक्षा समय कम लगता है। इस पद्धति में मनोविश्लेषण पद्धति से एक और भिन्नता यह है कि इसमें परामर्शदाता रोगी को उसकी समस्या के स्वरूप तथा उसे क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं देता। इस पद्धति में समस्या का समाधान प्राप्त करने में उपचार करने वाले के स्थान पर स्वयं रोगी ही अपनी समस्या का समाधान करने की चेष्टा करता है।

मनस्ताप का उपचार करने की एक विधि और प्रचलित है जिसे 'सामूहिक उपचार' कहते हैं। इस विधि में मनोविश्लेषण एवं रोगी-केन्द्रित—दोनों विधियों का

समावेश हो सकता है। इस विधि में एक-सी समस्याओं वाले व्यक्ति इकट्ठे होते हैं और उनका उपचार साथ-साथ करने की चेष्टा की जाती है। रोगियों को इस बात से बड़ा संतोष मिलता है कि उनकी जैसी समस्याओं वाले और भी व्यक्ति हैं। इस प्रकार संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व सरलता से दूर किये जा सकते हैं।

उन्मादग्रस्त व्यक्तित्व (Psychosis)—मनस्ताप की अपेक्षा उन्माद अधिक गम्भीर होता है। ऐसे व्यक्तियों में बहुधा मोह (delusion) हो जाते हैं। मोह के सम्बन्ध में हम पीछे वर्णन कर चुके हैं। मोह में व्यक्ति अपने को रोगी, दुःखी या भयभीत समझने लगता है। *अतएव उन्मादग्रस्त व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि (insight) बिल्कुल नहीं रह पाती। वह कभी हँसता है तो कभी रोने लगता है और कुछ रोगी दूसरों पर भयानक हमले भी कर देते हैं। कुछ व्यक्ति शान्त भी हो जाते हैं और वे किसी भी प्रकार से बोलने को तैयार नहीं होते।*

उन्माद का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है—एक को हम आंगिक या संरचनात्मक उन्माद (structural psychosis) कहते हैं और दूसरे को कृत्यात्मक उन्माद (functional psychosis) कहते हैं।

आंगिक उन्माद—आंगिक उन्माद सिफलिस या मद्यपान के कारण होता है। इसके प्रमुख रूप हैं—सामान्य स्तंभ (paresis), जराजन्य उन्माद (senile psychosis), और मद्यपानजन्य उन्माद (alcoholic psychosis)।

सामान्य स्तंभ का कारण मस्तिष्क को सिफलिस होता है। जराजन्य उन्माद में किसी न किसी प्रकार का मोह मालूम होता है। इस उन्माद में स्मृति में भी दोष आ जाते हैं। कभी-कभी झूठी स्मृतियाँ भी होने लगती हैं। इसका मरीज स्थान, समय इत्यादि का ज्ञान नहीं रखता। मद्यपानजन्य उन्मादन के भी अनेक रूप होते हैं, *जैसे—दृष्टिभ्रम जिसमें रोगी भयानक वस्तुएँ देखता है, विपक्ष सतर्कता, आदि।*

कृत्यात्मक उन्माद—कृत्यात्मक उन्माद के अन्दर जो विकार पाये जाते हैं, उनमें सबसे अधिक मात्रा में हर्षावसाद (manic-depressive) उन्माद, और विभक्तमनस्कता (schizophrenia) उन्माद होते हैं।

हर्षावसाद उन्माद—*ऐसे उन्माद में व्यक्ति विशेष रूप से हर्षित होता है।* वह ज़ोर से चिल्लाता है, नाचता-गाता फिरता है और बेहद उत्पाती हो जाता है। उसे मोह और दृष्टिभ्रम हो जाता है। स्त्रियों और पुरुषों—दोनों प्रकार के रोगियों में अश्लील भाषा का प्रयोग करना, गालियाँ देना, काम-प्रदर्शन तथा यौन-प्रदर्शन करना आदि पाया जाता है। ऐसे रोगियों के मन में जैसे ही कोई विचार आता है, वह उसी की ओर उड़ने लगते हैं।

अवसाद की दशा में यह रोगी निरन्तर रोते हैं, अपने को अपराधी बताते हैं, पापी कहते हैं और आत्महत्या करने की चेष्टा करते हैं। कुछ रोगियों में केवल एक ही दशा प्रकट होती है और बीच-बीच में उनमें सामान्य तथा हर्ष की दशाएँ दिखाई पड़ती हैं।

हर्षविसाद उन्माद के रोगी ठीक हो जाते हैं। अवसाद का इलाज बिजली के आघातों (electric shocks) से किया जाता है। कभी-कभी इनका इलाज काम में व्यस्त रखने से भी किया जाता है।

विभक्त मनस्कता (Schizophrenia)—इसका अर्थ है, मन का विभाजित हो जाना। यह बीमारी अधिकतर तरुण व्यक्तियों में पायी जाती है, परन्तु कभी-कभी मध्य आयु के व्यक्तियों में भी इसके लक्षण मिलते हैं। इस रोग का उपचार करना कठिन है और अधिकतर रोगी, जो इस रोग से पीड़ित होते हैं, अपना जीवन मानसिक अस्पताल में ही व्यतीत करते पाये जाते हैं। विभक्तमनस्कता के चार रूप होते हैं। अब हम इन चारों के सम्बन्ध में वर्णन करेंगे :—

(१) सरल विभक्तमनस्कता (Simple Schizophrenia)—इस रोग में मानसिक विमन्दता हो जाती है। रोगी में कोई आकांक्षा नहीं रह जाती। वे यदि किसी ओर देख रहे हैं तो एकटक देखते रहते हैं। वे बहुत अधिक मात्रा में अन्तर्मुखी होते हैं। अपने आस-पास की चीजों से बेखबर रहते हैं। इस प्रकार के रोग का कोई उपचार नहीं है।

(२) हीबीफ्रीनिक (अथवा बालिश) विभक्तमनस्कता (Hebephsrenic Schizophrenia)—इस प्रकार के रोगियों में बुद्धि का सर्वथा अभाव रहता है। ऐसे व्यक्ति मूर्खतापूर्ण व्यवहार करते हैं। वे यह समझने में सर्वथा असफल रहते हैं कि उनके चारों ओर क्या हो रहा है। इस प्रकार के रोगी अक्सर नग्न हो जाते हैं और जब कोई उनसे इस बारे में पूछता है तो बेवकूफों की तरह मुँह बनाते हैं। वे यह समझ ही नहीं पाते कि उनका ऐसा व्यवहार गलत है या सही। इनका उपचार भी कठिन है।

(३) कैटेटोनिक (Catatonic) विभक्तमनस्कता—इस प्रकार के रोगियों में विचित्र मुद्राओं में बैठने या लेटने की क्षमता पायी जाती है। उनके अंग मानो मोम के से बने होते हैं। वे किसी शारीरिक आसन में घंटों बैठे रहते हैं। यदि उन्हें उस आसन से हटाया जाय तो लड़ते-झगड़ते हैं और फिर उसी स्थिति में बैठ जाते हैं। इस प्रकार उनके शरीर में मोमी नम्यता सी प्रकट होती है। यदि उनके हाथ को एक स्थिति में कर दिया जाय तो उसे उसी स्थिति में रखे रहते हैं। इनकी अन्तर्मुखता चरम सीमा तक पहुँची होती है। इन्हें बहिर्जगत से कोई मोह नहीं होता। कभी-कभी ये बिल्कुल चुप बैठ जाते हैं और वर्षों निकल जाते हैं जबकि ये बिल्कुल नहीं बोलते।

(४) व्यामोहात्मक विभक्तमनस्कता (Paranoid Schizophrenia)—इस प्रकार की विभक्तमनस्कता में रोगी मोह में पीड़ित होता है। रोगी को मोह हो जाता है कि कोई उसे विष दे रहा है या कोई उसे मारने की कोशिश कर रहा है। कुछ रोगी पुलिस के भय से भयभीत रहते हैं। वे समझते हैं कि उन्होंने कोई खून किया है और पुलिस पकड़ने आ रही है। कुछ ऐसे भी रोगी होते हैं जो अपने शरीर को रख

या मोम का बना समझने लगते हैं। आगरा के पागलखाने में एक ऐसा रोगी था जो अपने शरीर को काँच का बना समझता था। यदि उसके कोई हाथ लगाता था तो वह जोर से चिल्लाता था कि वह टूट जायेगा। कोई उसे छू नहीं सकता था, न कोई जोर से बात कर सकता था। उसे लेटने, बैठने, उठने में यह भय लगा रहता था कि कहीं उसका काँच का शरीर टूट न जाय।

विभक्तमनस्क रोगियों का इलाज बिजली के आघातों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के उपचार से कुछ रोगी ठीक हो जाते हैं। परन्तु अक्सर यह भी होता है कि जो ठीक होकर जाते हैं वे दुबारा रोगी बनकर फिर आ जाते हैं। वर्तमान समय में मानस-शल्य (psycho surgery) द्वारा भी ऐसे रोगियों की चिकित्सा की जाती है, परन्तु यह विधि तभी अपनायी जाती है जब अन्य सब विधियाँ असफल हो जाती हैं।

अन्त में हम कह सकते हैं कि व्यक्तित्व की असमानताएँ अनेक रूप धारण कर लेती हैं। इन सबका मुख्य कारण अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक संघर्ष होता है। कुछ असमानताएँ आंगिक भी हो सकती हैं। आंगिक असमानताओं के कारणों का तो हमें पता चल जाता है परन्तु कृत्यात्मक असमानताओं के कारणों की खोज कठिन है और इनका इलाज भी सरलता से नहीं हो सकता।

व्यक्तित्व का सम्बन्धित होना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान समय में जब कि समाज में यान्त्रिकता का बोलबाला है, व्यक्तित्व का संघटित होना एक जटिल समस्या बन गयी है। यही कारण है कि मानसिक रोगियों की संख्या में दिन-प्रतिदिन बढ़ोतरी हो रही है। यदि व्यक्तित्व को असमान बनने से रोकना है तो हमें सदैव यह चेष्टा करनी चाहिए कि व्यक्ति के मस्तिष्क में कम से कम संघर्ष हों और वह अपने को वातावरण में सरलता से व्यवस्थापित कर सके।

सारांश

व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न विचार हैं। इसकी परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी जाती है। हमें व्यक्तित्व की वह परिभाषा उपयुक्त प्रतीत होती है जो व्यक्तित्व को सक्रिय बताती है और अन्तरवस्थित व्यवहार की ओर इंगित करती है तथा व्यक्ति के वंशानुक्रमण और पर्यावरण में प्रतिक्रिया की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है।

व्यक्तित्व के विकास में ये चार तत्त्व मुख्य रूप से प्रभावशाली होते हैं—(१) शरीर, (२) ग्रन्थि-रचना, (३) पर्यावरण के तत्त्व, तथा (४) सोखना। ग्रन्थियों में जो सबसे अधिक प्रभावशाली हैं, वे हैं—एड्रिनल ग्रन्थि, गोन्ड्स, थॉयरायड ग्रन्थियाँ तथा पिट्यूटरी-ग्रन्थि। परिवार सम्बन्धी तत्त्वों में प्रमुख हैं—परिवार का प्रभाव तथा पाठशाला का वातावरण।

गार्डन आलपोर्ट महोदय व्यक्तित्व गुणों को सक्रिय परिवर्तित हो जाने वाले

[ी] समझते हैं जो कम से कम अंशत: रूप में विशिष्ट आदतों से उत्पन्न होते हैं
[व]ातावरण में व्यवस्थापन के ढंग को बताते हैं। ये गुण वातावरण के प्रभाव से
[भ]ी रहते हैं।

व्यक्तित्व के कई प्रकार बताये जाते हैं। जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं:—
[अन्तर्मु]खी, विरालोन्मुखी तथा बहिर्मुखी। बहिर्मुखी वे व्यक्ति होते हैं जिनकी रुचि
[ज]गत में होती है। अन्तर्मुखी वे व्यक्ति हैं जिनकी रुचि स्वयं में निहित होती
[वि]रालोन्मुखी वे व्यक्ति हैं जिनमें दोनों का मिश्रण होता है और जो जीवन
[आव]श्यकताओं के लिए स्पष्ट निर्णय रखते हैं।

व्यक्तित्व के निर्धारण की नवीन विधियों का आजकल विकास हो रहा है। ये
[ती]न प्रकार की हैं—(१) व्यक्तिगत विधि, (२) वस्तुनिष्ठ विधि, (३) प्रक्षेपण-

व्यक्तिगत विधि चार ढंग से क्रियान्वित की जा सकती हैं—(अ) जीवन-कथा,
[व्य]क्तिगत इतिहास, (स) साक्षात्कार विधि, (द) अभिज्ञापक प्रश्नावली। व्यक्ति-
[विधि] में बहुत-से दोष हैं। इनमें से मुख्य ये हैं—(१) यह स्वयं व्यक्ति पर निर्भर
। (२) यह अविश्वसनीय होती है। (३) उसमें यथार्थता कम होती है।
[इस]के द्वारा केवल चेतन मस्तिष्क के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

वस्तुनिष्ठ विधियाँ व्यक्ति के बाह्य व्यवहार पर आश्रित होती हैं। ये भी चार
[क]ी होती हैं—(१) नियंत्रित निरीक्षण, (२) अनुमानांकन मापदण्ड, (३) शारी-
[रिक प]रदर्शन, (४) मौलिक व्यवहार। अनुमानांकन मापदण्ड को व्यक्तिगत विधि का
[भ]ी कहा जाता है।

प्रक्षेपण विधियों में व्यक्ति अपने विचारों, इच्छाओं इत्यादि को किसी बाह्य
[वस्तु] और प्रक्षेप कर देता है। ये विधियाँ अपने मन पर भी प्रकाश डालती हैं।
[प्रक्षे]पण विधियाँ हैं—(१) रोशा परीक्षा, (२) थैमेटिक एपरसेप्शन टैस्ट्स,
[...]टेकनीक, (४) शब्द-साहचर्य परीक्षा, (५) चित्र-साहचर्य परीक्षा, (६) अभिनय-
[प]रीक्षा।

[कु]व्यवस्थापन में व्यक्ति के अन्दर मानसिक द्वन्द्व छिड़ जाते हैं जिनको हल
[व्य]क्ति अपने आप को असमर्थ पाता है। वह द्वन्द्व को दूर करने के ढंग
है। वे ढंग या तो अप्रमाणित होते हैं या अनिश्चित होते हैं, और व्यक्ति
[...] में अनुकूलन प्राप्त नहीं कर पाता।

[व्य]क्तित्व का पूर्ण रूप से संगठित होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय
[इस]का गठन उचित नहीं होता उस समय व्यक्ति असमानता की ओर बढ़
।

[अस]मानता का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक वर्गीकरण
[...] को संरचनात्मक या कृत्यात्मक होने के रूप में, और दूसरे प्रकार का
[अस]मानता को मनस्ताप या उन्माद की श्रेणी में विभाजित करता है।

मनस्तापी विकार तीन प्रकार के मानसिक विकार होते हैं। ये क्रियात्मक होते हैं। विघटन मनस्ताप का ही एक विशेष लक्षण है। यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें कुछ क्रियाएँ सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ संबंधित नहीं रह जातीं। बहुत-से मानसिक रोगों का कारण विघटन ही होता है। इनमें से मुख्य हैं—उन्माद, निद्रा-रोग, बहुरूपीय व्यक्तित्व, द्विरूपीय व्यक्तित्व इत्यादि। मनस्ताप की चिकित्सा सम्मोहन द्वारा, मनोविश्लेषण द्वारा अथवा रोगी केन्द्रित-उपचार द्वारा हो सकती है।

मनस्ताप की अपेक्षा उन्माद अधिक गम्भीर होता है। इस रोग में व्यक्ति मोह से पीड़ित हो जाता है। उन्माद दो प्रकार का हो सकता है—(१) संरचनात्मक उन्माद, (२) क्रियात्मक उन्माद। क्रियात्मक उन्माद के अन्दर जो विकार पाये जाते हैं उनमें सबसे अधिक मात्रा में हर्षोन्माद उन्माद और विभक्तमनस्कता उन्माद होते हैं।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. व्यक्तित्व की विभिन्न परिभाषाएँ क्या हैं? इनमें से आप किस परिभाषा को सर्वाधिक उपयुक्त समझते हैं?
२. व्यक्तित्व के गुण से आप क्या समझते हैं? किन गुणों को आप एक अच्छे व्यक्तित्व का प्रतीक मानेंगे?
३. आप व्यक्तित्व की माप कैसे कर सकते हैं? किसी एक विधि का उल्लेख कीजिए जो व्यक्तित्व की माप के लिए प्रयोग की जाती है।
४. प्रक्षेपण विधियों की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
५. व्यक्तित्व के संगठन एवं विघटन से आप क्या समझते हैं? कुछ व्यक्तित्व-विघटन के उदाहरण दीजिए।
६. मनस्तापी व्यक्तित्व से क्या तात्पर्य है? इसका उपचार किस प्रकार किया जा सकता है?
७. उन्मादग्रस्त व्यक्तित्व के कुछ लक्षणों का वर्णन कीजिए। यह कितने प्रकार का होता है? प्रत्येक प्रकार पर प्रकाश डालिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. हार्ट, चार्ल्स एम० एवं एच० जी० शोकेल : पर्सनैलिटी, रोनाल्ड, न्यूयार्क, १९०५।
२. वुडवर्थ एवं मारक्विस : साइकॉलॉजी (हिन्दी अनुवाद)।
३. गैरेट, हेनरी ई० : मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद), एलाइड पब्लिशर्स (प्राइवेट लिमिटेड), बम्बई, १९६९।
४. मन, नारमन एल० : मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६१।
५. सिन्हा, जे० एल० : मनोविज्ञान, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९६०।